

पं० श्रीराम शर्मा आचार्य वाङ्मय

चेतन, अचेतन एवं सुपर चेतन मन



पं. श्रीराम शर्मा आचार्य वाङ्मय

चेतन, अचेतन और सुपर चेतन मन

सम्पादक

ब्रह्मवर्चस

www.awgp.org

www.vicharkrantibooks.org



प्रकाशक

अखण्ड ज्योति संस्थान, मथुरा



प्रकाशक

अखण्ड ज्योति संस्थान

मथुरा - २८१००३



© सर्वाधिकार सुरक्षित



द्वितीय संस्करण १९९८

www.awgp.org

www.vicharkrantibooks.org



मूल्य १२५)



मुद्रक

जनजागरण प्रेस, मथुरा



समर्पणम्

ॐ मातरं भगवतीं देवीं श्रीरामञ्च जगद्गुरुम् ।
पादपद्मे तयोः श्रित्वा प्रणमामि मुहुर्मुहुः ॥

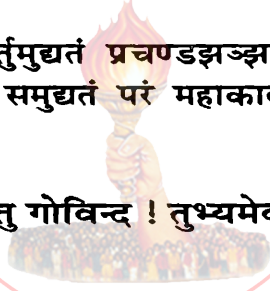
मातृवत् लालयित्री च पितृवत् मार्गदर्शिका ।
नमोऽस्तु गुरुसत्तायै श्रद्धा-प्रज्ञा युता च या ॥

भगवत्याः जगन्मातुः, श्रीरामस्य जगद्गुरोः ।
पादुकायुगले वन्दे, श्रद्धाप्रज्ञास्वरूपयोः ॥

नमोऽस्तु गुरवे तस्मै गायत्रीरूपिणे सदा ।
यस्य वागमृतं हन्ति विषं संसारसंज्ञकम् ॥

असम्भवं सम्भवकर्तुमुद्यतं प्रचण्डझञ्झावृतिरोधसक्षमम् ।
युगस्य निर्माणकृते समुद्यतं परं महाकालममुं नमाम्यहम् ॥

त्वदीयं वस्तु गोविन्द ! तुभ्यमेव समर्पये ।



विराट गायत्री परिवार एवं उसके संस्थापक-संरक्षक

एक संक्षिप्त परिचय

इतिहास में कभी-कभी ऐसा होता है कि अवतारी सत्ता एक साथ बहुआयामी रूपों में प्रकट होती है एवं करोड़ों ही नहीं, पूरी वसुधा के उद्धार-चेतनात्मक धरातल पर सबके मनो का नये सिरे से निर्माण करने आती है। परमपूज्य गुरुदेव पं. श्रीराम शर्मा आचार्य को एक ऐसी ही सत्ता के रूप में देखा जा सकता है जो युगों-युगों में गुरु एवं अवतारी सत्ता दोनों ही रूपों में हम सबके बीच प्रकट हुई, अस्सी वर्ष का जीवन जीकर एक विराट् ज्योति प्रज्ज्वलित कर उस सूक्ष्म ऋषि चेतना के साथ एकाकार हो गयी जो आज युग परिवर्तन को सन्निकट लाने को प्रतिबद्ध है। परमवन्दनीया माताजी शक्ति का रूप थीं जो कभी महाकाली, कभी माँ जानकी, कभी माँ शारदा एवं कभी माँ भगवती के रूप में शिव की कल्याणकारी सत्ता का साथ देने आती रही है। उनसे भी सूक्ष्म में विलीन हो स्वयं को अपने आराध्य के साथ एकाकार कर ज्योतिपुरुष का एक अंग स्वयं को बना लिया। आज दोनों सशरीर हमारे बीच नहीं हैं किन्तु, नूतन सृष्टि कैसे ढाली गयी, कैसे मानव गढ़ने का साँचा बनाया गया, इसे शान्तिकुंज, ब्रह्मवर्चस, गायत्री तपोभूमि, अखण्ड ज्योति संस्थान एवं युगतीर्थ आँवलखेड़ा जैसी स्थापनाओं तथा संकल्पित सृजन सेनानी गणों के, वीरभद्रों की करोड़ों से अधिक की संख्या के रूप में देखा जा सकता है।

परमपूज्य गुरुदेव का वास्तविक मूल्यांकन तो कुछ वर्षों बाद इतिहासविद, मिथक लिखने वाले करेंगे किन्तु, यदि उनको आज भी साक्षात् कोई देखना या उनसे साक्षात्कार करना चाहता हो तो उन्हें उनके द्वारा अपने हाथ से लिखे गये उस विराट परिमाण में साहित्य के रूप में युग संजीवनी के रूप में देख सकता है जो वे अपने वजन से अधिक भार के बराबर लिख गये। इस साहित्य में संवेदना का स्पर्श इस बारीकी से हुआ है कि लगता है लेखनी को उसी की स्याही में डुबा कर लिखा गया हो। हर शब्द ऐसा जो हृदय को छूता मन को, विचारों को बदलता चला जाता है। लाखों करोड़ों के मनो के अंतःस्थल को छू कर उसने उनका कायाकल्प कर दिया। रूसो के प्रजातंत्र की, कार्ल मार्क्स के साम्यवाद की क्रांति भी इसके समक्ष बौनी पड़ जाती है। उनके मात्र इस युग वाले स्वरूप को लिखने तक में लगता है कि एक विश्वकोश तैयार हो सकता है, फिर उस बहुआयामी रूप को जिसमें वे संगठनकर्ता, साधक, करोड़ों के अभिभावक, गायत्री महाविद्या के उद्धारक, संस्कार परम्परा का पुनर्जीवन करने वाले, ममत्व लुटाने वाले एक पिता, नारी जाति के प्रति अनन्य करुणा बिखेरकर उनके ही उद्धार के लिए धरातल पर चलने वाला नारी जागरण अभियान चलाते देखे जाते हैं, अपनी वाणी के उद्बोधन से एक विराट गायत्री परिवार एकाकी अपने बलबूते खड़े रहते दिखाई देते हैं तो समझ में नहीं आता, क्या-क्या लिखा जाय, कैसे छन्दबद्ध, लिपिबद्ध किया जाय, उस महापुरुष के जीवनचरित को।

आश्विन कृष्ण त्रयोदशी विक्रमी संवत् १९६७ (२० सितम्बर १९११) को स्थूल शरीर से आँवलखेड़ा ग्राम जनपद आगरा जो जलेसर मार्ग पर आगरा से पंद्रह मील की दूरी पर स्थित है, में जन्मे श्रीराम शर्मा जी का बाल्यकाल-कैशोर्य काल ग्रामीण परिसर में ही बीता। वे जन्मे तो थे एक जमींदार घराने में, जहाँ उनके पिता-श्री पं. रूपकिशोर जी शर्मा आसपास के दूर-दराज के राजघरानों के राजपुरोहित, उद्भट विद्वान, भागवत कथाकार थे किन्तु, उनका अंतःकरण मानव मात्र की पीड़ा से सतत विचलित रहता था। साधना के प्रति उनका झुकाव बचपन में ही दिखाई देने लगा। जब वे अपने सहपाठियों को, छोटे बच्चों को अमराइयों में बिठाकर स्कूली शिक्षा के साथ-साथ सुसंस्कारिता अपनाने वाली आत्मविद्या का शिक्षण दिया करते थे। छटपटाहट के कारण हिमालय की ओर भाग निकलने व पकड़े जाने पर उनसे संबंधियों को बताया कि हिमालय ही उनका घर है एवं वहीं वे जा रहे थे। किसे मालूम था कि हिमालय की ऋषि चेतनाओं का समुच्चय बनकर आयी यह सत्ता वस्तुतः अगले दिनों अपना घर वहीं बनाएगी। जाति-पाँति का कोई भेद नहीं। जातिगत मूढ़ता भरी मान्यता से ग्रसित तत्कालीन भारत के ग्रामीण परिसर में एक अछूत वृद्ध महिला की जिसे कुछ रोग हो गया था, उसी के टोले में जाकर सेवाकर उनसे घरवालों का विरोध तो मोल ले लिया पर अपना व्रत नहीं छोड़ा।

उस महिला ने स्वस्थ होने पर उन्हें ढेरों आशीर्वाद दिये। एक अछूत कहलाने वाली जाति का व्यक्ति जो उनके आलीशान घर में घोंड़ों की मालिश करने आता था, एक बार कह उठा कि मेरे घर कथा कौन कराने आएगा, मेरा ऐसा सौभाग्य कहाँ। नवनीत जैसे हृदय वाले पूज्यवर उसकं घर जा पहुँचे एवं कथा पूरे विधान से कर पूजा की, उसको स्वच्छता का पाठ सिखाया, जबकि सारा गाँव उनके विरोध में बोल रहा था।

किशोरावस्था में ही समाज सुधार की रचनात्मक प्रवृत्तियाँ उनमें चलाना आरम्भ कर दी थीं। औपचारिक शिक्षा स्वल्प ही पायी थी किन्तु, उन्हें इसके बाद आवश्यकता भी नहीं थी क्योंकि जो जन्मजात प्रतिभा सम्पन्न हो वह औपचारिक पाठ्यक्रम तक सीमित कैसे रह सकता है। हाट-बाजारों में जाकर स्वास्थ्य-शिक्षा प्रधान परिपत्र बाँटना, पशुधन को कैसे सुरक्षित रखें तथा स्वावलम्बी कैसे बनें, इसके छोटे-छोटे पैम्फलेट्स लिखने, हाथ की प्रेस से छपवाने के लिए उन्हें किसी शिक्षा की आवश्यकता नहीं थी। वे चाहते थे, जनमानस आत्मावलम्बी बने, राष्ट्र के प्रति स्वाभिमान उसका जागे, इसलिए गाँव में जन्मे इस लाल ने नारी शक्ति व बेरोजगार युवाओं के लिए गाँव में ही एक बुनताघर स्थापित किया व उसके द्वारा हाथ से कैसे कपड़ा बुना जाय, अपने पैरों पर कैसे खड़ा हुआ जाय, यह सिखाया।

पंद्रह वर्ष की आयु में वसंत पंचमी की वेला में सन् १९२६ में उनके घर की पूजा स्थली में, जो उनकी नियमित उपासना का तब से आगार थी, जबसे महामना पं० मदन मोहन मालवीय जी ने उन्हें काशी में गायत्री मंत्र की दीक्षा दी थी, उनकी गुरुसत्ता का आगमन हुआ अदृश्य छायाधारी सूक्ष्म रूप में। उनमें प्रज्वलित दीपक की लौ में से स्वयं को प्रकट कर उन्हें उनके द्वारा विगत कई जन्मों में संपन्न क्रिया कलापों का दिग्दर्शन कराया तथा उन्हें बताया कि वे दुर्गम हिमालय से आये हैं एवं उनसे अनेकानेक ऐसे क्रियाकलाप कराना चाहते हैं, जो अवतारी स्तर की ऋषि सत्ताएँ उनसे अपेक्षा रखती हैं। चार बार कुछ दिन से लेकर एक साल तक की अवधि तक हिमालय आकर रहने, कठोर तप करने का भी उनमें संदेश दिया एवं उन्हें तीन संदेश दिए- १. गायत्री महाशक्ति के चौबीस-चौबीस लक्ष के चौबीस महा-पुरुश्चरण जिन्हें आहार के कठोर तप के साथ पूरा करना था। २. अखण्ड घृतदीप की स्थापना एवं जन-जन तक इसके प्रकाश को फैलाने के लिए समय आने पर ज्ञानयज्ञ अभियान चलाना, जो बाद में अखण्ड ज्योति पत्रिका के १९३८ में प्रथम प्रकाशन से लेकर विचार-क्रांति अभियान के विश्वव्यापी होने के रूप में प्रकटा तथा ३. चौबीस महापुरुश्चरणों के दौरान युगधर्म का निर्वाह करते हुए राष्ट्र के निमित्त भी स्वयं को खपाना, हिमालय यात्रा भी करना तथा उनके संपर्क से आगे का मार्गदर्शन लेना।

यह कहा जा सकता है कि युग निर्माण मिशन, गायत्री परिवार, प्रज्ञा अभियान, पूज्य गुरुदेव जो सभी एक दूसरे के पर्याय हैं, की जीवन यात्रा का यह एक महत्वपूर्ण मोड़ था, जिसने भावी रीति-नीति का निर्धारण कर दिया। पूज्य गुरुदेव अपनी पुस्तक 'हमारी वसीयत और विरासत' में लिखते हैं कि "प्रथम मिलन के दिन समर्पण सम्पन्न हुआ। दो बातें गुरु सत्ता द्वारा विशेष रूप से कही गई, संसारी लोग क्या करते हैं और क्या कहते हैं, उसकी ओर से मुँह मोड़कर निर्धारित लक्ष्य की ओर एकाकी साहस के बलबूते चलते रहना एवं दूसरा यह कि अपने को अधिक पवित्र और प्रखर बनाने की तपश्चर्या में जुट जाना- जौ की रोटी व छाछ पर निर्वाह कर आत्मानुशासन सीखना। इसी से वह सामर्थ्य विकसित होगी जो विशुद्धतः परमार्थ प्रयोजनों में नियोजित होगी। वसंत पर्व का यह दिन गुरु अनुशासन का अवधारण ही हमारे लिए नया जन्म बन गया। सद्गुरु की प्राप्ति हमारे जीवन का अनन्य एवं परम सौभाग्य रहा।"

राष्ट्र के परावलम्बी होने की पीड़ा भी उन्हें उतनी ही सताती थी जितनी कि गुरुसत्ता के आदेशानुसार तपकर सिद्धियों के उपार्जन की ललक उनके मन में थी। उनके इस असमंजस को गुरुसत्ता ने तोड़कर परावाणी से उनका मार्गदर्शन किया कि युगधर्म की महत्ता व समय की पुकार देख सुन कर तुम्हें अन्य आवश्यक कार्यों को छोड़कर अग्निकाण्ड में पानी लेकर दौड़ पड़ने की तरह आवश्यक कार्य भी करने पड़ सकते हैं। इसमें स्वतंत्रता संग्राम सेनानी के नाते संघर्ष करने का भी संकेत था। १९२७ से १९३३ तक का समय उनका एक सक्रिय स्वयं सेवक-स्वतंत्रता सेनानी के रूप में बीता, जिसमें घरवालों के विरोध के बावजूद पैदल लम्बा रास्ता पारकर वे आगरा के उस शिविर में पहुँचे, जहाँ शिक्षण दिया जा रहा था, अनेकानेक मित्रों-सखाओं-मार्गदर्शकों के साथ भूमिगत हो कार्य करते रहे तथा समय आने पर जेल

भी गये। छह-छह माह की उन्हें कई बार जेल हुई। जेल में भी वे जेल के निरक्षर साथियों को शिक्षण देकर व स्वयं अंग्रेजी सीखकर लौटे। आसन- सोल जेल में वे श्री जवाहर लाल नेहरू की माता श्रीमती स्वरूपरानी नेहरू, श्री रफी अहमद किदवाई, महामना मालवीय जी, देवदास गाँधी जैसी हस्तियों के साथ रहे व वहाँ से एक मूलमंत्र सीखा जो मालवीय जी ने दिया था कि जन-जन की साझेदारी बढ़ाने के लिए हर व्यक्ति के अंशदान से-मुट्टी फण्ड से रचनात्मक प्रवृत्तियाँ चलाना। यही मंत्र आगे चलकर एक घण्टा समयदान बीस पैसा नित्य या एक दिन की आय एक माह में तथा एक मुट्टी अन्न रोज डालने के माध्यम से धर्मघट की स्थापना का स्वरूप लेकर लाखों-करोड़ों की भागीदारी वाला गायत्री परिवार बनाता चला गया, जिसका आधार था प्रत्येक व्यक्ति की यज्ञीय भावना का उसमें समावेश।

स्वतंत्रता की लड़ाई के दौरान कुछ उग्र दौर भी आये, जिनमें शहीद भगतसिंह को फाँसी दिये जाने पर फैले जन आक्रोश के समय श्री अरविन्द के किशोर काल की क्रांतिकारी स्थिति की तरह उनसे भी वे कार्य किये, जिनसे आक्रान्ता शासकों के प्रति असहयोग जाहिर होता था। नमक आन्दोलन के दौरान वे आततायी शासकों के समक्ष झुके नहीं, वे मारते रहे परन्तु, समाधि स्थिति को प्राप्त राष्ट्र देवता के पुजारी को बेहोश होना स्वीकृत था पर आन्दोलन से पीठ दिखाकर भागना नहीं। बाद में फिरंगी सिपाहियों के जाने पर लोग उठाकर घर लेकर आये। जरारा आन्दोलन के दौरान उनसे झण्डा छोड़ा नहीं जबकि, फिरंगी उन्हें पीटते रहे, झण्डा छीनने का प्रयास करते रहे। उनसे मुँह से झण्डा पकड़ लिया, गिर पड़े, बेहोश हो गये पर झण्डे का टुकड़ा चिकित्सकों द्वारा दाँतों में भींचे गये टुकड़े के रूप में जब निकाला गया तब सब उनकी सहनशक्ति देखकर आश्चर्य चकित रह गये। उन्हें तब से ही आजादी के मतवाले उन्मत्त श्रीराम मत्त नाम मिला। अभी भी आगरा में उनके साथ रहे या उनसे कुछ सीख लिए अगणित व्यक्ति उन्हें मत्त जी नाम से ही जानते हैं। लगानबन्दी के आँकड़े एकत्र करने के लिए उनसे पूरे आगरा जिले का दौरा किया व उनके द्वारा प्रस्तुत वे आँकड़े तत्कालीन संयुक्त प्रान्त के मुख्य मंत्री श्री गोविन्द वल्लभ पंत द्वारा गाँधी जी के समक्ष पेश किये गये। बापू ने अपनी प्रशस्ति के साथ वे प्रामाणिक आँकड़े ब्रिटिश पार्लियामेण्ट भेजे, इसी आधार पर पूरे संयुक्त प्रान्त के लगान माफ़ी के आदेश प्रसारित हुए। कभी जिनने अपनी इस लड़ाई के बदले कुछ न चाहा उन्हें सरकार ने अपना प्रतिनिधि भेजकर पचास वर्ष बाद ताम्रपत्र देकर शान्तिकुज में सम्मानित किया। उसी सम्मान व स्वाभिमान के साथ सारी सुविधाएँ व पेंशन उनसे प्रधान मंत्री राहत फण्ड, हरिजन फण्ड के नाम समर्पित कर दीं। वैरागी जीवन का, सच्चे राष्ट्र संत होने का इससे बड़ा प्रमाण क्या हो सकता है ?

१९३५ के बाद उनके जीवन का नया दौर शुरू हुआ, जब गुरुसत्ता की प्रेरणा से वे श्री अरविन्द से मिलने पाण्डिचेरी, गुरुदेव ऋषिबर रवीन्द्रनाथ टैगोर से मिलने शांति निकेतन तथा बापू से मिलने साबरमती आश्रम, अहमदाबाद गये। सांस्कृतिक आध्यात्मिक मोर्चे पर राष्ट्र को कैसे परतंत्रता की बेड़ियों से मुक्त किया जाय, यह निर्देश लेकर अपना अनुष्ठान यथावत् चलाते हुए उनसे पत्रकारिता के क्षेत्र में प्रवेश किया जब आगरा में 'सैनिक' समाचार पत्र के कार्यवाहक संपादक के रूप में श्री कृष्णदत्त पालीवाल जी ने उन्हें अपना सहायक बनाया। बाबू गुलाब राय व पालीवाल जी से सीख लेते हुए सतत स्वाध्यायरत रह कर उनसे अखण्ड ज्योति नामक पत्रिका का पहला अंक १९३८ की वसंत पंचमी पर प्रकाशित किया। प्रयास पहला था, जानकारीयाँ कम थीं अतः पुनः सारी तैयारी के साथ विधिवत् १९४० की जनवरी से उनसे परिजनों के नाम पाती के साथ अपने हाथ से बने कागज पर पैर से चलने वाली मशीन से छापकर 'अखण्ड ज्योति' पत्रिका का शुभारंभ किया जो पहले तो दो सौ पचास पत्रिका के रूप में निकली, किन्तु क्रमशः उनके अध्यक्षाय घर-घर पहुँचाने, मित्रों तक पहुँचाने वाले उनके हृदय स्पर्शी पत्रों द्वारा बढ़ती-बढ़ती नवयुग के मत्स्यावतार की तरह आज दस लाख से भी अधिक संख्या में विभिन्न भाषाओं में छपती व एक करोड़ से अधिक व्यक्तियों द्वारा पढ़ी जाती है।

पत्रिका के साथ-साथ 'मैं क्या हूँ' जैसी पुस्तकों का लेखन आरम्भ हुआ, स्थान बदला, आगरा से मथुरा आ गये, दो-तीन घर बदलकर घीयामण्डी में जहाँ आज अखण्ड ज्योति संस्थान है, आ बसे। पुस्तकों का प्रकाशन व कठोर तपश्चर्या, ममत्व विस्तार तथा पत्रों द्वारा जन-जन के अंतः स्थल को छूने की प्रक्रिया चालू रही। साथ देने आ गयीं

परमवंदनीया माताजी भगवती देवी शर्मा, जिन्हें भविष्य में अत्यधिक महत्वपूर्ण भूमिका अपने आराध्य इष्ट गुरु के लिए निभानी थी। उनके मर्मस्पर्शी पत्रों ने, भाव भरे आतिथ्य, हर किसी को जो दुखी था-पीड़ित था, दिये गये ममत्व भरे परामर्श ने गायत्री परिवार का आधार खड़ा किया, इसमें कोई सन्देह नहीं। यदि विचारक्रांति में साहित्य ने मनोभूमि बनायी तो भावात्मक क्रांति में ऋषियुगल के असीम स्नेह ने ब्राह्मणत्व भरे जीवन ने शेष बची भूमिका निभायी।

‘अखण्ड ज्योति’ पत्रिका लोगों के मनो को प्रभावित करती रही, इसमें प्रकाशित ‘गायत्री चर्चा’ स्तम्भ से लोगों को गायत्री व यज्ञमय जीवन जीने का संदेश मिलता रहा, साथ ही एक आना से लेकर छह आना सीरज की अनेकानेक लोकोपयोगी पुस्तकें छपती चली गयीं। इस बीच हिमालय के बुलावे भी आये, अनुष्ठान भी चलता रहा जो पूरे विधि विधान के साथ १९५३ में गायत्री तपोभूमि की स्थापना, १०८ कुण्डी यज्ञ व उनके द्वारा दी गयी प्रथम दीक्षा के साथ समाप्त हुआ। गायत्री तपोभूमि की स्थापना के निमित्त धन की आवश्यकता पड़ी तो परम वंदनीया माताजी ने जिनने हर कदम पर अपने आराध्य का साथ निभाया, अपने सारे जेवर बेच दिये, पूज्यवर ने जमींदारी के बाण्ड बेच दिये एवं जमीन लेकर अस्थायी स्थापना कर दी गयी। धीरे-धीरे उदारचेताओं के माध्यम से गायत्री तपोभूमि एक साधना पीठ बन गयी। २४०० तीर्थों के जल व रज की स्थापना वहाँ की गयी, २४०० करोड़ गायत्री मंत्र लेखन वहाँ स्थापित हुआ, अखण्ड अग्नि हिमालय के एक अति पवित्र स्थान से लाकर स्थापित की गयी जो अभी तक वहाँ यज्ञशाला में जल रही है। १९४१ से १९७१ तक का समय परमपूज्य गुरुदेव का गायत्री तपोभूमि, अखण्ड ज्योति संस्थान में सक्रिय रहने का समय है। १९५६ में नरमेध यज्ञ, १९५८ में सहस्रकुण्डी यज्ञ करके लाखों गायत्री साधकों को एकत्र कर उनसे गायत्री परिवार का बीजारोपण कर दिया। कार्तिक पूर्णिमा १९५८ में आयोजित इस कार्यक्रम में दस लाख व्यक्तियों ने भाग लिया, इन्हीं के माध्यम से देश भर में प्रगतिशील गायत्री परिवार की दस हजार से अधिक शाखाएँ स्थापित हो गयीं। संगठन का अधिकाधिक कार्यभार पूज्यवर परमवंदनीया माताजी पर सौंपते चले गये एवम् १९५९ में पत्रिका का संपादन उन्हें देकर पौने दो वर्ष के लिए हिमालय चले गये, जहाँ उन्हें गुरुसत्ता से मार्गदर्शन लेना था, तपोवन नंदनवन में ऋषियों से साक्षात्कार करना था तथा गंगोत्री में रहकर आर्ष ग्रन्थों का भाष्य करना था। तब तक वे गायत्री महाविद्या पर विश्वकोश स्तर की अपनी रचना गायत्री महाविज्ञान के तीन खण्ड लिख चुके थे, जिसके अब तक प्रायः पैंतीस संस्करण छप चुके हैं। हिमालय से लौटते ही उनमें महत्वपूर्ण निधि के रूप में वेद, उपनिषद्, स्मृति, आरण्यक, ब्राह्मण, योगवाशिष्ठ, मंत्र महाविज्ञान, तंत्र महाविज्ञान जैसे ग्रन्थों को प्रकाशित कर देव संस्कृति की मूल थाती को पुनर्जीवन दिया। परमवंदनीया माताजी ने उन्हीं वेदों को पूज्यवर की इच्छानुसार १९९१-९२ में विज्ञान सम्मत आधार देकर पुनर्मुद्रित कराया एवं वे आज घर-घर में स्थापित हैं।

युग निर्माण योजना व ‘युग निर्माण सत्संकल्प’ के रूप में मिशन का घोषणा पत्र १९६३ में प्रकाशित हुआ। तपोभूमि एक विश्वविद्यालय का रूप लेती चली गयी तथा अखण्ड ज्योति संस्थान एक तपःपूत की निवास स्थली बन गया, जहाँ रहकर उनसे अपनी शेष तप साधना पूरी की थी, जहाँ से गायत्री परिवार का बीज डाला गया था। तपोभूमि में विभिन्न शिविरों का आयोजन किया जाता रहा, पूज्यवर स्वयं छोटे-बड़े जन सम्मेलनों, यज्ञायोजनों के द्वारा विचार क्रांति की पृष्ठभूमि बनाते रहे, पूरे देश में १९७०-७१ में पाँच १००८ कुण्डी यज्ञ आयोजित हुए। स्थायी रूप से विदाई लेते हुए एक विराट सम्मेलन (जून १९७१) में परिजनों में विशेष कार्य भार सौंप, परम वंदनीया माताजी को शांतिकुंज, हरिद्वार में अखण्ड दीप के समक्ष तप हेतु छोड़ कर स्वयं हिमालय चले गये। एक वर्ष बाद वे गुरुसत्ता का संदेश लेकर लौटे एवं अपनी आगामी बीस वर्ष की क्रिया पद्धति बतायी। ऋषि परम्परा का बीजारोपण, प्राण प्रत्यावर्तन संजीवनी व कल्प साधना सत्रों का मार्गदर्शन जैसे कार्य उनसे शांतिकुंज में सम्पन्न किये।

सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थापना अपनी हिमालय की इन्त यात्रा से लौटने के बाद ब्रह्मवर्चस शोध संस्थान की थी, जहाँ विज्ञान और अध्यात्म के समन्वयात्मक प्रतिपादनों पर शोध कर एक नये धर्म वैज्ञानिक धर्म के मूलभूत आधार रखे जाने थे। इस सम्बन्ध में पूज्यवर ने विराट् परिमाण में साहित्य लिखा, अदृश्य जगत के अनुसंधान से लेकर मानव की प्रसुप्त क्षमता के जागरण तक साधना से सिद्धि एवं दर्शन-विज्ञान के तर्क, तथ्य प्रमाण के आधार पर प्रस्तुतीकरण तक। इसके

लिए एक विराट ग्रन्थागार बना व एक सुसज्जित प्रयोगशाला। वनौषधि उद्यान भी लगाया गया तथा जड़ी बूटी, यज्ञविज्ञान तथा मंत्र शक्ति पर प्रयोग हेतु साधकों पर परीक्षण प्रचुर परिमाण में किये गये। निष्कर्षों ने प्रमाणित किया कि ध्यान साधना मंत्र चिकित्सा व यज्ञोपैथी एक विज्ञान सम्मत विधा है। गायत्री नगर क्रमशः एक तीर्थ, संजीवनी विद्या के प्रशिक्षण का एकेडमी का रूप लेता चला गया एवं जहाँ ९-९ दिन के साधना प्रधान, एक-एक माह के कार्यकर्ता निर्माण हेतु युग शिल्पी सत्र सम्पन्न होने लगे।

कार्यक्षेत्र में विस्तार हुआ। स्थान-स्थान पर शक्तिपीठें विनिर्मित हुईं, जिनके निर्धारित क्रियाकलाप थे- सुसंस्कारिता, आस्तिकता संवर्धन एवं जन जागृति के केन्द्र बनना। ऐसे केन्द्र जो १९८० में बनना आरंभ हुए थे, प्रज्ञा संस्थान - शक्तिपीठ-प्रज्ञामण्डल-स्वाध्याय मंडल के रूप में पूरे देश व विश्व में फैलते चले गये। ७६ देशों में गायत्री परिवार की शाखाएँ फैल गयीं, ४६०० से अधिक भारत में निज के भवन वाले संस्थान विनिर्मित हो गये, वातावरण गायत्रीमय होता चला गया।

परमपूज्य गुरुदेव ने सूक्ष्मीकरण में प्रवेश कर १९८५ में ही पाँच वर्ष के अंदर अपने सारे क्रिया कलापों को समेटने की घोषणा कर दी। इस बीच कठोर तप साधना कर मिलना-जुलना कम कर दिया तथा क्रमशः क्रिया कलाप परमवंदनीया माताजी को सौंप दिये। राष्ट्रीय एकता सम्मेलनों, विराट दीप यज्ञों के रूप में नूतन विधा को जन-जन को सौंप कर राष्ट्र देवता की कुण्डलिनी जगाने हेतु उनने अपने स्थूल शरीर छोड़ने व सूक्ष्म में समाने की, विराट से विराटतम होने की घोषणा कर गायत्री जयन्ती २ जून १९९० को महाप्रयाण किया। सारी शक्ति वे परमवंदनीया माताजी को दे गये व अपने व माताजी के बाद संघशक्ति की प्रतीक लाल मशाल को ही इष्ट आराध्य मानने का आदेश देकर ब्रह्मबीज से विकसित ब्रह्मकमल की सुवास को देव संस्कृति दिग्विजय अभियान के रूप में आरंभ करने का माताजी को निर्देश दे गये।

एक विराट श्रद्धांजलि समारोह व शपथ समारोह जो हरिद्वार में सम्पन्न हुए, में लाखों व्यक्तियों ने अपना समय समाज के नव निर्माण, मनुष्य में देवत्व के उदय व धरती पर स्वर्ग लाने का गुरु सत्ता का नारा साकार करने के निमित्त देने की घोषणा की। परमवंदनीया माताजी द्वारा भारतीय-संस्कृति को विश्वव्यापी बनाने, गायत्री रूपी संजीवनी घर-घर पहुँचाने के लिए पूज्यवर द्वारा आरम्भ किये गये युगसंधि महापुरश्चरण की प्रथम व द्वितीय पूर्णाहुति तक विराट अश्वमेध महायज्ञों की घोषणा की गयी। वातावरण के परिशोधन, सूक्ष्मजगत के नव निर्माण एवं सांस्कृतिक व वैचारिक क्रांति के निमित्त सौर ऊर्जा के दोहन द्वारा विशिष्ट प्रयोगों के माध्यम से विशिष्ट मंत्राहुतियों द्वारा सम्पन्न किये गये इन अश्वमेधों ने सारी विश्ववसुधा को गायत्री व यज्ञमय, वासंती उल्लास से भर दिया। स्वयं परमवंदनीया माताजी ने अपनी पूर्व घोषणानुसार चार वर्ष तक परिजनों का मार्गदर्शन कर सोलह यज्ञों का संचालन स्थूल शरीर से किया व फिर भाद्रपद पूर्णिमा १९ सितम्बर १९९४ महालय श्राद्धारंभ वाली पुण्य वेला में अपने आराध्य के साथ एकाकार हो गयीं। उनके महाप्रयाण के बाद दोनों ही सत्ताओं के सूक्ष्म में एकाकार होने के बाद मिशन की गतिविधियाँ कई गुना बढ़ती चली गयीं एवं जयपुर के प्रथम अश्वमेध यज्ञ (नवम्बर ९२) से छब्बीसवें अश्वमेध यज्ञ शिकागो (यू. एस. ए. जुलाई ९५) तक प्रज्ञावतार का प्रत्यक्ष रूप सबको दीखने लगा है।

गुरुसत्ता के आदेशानुसार सतयुग के आगमन तक १०८ महायज्ञ देवसंस्कृति को विश्वव्यापी बनाने हेतु संपन्न होने हैं। युग संधि महापुरश्चरण की अंतिम पूर्णाहुति उसी के बाद होगी। प्रथम पूर्णाहुति नवम्बर १९९५ में कार्तिक पूर्णिमा के अवसर पर युगपुरुष पूज्यवर की जन्मभूमि आँवलखेड़ा में मनायी जा रही है। उनके द्वारा लिखे गये समग्र साहित्य के वाङ्मय का जो सत्तर खण्डों में फैला है, विमोचन भी यहीं सम्पन्न हो रहा है। विनम्रता एवं ब्राह्मणत्व की कसौटी पर खरे उतरने वाले वरिष्ठ प्रज्ञापुत्र ही उनके उत्तराधिकारी कहे जायेंगे, यह गुरुसत्ता का उद्घोष था एवं इस क्षेत्र में बढ़ चढ़कर आदर्शवादी प्रतिस्पर्धा करने वाले अनेकानेक परिजन अब उनके स्वप्नों को साकार करने आगे आ रहे हैं। 'हम बदलेंगे-युग बदलेंगे' का उद्घोष दिग-दिगन्त तक फैल रहा है एवं इक्कीसवीं सदी-उज्ज्वल भविष्य, सतयुग की वापसी का स्वप्न साकार होता चला जा रहा है, यह स्पष्ट दिखाई दे रहा है।

भूमिका

मानवी काया एक विलक्षणताओं का समुच्चय है। यदि इस रहस्यमय अद्भुत कायपिंजर को समझा जा सके व तदनुसार जीवन-साधना सम्पन्न करते हुए अपने जीवन की रीति-नीति बनायी जा सके तो व्यक्तित्व सम्पन्न, ऋद्धि-सिद्धि सम्पन्न बना जा सकता है। इसके लिए अपने स्वयं के मन को ही साधने की व्यवस्था बनानी पड़ेगी। यदि यह सम्भव हो सके कि व्यक्ति अपने चेतन, अचेतन व सुपरचेतन मस्तिष्कीय परतों की एनाटॉमी समझकर तदनुसार अपना व्यक्तित्व विकसित करने की व्यवस्था बना ले तो उसके लिए सब कुछ हस्तगत करना सम्भव है। यह एक विज्ञान सम्पन्न तथ्य है, यह मानवी मनोविज्ञान को समझाते हुए पूज्यवर बड़े विस्तार से इस गूढ़ विषय को विवेचन करते इसमें पाठकों को नजर आयेंगे।

मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार रूपी अन्तःकरण चतुष्टय की सत्ता से हमारा निर्माण हुआ है। यदि विचारों की व्यापकता और सशक्तता का स्वरूप समझा जा सके व तदनुसार अपने व्यक्तित्व के निर्माण का सूत्र समझा जा सके तो इस अन्तःकरण चतुष्टय को प्रखर, समर्थ और बलवान बनाया जा सकता है।

ऐसा कहा गया है कि जैसा हम सोचते हैं, वैसा ही हमारे मुँह से शब्द निकलते हैं। जैसा हम बोलते हैं, वैसा ही हमारा कर्तृत्व होता है। जैसा हम करते हैं, वैसी ही हमारी आदतें बनती चली जाती हैं जो संस्कारों के रूप में चित्त में प्रतिष्ठापित होती चली जाती हैं। चित्त में विद्यमान ये संस्कार ही चरित्र का निर्माण करते हैं। इस प्रकार हमारे चिन्तन से ही हमारे चरित्र का निर्माण होता है, यह कोई अत्युक्ति नहीं है। यह कहाँ होता है? इसे पूज्यवर चेतन मन की चमत्कृति बताते हैं। उत्थान-पतन की पृष्ठभूमि यहीं बनती है। यदि अचेतन का परिष्कार किया जा सके, आत्महीनता की महाव्याधि से मुक्त हुआ जा सके तो हर व्यक्ति अपने विकास का पथ स्वयं प्रशस्त कर सकता है। उत्कृष्टता से ओतप्रोत मानवी सत्ता ही मनुष्य के वैचारिक विकास की अन्तिम नियति है। यदि चिन्तन उत्कृष्ट स्तर का होगा तो कार्य भी वैसे बन पड़ेंगे एवं मानव से महामानव, चेतन से सुपरचेतन के विकास की, अतिचेतन के विकास की आधारशिला रखी जा सकेगी।

पूज्यवर अचेतन की एनाटॉमी विस्तार से समझाते हुए कहते हैं कि मानवी व्यक्तित्व की धुरी, इस अचेतन के परिष्कार-सुधार-सम्बर्धन पर टिकी हुई है। वृत्तियों का परिमार्जन कर उदात्तीकरण की दिशा में बढ़ा जा सकता है। अपनी आत्मसत्ता के विकास की इस प्रक्रिया को जानना-समझना हर किसी के लिए अनिवार्य है। सुपरचेतन की वास्तविक संरचना कैसे की जाती है, कैसे हर व्यक्ति चेतन सत्ता का परिष्कार कर सकने की स्थिति में है। इसके लिए पूज्यवर लिखते हैं कि अपने को जान-पहचान कर, अपने अन्दर छिपी पड़ी असीम सम्भावनाओं को जगा-सुविकसित कर, व्यक्ति जीवनमुक्त स्थिति में जा सकता है। जहाँ अचेतन हमारी संचित पशु-प्रवृत्तियों व श्रेष्ठता की ओर ले जाने वाले विचार प्रवाहों दोनों का ही सम्मिश्रित स्वरूप है एवं यदा-कदा स्वप्नों पूर्वाभासों के माध्यम से अपनी झलक दिखाता रहता है, वहाँ चेतनमन एक समुद्र की तरह है, जहाँ यह सब अभिव्यक्त होता रहता है, लहरों के थपेड़ों के रूप में।

अन्तराल की प्रचण्ड ऊर्जा को जगाकर सुपरचेतन को विकसित कर हममें से हर कोई चेतन की विकसित अवस्था में पहुँच सकता है। अन्तःकरण की पवित्रता तथा प्रेमभाव सुपरचेतन के विकास के लिए अनिवार्य हैं। व्यक्ति यदि यह समझ ले कि यह विकास उसके अपने हाथ में है- अपने शुष्क नीरस पड़े स्रोतों को जगाना उसके अपने बस की बात है तो वह चाहे जो कुछ कर गुजर सकता है। महामानवों का इतिहास वर्णित कर परमपूज्य गुरुदेव ने स्थान-स्थान पर सुपरचेतन को ही विकसित मानव की संज्ञा दी है व लिखा है कि हर महापुरुष ने यही साधना की है।

विराट मन ही इस विश्व का नियामक है । समष्टि की सत्ता से सम्बन्ध स्थापित कर वह विकास सम्भव है जिसे श्री अरविन्द ने अतिचेतन का-महत्त्व चेतना का-अतिमानस का अवतरण कहा है । यह अतिमानस-सुपरमाइण्ड ही वह लक्ष्य है जो जीवनमुक्ति की दिशा में हर व्यक्ति को ले जाता है । अन्दर की अलौकिक इस सामर्थ्य को पहचान कर अपने सुपर चेतन को विनिर्मित करना-चेतनात्मक विकास की पराकाष्ठा तक स्वयं को पहुँचाना, यही इस वाङ्मय का उद्देश्य है । हम इस वाङ्मय के माध्यम से परमपूज्य गुरुदेव की विचार विज्ञान-मनोविज्ञान पर गहरी पैनी पकड़ पाते हैं व यह देखते हैं कि उनने हरेक के लिए आत्मिक विकास का राजमार्ग तैयार करके रख दिया है । चयन हमारे हाथ में है । हम क्या बनना चाहते हैं- यह विवेचन निश्चित ही पाठक को चिन्तन की श्रेष्ठतम ऊँचाई पर ले जायेगा ।

—ब्रह्मवर्चस



विषय-सूची

१. चेतन मन और उसका सुनियोजन	१.१	पहले मन को संस्कारित कीजिए	१.४४
विचारों की व्यापकता और सशक्तता	१.१	मनोमय कोश, अर्थ और साधना	१.४५
विचार प्रवाहों से विनिर्मित होता है प्रखर व्यक्तित्व	१.२	मन को कैसे वश में किया जाय ?	१.५०
विचार शक्ति की अनन्त सामर्थ्य	१.४	मानसिक सन्तुलन सर्वोपरि—कला-कौशल	१.५१
चिन्तन की धारा बदलकर तो देखें	१.६	मन को मनाइये— अपना सहयोगी बनाइये	१.५३
विचारों में निहित रचनात्मक शक्ति	१.७	मन का बचकानापन एवं विवेक बुद्धि का दायित्व	१.५६
विचारणा को कुमार्गगामी न बनने दें	१.८	शरीर मन के नियन्त्रण पर चलता है	१.५७
विचार चेतना के महत्व को समझें	१.११	मन को शासक नहीं, सेवक बनाया जाय	१.५९
विचार शक्ति का सदुपयोग करें	१.१३	समस्त सफलताओं का हेतु—'मन'	१.६०
चिन्तन गढ़ता है, हमारा-आचरण	१.१५	मन को समुन्नत बनाने का एकमात्र राजमार्ग	१.६२
विचार-विज्ञान को समझें	१.१६	मन एक सूक्ष्म प्राकृतिक शक्ति	१.६३
आकांक्षाओं को आदर्शवादी मोड़ दिया जाय	१.१८	मन की अपार शक्ति और उसका उपयोग	१.६४
विधेयात्मक चिन्तन की फलदायी परिणतियाँ	१.१९	मन का गुप्त रेडियो	१.६५
आत्मविश्वास की महती शक्ति सामर्थ्य	१.२१	मन की चमत्कारिक शक्तियाँ	१.६६
विचार शक्ति की परिणति और प्रतिक्रिया	१.२२	मनोमय कोश-मस्तिष्कीय परिष्कार	१.६८
विचार विभ्रम के दुष्परिणाम	१.२३	शरीर और मन का संचालन करने वाली जीवसत्ता	१.७१
सुलझे विचार-सुख का द्वार	१.२६	परिस्थितियों पर नहीं मनःस्थिति पर प्रसन्नता निर्भर है	१.७३
विचारधारा का प्रगतिशील परिष्कार	१.२७	मानसिक परिष्कार और सुखी समुन्नत जीवन	१.७५
प्रवृत्तियों का विवेकपूर्वक उपयोग करें	१.२९	उत्थान और पतन स्वयं साध्य	१.७७
कल्पना लोक की रंगीनियों में न खोयें	१.३०	प्रसन्नता सम्पन्नता पर निर्भर नहीं	१.७९
निरर्थक नहीं, सारगर्भित कल्पनायें करें	१.३१	अपनी अनुभूतियों के सृष्टा-हम स्वयं	१.८१
शेखचिल्ली न बनें	१.३२	इच्छा शक्ति का सुनियोजन कैसे करें ?	१.८३
कुक्कल्पनाओं के नरक से हम स्वयं ही उबरें	१.३६	उत्थान-पतन की कुंजियाँ अपने हाथ में	१.८६
अपना कल्पना जगत हम स्वयं बनाते हैं	१.३८	चेतना के तीन चरण	१.९०
ऊँची उड़ान न उड़ें, धरती पर चलें	१.४०	चेतना को अन्तर्मुखी बनायें	१.९२
पलकों की हलचल है मन का दर्पण	१.४०		
लाख छिपायें, अन्दर के भाव छिप नहीं सकते	१.४२		

चेतना का विकास-संवेदना के स्तर पर निर्भर

१.९४

कहाँ उगे योग का वट वृक्ष ?

१.९५

व्यक्तित्व परिष्कार का मूलभूत आधार

१.९७

व्यक्तित्व के विकास का उद्गम केन्द्र

१.९९

आकर्षण और आभा का स्रोत

१.१००

मनस्वी—तेजस्वी

१.१०१

व्यक्तित्व की रहस्यमय परतें

१.१०२

समस्त सम्भावनाओं से परिपूर्ण मानवीय व्यक्तित्व

१.१०४

वास्तविक प्रगति व्यक्तित्व की उत्कृष्टता

१.१०६

व्यक्तित्व का स्तर गिराये नहीं,

ऊँचा रखें

१.१०८

व्यक्तित्व का सर्वांगपूर्ण जादुई कायाकल्प

१.१११

सर्वांगीण विकास का साधन व्यावहारिक वेदान्त

१.११२

तनकर खड़े रहो जीत तुम्हारी है

१.११४

स्वस्थ मनोरंजन-मनुष्य की एक नैसर्गिक आवश्यकता

१.११५

कलात्मक अभिरुचि भी अनिवार्य है

१.११७

स्फूर्ति व मस्ती पाने की सही विधि

१.११७

“प्रिय” और “अप्रिय” का मनोविज्ञान

१.११९

चेतना का हाथी भौतिकी की

सुतली से बाँधे

१.१२१

हम शरीर नहीं, आत्मा हैं

१.१२३

आत्मा की खुराक भी अनिवार्य

१.१२५

उत्कृष्टता से ओतप्रोत है, मानवी सत्ता

१.१२६

आत्मसत्ता-आत्मिकी की

सर्वांगपूर्ण प्रयोगशाला

१.१२७

चेतना के विकास में परिवेश का महत्व

१.१३०

जीव चेतना की सात भूमिकाएँ

१.१३२

जीवात्मा की सत्ता और वैज्ञानिक

दृष्टिकोण

१.१३६

मनोविज्ञान को नीति विरोधी न बनने दिया जाय

१.१३८

आधुनिक मनोविज्ञान का उपनयन

संस्कार किया जाय

१.१४२

२. अचेतन का परिवर्धन-परिष्कार

२.१

अचेतन मन की विकृति ही रोग-शोक का कारण है

२.१

मनःसंस्थान का समूची जीवन सत्ता पर प्रभाव

२.४

अपने सबसे निकटवर्ती शत्रुओं से जूझिए

२.७

अतिवादी चिन्तन और बढ़ता पागलपन

२.९

भावनाओं को परिष्कृत रखें

२.११

भावनाशील तो बनें, पर भावातिरेक से बचें

२.११

कहीं ! हमें भी सनकने का रोग तो नहीं ?

२.१४

मस्तिष्क को असन्तुलित न रहने दें

२.१५

आत्महत्या अर्थात् अचेतन की विकृति

२.१७

मनःस्थिति को सुव्यवस्थित बनायें

२.२०

आत्महीनता की महाव्याधि

२.२२

भय का मनोविज्ञान

२.२४

मानसिक उद्वेग जीवन विनाश के प्रमुख कारण

२.२६

महत्वाकांक्षाएँ और असन्तोष

२.२९

उत्तेजना—आवेग और आहार

२.३२

चेतना क्षेत्र की अराजकता

२.३३

क्या मानवी सत्ता मात्र रसायनों की पोटली है ?

२.३५

दुर्बल मनःस्थिति पर पड़ने वाले आघात और उनकी प्रतिक्रिया

२.३८

मनोविकारों का अवरोध हमें अपंग बना देता है

२.४२

मन को कुसंस्कारी न रहने दिया जाय

२.४३

मानसिक रोग कितने विचित्र, कितने भयावह

२.४५

उपचार जड़ों का हो पत्तियों का नहीं

२.४९

अनीति का अन्तर्द्वन्द्व

२.५०

आत्महीनता की ग्रंथि से मुक्ति पाइए

२.५१

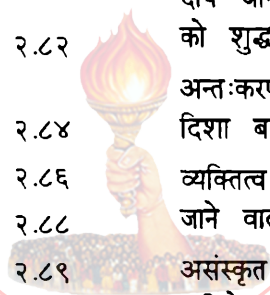
मानसिक विकृतियाँ जीवन

को नरक बनाती हैं

२.५३

मनःशक्ति की विकृति और विनाश एक ही है	२.५५	अचेतन की अभिव्यक्ति है आभामण्डल	२.१११
शांति मन की एक स्थिति का नाम	२.५७	अन्तरंग को सुधारें, बहिरंग सुविकसित होगा	२.११४
मानसिक रोगों का प्रेमोपचार	२.५८	क्या मनुष्य स्वभावतः आक्रामक है ?	२.११६
मानसोपचार की कुंजी अपने ही हाथ में	२.५९	यह 'मूड' क्यों ऑफ हो जाता है ?	२.११७
उपयुक्त रंग चुनिये, मनोविकारों से बचिये	२.६१	जीवन पद्धति वही ठीक, जो "मूड" को सही रखे	२.११८
बढ़ते हुए मनोरोग—कारण और निवारण	२.६३	विघातक इरादे बदल भी सकते हैं	२.१२१
हास्य चिकित्सा को भी अपनाकर देखें	२.६४	हमारी महत्वाकांक्षाएँ—निकृष्ट न हों	२.१२२
यमलोक का चित्रगुप्त हमारा अचेतन मन ही है	२.६६	महत्वाकांक्षा की सनक से खड़े ये अजूबे	२.१२४
अपने मन को साधिये- सुसंस्कारी बनाइए	२.७०	दोषारोपण से घृणा, घृणा से युयुत्सा	२.१२६
अचेतन को प्रभावित-परिष्कृत करने का विज्ञान का प्रयास	२.७१	विचार परिष्कार ही अचेतन का अनावरण है	२.१२९
तृप्ति-तुष्टि-शान्ति	२.७४	मानवी काया का अदृश्य अस्तित्व	२.१३१
मनःक्षेत्र की ढलाई-वास्तविक पुरुषार्थ जाइये, पहले रूठे मन को मनाइये	२.७७	भावनात्मक परिष्कार ही एकमात्र समाधान	२.१३३
अचेतन मन की व्याधियाँ और उनका निराकरण	२.८०	दोष जाने और हटाये बिना स्वयं को शुद्ध न मान लें	२.१३५
मानसिक तनाव बुरा तो है ही, उपयोगी भी	२.८२	अन्तःकरणों का मर्म स्थल अपनी दिशा बदले	२.१३८
समस्याओं का समाधान दृष्टिकोण के परिष्कार पर निर्भर	२.८४	व्यक्तित्व परिष्कार के निमित्त किये जाने वाले उपक्रम	२.१४३
मन पृथक नहीं है शरीर से	२.८६	असंस्कृत अचेतन से सुसंस्कृत अतिचेतन की ओर	२.१४४
मनोभावों का स्वास्थ्य पर प्रभाव वास्तविक और अवास्तविक	२.८८	अन्तः का परिमार्जन-परिष्कार	२.१४६
हित साधन	२.९०	वृत्तियों का परिमार्जन, व्यक्तित्व का उदात्तीकरण	२.१४८
रोग निवारण हेतु मनोबल का उपयोग	२.९२	शरीर का ही नहीं आत्मा का भी ध्यान रखें	२.१५०
आत्म-हत्या पलायन ही नहीं प्रतिशोध भी	२.९४	विलक्षण, अद्भुत प्रेम का रसायन शास्त्र ?	२.१५०
आधुनिकता के अभिशाप	२.९६	अचेतन का परिष्कार ही परम् लक्ष्य	२.१५१
अन्तरंग को परखें, बहिरंग से प्रभावित न हों	२.९८	आगत की झाँकी, अचेतन के झरोखे से	२.१५४
विक्षिप्तता और उसका स्थायी समाधान	२.१००	अहन्ता के नागपाश से जीवन मुक्ति	२.१५५
अन्तरंग को स्वस्थ व निर्मल बनायें	२.१०३		
अवांछनीय अभिवृद्धि के दुष्परिणाम	२.१०४		
सुखाकांक्षा में भटकती अविकसित मनःस्थिति	२.१०५		
सुख पाना हो तो मन को प्रशिक्षित करें	२.१०८		
संतुलित उल्लसित जीवन कैसे जियें?	२.१०९		

www.awgp.org
www.vicharkrantibooks.org



हम माया के बन्धन में कब तक जकड़े रहेंगे	२.१५७	हम आत्म-गरिमा का अनुभव करें और किसी से न डरें	३.२
माया अथवा भ्रम का निमित्त अपरिष्कृत मन:चेतना	२.१५९	भीतर की दुनिया हर हालत में सही रहे	३.३
चित्तवृत्तियाँ सधें तो समताएँ जगें	२.१६१	व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास हो	३.४
आत्मिक ऊर्जा उत्पादन के लिए अनवरत संघर्ष	२.१६३	व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास की धुरी—आध्यात्म	३.५
देवत्व का अभिवर्धन-प्रवृत्तियों के शोधन से	२.१६५	आदर्शवादी धारणाएँ ही मानवी उत्कर्ष में सहायक	३.६
नर-वानर देव मानव कैसे बने ?	२.१६७	प्रेम की विराट् परिधि	३.८
आनन्द कहाँ ? अपनी ही मुट्ठी में	२.१६८	आत्मोत्कर्ष की अवांछनीय उपेक्षा	३.९
मन:शक्ति संवर्धन में योग निद्रा का उपयोग	२.१६९	व्यक्तित्व को प्रभावित करने वाली अति सूक्ष्म शक्तियाँ	३.११
मन: क्षेत्र में निहित परोक्ष संसार	२.१७२	व्यक्ति में महानता का अवतरण ऐसे होगा	३.१३
आत्मिक प्रगति के तीन अवरोध	२.१७४	देवत्व का विकास ही अन्तिम समाधान !	३.१५
आत्मिक प्रगति में बाधक-अवरोधों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण	२.१७७	कैसे हो अंतस् में सत्य का अवतरण ?	३.१६
आत्मिक प्रगति का राजमार्ग	२.१७९	मानव के परिष्कार एवं उत्कर्ष की भावी सम्भावनाएँ	३.१७
चेतना क्षेत्र की सुधि ली जाय	२.१८०	आत्म-विकास के आधार स्तम्भ मूलभूत है, अपने अंदर का देवत्व	३.१९
दिव्य संकतों का आधार—अचेतन का उभार	२.१८२	देव मानव बनने का आह्वान	३.२४
जागृति, स्वप्न, सुषुप्ति और तुर्या	२.१८४	महामानवों की ढलाई करने वाला उच्चस्तरीय मनोविज्ञान	३.२६
चेतना की परतें व उनका रहस्योद्घाटन	२.१८५	महामानवों की मनोवैज्ञानिक व आध्यात्मिक “एनार्टोमी”	३.२८
चेतना जगत के अदृश्य संदेश वाहक मनुष्य तुच्छ और घृणित है किन्तु दिव्यतम भी	२.१८७	अंतःकरण ही वास्तविक भाग्य निर्माता है	३.३०
आत्मदेव परामर्श नहीं मानता	२.१८९	अन्तःकरण पवित्र भावों से अनुप्राणित हो	३.३२
आत्मा को उत्कृष्ट वातावरण का लाभ दिया जाय	२.१९०	अन्तःकरण का विकास और उज्ज्वल भविष्य	३.३३
अन्तराल की सम्पदा खोज निकालने का उपयुक्त समय	२.१९३	हम अंतःकरण की वाणी सुनें और उसका अनुकरण करें	३.३५
यह उत्तरदायित्व आत्मिका वहन करे	२.१९५	अन्तराल के उच्च स्तर का विकास	३.३६
आत्मिकी का परिष्कार एवं उसकी चमत्कारी परिणतियाँ	२.१९८	अन्तःकरण ही वास्तविक भाग्य-विधाता	३.३८
		अन्तःकरण की उत्कृष्ट भाव संवेदना	३.४०
		भाव संवेदनाओं की गंगोत्री सूखने न पाए	३.४१
		भावात्मक चेतना जीवन की सर्वोपरि सत्ता	३.४४
		भावनाओं का अमृत यों ही न बहायें	३.४५
३. सुपर चेतन और जीवन-मुक्ति	३.१		
अपने को जानो	३.१		

भावनाओं को ऊर्ध्वगामी बनाया जाय	३.४७	सच क्या है— चेतना या पदार्थ?	३.१००
आत्म-शक्ति का उपार्जन एवं सुनियोजन	३.४९	चेतना का पदार्थ जगत् पर नियंत्रण	३.१०१
मानवी अन्तराल में प्रसुप्त दिव्य-क्षमता	३.५१	गहन अन्तःचेतना को प्रभावित करने की आवश्यकता	३.१०२
मनश्चेतना के उच्चस्तरीय आयाम	३.५४	परिष्कृत चेतन तत्त्व की अनुभूतियाँ	३.१०५
सामर्थ्य सम्पदा से भरा-पूरा मानवी अन्तराल	३.५६	अविज्ञात को जानने के लिए, चलें चेतना के सर्वोच्च आयाम में	३.१०७
अन्तराल की प्रचण्ड ऊर्जा	३.५८	परिष्कृत अंतरंग चेतना की उपलब्धियाँ	३.११०
अन्तराल में निहित सिद्धि वैभव	३.६०	अविज्ञात रहस्यों से भरी मानवी चेतना	३.११२
विशिष्ट क्षमताओं हेतु अन्तः का परिशोधन अनिवार्य	३.६१	चेतना के महासागर में दबी विलक्षण संभावनाएँ	३.११४
अंतःशक्ति की विलक्षणता के तथ्य-प्रमाण	३.६२	मनुष्य की बलिष्ठ आत्म चेतना	३.११५
शस्त्रों से भी अधिक सामर्थ्यवान मन की शक्ति	३.६४	अतिमानवी चेतना की उपलब्धि	३.११८
इनका कारण ढूँढ़ना अभी शेष है	३.६६	प्रत्यक्ष ही सब कुछ नहीं है	३.१२१
मानव में अन्तर्निहित रहस्यमय शक्तियाँ	३.६७	आत्मा क्या है ?	३.१२३
विलक्षण मानसिक शक्तियाँ और उनका आधार	३.६९	आत्मा का अस्तित्व झुठलाया न जाय	३.१२४
ऊर्ध्वगामी मन की सामर्थ्य	३.७२	मन से छीनकर प्रधानता आत्मा को दीजिये	३.१२८
बड़ा विलक्षण-अद्भुत है, मानवी मन	३.७३	अपनी ही आत्मा सर्वत्र बिखरी पड़ी है	३.१३०
मन में निहित विलक्षण अतीन्द्रिय सामर्थ्य	३.७४	आत्म-शक्ति का अकूत भण्डार	३.१३१
मनोनिग्रह और आत्मिक उत्कर्ष	३.७५	परमाणु शक्ति से बढ़कर है आत्मसत्ता	३.१३३
मणि-मुक्तकों से भरा चेतन शक्ति का भाण्डागार-मानव मन	३.७७	मानवी सत्ता ब्रह्माण्डीय सत्ता की प्रतिकृति है!	३.१३५
विराट मन ही इस विश्व का नियामक	३.८०	मानवी चेतना में सन्निहित दिव्य शक्तियाँ	३.१३६
चेतना की उदात्तीकरण प्रक्रिया	३.८१	चेतना को प्रखर बनायें और सामर्थ्यवान बनें	३.१३८
मन में निहित विकास की उच्चतर अवस्थाएँ	३.८३	अन्तर्सत्ता का प्रचण्ड सूक्ष्मीकरण पुरुषार्थ	३.१४०
योगी अरविन्द का अतिमानस और धरती पर स्वर्ग	३.८४	मानवी सत्ता -हर दृष्टि से अनुपम, अद्भुत एवं आश्चर्यजनक	३.१४२
हमें प्रज्ञा का आश्रय लेना पड़ेगा	३.८७	अन्दर छिपा वैभव का जखीरा	३.१४४
चेतना का सर्वोच्च आयाम एवं उसकी प्राप्ति	३.८८	अलौकिक शक्तियों का उद्गम-अन्तराल में	३.१४५
चेतना क्षेत्र में विज्ञान का प्रवेश हो	३.९१	परिष्कृत अन्तराल विभूतियों का भाण्डागार	३.१४७
अविज्ञात को मिलेगी अब विज्ञान की मान्यता	३.९३	अन्दर छिपी पड़ी अलौकिक सामर्थ्य	३.१४९
भौतिकी का सूक्ष्मीकरण-चेतन सत्ता से एकीकरण	३.९५	न ज्ञान न विज्ञान फिर भी निर्वाध आदान-प्रदान	३.१५१
पदार्थ और चेतना—दो भिन्न अस्तित्व	३.९७	आत्मचेतना विराट की प्रतिनिधि	३.१५३



देखने वाली आत्मा को आँखें

आवश्यक नहीं

३.१५५

सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्

३.१५८

न यंत्र न विज्ञान फिर भी दूरवर्ती
का ज्ञान

३.१६०

रहस्यमयी आत्मविद्या के अन्वेषण की
आवश्यकता

३.१६२

अद्वैत आत्मा का अद्वैत अनुभूतियाँ

३.१६३

मन की परतों में छिपी विलक्षणताएँ

३.१६५

मनुष्य की सूक्ष्म आध्यात्मिक

संरचना एक वैज्ञानिक विवेचन

३.१६५

सूक्ष्म शरीर की सामर्थ्य को समझें

३.१६९

सूक्ष्म शरीर का आणविक विश्लेषण

३.१७१

सूक्ष्म शरीर विज्ञान की दृष्टि में

३.१७३

सूक्ष्म शरीर की अति समर्थ

सूक्ष्म शक्तियाँ

३.१७५

भाव चेतना को प्रभावित करे,
ऐसी विद्या की खोज हो

३.१७७

आत्मिकी का अवलम्बन एवं उसके
प्रतिफल

३.१८०

आत्मिकी की प्रगति एवं सुनियोजन की
आवश्यकता

३.१८२

हे मानव! तू पहले अपनी आत्मा को
पहिचान

३.१८५

अपने को जानें, भव बन्धनों से छूटें

३.१८७

मानव जीवन का परम पुरुषार्थ—आत्मज्ञान

३.१८९

आत्मज्ञान से ही दुःखों की निवृत्ति
संभव है

३.१९१

आत्म-ज्ञान की आवश्यकता

३.१९३

आत्मज्ञान जीवन की महानतम् उपलब्धि

३.१९५

आत्म-ज्ञान का तत्त्व दर्शन

३.१९८

पूर्णत्व की प्राप्ति का एक ही राजपथ

३.२००

समर्थ सत्ता को देखें, सुनें, प्राप्त करें

३.२०३

आत्मा में परमात्मा की निकटतम अनुभूति

३.२०५

आत्मा की परमात्मा से गुहार

३.२०६

परमात्मा को जानने के लिए

अपने आपको जानो

३.२०९

अन्तरात्मा की प्यास और तृप्ति

३.२१०

सच्चिदानन्द स्वरूप—अन्तरात्मा

३.२१३

आनन्द की गंगोत्री अपने ही भीतर

३.२१४

अजस्र शान्ति के बीज अन्तःभूमि
में उगते हैं

३.२१७

स्रोत अन्दर है, बाहर नहीं

३.२१८

आत्म विस्तार—अखण्ड आनन्द का
एकमात्र साधन

३.२१९

शाश्वत आनन्द का अनुसंधान

३.२२१

आत्मानुसंधान देगा सहजानन्द

३.२२२

अन्तकरण की पुकार अनसुनी न करें

३.२२४

प्रभु दर्शन की पूर्व-भूमिका

३.२२६

ग्राह रूपी जीवात्मा की बंधनमुक्ति

३.२२८

ईश्वर विकास का चरम बिन्दु है

३.२२९



चेतन मन और उसका सुनियोजन

विचारों की व्यापकता और सशक्तता

जिस क्षेत्र में जिस प्रकार के लोग बहुलता से रहते हैं अथवा जहाँ का चिन्तन एक स्तर का चलता रहता है वहाँ का वातावरण एक विशेष प्रकार की विशेषता से अनुप्राणित हो जाता है। सामूहिकता की शक्ति अपने आप में एक विशेष प्रकार की क्षमता से भर जाती है। संयुक्त शक्ति की महिमा से सभी लोग परिचित हैं। इसके चमत्कार देखना हो तो एक स्वभाव के एक जैसे लोगों के एक साथ रहने पर जो प्रभाव बनता है उसका अवलोकन करना चाहिए।

मरघट में डरावना वातावरण रहता है। वहाँ आये दिन मुर्दे जलते हैं। ऐसा भी होता है कि दाह-संस्कार के लिए जो लोग आते हैं उनमें अधिकांश के मन में बिछोह, वेदना और शोकभरी भावना रहती है। मुर्दे के जल जाने और उस कृत्य में सम्मिलित होने के लिए आये लोगों के चले जाने पर भी विशेष संवेदनाओं का प्रभाव उस भूमि पर बना रहता है। बहुत समय वही क्रम चलते रहने पर वह भूमि, वहाँ के पेड़-पौधे उन संस्कारों को अपने में धारण कर लेते हैं। फल यह होता है कि जो भी वहाँ पहुँचता है वह अपने में एक विशेष प्रकार की सनसनी अनुभव करता है और भयभीत जैसी मनःस्थिति बनते जाने का अनुभव करता है।

कसाईखानों में जहाँ जानवर कटते रहते हैं वहाँ अस्वच्छता तो रहती है, तनाव भी ऐसा ही होता है कि कटने वाले प्राणियों की छटपटाहट उस क्षेत्र पर हावी हो जाती है। आसपास रहने वालों के चित्त में उद्विग्नता पैदा करती है। न उन्हें चैन से बैठने देती है और न शान्ति अनुभव करने देती है।

वेश्यालयों के मुहल्लों में, नशेबाजों का जमघट जुटने वाले स्थानों से भी कुछ ऐसी ही उद्विग्न करने वाली स्थिति रहती है। कोई कुछ कहे सुनाये तो भी मन में उन गतिविधियों में भागीदार बनने के लिए ललक उठने लगती है। धीरे-धीरे विचार जोर पकड़ते जाते हैं और मन ललचाकर वहाँ चल रही प्रवृत्तियों में भागीदार बनने के लिए कदम बढ़ाने लगता है। यह सामूहिक शक्ति से उत्पन्न हुआ प्रतिफल है। इसे कटने में कोई प्रबल मनस्वी ही सफल होते हैं, अन्यथा देखा यही गया

है कि बड़े प्रवाह में छोड़ा गया जल भी उसी प्रवाह में पड़कर उसी दिशा में बहने लगता है।

सिपाहियों की सेना के सम्पर्क में रहने पर दुर्बल मन वालों की भी भुजाएँ फड़कने लगती हैं। नृत्य, गायन, वाद्य की कलोल में अपना मन भी तरंगित हो उठता है। मेले-ठेले में, उत्सव-आयोजन में जहाँ अधिक भीड़ जमती है, वहाँ अपना मन भी सम्मिलित होने के लिए मचलने लगता है। अश्लीलता के वातावरण में अच्छे भले लोग भी कामुकता की दिशा में चलने की बात सोचने लगते हैं। ऐसे कम ही लोग होते हैं जो अपने दृढ़ निश्चय पर अटल बने रहें और वातावरण को अपने ऊपर हावी न होने दें। आँधी चलती है तो पत्तियाँ, टहनियाँ हिलने लगती हैं। कमजोर पेड़-पौधे तो उखड़ भी जाते हैं पर ऐसे सुदृढ़ वट-वृक्ष जहाँ-तहाँ ही होते हैं जिन पर ऋतुओं का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। जो न केवल चट्टान की तरह अपने स्थान पर अटल खड़े रहते हैं, वरन् एकाकी होते हुए भी आत्मविश्वास के सहारे अपने कर्तव्य पथ पर बिना चूके चलते रहते हैं। अन्यथा मध्यवर्ती लोग हवा का रुख बदलने पर अपना तरीका भी बदल लेते हैं। कुछेक व्यक्ति ही दृढ़ निश्चय और अविचल प्रयास वाले होते हैं अन्यथा अधिकांश लोग बहाव के साथ बहते देखे जाते हैं।

वातावरण जब युद्धोन्माद की विचारधारा से अभिप्रेरित हो जाता है, अनेकों का मन सेना में भर्ती होने और मोर्चे पर जाने के लिए करने लगता है। यह सामूहिक विचारों की संयुक्त शक्ति का प्रतिफल है। तेज धार में बहती हुई नदी में जो कुछ भी कूड़ा-कचरा गिर पड़ता है वह उसी के साथ बहता चला जाता है। अंधड़ अपने साथ पत्तों को धूल-कणों को भी उड़ा ले जाता है। बहाव को, रोककर बाँध बाँधना और पानी को अभीष्ट दिशा में मोड़ देना संभव तो है पर है कठिन।

कठिन कार्यों को सम्पन्न करने के लिए प्रखर प्रतिभा की आवश्यकता होती है साथ ही प्रबल प्रयत्नों की भी। इसके लिए आवश्यक साधन भी जुटाने पड़ते हैं। नीचे की दिशा में बहते प्रवाह को बाँध के रूप में जो लोग रोक सकते हैं। उनके लिए यह भी संभव हो जाता है कि उस निरर्थक दौड़ने वाले पानी का सदुपयोग करके बिजलीघर बना सकें, पनचक्कियाँ चला सकें। यह श्रम साध्य प्रक्रिया जिनसे बन पड़ती है, वे अपनी मनस्विता

१.२ चेतन, अचेतन एवं सुपर चेतन मन

बहाते चलते हैं। अपनी विशिष्टता से अनेकों को अनुप्राणित करते हुए अपने साथ घसीटते ले चलते हैं। एक साहसी के साथ अनेकों साहसी बनते हैं, जबकि एक कायर के साथ अनेकों को कायर बनने में भी देर नहीं लगती। विचारों की शक्ति अपार है, वह ऊँचा भी उठा सकती है और नीचे गिराने में भी समर्थ है। इस शक्ति की महिमा असीम और अपार है। उसकी क्षमता को अपनाया और कर्म रूप में परिणित किया जाना चाहिए।

मनुष्य अनेक प्रकार के कार्य करता है। करने से पूर्व वह प्रक्रिया विचार रूप में विकसित होती है। विचार तब बनते हैं, जब अनगढ़ कल्पनाओं का बुद्धि द्वारा इतना परिमार्जन कर लिया जाता है कि वे व्यवहार में उतारने योग्य बन जायें। विचारों का शरीर के समस्त अंग अवयवों पर आधिपत्य है। कठपुतली को धागों के सहारे बाजीगर नचाता है। मन के निर्देशन पर ही शरीर के विभिन्न अवयव निर्देशित प्रक्रिया पूर्ण करते हैं। इसी का नाम कर्म है। वे मात्र विचारों की परिणति हैं।

अपने भले-बुरे कृत्यों के लिए तो विचार उत्तरदायी हैं ही, इसके अतिरिक्त वे समीपवर्ती लोगों को विशेष रूप से प्रभावित करते हैं। एक-दो विचारशील व्यक्ति ही मिल-जुलकर समूचे परिवार का स्तर एवं भविष्य विनिर्मित करते हैं। बालकों पर अभिभावकों और अध्यापकों का विशेष प्रभाव पड़ता है। बालक विशेष रूप से और बड़े सामान्य रूप से उन प्रभावों से प्रेरणा लेते हैं और अपने लिए कर्तव्य निर्धारित करते हैं।

एक प्रकार के विचारों वाले जब मिल-जुलकर रहने लगते हैं, एक दिशा में सोचते और कदम उठाते हैं तो वह संगठन बन जाता है। जब तक विचारों में एकता और घनिष्ठता नहीं, तब तक भारी भीड़ भी कहीं जमा होती है तो उनका स्वरूप मात्र मेले-ठेले जैसा बनेगा। प्लेटफार्मों, सड़कों बसों, रेलों में अनेक बैठे और चलते-फिरते दीखते हैं। पर उनके उद्देश्यों की एकता न होने से वे मात्र भीड़ बनकर रह जाते हैं। एक-दूसरे की सहायता तक नहीं कर पाते। पर जब भावनात्मक एकता और क्रिया पद्धति में एकरूपता होती है तो छोटा समुदाय भी बड़े चमत्कार दिखाने लगता है।

विचारों की विद्युतशक्ति मात्र संबद्ध व्यक्तियों तक सीमित नहीं रहती, वरन् वह समूचे अन्तरिक्ष में बिखर जाती है। वे हवा की तरह उड़ते रहते हैं और जहाँ भी अपनी अनुरूपता देखते हैं, वहाँ डेरा डाल बैठते हैं। धातुओं की खदानें भी इसी प्रकार जमा होती हैं। दूर-दूर तक रेत में बिखरे हुए कणों में किसी जगह एकत्रित हुआ ढेर अपने चुम्बकत्व द्वारा बिखरे कणों को समीप

घसीटता रहता है और छोटे से बड़ा बनता रहता है। विचारों के सम्बन्ध में भी यही बात है। वे जब भी, जहाँ भी एकत्रित होते हैं, वहाँ अपना समुदाय बना लेते हैं। विभिन्न प्रकार के वर्ग इसी प्रकार बनते हैं। उनमें प्रौढ़ता, परिपक्वता आती-जाती है तो क्षमता और भी अधिक बढ़ती है। अपने प्रभाव शक्ति से वे अनेकों का लपेट में लेते हैं और छोटे समुदाय को बड़ा बनाते हैं। इसी प्रकार संसार में अनेकानेक विचारधाराएँ बनती और वर्ग बनते रहे हैं। यदि कोई आदर्शवादी विचारधारा समूचे अन्तरिक्ष को आच्छादित कर ले तो एकता-समता का वातावरण सहज ही बन सकता है। इक्कीसवीं सदी ऐसे ही कुछ विचार पुंज लिए साथ आ रही है।

विचार प्रवाहों से विनिर्मित होता है प्रखर व्यक्तित्व

विचारणाओं—भावनाओं की उत्कृष्टता ही मानवी उत्कर्ष का अभ्युदय का प्रमुख आधार है। जो इस तथ्य से भली-भाँति अवगत है, वे अपनी चिन्तन चेतना को सदैव ऊर्ध्वगामी बनाये रखने का प्रयत्न करते हैं। विचार-शक्ति की महिमा से अनभिज्ञ व्यक्तियों को जिस-तिस प्रकार अस्त-व्यस्त जीवन जीने को विवश होते और अविकसित मनःस्थिति में ही दम तोड़ते देखा जाता है। विचारों का स्तर विषेयात्मक या निषेधात्मक जैसा भी होगा, व्यक्तित्व भी तदनु रूप ढलता चला जायेगा।

मनःचिकित्सक डॉ. जार्ज आर. बैच ने निषेधात्मक प्रकार की विचारधारा को मनुष्य का सबसे बड़ा आन्तरिक शत्रु बताया है। अपनी कृति-‘द इनर एनिमी’ में उन्होने लिखा है कि संसार में इससे बढ़कर हानिप्रद दुश्मन और कोई नहीं। बाहरी शत्रु मात्र आर्थिक या शारीरिक हानि पहुँचा सकते हैं और यदि सतर्कता बरती जाय, सावधान रहा जाय, तो उनसे लोहा लिया और निपटा भी जा सकता है, किन्तु आन्तरिक दुश्मन तो अन्तराल में पनपने और मन मस्तिष्क में उमड़ने-धुमड़ने वाले हेय विचार हैं, जिन्हें असावधान व्यक्ति न तो पहचान पाते हैं और न उनसे बचने या पीछा छुड़ाने का प्रयत्न ही करते हैं। उन्होने इसे ‘हेण्डसम डेविल’ के नाम से सम्बोधित किया है, कारण कि यह सुन्दर, लुभावने सपने दिखाते और अपने मोहपाश में फँसाकर अन्ततः पतन के गर्त में जा धकेलते हैं। जीवनक्रम को अस्त-व्यस्त करके रख देने वाली इस विचार प्रक्रिया को दैत्य की श्रेणी में रखा गया है। विचार तन्त्र का परिष्कार ही इससे त्राण पाने का सरलतम उपाय है।

विधेयात्मक विचार प्रक्रिया को अपनाकर ही आगे बढ़ा और ऊँचे उठा जा सकता है। प्रगति एवं व्यक्तित्व की प्रखरता का सूत्र सादा जीवन व उच्च चिन्तन में ही निहित है। विश्व प्रसिद्ध लेखक डॉ. वेने डायर ने 'द स्काई इज द लिमिट' नामक पुस्तक में विचारणा की इस श्रेष्ठतम स्थिति कोर्टोन्सेडिंग ऑथोरीटेरियन थिंकिंग अर्थात् उत्कृष्ट प्रामाणिक चिन्तन के नाम से सम्बोधित किया है और इस तरह की विचार प्रक्रिया को अपनाने वाले व्यक्ति को 'नो लिमिट परसन'—अर्थात् असीम एवं असाधारण व्यक्तित्व वाला बताया है। ऐसे व्यक्ति सामान्यजनों की अपेक्षा अपनी समस्याओं का समाधान स्वयं ढूँढ़ने तथा अपने बारे में निर्णय ले सकने की क्षमता से पूर्ण होते हैं और साथ ही परिस्थितियों के अनुरूप मनःस्थिति को ढालने की कला में भी पारंगत होते हैं। उनके चिन्तन की परिधि सीमा न रहकर असीम हो जाती है। स्वतन्त्र एवं व्यवस्थित सूझबूझ वाले व्यक्तियों के निर्णय सही और सार्थक सिद्ध होकर रहते हैं।

रेन दैकार्त को आधुनिक दर्शन का जन्मदाता कहा जाता है। उनके कथनानुसार मनुष्य में 'कीजीटो' नामक एक विशिष्ट प्रकार की विचार ऊर्जा सतत प्रवाहित होती रहती है। यदि उसे विधेयात्मक एवं रचनात्मक दिशा में मोड़ा-मरोड़ा जा सके तो मनुष्य सीमित एवं संकुचित दायरे से निकलकर अपने विराट स्वरूप की झाँकी आसानी से कर सकता है। जीवन दर्शन की समस्त संभावनाएँ इसी ऊर्जा प्रवाह पर निर्भर करती हैं। सामान्य से असाधारण बना सकने वाला जीवन तत्व इसी में विद्यमान है। डॉ. वेने डायर ने 'कीजीटो' को ही 'नो लिमिट-थिंकिंग' अर्थात् असीम चिन्तन से सम्बोधित किया और बताया है कि यह मानवी चिन्तन की वह अवस्था है जिसमें ज्ञान-कर्म और विचार की चिन्तन-चरित्र व्यवहार की तीनों धाराओं का सामंजस्य-समन्वय सरलतापूर्वक बैठ जाता है। केवल विचारणा मात्र ही मानवी व्यक्तित्व का प्रतीक नहीं होती वरन् समग्र व्यक्तित्व का निर्धारण आचार और विचार दोनों से मिलकर बनता है। चरित्र का निर्माण इन्हीं से होता है। संसार में ऐसे कितने ही व्यक्ति पाये जा सकते हैं, जिनके विचार बड़े ही उदात्त, महान और आदर्शपूर्ण होते हैं, किन्तु उनकी क्रियाएँ उनके अनुरूप नहीं होतीं। विचार पवित्र हों और कार्य अपावन, तो यह व्यक्तित्व की श्रेष्ठता कहाँ हुई ? इसी प्रकार यह भी हो सकता है कि कोई ऊपर से बड़े ही सत्यवादी, आदर्शवादी और धर्मपरायण दीखते हों, किन्तु भीतर कलुषपूर्ण विचारधारा ही प्रवाहित हो रही हो। दोहरे जीवन जीने वाले ऐसे

व्यक्ति खरे व्यक्तित्व वाले नहीं माने जा सकते। चरित्रवान उसे ही माना जायेगा और वास्तव में वही होता भी है जो विचार और व्यवहार दोनों को समान रूप से उच्चस्तरीय और पवित्र रखकर चलता है।

काय-कलेवर, जिससे आचरण और क्रियाएँ प्रतिपादित होती हैं, विचारों द्वारा ही संचालित होता है। उनके स्तर के अनुरूप ही व्यक्तित्व का निर्माण होता है। जो व्यक्ति रचनात्मक विचारणाओं को जिस अनुपात में अपनाता, संजोता और सक्रिय करता चलता है, उतना ही वह सदाचारी, पुरुषार्थी और परामार्थी बनता जाता है। इसी आधार पर सुख-शान्ति के अक्षुण्ण बने रहने का आधार खड़ा होता है। विचार प्रवाह के निम्नगामी होने पर व्यक्तित्व के विकास में विघ्न पहुँचता है। इस तरह की विचारधारा को 'डिकोटोमस,' अर्थात् विकृत एवं विघटनकारी प्रवाह के नाम से भी जाना जाता है। इस मानसिक रुग्णता की स्थिति में अचिन्त्य चिन्तन एवं अनौचित्यपूर्ण क्रियाकलापों के जाल में फँस जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। अज्ञानता-अबोधतावश और असावधानी से ऐसा हो सकता है, किन्तु तथाकथित सभ्यों को जब ऐसा सोचते और आचरण करते देखा जाता है जो मानवी गरिमा और सभ्यता के अनुकूल नहीं होता तब और भी अधिक आश्चर्य होता है।

वस्तुतः 'नो लिमिट परसन' अर्थात् विशाल व्यक्तित्व का अर्थ है—संकीर्णताजन्य स्वार्थपरता के भव-बन्धनों का परित्याग करने वाली उत्कृष्ट चिन्तन की रीति-नीति को अपनाकर अपने को लोकोपकारी, आदर्शवादी विचारधारा के साथ जोड़ना। इस विधा को जानने वालों के जीवन में सदैव प्रसन्नता और प्रशंसा ही दृष्टिगोचर होती है। निन्दा, आलोचनाओं से वह सदा अपने को दूर रखते हैं। राल्फ् बाल्डो इमर्सन जैसे अध्यात्मवेत्ता और आइन्स्टीन जैसे वैज्ञानिक अपने उत्कृष्ट प्रामाणिक चिन्तन के कारण ही दुनिया को नयी और रचनात्मक दिशाधारा दे सकने में सफल हो सके। यह सभी इस तथ्य का उद्घाटन करते हैं कि मानवी शक्तियों में विचार शक्ति का बहुत महत्व है। एक विचारवान व्यक्ति लाखों, करोड़ों का नेतृत्व कर सकता है। इस क्षमता से सम्पन्न व्यक्ति साधनहीन होने पर भी अपनी उन्नति और प्रगति का मार्ग निकाल लेते हैं। विधेयात्मक दिशाधारा अपनाकर ही महापुरुष समाज और राष्ट्र का निर्माण किया करते हैं। इस सामर्थ्य के बल पर आध्यात्मिक व्यक्ति कठिन से कठिन भव-बन्धनों को पारकर आत्म-साक्षात्कार करते एवं परमात्म सत्ता से जुड़ते हैं। ऐसे व्यक्तियों निर्माण किसी स्कूली पढ़ाई अथवा ऊपर के थोपे हुए ज्ञान से नहीं अपितु चिन्तन-चेतना के

१.४ चेतन, अचेतन एवं सुपर चेतन मन

परिष्कार से ही संभव है। तपश्चर्या का योग-साधनाओं का अवलम्बन इसी प्रयोजन की पूर्ति करता है। शिक्षा का अर्थ भौतिक जानकारी देने वाली स्कूली पढ़ाई तक सीमित हो गया है। उसके द्वारा बहुज्ञता, कुशलता एवं अधिक उपार्जन क्षमता के लाभ तो मिल सकते हैं किन्तु उच्चस्तरीय व्यक्तियों का निर्माण विचार परिष्कार से ही संभव है। चिन्तन की उत्कृष्टता जहाँ होगी वहाँ जीवन में स्नेह-सौजन्य का, सौमनस्य का बाहुल्य मिलेगा। इसी प्रकार सम्पर्क क्षेत्र में पारस्परिक सहयोग-सद्भाव उमड़ रहा होगा।

सामान्य लोगों की अपेक्षा दार्शनिक, विचारक, संत, मनीषी एवं कलाकार अधिक निर्धन और अभावग्रस्त स्थिति में होते हैं, पर उन्हें सम्पत्तियों की तुलना में कहीं अधिक संतुष्ट, सुखी और शांत समुन्नत देखा जाता है। इसका एकमात्र कारण यही है कि सामान्यजन सुख-शान्ति के लिए जहाँ लौकिक और भौतिक सुविधा-साधन जुटाने में निरत रहते हैं, वहीं महामानव मानसिक साधना अथवा वैचारिक साधना के अभ्यासी होते हैं, विकृत एवं विघटनकारी चिन्तन के दुष्परिणामों को भलीभाँति समझने और उत्कृष्ट चिन्तन की रीति-नीति अपनाकर कष्ट-कठिनाइयों से छुटकारा पाने में समर्थ होते हैं। वस्तुतः मनुष्य की संरचना समन्वयवादी एवं मानवतावादी दृष्टिकोण को ध्यान में रखकर परमात्मा ने की है। इस तरह की विचारणा को मनीषियों ने कल्पवृक्ष की उपमा दी है, जो व्यक्ति की हर आवश्यकता को पूरी करने की क्षमता रखती और उसे सन्मार्ग पर चलने के लिए अभिप्रेरित करती है।

शुभ और दृढ़ विचार मन में धारण करने और उत्कृष्ट चिन्तन-मनन करते रहने से सात्विक भावों की अभिवृद्धि होती है। आचरण उदात्त और उन्नत बनता है। मानसिक शक्ति का विकास होता और सदगुणों की प्राप्ति होती है। अतः यह आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी है कि अपने सोचने-विचारने की प्रक्रिया पर नये सिरे से मंथन किया जाय और उसमें से खोज-खोजकर निकृष्ट एवं हेय स्तर के विचारों को निकाल फेंका जाय। साधना, स्वाध्याय, संयम, सेवा के उपाय-उपचारों द्वारा सद्विचारों का आरोपण सहज संभव हो जाता है। प्रखर, प्रतिभाशाली व्यक्तित्व का निर्माण एवं उज्ज्वल भविष्य का निर्धारण इसी आधार पर संभव हो सकेगा।

विचार शक्ति की अनन्त सामर्थ्य

समुन्नत जीवन की व्यापक-विस्तृत सम्भावनाओं का आधार सद्विचार ही है। विचारों की तरंगें प्रकाश, ताप,

ध्वनि एवं विद्युत की अपेक्षा अधिक ही शक्तिशाली हैं, कम नहीं।

शिकागोवासी टेड सीरियस द्वारा कल्पनाओं के फोटो खींच सकने की बात अब विश्वविदित है। टेड की इस शक्ति से विचार-तरंगों की शक्ति व गति का ही संकेत मिलता है।

विचार हैं क्या ? प्राण-शक्ति (वाइटल फोर्स) की स्फुरण (डिस्चार्ज) ही विचार हैं। फोटोन कण प्रकाशवेग से चलते हैं, इसीलिए वे अनन्त यात्रा कर सकते हैं। समय फोटोन के लिए गतिशून्य हो जाता है। विचार-शक्ति भी कालातीत है; क्योंकि उसकी गति प्रकाशवेग से भी अधिक है। सैकिंड के करोड़वें हिस्से से भी कम समय में हम विश्व के किसी भी बिन्दु पर विचार-शक्ति द्वारा पहुँचकर वापस आ सकते हैं।

सामान्यतः मनुष्य अपनी विचार-शक्ति का उपयोग नहीं करता। विचार-शक्ति में प्राण-शक्ति के स्फुरण वेग के अनुसार ही शक्ति होती है। उसकी तीव्रता (इन्टेन्सिटी) के आधार पर उसे मन्द, मध्यम और गहन-प्रचण्ड इन तीन वर्गों में बाँट सकते हैं। अनियमित टूटे-फूटे विचारों में बल व वेग मन्द होता है। उनका सम्प्रेषण थोड़ी ही दूर तक किया जा सकता है और उनमें प्रभावित कर सकने की सामर्थ्य भी अत्यल्प होती है। अविकसित व्यक्तियों की विचार-शक्ति मन्द ही होती है।

सामान्य औसत व्यक्तियों की विचार-शक्ति मध्यम होती है। शिक्षा व सम्पत्ति के अर्जन में यही यथेष्ट सहायिका होती है। मध्यम विचार-शक्ति वाले लोगों की बुद्धि पल्लवग्राही होती है, मूलग्राही नहीं। बन्दर इस डाल से उस डाल पर पत्तियों को छूता, पकड़ता, गाता, कूदता रहता है। यही पल्लवग्राहिता है। सामान्य व्यक्ति विविध जीवन-क्षेत्रों की सतही जानकारी रखते हैं तथा उसके सहारे व्यवहार-कौशल का कार्य सम्पादित करते हैं।

किसी विषय में गहरे पैठने की प्रवृत्ति को मूल-ग्राही प्रवृत्ति कहते हैं। गहनता से विचार करने हेतु अपनी सम्पूर्ण ध्यान-शक्ति नियोजित करनी होती है। इससे प्राण-शक्ति का विशेष स्फुरण होता है। देर तक एक ही विषय से सम्बद्ध विचार मस्तिष्क में बना रहने पर उसमें संवेग (मूमेन्टम) बढ़ता रहता है। विकसित इच्छा-शक्ति से जुड़े विचारों में मस्तिष्क एवं हृदय, दोनों का बल काम करता है। इससे उनकी गति तीव्र और प्रभाव गहन हो जाता है। वे अत्यधिक शक्तिशाली हो जाते हैं और उनका परिणाम भी शीघ्र ही प्राप्त होता है। प्रचण्ड, प्रभावशाली और साकार विचारधारा में प्राण-शक्ति का ही प्रभाव होता है। जब मन को अन्य सभी दिशाओं से

हटाकर किसी विशेष बिन्दु पर, किसी आदर्श विशेष में या विषय-विशेष में केन्द्रीकृत किया जाता है, तो चिन्तन और आकांक्षाओं का केन्द्र-बिन्दु वही एक हो जाता है। मनुष्य उसी उधेड़बुन में लगा रहता है। उसी प्रयोजन के लिए प्रतिपल सक्रिय, जागरूक एवं गतिशील रहता है। आस्था उसी आदर्श में दृढ़ होती है। विचारों का केन्द्र वही होता है और गतिविधियों का प्रेरणासूत्र भी वही होता है। आस्था, चिन्तन और कर्म की त्रिवेणी प्रचण्ड मस्तिष्कीय ऊर्जा के रूप में प्रवाहित होती है। वह सृजनात्मक गतिविधियों और अनुभूतियों का आधार बनती है। प्रबल अवरोधों से टकराकर भी टिके रहने और प्रवाहित रहने की शक्ति उसमें आ जाती है। यह त्रिवेणी व्यक्तित्व को दिव्य, पवित्र बनाती है। वस्तुतः श्रेष्ठ व्यक्तित्व उस स्थिति का ही नाम है, जहाँ मध्य में होती है, प्रखर उत्कृष्ट विचार-शक्ति और उसमें भावना, निष्ठा-आस्था की हृदय-शक्ति तथा तदनुरूप आचरण व्यवहार की क्रियाशक्ति का समन्वय होता है।

प्राण-शक्ति का चुम्बकीय विद्युत-प्रवाह ही विचारों को प्रचण्ड बनाता है। प्राण को मानवी-व्यक्तित्व के आधार पर ढली हुई विशिष्ट ऊर्जा कह सकते हैं। इस ऊर्जा को जब निर्धारित लक्ष्य की एक ही दिशा में नियोजित किया जाता है, तब उसका विशिष्ट प्रभाव स्वाभाविक ही है। प्राण की विद्युत के अनुपात से विचार-तरंगों में प्रखरता आती है। एम्प्लीफायर के माध्यम से हलकी-सी आवाज को इतना शक्तिशाली बना दिया जाता है कि उसे सैकड़ों-हजारों मील दूर-दूर तक बैठे लाखों व्यक्ति सुन सकते हैं। परिष्कृत सधन प्राण-शक्ति की सूक्ष्मता का सदुपयोग विचारों को भी ऐसी ही प्रभावोत्पादकता से सम्पन्न बनाता है।

इससे स्पष्ट है कि विचार-शक्ति के घटने-बढ़ने का सम्बन्ध प्राण-शक्ति की विशिष्ट ऊर्जा से है। अन्यमनस्कता, आलस्य, अस्तव्यस्तता, अवसाद, उपेक्षा और उत्साहहीनता की मनोभूमि में शिथिल, शक्तिहीन विचार ही उत्पन्न होते हैं और मुरझा जाते हैं। स्वयं के जीवन में ही उनका कोई प्रभावशाली परिणाम नहीं परिलक्षित होता, फिर दूसरों को प्रेरणा दे पाना उनसे कहाँ तक सम्भव हो सकेगा? सामान्य भाषणकर्ताओं, प्रवचनकारों, कथाकारों, वक्ताओं की मनोभूमि ऐसी ही होती है। थोड़ी-सी रटी हुई बातें घुमा-फिराकर-दुहराई जाती रहती हैं। मस्तिष्क के उथले स्तर से ही ये निकलते हैं। कण्ठ को और जिह्वा के अग्रभाग को साध लेने पर ऐसे भाषण आदि सुनने में सुहावने लग सकते हैं। समझते समय भी वे आकर्षक प्रतीत हो सकते हैं। इससे आगे उनकी प्रभाव गति नहीं होती। प्राण-शक्ति की न्यूनता

उनको प्रभाव परिपुष्ट नहीं बना पाती। दूसरी ओर उत्कृष्ट, प्रखर प्राण-शक्ति से निकले शब्दों में भले ही लच्छेदार प्रभाव न हो, पर आस्था, अनुभूति और आचरण का आधार उन्हें मर्मस्पर्शी और स्थायी प्रभाव पैदा कर सकने योग्य बना देता है। महामानवों की वाणी में लोक-मानस की जकड़न को समाप्त कर उसका दिशा-निर्देश कर सकने की क्षमता इसी आधार के कारण होती है।

एकाग्रतापूर्वक तीव्र इच्छा-शक्ति के साथ किये गये विचारों की शक्ति आचरण से जुड़ जाने पर प्रभावपूर्ण हो ही जाती है। यह सम्मिलित शक्ति सद्भाव-प्रेरित हुई तो सत्प्रवृत्तियों को प्रदीप्त करती है। दुर्भावनाओं से जुड़ी हुई हो तो वहाँ पतन के लिए आकर्षित करने वाला प्रभाव पैदा करती है। श्मशान में चिता न जल रही हो, तो भी वातावरण की वीथत्सता की अनुभूति वहाँ पहुँचने पर होती ही है। कसाईखाना साफ-सुथरा पड़ा हो, तो भी उसमें घुसते ही आतंककारी का प्रभाव मन पर पड़े बिना नहीं रहता। सामूहिक रूप से जहाँ भी अवांछनीय दुष्प्रवृत्तियों की परिस्थितियाँ पाली-पोसी जाती हैं, वहाँ पतन की सम्मोहन-शक्ति प्रचण्ड हो उठती है।

सत्प्रवृत्तियों के लिए इसी सम्मिलित-शक्ति का उपयोग उत्कर्ष की प्रेरणा उत्पन्न करता है। सामूहिक सत्-सम्मेलनों और धर्मानुष्ठानों के पीछे एक बड़ा प्रयोजन ऐसी प्रेरणा उत्पन्न करना भी होता है। साधु-संस्थाओं का जन्म इसी सदुद्देश्य के लिए हुआ। एकत्र रहकर वे प्रखर प्रेरणा का प्रभावी वातावरण विनिर्मित करते थे। सत्कर्मों के सामूहिक आयोजनों की यही महिमा इसी प्रयोजन को पूरा कर सकने के कारण है। देवालियों की प्रभाव-शक्ति का यही रहस्य है। मनस्वी-महामानवों के निवास-स्थान इसी दृष्टि से महत्वपूर्ण होते हैं, उनको दिव्य स्मारकों के रूप में सुरक्षित रखने का प्रयोजन वे सूक्ष्म प्रेरणाएँ प्राप्त कर सकना ही होता है, जो वहाँ बिखरी होती हैं।

एकाग्रता और मनोयोग तभी सम्भव है, जब अपनी आन्तरिक अभिरुचि उससे जुड़ जाये। दार्शनिक और वैज्ञानिक अपने एक ही विषय-बिन्दु पर देर तक गहराई से विचारकर सकने की प्रवृत्ति और सामर्थ्य के कारण ही समुद्र में गहरे उतरने वाले गोताखोरों की तरह मणि-मुक्ता ढूँढ़ लाते हैं। इसीलिए महत्वपूर्ण है उत्कृष्ट लक्ष्यों के प्रति आन्तरिक अभिरुचि का उत्पन्न होना। वैसी रुचि जाग गई, तो फिर विचार शक्ति की अनन्त सामर्थ्य अपना चमत्कारी परिणाम दिखाती ही है।

चिन्तन की धारा बदलकर तो देखें

वियना के मनःचिकित्सा विशेषज्ञ डा. विक्टर ई. फ्रेंकल ने अपने 50 वर्षों के चिकित्सा अनुभवों का सार बताते हुए लिखा है कि 'जो मनुष्य यह अनुभव करेगा कि उसका जीवन निरर्थक है, उसका मन और शरीर कभी स्वस्थ न रहेगा। सार्थकता की अनुभूति न होने पर मनुष्य जिन्दगी को लाश की तरह ढोता है और उस नीरस, निरानन्द स्थिति में सचमुच ही जीवन बहुत भारी पड़ता है। उस दबाव से इतनी थकान आती है कि कुछ करते-धरते नहीं बन पड़ता। मानसिक पराधीनता व्यक्तित्व विकास के सभी द्वार बन्द कर देती है। विवेक को विकसित होने का अवसर न मिलने के कारण अवांछित स्थिति में रहने और उसी में दम तोड़ने को विवश होते प्रायः ऐसों को ही देखा जाता है।

वैज्ञानिकों ने जब जीवन से निराश व्यक्तियों का अध्ययन किया, जिनमें अधिकांश विधुर एवं विधवाएँ थीं, तो ज्ञात हुआ कि मृत्युजन्म गहरा आघात उनके प्रतिरक्षा प्रणाली को भी प्रभावित करता है। तीन महीने बाद तक एक ही मनःस्थिति बनी रहने के कारण शरीर प्रतिरक्षा तंत्र के महत्वपूर्ण घटक 'टी' तथा 'बी' लिम्फोसाइट कोशिकाएँ संख्या में कम तथा सक्रियता में मन्द पड़ जाती हैं। यह भी पाया गया है कि प्रियजनों की मृत्यु के पश्चात् जीवन के प्रति लगाव समाप्त हो जाने के कारण ऐसे व्यक्ति रोगों के प्रति अधिक संवेदनशील बन जाते हैं। इसके अतिरिक्त उनके रक्त में कार्टिजोल नामक विषैले रसायन की अभिवृद्धि भी देखी जाती है। यह हार्मोन इम्यून सिस्टम को तहस-नहस करके रख देता है।

वस्तुतः मन एवं शारीरिक फिजियोलॉजी परस्पर सम्बद्ध है। निराशा या निषेधात्मक भाव तरंगें रक्त, हार्मोन आदि कायिक रसायनों में उथल-पुथल मचा देती हैं तथा सभी प्रकार की अनैच्छिक क्रियाओं यथा—चयापचय, हृदयगति श्वास-प्रश्वास, रक्तचाप आदि को भारी क्षति पहुँचाती हैं। इन सभी तथ्यों के अध्ययन के पश्चात् नोबेल पुरस्कार से सम्मानित विख्यात वैज्ञानिक वाल्टर हैस ने निष्कर्ष निकाला है कि जब निषेधात्मक एवं निराशावादी चिन्तन शारीरिक स्वास्थ्य पर बुरा असर डाल सकते हैं, व्यक्तित्व को गया-गुजरा स्तर का बना सकते हैं, तो कोई कारण नहीं कि आशा एवं उत्साहवर्धक विधेयात्मक चिन्तन अनुकूल परिणाम प्रस्तुत न कर सकें। स्वास्थ्य सम्बर्धन के साथ व्यक्तित्व को उच्चस्तरीय गति प्रदान न कर सकें। इसकी पुष्टि के लिए वाशिंगटन यूनिवर्सिटी के मूर्धन्य विज्ञानी निकोलस हाल ने ऑटोसजेशन का प्रयोग कैसरग्रस्त रोगियों पर किया। इसमें

उन्हें आशाजनक सफलता प्राप्त हुई। देखा गया कि एन्ना जैसी मरणासन्न रोगी भी विधेयात्मक दिशा धारा अपनाकर पूर्णतः स्वस्थ हो गई।

एन्ना कैसर की अन्तिम अवस्था से गुजर रही थी, जिसे चिकित्सकों ने दुसाध्य घोषित कर दिया था। उसके बायें हाथ को लकवा मार गया था। सिर में भी असह्य वेदना रहती थी। उसके लिए डाक्टरों की सलाह थी कि अब वह अपने जीवन की चिन्ता छोड़ शेष बचे थोड़े समय में अपने बच्चों के निर्वाह की उपयुक्त व्यवस्था करे।

एन्ना लगभग निराश हो चुकी थी। कैसर का जहर पूरे शरीर में फैलता जा रहा था कि इसी बीच उसकी मुलाकात डा. हाल से हुई। उन्होंने उसे विस्तारपूर्वक ऑटोसजेशन द्वारा विधेयात्मक चिन्तन से अपने को परिपूरित करने की कला से अवगत कराया और उसे पूर्ण स्वस्थ हो जाने का विश्वास दिलाया।

नियमित रूप से एन्ना उक्त क्रिया को करने लगी। इससे उसे आश्चर्यजनक लाभ हुआ। एक वर्ष बाद जब चिकित्सकों ने उसका परीक्षण किया तो वह पूर्णतः स्वस्थ हो चुकी थी। कैसर एवं पक्षाघात समूल नष्ट हो गये थे।

श्रुति कहती है—'यो यच्छब्दः स एव सः' अर्थात्—मनुष्य जैसा सोचता है, वैसा ही बनता चला जाता है। चिकित्सा जगत में अब इसी सिद्धान्त का प्रयोग होने लगा है। ऐसी अनेकों बीमारियाँ हैं, जिनका उपयुक्त उपचार अभी तक खोजा नहीं जा सका है। उनकी गिरफ्त में आने का अर्थ ही होता है, रोगी की मृत्यु। ऐसी स्थिति में अध्यात्म विज्ञान की यह पद्धति, जिसे सेल्फ इमेजिंग, ऑटोसजेशन अथवा विधेयात्मक चिन्तन आदि नामों से जाना जाता है, बहुत ही कारगर एवं प्रभावपूर्ण सिद्ध हुई है।

विचारों में निहित रचनात्मक शक्ति

विचार स्वयं में एक सामर्थ्य है। ये अपनी निर्धारित रीति-नीति से स्वयं के लिए तथा दूसरों के लिए परिणाम-प्रतिक्रिया उत्पन्न करते हैं। प्राण शक्ति के चुम्बकीय विद्युत-प्रवाह से जुड़ जाने पर इनकी प्रखरता और अधिक हो जाती है। यद्यपि प्रत्येक व्यक्ति में मौलिक रूप से यह सामर्थ्य विद्यमान होती है। किन्तु इतने पर भी इने-गिने लोग ही ऐसे होते हैं, जिन्होंने इसका सही व सन्तुलित उपयोग करने की कला का मर्म जाना हो।

दार्शनिकों ने विचारों की क्षमता पर विशद चिन्तन किया है। आचार्य शंकर का इस सन्दर्भ में मानना है कि प्रत्येक व्यक्ति का अपना मानसिक जगत होता है। इसे विचारों एवम् कल्पनाओं का संसार कह सकते हैं। यद्यपि विचार की प्रक्रिया में बुद्धि की प्रधानता होती है। पर व्यापक अर्थों में दोनों ही मानसिक चेतना के अन्तर्गत आते हैं।

बौद्ध मत के अनुसार भी प्रत्येक मनुष्य अपने ही जगत में रहता एवं विचरण करता है उसका यह संसार दूसरे मनुष्य के संसार से भिन्न होता है। इन विभिन्न जगत्‌ओं में एक प्रकार का सामंजस्य होने पर ही ये एक-दूसरे में अन्तः प्रविष्ट हो सकते हैं। इसी स्थिति में व्यक्ति एक-दूसरे के सम्पर्क में आता है। इसी तरह पारस्परिक विचारों को समझा जा सकता है।

आधुनिक मनोवैज्ञानिकों ने भी उपयुक्त दार्शनिक चिन्तन को अपनी प्रयोगात्मक कसौटी पर खरा सिद्ध किया है। उनके अनुसार जब कोई बात किसी समूह में कही जाती है तो प्रत्येक व्यक्ति उसे अलग ढंग से समझता है। वक्ता ने अपने कथन को जिस भाव से कहा है, उसे ठीक उसी तरह ग्रहण नहीं किया जाता। इसके स्थान पर ऐसी चीज को ग्रहण किया जाता है, जो उसके मन में पहले से भरी हो। वस्तुतः मन विचारों को गढ़ने एवं आकार देने का कारण है। यह ज्ञान का कारण नहीं है। इसके द्वारा प्रत्येक क्षण इन आकारों की रचना की जाती है। विचार आकारमय होते हैं।

मनःशास्त्री पीफेन बरगर ने अपनी रचना “प्रिन्सिपल्स ऑफ अप्लाइड साइकोलॉजी” में इन विचारमय आकारों को विवेचित किया है। उनका अपने इस अध्ययन में मानना है कि इनका अस्तित्व विचारमय आकारों को जगत में भेज देता है, तो ये अपने अस्तित्व के प्रयोजन को पूर्ण करने के लिए जगत में विचरण करने लगते हैं।

इयूक विश्वविद्यालय के प्राध्यापक डा. जे. बी. राइन के अनुसार परामनोविज्ञान में विचार संचरण प्रणाली का आधार यही है। विचारों का गठन हमारे द्वारा किसी व्यक्ति का विषय-वस्तु पर चिन्तन करने पर होता है। यह सृजित विचार एक आकार धारण करके उसे खोजने के लिए निकल जाता है। यदि इस विचार के पीछे कोई संकल्प नियोजित है, तो मानसिक क्षेत्र से निकला यह विचारमय आकार अपने को चरितार्थ करने की चेष्टा करता है।

मनोअध्येता राबर्टो असागिओली का अपनी कृति “साइको-सिन्थेसिस” में मानना है कि “जब इन विचारमय

आकारों का फल प्राप्त होता है, तब हम उस विषय की इच्छा या परवाह छोड़ चुके होते हैं। इस तरह की अव्यवस्थित विचार प्रणाली को वैचारिक परिपक्वता में एक कमी के रूप में जाना जा सकता है।”

इस कमी की श्रेणी एच. ए. रूगर ने “द-साइकोलॉजी ऑफ एफिसिएन्सी” में भली प्रकार स्पष्ट किया है। उनका मानना है कि कुछ लोगों की रचना शक्ति अत्यन्त सशक्त होती है। यही कारण है कि उनकी मनोरचनाएँ सदा कार्यान्वित होती हैं। पर अधिकांश व्यक्तियों की मनोमय व प्राणमय सत्ता सधी हुई नहीं होती। इसी कारण वे कभी एक चीज पर विचार करते हैं—कभी उसकी विरोधी चीज पर। अतएव उनकी ये विरोधी रचनाएँ तथा उनके परिणाम एक-दूसरे से टकराते और भिड़ते रहते हैं। श्री रूगर इस सन्दर्भ में एक तथ्य और उद्धाटित करते हैं कि निषेधात्मक विचारों की रचना करके भी हम स्वयं विरोधी परिणामों को आमन्त्रित करते हैं।

उनका मत है कि उपर्युक्त तथ्य को विस्तृत कर देने की ही परिणति है कि बहुसंख्य व्यक्ति अपनी दुर्व्यवस्था पर आश्चर्यचकित होते हैं। उन्हें अपने जीवन में इतनी अधिक अव्यवस्था और असामंजस्य का कारण ही नहीं समझ में आता। वे इस तथ्य को अनुभूत नहीं कर पाते कि उनकी परिस्थितियों की विषमता स्वयं के विचारों एवं इच्छाओं की ही उपज है। बेमेल और विरोधी जान पड़ने वाली यह स्थितियाँ व्यक्ति के जीवन को असह्य प्रायः बना देती हैं।

परामनोविज्ञान का यह अध्ययन अत्यन्त महत्वपूर्ण है। किन्तु इसकी समग्र महत्ता तभी है, जब जीवन में इसके सदुपयोग के रहस्य को जाना जाय। श्री अरविन्द अपने योग विषयक पत्रों में इसे स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि साधारणतया मनुष्य अपने विचारों की प्रभावोत्पादकता जाने बिना इनका बेतुका सृजन करते रहते हैं। उनको इसका तनिक भी पता नहीं है कि उनकी विचार रचनाएँ किस प्रकार गति एवं क्रिया करती हैं। इस प्रकार की अज्ञानमय व किञ्चल अवस्था में गढ़े हुए विचार परस्पर टकराते रहते हैं। इनकी टकराहट मानसिक श्रम, भार व थकान के रूप में अनुभूत होती है।

आत्म-विश्लेषण व आत्म-परीक्षण की विधि द्वारा स्वयं के विचारों का अध्ययन किया जा सकता है। तत्पश्चात् संकल्पपूर्वक अनवरत् उन पर नियन्त्रण द्वारा इनको गढ़ा जा सकता है। आत्मानुशासन द्वारा इनका गठन तथा संकल्प द्वारा प्राण शक्ति का नियोजन

१.८ चेतन, अचेतन एवं सुपर चेतन मन

विचारमय आकार को पूर्ण शक्ति और सफलता प्रदान करता है।

श्री अरविन्द के द्वारा उपदिष्ट उपरोक्त प्रणाली को मनोवेत्ता “थॉट प्रॉसेस” के नाम से बताते हैं। शास्त्रों में इसे ही “निदिध्यासन” कहकर बताया गया है। विभिन्न चिन्तक और विज्ञानवेत्ता देर तक एक ही विषय वस्तु पर विचार करते रहने की रुचि एवं आदत उत्पन्न करते हैं। फलतः वे समुद्र में गहरे उतरने वाले गोताखोरों की भाँति बहुत-से मणि-मुक्तक खोजने में सफल हो जाते हैं। किनारों पर टहलने वाले दर्शकों को तो सीप और घोघे जैसी चीजें ही हाथ लगती हैं।

आन्तरिक अभिरुचि को इस ओर मोड़ देने से सहजतापूर्वक निषेधात्मक कुविचारों से छुटकारा पाया जा सकता है। इस तरह छुटकारा पा जाने वाले गहरे व आदर्शोन्मुख होते हैं। उथले लोगों की वैचारिकता हवा में उड़ते तिनके की भाँति है। ये हवा के रुख को देखकर अपनी गतिविधियाँ परिवर्तित कर देते हैं। जबकि विचार साधना के धनी आदर्शपूर्ण लक्ष्य पर चट्टान की तरह अटल रहते हैं।

विचारों की यह साधना अपने आप में सम्पूर्ण व समग्र है। आचार्य शंकर अपनी रचना “अपरोक्षानुभूति” में इसका महत्व बताते हैं कि जिस प्रकार प्रकाश के बिना कभी पदार्थ का भान नहीं होता, उसी प्रकार बिना विचार साधना के जीवन जीने की कला का बोध सम्भव नहीं।

निःसन्देह इसका महत्व हमारे बहुआयामी जीवन के प्रत्येक आयाम में है। इसको हृदयंगम कर ही मन व प्राण को आत्मानुशासन द्वारा संचालित कर विचारों के सुगठन तथा उनके सदुपयोग का मार्ग अपनाया जा सकता है। इस तरह सफल और समुन्नत जीवन की मंगलमयी उपलब्धियाँ प्रचुर परिणाम में प्राप्त की जा सकती हैं।

विचारणा को कुमार्गगामी न बनने दें

सुख-साधनों से भरा विश्व—बुद्धि और शक्ति का धनी मनुष्य—इन दोनों का समन्वय तो स्वर्ग ही सृजन कर सकता है। फिर यह नारकीय वातावरण कैसे बन गया? इस आश्चर्य पर गम्भीरता से विचार करने पर यह निष्कर्ष सामने आता है कि मनुष्य ने अपनी विचारणा, आकांक्षा, दिशा और आस्था को उत्कृष्टता से विरतकर निकृष्टता से जोड़ दिया। इस एक ही भूल ने सब कुछ उल्टा कर दिया। विचारों की निकृष्टता ने नीच कर्म करने की प्रेरणा दी और दुर्बुद्धि को दुष्प्रवृत्तियों के समन्वय ने इस स्वर्ग संसार को नरक बनाकर रख दिया। मानवीय विचारणाएँ और प्रवृत्तियाँ ही अपने अनुरूप परिस्थितियाँ

उत्पन्न करती हैं। इन दिनों जो विग्रह और विनाश का नग्न नृत्य हो रहा है, उसके पीछे जन-भावना से आसुरी तत्वों की अभिवृद्धि ही एकमात्र कारण है।

यह सोचना ठीक नहीं है कि धन या साधनों के अभाव में परिस्थितियाँ दुःखदायी बनती हैं। ऐसा होता तो सभी अमीर और साधन-सम्पन्न मनुष्य सुखी पाये जाते। पर देखते हैं कि सम्पन्नता के साथ भी असीम दुःखिताएँ जुड़ी रहती हैं। निर्धनता और साधन रहित परिस्थितियों में रहने वाले सन्त महात्माओं ने यह सिद्ध करके दिखा दिया था कि यदि मनुष्य आन्तरिक दृष्टि से स्वस्थ हो तो स्वल्प भौतिक साधनों के सहारे भी सुखी और समुन्नत रह सकता है। वस्तुतः जीवन की वास्तविक निर्वाह आवश्यकताएँ बहुत स्वल्प हैं, वे थोड़े सामान और थोड़े साधन से सहज ही उपलब्ध की जा सकती हैं। अतृप्ति और उद्विग्नता तो तृष्णा-वासना की होती है। इसे ही माया, अन्ध-तमिस्रा आदि नामों से पुकारते हैं। इन अनावश्यक और अवांछनीय असुर तत्वों के प्रति अपना जितना सम्मान बढ़ता चलता है मनुष्य उतना ही उद्विग्न और कुमार्गगामी बनता चला जाता है।

सारी विकृतियों और विपत्तियों का आधार केवल मात्र एक ही है। यदि आदर्शवादिता की आस्थाओं को विकसित कर मनुष्य अपने गुण, कर्म, स्वभाव का परिष्कार करले तो भौतिक समृद्धियाँ और सफलतायें इतनी अधिक प्राप्त कर सकता है, जो उसके लिए ही नहीं वरन् अन्य अनेकों की भी आवश्यकतायें पूरी कर सके। आत्मिक सदगुण सम्पन्न मनुष्य स्वयं सुखी, सन्तुष्ट रहेगा और अपने साथी-सम्बन्धियों को आनन्द उल्लास मन रखेगा। बौद्धिक विकृतियों का जैसे-जैसे समाधान होता चलेगा और आत्मिक विभूतियाँ जैसे-जैसे सजग होती चलेगी, वैसे ही वैसे व्यक्ति और समाज को दुःखद परिस्थितियों से छुटकारा प्राप्त कर सुख शान्ति के वातावरण में प्रवेश करने का द्वार खुलता जावेगा।

इस तथ्य को जितनी अच्छी तरह, जितनी गहराई तक समझ लिया जाय, उतनी ही जल्दी वर्तमान उलझनों के सुलझने और सुख-शान्ति के वातावरण में रहने की सम्भावना बढ़ती चली जायेगी। हमें सबसे पहले सबसे महत्वपूर्ण मोर्चे को सँभालना चाहिए। मानवीय मान्यताओं, विचारणाओं और प्रवृत्तियों को दिशा देने वाले, प्रभावित करने वाले सभी साधनों को परिष्कृत करने की ओर सारा ध्यान केन्द्रित रखना चाहिये। विचार अपने आप में एक शक्ति है। इतनी बड़ी शक्ति जिसकी तुलना में संसार को समस्त शक्तियों का समन्वय भी हल्का पड़ता है। इसका दुरुपयोग विश्व का विनाश कर सकता है और

इसका सदुपयोग संसार को नव-जीवन प्रदान करने में समर्थ है। यह तथ्य यदि हम ठीक तरह समझ लें तो परमाणु अस्त्रों से भी अधिक उसकी सुरक्षा और सुव्यवस्था के लिये दत्त-चित रहने लगेंगे।

शारीरिक दृष्टि से अन्य प्राणियों की तुलना में बहुत पिछड़ा हुआ-मानव प्राणी-विश्व का मुकुटमणि बना हुआ है, उसका एकमात्र श्रेय उसकी विचारशीलता को है। उसका सत्प्रयोग करके ही अगणित सुविधाएँ, सम्पत्तियाँ, विभूतियाँ और सिद्धियाँ अर्जित की गई हैं। मानवीय प्रगति का सारा इतिहास उसकी विचारशक्ति के ही गुणगान करता है। जब-जब जहाँ-जहाँ इसका सदुपयोग हुआ है, तब-तब वहाँ-वहाँ समृद्धियाँ और विभूतियाँ बरसी हैं और जब इसका दुरुपयोग किया गया है तभी संकट और शोक-सन्ताप के बादल घुमड़-घुमड़कर आये हैं। जिस शक्ति के ऊपर विकास और विनाश की सारी सम्भावनाएँ केन्द्रित हैं, उसकी सुरक्षा और सुव्यवस्था पर जितना अधिक ध्यान दिया जा सके उतना ही कम है।

पिछले दिनों एक दुर्भाग्यपूर्ण भूल यह होती रही है कि विचार शक्ति को प्रभावित करने वाली—भावनाओं को दिशा देने वाली—कुंजी उन हाथों में चली गई जिनमें नहीं जानी चाहिये थी। बारूद की पेटी बालक़ों को थमा दी जाय, तलवार बन्दर को मिल जाय, सशक्त औषधियों का उपयोग कोई अनाड़ी करने लगे, खजाने की व्यवस्था पागल सँभाले तो उसका परिणाम अहितकर ही होगा। विचारों को प्रभावित करना एक ऐसा अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य है, जिस पर पूर्णतया संसार का भाग्य और भविष्य जुड़ा हुआ है इसलिये इसको प्रयुक्त करने का अधिकार परखे हुए अधिकारियों और मनीषियों को ही मिलना चाहिए। प्राचीनकाल में इसका अधिकार सत्पात्रता की आग में पूर्णतया तपे हुए साधु, ब्राह्मणों के हाथों में यह कुंजी सौंपी जाती थी। ये बहुत ही समझ-बूझकर ही लेखनी और वाणी का उपयोग करते थे और संगीत, साहित्य कला के माध्यमों से लोक-मानस को स्वस्थ दिशा देने में संलग्न रहते थे। रचनात्मक और संघर्षात्मक अनेक सत्प्रवृत्तियों का संस्थान, अभिवर्धन और परिपोषण उन्हीं के हाथ में रहता था। शिक्षा का संचालन वे स्वयं करते थे और लोक-मानस को दिशा देने वाले समस्त साधन उन्हीं के हाथों सुरक्षित छोड़ दिये गये थे। जब तक यह व्यवस्था बनी रही तब तक विश्व में सर्वत्र सतयुगी—स्वर्गीय सुख-शान्ति विराजती रही।

जब से विचारों को प्रभावित करने वाले माध्यम कुपात्रों के हाथों चले गये और उनने उनका उपयोग अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिये करना आरम्भ किया तभी से

मनुष्य जाति का दुःख दुर्भाग्य आरम्भ हो गया। यही भूल हमारे अधःपतन के लिये सर्वाधिक उत्तरदायी है। शोक-सन्ताप, अपराध, अनाचार, विग्रह, अभाव, क्लेश-कलह की जितनी भी विष-बल्लरियाँ आज फैली दीखती हैं, उनका बीज उस बौद्धिक व्यभिचार में सन्निहित है जो हेय व्यक्तियों द्वारा अपनी प्रतिभा के बलबूते व्यापक रूप में फैलाकर रख दिया है।

हम देखते हैं कि आज हेय व्यक्तियों ने व्यवस्थित स्वतन्त्रता की आड़ में किस प्रकार उद्धत तरीके अपनाकर लोक-मानस को प्रभावित करने वाले माध्यमों को कितनी निष्ठुरता के साथ विषाक्त कर दिया है। लेखनी का इस सम्बन्ध में पूरा-पूरा दुरुपयोग हुआ है। पिछली शताब्दी में विज्ञान ने प्रेस का आविष्कार किया। मुद्रण कला ने लेखनी की शक्ति को करोड़ों गुनी बढ़ा दिया। अतीत में ग्रन्थों का लेखन कलम से होता था, उनकी प्रतियाँ हाथ से थोड़ी और धीरे लिखी जाती थीं, इसीलिये उनका पठन, श्रवण भी सीमित मात्रा में होता था पर जब होता था तब उसमें उत्कृष्ट आदर्शों का परिपूर्ण समन्वय रहता था। कोई ऐसा दुस्साहस न करता था कि जन मानस को दूषित करने के लिये कलम उठाई जाय। जो कुछ लिखा जाता था, पढ़ा जाता था, सुना जाता था, लोक-मंगल की दृष्टि से ही होता था।

आज सब कुछ उल्टा हो गया। बाजार में जाकर बुकसेलरों की दुकानें उलट डालिये, प्रकाशकों से सूचीपत्र माँग लीजिये, प्रेसों में छपने की सामग्री का लेखा-जोखा लीजिये, लेखकों की पाण्डुलिपियाँ इकट्ठी कीजिये। इन सबको इकट्ठा करके उसका निष्कर्ष निकालिये और देखिये कि विचारों को प्रभावित करने वाला इतना बड़ा कलेवर आखिर क्या कर रहा है, किसलिये कर रहा है। इस साहित्य लेखन, मुद्रण, प्रकाशन, विक्रय की गतिविधियों के पीछे निहित स्वार्थों के पूँजीवाद व्यक्तिगत स्वार्थ साधन ही प्रत्यक्ष रूप से परिलक्षित होंगे। इतना सब शुद्ध स्वार्थ के लिये किया जाता तो भी क्षम्य था, पर जब उसे लोगों की पशु-प्रवृत्ति भड़काने वाले पाठकों को पतन के गर्त में धकेलने वाले तरीके अपनाकर कमाया जाता है तब निःसन्देह वह बहुत ही गर्हित कर्म हो जाता है।

लुटेरों, जेबकटों, डाकुओं, हत्याओं का धक्का उतना बुरा नहीं, जितना बुरा लोक-मानस को गर्हित बनाने की कीमत पर अपना स्वार्थ सिद्ध करना है। चोर धन का अपहरण करते हैं। इससे लुटने वाले को पैसे की तंगी पड़ती है। उसे अधिक उपार्जन बचत, किफायत, तंगी दूसरों के सहयोग आदि तरीकों से किसी प्रकार पूरा किया जा सकता है। डाकू घायल करते या मार डालते

१.१० चेतन, अचेतन एवं सुपर चेतन मन

हैं। मरने पर नया शरीर मिल जाता है या घाव थोड़ा कष्ट देकर अच्छे हो जाते हैं। मौत के घाट उतार दे तो उसकी हानि उसके कुटुम्बियों तक सीमित रहती है। चोर, डाकू, एक सीमित हानि ही पहुँचा सकते हैं। पर जिनने साहित्य के माध्यम से दुष्प्रवृत्तियों को फैलाया उनमें एक ऐसी विष बेल बोई जिसका दुष्परिणाम असंख्य व्यक्तियों तक एक से दूसरे को प्रभावित करता हुआ फैलता ही जायेगा और आत्मिक पतन का पथ-प्रशस्त करके इतनी बड़ी हानि पहुँचायेगा जिसकी क्षति-पूर्ति आसानी से नहीं हो सकती। इस प्रकार एक अत्याचारी डाकू की अपेक्षा अनाचारी साहित्य सृजनकर्ता अधिक अनाचारी है क्योंकि उनकी बुद्धि और प्रक्रिया ने असंख्य मनुष्यों के आत्मिक पतन की खाई खोदी।

हम देखते हैं कि उपलब्ध साहित्य में दो तिहाई साहित्य ऐसा मिलेगा जिसका उद्देश्य मनुष्य की पशु प्रवृत्तियों को भड़काना मात्र है क्योंकि मनुष्य के भीतर पशुता और असुरता का भी एक बड़ा अंश विद्यमान रहता है और उससे आसानी से भड़काया जा सकता है। ऐसा पशुता भड़काने वाला साहित्य लोगों को रूचता है। उसे माँगा, चाहा और खरीदा जाता है। इसलिये व्यवसायियों को इसी में लाभ दीखता है कि जैसी माँग है वैसी ही चीजें प्रस्तुत करके अधिक बिक्री बढ़ाई जाय और अधिक लाभ कमाया जाय। इसी नीति को साहित्य के क्षेत्र में जब से अपनाया गया तब से गर्हित, कुत्सित, शृणित और विभत्स साहित्य की बाढ़ आती चली गई और बाजार पटता चला गया। जिस भावनात्मक विकृति भड़काने वाले व्यवसाय में अरबों रुपये की पूँजी, लाखों मनुष्यों का श्रम, हजारों प्रतिभाशालियों की प्रतिभा नियोजित हो रही हो उसका परिणाम ऐसा क्यों नहीं होगा, जिस प्रयोजन के लिये यह सब किया जा रहा है उसका परिणाम हाथों-हाथ सामने आ रहा है। लोक-मानस दिन-दिन निकृष्टतम होता चला जा रहा है।

स्कूली पुस्तकों को छोड़कर शेष सारा प्रकाशन, लेखन, कामुकता भड़काने वाला, अज्ञान, भ्रम फैलाने वाला एवं जाजूसी, तिलस्मी, खूनी प्रवृत्तियाँ उत्पन्न करने वाला ही पाया जायेगा। धर्म, नीति, सदाचार, विवेक, अध्यात्म, दर्शन की कसौटी पर खरा उतरने वाला साहित्य मुश्किल से ही कहीं दीख पड़ेगा। निकृष्टता के नक्काशखाने में उस तूती की नन्हीं आवाज को सुनेगा कौन ? गन्दे उपन्यास आँधी की तरह छपते और तूफान की तरह बिकते हैं। पत्र-पत्रिकाओं में अश्लीलता भड़काने वाले, उछलखलता के समर्थन करने वाले, कुत्साओं को उभारने वाले तत्व दिन-दिन बढ़ते जा रहे हैं। लगता है साहित्य-सृजन का एक ही प्रयोजन रह गया है, कुत्साओं

को भड़काकर मनुष्य को पतन के गर्त में धकेल देना और उन मुर्दों का कफन खरीदकर अपना उल्लू सीधा करना। जिनके ऊपर यह बात लागू नहीं होती, ऐसे सदुद्देश्य सम्पन्न लेखक, प्रकाशक, विक्रेता यत्र-तत्र ही मुश्किल से ढूँढ़ने को मिलेंगे।

साहित्य के बाद संगीत और कला का नम्बर आता है। इस क्षेत्र पर भी असुरता की काली छाया और भी दो कदम आगे बढ़ गई है, अब आत्मा को उद्बोधन करने वाले, जीवन तत्व का स्वरूप और प्रयोजन समझने वाले, श्रद्धा और करुणा जगाने वाले, त्याग और बलिदान की प्रेरणा देने वाले, गीत आपको बहुत ढूँढ़ने पर भी कहीं पढ़ने-सुनने को न मिलेंगे। उस स्तर की कविताओं की पुस्तकें मुश्किल से ही कहीं दिखाई पड़ती हैं। लगता है कि कविता क्षेत्र से इन तत्वों को अनावश्यक समझकर बहिष्कृत कर दिया गया है। कवि अब ऐसा कुछ लिखने का कष्ट नहीं उठाना चाहते। अब प्रेयसी ही एकमात्र आराध्य है। नयन बाणों से घायल, पायलों की झन्कार पर मुग्ध, अधरामृत पाने को व्याकुल, विरह-वियोगी, रूपसी के बिना बेचैन, हाला-मधुशाला में उन्मत्त कवियों की रचनाएँ ही अधिकांश पढ़ने को मिलेंगी। बिकती भी वही हैं। प्रसिद्धि भी उन्हीं से होती है, पैसा भी उन्हीं से मिलता है फिर उनके भले-बुरे प्रयास, परिणाम का विचार कौन करे ? बहती गंगा में हाथ पखारने से जब कोई नहीं चूक रहा है तो कवि ही क्यों चूके ?

संगीत का नेतृत्व अब फिल्मी गाने कर रहे हैं। उन्हीं के रिकार्ड लाउडस्पीकरों पर बजते हैं, सीलोन रेडियो से लेकर दिल्ली रेडियो तक पर उन्हीं की भरमार रहती है। सिनेमा देखकर आने वाले लोग रूपवती, कोकिल कंठी नर्तकियों के मुख से निकले हुए इन गायनों की ध्वनियों को दुहराते हुए उसी मादक नशे में झूमते देखे जाते हैं, जिसे वे पर्दे पर देख-सुनकर आये थे। व्यक्तिगत गुण-गुणाने में, मिल बैठकर गाने में, संगीत सम्मेलन में, उत्सव आयोजनों में अब फिल्मी गीत, फिल्मी ध्वनि, फिल्मी भावनाओं का ही बाहुल्य मिलेगा। तर्ज निकालने वाले, ध्वनियाँ बजाने वाले, गीत गाने वाले, संगीत सिखाने वाले, धीरे-धीरे फिल्मी वर्चस्व के आगे नत-मस्तक होते और आत्म-समर्पण करते चले जा रहे हैं। कुछ दिन में लगता है कि फिल्म गीतों के अतिरिक्त संगीत क्षेत्र में और कुछ शेष ही नहीं रहने वाला है। इन गीतों में किन भावनाओं को भड़काया जाता है और क्या बनने, क्या करने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है। इसे पूछने की जरूरत नहीं, उन्हें सुनने वाला सहज ही यह निष्कर्ष निकाल सकता है कि आज का

गायन, वाद्य, संगीत, अभिनय जन-मानस को कहाँ से कहाँ घसीटकर लिये जा रहा है।

सिनेमा इस युग का चमत्कार है। उसने मनोरंजन के अन्य सारे साधनों को पैरों तले कुचलकर अपना एकछत्र साम्राज्य स्थापित कर लिया है। किसी ज़माने में नट, बाजीगर, कठपुतली, रीछ, बन्दर, साँप आदि के माध्यमों से लोक-रंजन की आवश्यकता पूरी होती थी। नाटक, प्रहसन, अभिनय, नृत्य और सांस्कृतिक कार्यक्रमों के अन्य कई तरीके चलते थे। रसिया, कजली, लोकगीत जीवित थे। रासलीला, रामलीला आदि में लोक रुचि मौजूद थी। अब वह सब धीरे-धीरे मरणासन्न स्थिति को पहुँचता चला जा रहा है। अब लोक-रंजन का बहुत कुछ काम सिनेमा करता है। जब जिसे मनोरंजन की इच्छा होती है, सीधा सिनेमा पहुँचता है। लाखों लोग उसमें प्रतिदिन फिल्में देखते हैं। इस उद्योग में अरबों-खरबों रुपये की पूँजी लगी है। कलाकार, प्रतिभाशाली, चतुर, बुद्धिमान सभी उस क्षेत्र में घुसते-घँसते चले जा रहे हैं। यह कहने-सुनने की बात नहीं कि इस शताब्दी में सिनेमा ने हमें क्या दिया है ? वहाँ क्या सुनाया, दिखाया, समझाया, बताया जाता है, इसे कोई भी व्यक्ति कुछ दिन सिनेमा देखकर स्वयं अनुभव कर सकता है। नीति और सदाचार सिखाने वाली, उत्कृष्टता और आदर्शवादिता का समर्थन करने वाली फिल्में जब कभी ही देखने, सुनने में आती हैं। अधिकांश में तो वही भरा रहता है जो मनुष्य को नीचे गिरने की प्रेरणा अति प्रभावशाली ढंग से दे सके।

फिल्म उद्योग में लगी हुई विशाल जन-शक्ति, धन-शक्ति, कला-शक्ति यदि लोक-रंजन के साथ लोक-मंगल को भी जोड़कर रख सकी होती तो वह जन-जीवन को ऊँचा उठाने में महान योगदान कर सकती थी। पर जबकि उसका दुरुपयोग करने की ठान ठान ली गई तो विनाश और पतन के अतिरिक्त और क्या मिलेगा? नई पीढ़ी का भावनात्मक प्रशिक्षण आज वस्तुतः सिनेमा ही कर रहा है और उसने जैसा चाहा वैसा ही समाज को स्वरूप बनाता ढलता चला जा रहा है।

कला के अन्तर्गत और भी कई प्रक्रियाएँ आती हैं। उनमें चित्रकला भी एक है। तस्वीरें बनाने वाले, छापने वाले, बेचने वाले भी अपनी रीति-नीति दूसरे कलाबाजों की तरह अपनाने में पीछे नहीं रह रहे हैं। तरुण नारी के लज्जा अवयवों को उधारने, उनकी भाव-भंगिमा में वेश्यावृत्ति सँजोने के गहिर्त प्रयोजन पर अब चित्रकला भी केन्द्रित होती चली जाती है। नटनियों, वेश्याओं और नर्तकियों के चित्र इतनी बड़ी संख्या में छपते बिकते हैं

मानो इस युग की सारी श्रद्धा उन्हीं के चरणों में लोट रही हो। घर-घर में ऐसे ही कलेण्डर टँगे हैं। तस्वीरों की दुकानें उन्हीं से पटी पड़ी हैं। चित्रकारों, मुद्रकों, प्रकाशकों और विक्रेताओं का समूह इसी आधार पर सम्पन्न बनता चला जा रहा है। किसी को इस बात की चिन्ता नहीं कि कामुकता और अश्लीलता की दुष्प्रवृत्तियाँ इन चित्रों के माध्यम से भड़का देने के उपरान्त उसका जन-साधारण में शारीरिक, मानसिक और नैतिक स्वास्थ्य पर क्या प्रभाव पड़ेगा ? समाज में कितनी अवांछनीय गतिविधियाँ उत्पन्न होंगी। कहते लज्जा आती है कि देवी-देवताओं के चित्रों में जहाँ श्रद्धा उत्पन्न करने वाली भाव-भंगिमा रखी जानी चाहिए थी- यहाँ आज का चित्र व्यवसाय उनमें भी कुत्साएँ ही भरने का दुस्साहस कर रहा है।

संगीत, साहित्य, कला इन तीन माध्यमों को सरस्वती कहा गया है। सरस्वती बुद्धि की देवी है। बुद्धि ही मनुष्य की शक्ति है। शक्ति की अधि-पति बुद्धि, बुद्धि की प्रेरणा-दात्री सरस्वती है। उसके त्रिविध माध्यमों से यदि गहिर्त प्रयोजन के लिए जोत दिया जाय तो उसका परिणाम सर्वनाश ही हो सकता है। सो धीरे-धीरे सरकता हुआ निकट ही आता चला जा रहा है।

लोक-मानस को प्रभावित करने वाले उपरोक्त माध्यमों को यदि इसी प्रकार कुमार्गगामी, दुष्प्रवृत्ति पोषक बना रहने दिया गया, उन्हें रोका, सुधारा, संभाला न गया तो हमारा भविष्य सर्वथा अन्धकारमय है। इस तथ्य को हमें समझ ही लेना चाहिए और यदि लोक-मंगल की वस्तुतः आकांक्षा हो तो लोक-मानस को विकृत करने वाली इन दुष्प्रवृत्तियों को नियन्त्रित करना ही चाहिए, जिसने कि माता सरस्वती को व्यभिचारिणी, वेश्या के स्तर पर लाकर खड़ा कर दिया है।

विचार चेतना के महत्व को समझें

शक्ति की साधारणतः व्याख्या प्रकृति पदार्थों की हलचलों के रूप में की जाती है। समझा जाता है कि पदार्थों के अन्तराल में काम करने वाली हलचलें ही इस दृश्य जगत की अगणित गतिविधियों का सूत्र संचालन करती हैं। मनुष्य के द्वारा भी जो कृत्य होते हैं, वे उसकी शारीरिक गतिविधियों द्वारा सम्पन्न होते प्रतीत होते हैं। यह विज्ञान मान्यता आंशिक रूप से ही सही है। इसमें इतना और जुड़ना चाहिए कि मानवी चेतना की विचार क्षमता भी एक शक्ति है। वह न केवल शारीरिक हलचलों को जन्म देती है वरन् व्यक्ति, पदार्थ एवं वातावरण पर भी अपना प्रभाव डालती है और उन्हें बदलने तक में अपनी आश्चर्यजनक भूमिका सम्पन्न करती

है। अब विचारों को भी 'विद्युत' के समतुल्य ही प्रभावोत्पादक माना जाने लगा है। कभी उन्हें चिन्तन क्षेत्र में घुमड़ती रहने और मस्तिष्क भर को कुछ काम देने वाली एक विशेषता भर समझा जाता था।

विचार-निर्माण में मनुष्य स्वतन्त्र है किन्तु उन्हें अपने ही कैदखाने में—मस्तिष्कीय पिटारी में जकड़े रहना उसके लिए सम्भव नहीं। दूसरों के बारे में हमारे विचार भाव शीघ्र ही उन तक गुप्त रूप से पहुँच जाते हैं। इनमें भी सज्जनोचित भाव तो पिछड़ जाते हैं किन्तु दुर्भावना युक्त विचार अपेक्षाकृत अधिक शीघ्रता से पहुँचकर अपना भेद उसे बता देते हैं। परिणामस्वरूप अविज्ञात रूप से दूसरों के मन में अपने प्रति भी मनोमालिन्य के बीज अंकुरित होने लगते हैं। यही कारण है कि मित्र भावना के अभ्यासी विचारशील सज्जन व्यक्ति अपना स्वभाव ही कुछ इस प्रकार का बना लेते हैं कि अपरिचितों को भी वह प्रिय लगने लगते हैं। नाममात्र के व्यवहार से ही मित्रता के निष्कर्ष निकलने लगते हैं। इसके विपरीत कलुषित विचारों वाले व्यक्ति आगन्तुकों से चाहे कितने कुशलतापूर्वक मिलें, उनका शंकालु हृदय प्रकट हो ही जाता है। प्रयत्न न करने पर भी नव्य परिचित व्यक्ति पहले उदासीन तत्पश्चात् शत्रु बन जाता है। यह सारा खेल अपने विचारों के कारण ही शक्य होता है।

रूस के सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक एनारेबीन ने अपने अनुसन्धान निष्कर्ष में बताया है कि मनुष्य के विचार एवं भाव-तरंगों के अनुरूप मस्तिष्क से दो प्रकार के रस स्रवित होते हैं, जिनकी प्रमुख भूमिका व्यक्तित्व विकास के निर्धारण में होती है। यह रस शारीरिक एवं मानसिक प्रक्रियाओं को उत्तेजित कर व्यक्ति को सुख-दुःख, शांति-अशांति, आशा-निराशा, प्रफुल्लता- उद्विग्नता प्रदान करते तथा उन्नति अथवा अवनति की ओर धकेलते हैं। इन रसों का निर्माण पूर्णतया अच्छे या बुरे विचारों और भावनाओं पर निर्भर रहता है। इससे स्पष्ट है कि विचारणा एवं भावना के प्रचण्ड प्रवाह के अनुसार ही मनुष्य के व्यवहार एवं उसकी आदतों का निर्माण होता है।

मूर्धन्य मनोवैज्ञानिक जे. बी. राइन ने विचारों की शक्ति की परख विभिन्न प्रयोग-परीक्षणों की शृंखलाओं के आधार पर करने में सफलता पाई है। उन्होंने विशेष प्रयोगों द्वारा केन्द्रित विचारों के प्रभाव प्रदर्शित करके सिद्ध कर दिया है कि प्रयोगकर्ता के विचार निर्जीव-सजीव सभी पर अपनी छाप छोड़ते हैं। इन प्रभावों की प्रगाढ़ता एवं सत्यता की परख वैज्ञानिक विधियों द्वारा बारम्बार हुई है।

प्राचीन ज्ञान में विचार का स्वभाव बिजली के अनुरूप कहा गया है, जिसका गहन अध्ययन अभी भी भौतिकी एवं आत्मिकी के क्षेत्र में होना है। विश्व के अनेक वैज्ञानिक, परामनोवैज्ञानिक इस क्षेत्र में अनुसन्धानरत हैं। विचारों के विद्युत प्रवाह दूरस्थ व्यक्ति को उसी प्रकार से प्रभावित करते हैं जैसा कि चाहा जाता है। जब मानव विचार एक मस्तिष्क से दूसरे मस्तिष्क तक भेजे जाते हैं तो उसे 'टेलीपैथी' कहते हैं। जीवन की अनन्त शक्तियों पर पूर्ण विश्वास करने वाला सफल मनोचिकित्सक इस विधि द्वारा रोगी पर अपने विचार आरोपित करता है। यदि दोनों के विचारों का तारतम्य ठीक बैठ जाता है तो रोगी भी उन्हीं विचारों में डूब जाता है जिनमें मनो-चिकित्सक का विश्वास होता है। ऐसी स्थिति में रोगी चेतन अथवा अचेतन मन से उन्हीं अनन्त शक्तियों पर अपना विश्वास जमाकर लाभान्वित होता है।

परामनोविज्ञानियों का कहना है कि विचार सम्प्रेषण मात्र चिकित्साविदों तक ही सीमित नहीं। कोई भी व्यक्ति कहीं भी इसका प्रयोग कर सकता है क्योंकि विचार-संसार आइडियोस्फियर में सभी प्रकार के विचार-प्रवाह निरन्तर गतिमान हैं। उनमें से अपने अनुकूल विचार-तरंगों को आकर्षित किया और लाभान्वित हुआ जा सकता है। साथी ही दूसरों तक प्रवाहित भी किया जा सकता है। विश्व में प्रबल, स्वतन्त्र, कल्याणकारी तथा प्रभावी विचारक बहुत थोड़े-से हैं, अतः उनके द्वारा प्रवाहित आवृत्ति कम पड़ जाती है, जो मात्र लड़खड़ाती, गिरती पड़ती चलती रहती है, फिर भी सांसारिक लोगों पर वह अपना न्यूनाधिक प्रभाव तो छोड़ती ही रहती है और आशा-उत्साह, करुणा, दया एवं सद्भावनात्मक जल की वर्षा करके सिंचाई करती रहती है। यदि उनके द्वारा यह वर्षा बन्द हो गई होती तो सदाशयता कभी की सूख गई होती।

'थियोसोफिकल शोध-संस्थान' लन्दन में अनुसन्धानरत वैज्ञानिकों के अनुसार आधुनिक अनुसन्धानों के द्वारा अब इस तथ्य को अधिकाधिक प्रकटीकरण होता जा रहा है कि प्रकृति में विचार एक विशेष प्रकार की प्रचण्ड शक्ति है। व्यक्तिगत रूप से यह भौतिक शरीर को निरन्तर प्रभावित करते-रहते हैं। व्यक्ति के विचार उसके अपने सहयोगी और वातावरण को सदैव प्रभाव से अनुप्राणित करते रहते हैं। विचार जगत् में प्रवाहित अच्छी-बुरी सभी प्रकार की तरंगें शंका, दुःख, क्रूरता, करुणा, दया, स्नेह, सहानुभूति फैलाती फिरती रहती हैं। यही कारण है कि कुवे एवं वर्नहम जैसे मूर्धन्य मनोचिकित्सकों ने विधेयात्मक चिन्तन की दिशा धारा को प्रोत्साहन दिया है। प्रो. सोरोकिन ने हारवर्ड अस्पताल के चिकित्सकों द्वारा सहानुभूतिपूर्वक सद्व्यवहार से रोगियों में संतोषजनक

आशावादिता बढ़ाने में सफलता प्राप्त की है। उनका कहना है कि कोई भी टॉनिक मूल रूप से उतना प्रभावकारी नहीं सिद्ध हो सकता जितना अच्छा किसी चिकित्सक द्वारा रोगी को प्रेरक विचारों के टॉनिक से एवं उसे समझाने और प्रोत्साहित किये जाने से मिलता है। महामारी जैसे प्रकृति प्रकोपों में बचे हुए लोगों को चाहे 'भाग्यवान' कह लें किन्तु प्रकारान्तर से वे 'समर्थ विचारवान' व्यक्ति ही होते हैं जो सर्व-समर्थ उस जीवन धारा से सतत् शक्ति संचित करते रहते हैं।

सामान्यतया विचार शक्ति बिखरकर नष्ट होती रहती है। उसे केन्द्रित करने एवं मानसिक शक्ति सम्पन्न बनने के लिए हमें उत्कृष्ट विचारों की सम्पदा बढ़ाने के साथ ही अपने 'स्वार्थ' का विकास करना होगा। हमारा स्वार्थ जितना व्यापक होगा, हमारी शक्ति उतनी ही बढ़ती चली जायेगी। यदि स्वार्थ के साथ लोकोपकार का समावेश हो जाय तो यह शक्ति अपरिमितता की ओर अग्रसर होने लगेगी। अहंभाव के विनाश से ही सशक्त मनोबल का सृजन होता है। सैद्धान्तिक प्रतिकूलताओं से लोहा लेने पर मनुष्य की इच्छा-शक्ति में वृद्धि हो जाती है। ऐसा आत्म-विश्वास उत्पन्न होता है कि उसके सामने अशुभ विचार टिक ही नहीं सकते।

मानसिक शक्तियों के विकास में सहायक होता है—सरल एवं सदाचारी जीवन। चालाक एवं व्यवहार-कुशल प्रदर्शन-पटु लोग अपने मन को चिंता एवं संशय का आश्रय बना लेते हैं। ऐसे चापलूस मित्रों द्वारा सद्मार्ग पर चलने का प्रोत्साहन कभी भी नहीं मिलता। इसके विपरीत सदाचारी व्यक्ति व्यवहार एवं विचार में सरल होता है। ऐसे स्वार्थविहीन व्यक्ति के उद्गार बड़े-बड़े विद्वानों से अधिक प्रभावी पाये गये हैं।

अपने आपको प्रगति पथ पर अग्रसर करने और सुखी, सुसंस्कृत बनाने के लिए सद्विचारों का अवलम्बन लेना ही पड़ता है। इसका और कोई विकल्प नहीं। यही बात दूसरों के सम्बन्ध में भी है। दूसरों को सहयोगपरक सहायता का अपना महत्व है। पर किसी को रचनात्मक विचार देकर उसे स्वावलम्बी और समुन्नत बनाया जा सके तो निश्चय ही उससे बढ़कर और कोई पुण्य-परमार्थ हो नहीं सकता।

विचार शक्ति का सदुपयोग करें

कोई व्यक्ति भले ही चुपचाप बैठा रहे, कुछ न करे फिर भी उस स्थिति में भी उसे पूर्णतया निष्क्रिय नहीं कहा जा सकता क्योंकि उस स्थिति में भी मस्तिष्क कुछ न कुछ सोचता रहता है। जो कुछ वह सोचता या

विचार करता है, वह भले ही अप्रासंगिक, असम्बद्ध और अस्त-व्यस्त हो। लेकिन यह अनावश्यक, अप्रासंगिक और अस्त-व्यस्त विचार भी अपना प्रभाव छोड़े बिना नहीं रहते हैं। यद्यपि यह चिन्तन मस्तिष्क में थोड़ी-सी हलचल उत्पन्न करके अन्तरिक्ष में विलीन हो जाता है पर मनोविदों के अनुसार यह निरर्थक होते हुए भी चिन्तन तन्त्र पर एक अनावश्यक भार छोड़ जाता है। सोचना और विचार करना निश्चित रूप से एक बहुमूल्य प्रक्रिया है।

यद्यपि विचार और चिन्तन की क्रियाएँ दिखाई नहीं देती। वे अदृश्य ही रहती हैं। किन्तु मनुष्य जितने भी कर्म करता है उन सब की जड़ें होती इसी क्षेत्र में हैं। दिखाई देने वाले सभी क्रिया-कलाप इस अदृश्य प्रक्रिया के फलस्वरूप ही आकर धारण करने में समर्थ होते हैं। जो कुछ किया जाता है, वह ऐसे ही अनायास ही नहीं हो जाता। बहुत पहले से उनका ताना-बाना मस्तिष्क में बुना जाता है। किस काम को करने से क्या लाभ हो सकता है ? तथा हानि की कहाँ, क्या सम्भावना है ? आदि बातों का सम्भव-असम्भव का पता मस्तिष्क क्षेत्र में ही लगता है और उसी क्षेत्र में निर्णय कर साधनों के साथ प्रस्तुत आकांक्षा का तालमेल बिठाया जाता है।

इतना विचार मंथन हो चुकने के बाद ही किसी निश्चित निष्कर्ष पर पहुँचने की स्थिति आती है। जब मस्तिष्क में कोई विचार पूरी तरह बनकर सुनिश्चित संकल्प के रूप में परिणित हो जाता है, तब उसके लिए साधन जुटाने और सक्रिय कदम बढ़ाने की स्थिति आती है। मस्तिष्क में विचारों की इतनी खिचड़ी पके बिना किसी भी कार्य का आरम्भ नहीं हो सकता। चलते हुए कामों का ढर्रा सहज प्रक्रिया से अभ्यस्त हुआ स्वभाव बहुत कुछ सोचे बिना भी सम्पन्न होता रहता है। किन्तु किसी कार्य का प्रारम्भ तो बिना विचार मंथन के ही नहीं सकता। दैनिक कार्य पद्धति में भी गुण-दोष देखने, हानि लाभ परखने और परिवर्धन की व्यवस्था करने वाली विचार प्रक्रिया को सजग रखकर ही चलना पड़ता है। अन्यथा चलते हुए क्रिया-कलाप का अभ्यस्त ढर्रा भी लड़खड़ाने लगेगा और काम का स्तर गिरने लगेगा।

जो लोग निरर्थक कामों में अपना समय और श्रम बर्बाद करते हैं, उनकी भर्त्सना की जाती है और उन्हें नासमझ तथा मूर्ख ही समझा जाता है क्योंकि वह कर्तृत्व शक्ति को उपयोगी प्रयत्नों में लगाने के स्थान पर उसे बर्बाद ही करता है। इससे समय एवं श्रम शक्ति नष्ट होती है। उस समय और श्रम से जो लाभ उठाया जा सकता था, उस लाभ से वंचित रहना पड़ता है। ठीक

इसी प्रकार विचार-शक्ति की बर्बादी को भी हानिकारक एवं अबुद्धिमतापूर्ण ही ठहराया जा सकता है और ठहराया जाना भी चाहिए। क्रिया शक्ति को बर्बाद करना और विचार शक्ति को निरर्थक बखेरना वस्तुतः एक ही भूल के दो रूप हैं।

विचार शक्ति का सदुपयोग हो सके, वह उत्पादक प्रयोजनों में लगे इसके लिए क्या किया जाना चाहिए? मनीषियों का एक ही सुझाव है कि विचारों को क्रमबद्ध एवं योजनाबद्ध बनाया जाय। योग साधना के अन्तर्गत मनोनिग्रह की बात बार-बार कही जाती है। एकाग्रता की इतनी महिमा गाई जाती है और उसे पढ़ाने के लिए ध्यान-साधना को अतीव उपयोगी सिद्ध किया जाता है। इन सब क्रियाओं और निर्देशों का उद्देश्य विचारों के उत्पादन या प्रवाह को रोक देना कदापि नहीं है। वैसा तो हो भी नहीं सकता। मानवी मस्तिष्क की संरचना ही ऐसी है कि उसके कारण हर घड़ी अगणित विचार तरंगें उठते रहने का क्रम चलता ही रहता है और उसे किसी भी प्रकार रोक नहीं जा सकता। एकाग्रता अथवा मनोनिग्रह का कुल मतलब यही है कि अस्त-व्यस्त ढंग से सोचने की बुरी आदत को क्रमबद्ध एवं सुसंस्कृत बनाया जाए। यदि इतना अभ्यास हो सके तो एक सुनिश्चित दिशा में विचारों का प्रवाह चलने लगेगा। विचार शक्ति के सदुपयोग की संभावना बनेगी और इसके आश्चर्यजनक सत्परिणाम भी सामने आने लगेंगे।

छोटे-से आतिशी शीशे के घेरे में बिखरी हुई सूर्य किरणों को जब एक केन्द्रबिन्दु पर एकत्रित कर लिया जाता है तो इससे प्रचण्ड गर्मी उत्पन्न होती है और आग लगने लगती है। ठीक यही बात विचारों के केन्द्रीकरण के सम्बन्ध में भी लागू होती है। यदि किसी निर्धारित लक्ष्य पर देर तक गम्भीरतापूर्वक चिन्तन कर सकने की आदत पड़ जाय तो इस सन्दर्भ में आशातीत और आश्चर्यजनक उपलब्धियाँ प्राप्त की जा सकती हैं। वैज्ञानिक, कलाकार, दार्शनिक, विचारक एवं बुद्धिजीवी भी तो सामान्य मनुष्यों की तरह ही होते हैं। परन्तु वे असामान्य क्यों दीखते हैं ? इसका एक ही कारण है कि वे अपने अभीष्ट प्रयोजन पर समग्र चिन्तन को एकत्रित कर लेते हैं।

विचार शक्ति का सदुपयोग किया जा सके, इसके लिए हमें अपने विचार तन्त्र का गहराई के साथ निरीक्षण करना चाहिए और यह देखना चाहिए कि कहीं निष्प्रयोजन, निरर्थक तथा असंबद्ध और अस्त-व्यस्त सोच-विचार करने की आदत तो नहीं लग गई ? यदि ऐसा कुछ भी हो तो उस बर्बादी को रोकने के लिए

सक्रिय कदम बढ़ाने चाहिए। जीवन के साथ जुड़ी हुई असंख्य दिशाएँ एवं समस्याएँ सामने होती हैं। उन पर क्रमबद्ध रूप से विचार किया जाए और किसी उपयोगी निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए तर्क, तथ्य और प्रमाणों का पक्ष-विपक्ष सामने रखकर सोचने का अभ्यास करें तो कुछ ही समय में ऐसे निष्कर्ष ढूँढ़े, निकाले जा सकेंगे, जिन्हें कार्यान्वित करके वर्तमान स्थिति में सुधार कर सकना सम्भव हो सके।

अपनी व्यक्तिगत समस्याओं के सम्बन्ध में निजी जीवन से सम्बन्धित विविध पक्ष-पहलुओं के विषय पर स्वास्थ्य संवर्धन, ज्ञान संपादन, परिवार निर्माण, अर्थ संतुलन, समय का क्रमबद्ध विभाजन जैसे अनेकानेक विषय हो सकते हैं, जिन पर लगातार गहराई तक गम्भीरता के साथ विचार करते रहा जा सकता है। उन पर विचार करते हुए स्थिति के हर पहलू का निरीक्षण करते रहें तो ऐसे निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं, जिनके आधार पर आज की अपेक्षा कल कहीं अधिक अच्छी रीति अपनाई जा सकती है। इन सभी महत्वपूर्ण विषयों में विचार करने पर सुधार करने की काफी गुंजाइश मिल सकती है। जो इन दिनों किया जा रहा है, वह सर्वथा ठीक ही हो और उसमें परिष्कार या सुधार करने की कोई आवश्यकता नहीं हो, ऐसी बात नहीं है। वर्तमान गतिविधियों में उपयोगी हेर-फेर करके कल अधिक अच्छी स्थिति प्राप्त करने की संभावना सदैव विद्यमान रहती है।

अपनी व्यक्तिगत समस्याओं में ही निरन्तर उलझे रहा जाये यह कोई आवश्यक नहीं है। परिवार के प्रत्येक सदस्य के व्यक्तित्व को अपेक्षाकृत अधिक विकसित करने का प्रश्न भी उतना ही महत्वपूर्ण है जितना कि अपने उत्कर्ष का। प्रत्येक के सम्बन्ध में अनेकों विकल्प हो सकते हैं। कितनी ही सामाजिक समस्याएँ, प्रथा-परम्परा तथा परिस्थितियाँ ऐसी हो सकती हैं जो प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष हमें प्रभावित करती हैं। उन पर विचार किया जा सकता है और समाधान के उपाय खोजे जा सकते हैं। धार्मिक, आध्यात्मिक, राजनैतिक, दार्शनिक प्रचलनों में ऐसे कितने ही हैं जिन पर नये सिरे से विचार किया जाना चाहिए? बदलती परिस्थितियाँ पुराने ढर्रे में पग-पग नये मूल्यों की स्थापना चाहती हैं। यह सब किस प्रकार सम्भव हो सकता है? इस विषय में भी विचार किया जा सकता है।

इस तरह की अनेकानेक धारणाएँ हैं, जिन पर यदि विचार शक्ति को केन्द्रित रखा जा सके तो उसके परिणाम सुनिश्चित रूप से श्रेयस्कर सिद्ध हो सकते हैं। किन्तु ऐसा तभी सम्भव है जब अस्त-व्यस्त रीति से

असम्बद्ध विचार करते रहने की आदत के कारण होती रहने वाली क्षति को समझा व रोका जाय तथा विचार शक्ति के सदुपयोग का साहसिक कदम उठाया जाए।

चिन्तन गढ़ता है, हमारा-आचरण

जीवन एक बहुमूल्य यन्त्र के सदृश है। इसे सुघढ़ता के साथ इस्तेमाल करना एक महती कला है। जो इस कला में विज्ञ है वे सुखपूर्वक रहते और अभीष्ट लक्ष्य को प्राप्त करते हैं। पर जिन्हें इसे इस्तेमाल करना नहीं आया वे उपकरण के बिगाड़ के साथ अपनी भी हाथ-पैर तोड़ लेते हैं। अस्वस्थ शरीर, उद्विग्न मन, पारिवारिक कलह, आर्थिक असन्तुलन, शत्रुओं के उपद्रव, लोकापवाद एवम् असफलताजन्य शोक-सन्ताप इस बात के चिन्ह हैं कि जीवन यन्त्र के कल-पुर्जे दुर्घटनाग्रस्त होकर टूट-फूट गए हैं। जिसका सुस्पष्ट तात्पर्य है कि संचालक अनाड़ी है वही इस प्रकार की दुर्भाग्यपूर्ण परिस्थितियाँ उत्पन्न कर सकता है अन्यथा जीवन प्रत्येक प्राणी के लिए हर घड़ी आनन्द देते रहने वाला ईश्वरीय वरदान है। इसे अभिशाप में बदलने का दोष न तो इसके निर्माता को है, नहीं वातावरण को, अपितु उस संचालक को है जिसने सही संचालन की कला नहीं सीखी।

बाह्यतः शरीर के विभिन्न अंग-अवयव अपना काम करते दिखाई देते हैं किन्तु गहराई में झाँकने पर प्रतीत होता है कि उनका संचालन करने वाली प्राण चेतना है, अभ्यस्त मन शरीर की समस्त गतिविधियों का संचालक और नियामक है। प्राण के शरीर में न रहने पर काया के समस्त घटक एवम् पदार्थ यथावत् बने रहने पर भी स्तब्ध हो जाते तथा सड़ने लगते हैं। हाथ-पैर चलाने, बोलने आदि की क्रियाएँ तो चेतन मन द्वारा संचालित होती हैं पर रक्त संवाहन, श्वास-प्रश्वास, आकुंचन-प्रकुंचन आदि कार्य अचेतन की प्रेरणा से अनायास होते दीखते हैं, उनके पीछे अव्यक्त मन की स्वसंचालित प्रक्रिया ही है।

इस समूची प्रक्रिया का यदि ग्राफ बनाया जाय तो इसमें स्पष्टतया उतार-चढ़ाव के विविध स्वरूप दीख पड़ेंगे। मनोवैज्ञानिकों के अध्ययन स्पष्ट करते हैं कि यह स्वरूप की विधियाँ ठीक हमारे विचारों के अनुरूप होती हैं। भले ही हमारी पूर्व मान्यता में इनका कोई स्थान न रहा हो। किन्तु वास्तविकता यही है कि ये सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं।

सुप्रसिद्ध विद्वान प्राध्यापक एलीशाग्रे ने अपनी कृति “मिरेकिल्स ऑफ नेचर” में लिखा है कि प्रकाश की तुलना में विचार विद्युत की प्रवाह गति कहीं अधिक है।

अभी यन्त्रों के द्वारा पूर्णतया नापा न जा सकने पर भी यह एक तथ्य है कि विचार मात्र कल्पनाओं का उभार न होकर एक शक्तिशाली पदार्थ है, उसकी गति तथा क्षमता ज्ञात भौतिक शक्तियों में सबसे अधिक है। कुछ विज्ञानविदों ने इसे सूक्ष्म भौतिक भी कहा है। वैज्ञानिकों के इस सूक्ष्म विज्ञान को श्री अरविन्द अतिभौतिक (सुप्राफिजिकल) कहकर निरूपित करते हैं।

प्रख्यात अध्येता राबर्ट. जे. फ्लेमिंग ने भी अपनी पुस्तक “आइडिया एण्ड इट्स प्रापर्टीज” में लिखा है कि ताप, विद्युत आदि की ऊर्जा मात्र भौतिक पदार्थों को ही नरम-गरम करती है तथा उनके स्वरूप को परिवर्तित करती है। पर विचार विद्युत न केवल व्यक्ति विशेष वरन् समूचे वातावरण को ही आश्चर्यजनक मात्रा में परिवर्तित कर सकती है। चेतना से सर्वाधिक घनिष्ठ तथा इसे प्रभावित कर सकने वाली क्षमताओं में विचारों को ही शीर्षस्थ माना गया है। वे अपने उद्गम स्थल-विचारक को सर्वाधिक प्रभावित करते और फिर अपने समीपवर्ती क्षेत्र पर असर डालते हुए निस्सीम दूरी तक बढ़ते चले जाते हैं। प्रेरक व्यक्तित्व की प्रतिभा के अनुरूप ही उसकी सामर्थ्य का स्तर रहता है। तदनुरूप अन्यान्य व्यक्तियों और प्राणियों पर उनका प्रभाव पड़ता है।

विचारणा को यदि सुगठित तथा उच्चस्तरीय उत्कृष्टता सम्पन्न बनाया जा सके तो जीवन भी उसी के अनुरूप परिचालित हो सकेगा। शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य को इसी विधा का अनुगमन कर रखा जा सकता है। पर इसके विपरीत यदि मानसिक क्षेत्र को अवांछनीय कूड़े-करकट से भर दिया गया, हेय विचारों से परिपूरित कर लिया गया तो उसकी सड़न से जीवन के समूचे अणु-परमाणु विषाक्त हो जाएँगे और सामान्य दैनन्दिन जीवन की समस्याओं का हल ढूँढ़ निकालना भी सम्भव न बन पड़ेगा। मानसिक चेतना की यह विषाक्त स्थिति जीवन के लक्ष्य एवं स्वरूप दोनों पर कुठाराघात करती तथा स्वयं भी कुंठित हो जाती है। जिस जीवन के द्वारा शिवत्व व सौन्दर्य की अभिव्यक्ति होनी थी सत्ता के मूल सत् को पाना था, कुरूपता ही पल्ले बँध जाती है। इस कुरूपता को हटाने तथा सौन्दर्य को प्रतिष्ठित करने के लिए आवश्यक है कि विचारों के स्वरूप को समझा जाय। विचार ही मनुष्य को ऊँचा उठाते अथवा पतन के गर्त में धकेलते हैं।

विचार-तरंगों को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। प्रथम सृजनात्मक एवम् द्वितीय विध्वंसात्मक। सृजनात्मक विचारणाएँ अपनी अभिव्यक्ति प्रसन्नता, संतुष्टि, आशा, हिम्मत, करुणा, सहृदयता, सहानुभूति आदि

भावों के रूप में करती हैं। ध्वंसात्मक विचारणाओं की अभिव्यक्ति क्रोध, घृणा, ईर्ष्या आदि के रूप में होती है। विचारों के सृजनात्मक स्वरूप का शरीर पर पड़ने वाला प्रभाव उत्साहवर्धक होता है। इसके विपरीत ध्वंसात्मक चिन्तन मानसिक ऊर्जा का क्षय कर अपनी कार्यक्षमता नष्ट कर डालता है। ऐसी स्थिति में व्यक्ति किर्कराव्यवमूढ़ हो जाता है और संकट से उबरने की राह पाने में अपंग असमर्थ बन जाता है। ऐसी स्थिति में उलटे विचारों की शृंखला नई उलझनें पैदा कर अधिकाधिक दल-दल में डुबोती जाती है।

सृजनात्मक चिन्तन हमारे आचरण व्यवहार को गढ़कर उसको सौन्दर्यवान बनाने वाला होता है। इससे व्यक्तित्व में प्रभाविकता आती है। विख्यात मनोविद्व.जे.जे. मैकडरमॉट ने अपने अध्ययन “द रायटिंग्स ऑफ विलियम जेम्स कम्परहेन्सिव एडिशन” में कहा है कि विचारों से ही जीवन को गढ़ा जाता है। इसी के अनुरूप जीवन की अभिव्यक्ति तत्सम्बन्धी क्रियाकलापों गतिविधियों के रूप में ही होती है। उसकी उत्कृष्टता-निकृष्टता, प्रेम, उदारता, सहानुभूति अथवा परपीड़न घृणा आदि के रूप में दृष्टिगत होती है।

इनको परिष्कृत करने तथा चेतना के उच्चतम आयामों को प्राप्त करने के लिए भारतीय मनीषियों के विविध अध्यात्म उपचार ढूँढ़ निकाले थे। इसके लिए एक सर्वांगीण व्यवस्थित विचार-विज्ञान को सृजित किया गया। जिसके अनुसार पहले उन्नत विचारों से मन में जमे गँदले विचारों को साफ किया जाता है। रामकृष्ण परमहंस इसे पहली और अनिवार्य आवश्यकता मानते हुए अपनी सरल भाषा में बताते हैं कि संसार में कहीं कष्ट नहीं है। अनुभूत होने वाला कष्ट हमारे अपने कुविचारों का है। कुविचारों का काँटा चुभ गया है, उसी के कारण सारा कष्ट है। इसको दूर करने के लिए सुविचारों का एक दूसरा काँटा लेकर इससे चुभे हुए काँटे को बाहर निकालकर फेंक दिया जाता है। निकाल फेंकने की यह विधा-स्वाध्याय है। यही वह बुहारी है जिससे मन की समस्त गंदगी को बुहारा जाता है। श्री अरविन्द “लैटर्स ऑन योग” में स्वाध्याय की प्रभावोत्पादकता के बारे में कहते हैं कि इससे उच्चमन का परिक्षेत्र खुलता है। जिससे चेतना के उन्नत स्तरों से विचारों का अवतरण होता है। इसे विचारों के प्रकाशमान संसार का उदय कह सकते हैं।

महर्षि पतंजलि योगदर्शन के प्रथम पाठ के १७वें सूत्र में इसके अन्य आयामों का उद्घाटन करते हुए कहते हैं कि “किसी पवित्र विचार पर लगातार निदिध्यासन

करने पर विवेकपूर्ण तर्क प्रवणता से आनन्द मिलता और अहं के आभासी भाव से छुटकारा हो इन्द्रिय विषयों से अहं का तादात्म्य छूट जाता है और सम्प्रज्ञात स्थिति की गति होती है।” महर्षि के उपरोक्त सूत्र से स्पष्ट है कि विचारों का सुगठन न केवल बाह्य जीवन को परिष्कृत, प्रखर और तेजस्वी बनाता है अपितु चेतना के उन्नत स्तरों के द्वार भी उन्मुक्त करने वाला है इसका अवलम्बन ग्रहण कर हमसे प्रत्येक अपने जीवन का बहुआयामी विकास सहजता-पूर्वक कर सकता है।

विचार-विज्ञान को समझें

विचारों की शक्ति पर अपने समय में काफ़ी विचार हुआ है और यह माना गया है कि ध्वनि, प्रकाश और ताप की तरह चेतना क्षेत्र में विचारों की भी एक जीवन शक्ति है। इसकी महत्ता मानते हुए अध्ययन का क्रम चला है। स्वाध्याय और सत्संग की व्यवस्था हुई है। परामर्श और प्रवचन की शैली का विकास हुआ है। सही सोचने के सत्परिणाम और गलत ढंग से सोचने के दुष्परिणामों का विस्तारपूर्वक विवेचन हुआ है।

विचारों ने विचारों को काटा है और विचारों ने विचारों का समर्थन एवं पोषण किया है। एकता और विश्रह के मूल में सशक्त विचारों को ही काम करते पाया है। व्यक्तियों और समाजों को ऊँचा उठाने और नीचे गिराने में विचारों की असाधारण भूमिका रही है। पिछली शताब्दी में दो महान क्रान्तियाँ हुई हैं। एक में राजतंत्र की अनुपयुक्तता सिद्ध करके उसके स्थान पर जनतंत्र की महत्ता प्रतिपादित की है। रूसो के इस प्रतिपादन को समस्त संसार में आँधी-तूफान जैसी मान्यता मिली। इसके थोड़े ही समय उपरान्त शासन का स्वरूप साम्यवादपरक हो, इसकी वकालत कार्लमार्क्स ने की और वे विचार आज आधे से अधिक जन समूह में मान्यता प्राप्त कर चुके हैं। शासन को छोड़कर समाज का स्वरूप निर्धारण करने में विचारों की प्रचण्ड लहरें अपना जादुई प्रभाव प्रस्तुत करती रही हैं। दास प्रथा का उन्मूलन, नारी को समानता के अधिकार, जन साधारण के मौलिक अधिकारों की मान्यता विचारों की प्रचण्ड लहरों के फलस्वरूप ही संभव हो सकी। कारखानों में मजदूरों के अधिकारों की मान्यता जैसे परिवर्तन इन्हीं दिनों व्यवहार में आये हैं। नर-नारी की समानता, जमींदारी उन्मूलन जैसे कार्यों के तीव्र प्रवाह ने ही इन्हें सहज संभव कर दिखाया। सहकारी आन्दोलन की स्थापना और प्रगति ने जमींदारी, साहूकारी प्रथाओं को उखाड़ फेंका। छूत-अछूत का भेदभाव समाप्त होना प्रगतिशील विचारों का ही प्रतिफल है।

कुछ समय पहले तक मान्यता थी कि धनबल, बाहुबल और शस्त्रबल ही किसी की प्रगति का आधार हैं। अब वह सामन्ती विचारणा पीछे पड़ गई और माना जाने लगा है कि व्यक्तिगत जीवन का उत्थान-पतन विचारों की उत्कृष्टता, निकृष्टता पर निर्भर है। अब समाज सैन्यबल पर नहीं विचार बल पर समर्थ और दुर्बल बनते हैं। विचार-विनिमय अब कूटनीति का भी एक महत्वपूर्ण पहलू बन गया है। राष्ट्रों और जातियों की मजबूती और कमजोरी में विचारधारा की, प्रमुखता की प्रधान भूमिका रहती है। व्यक्ति निजी जीवन में किस कारण उठता, गिरता है इसे अब विचारों के आधार पर निर्भर मान लिया गया है। शासन सत्ताएँ इसी आधार पर आये दिन उलट-पुलट होती रहती हैं। जन मानस को दिशा दे सकने में समर्थ व्यक्तियों को अब सच्चे अर्थों में बलवान माना जाने लगा है। पत्र-पत्रिकाओं और पुस्तकों को अब मनोरंजन का विषय नहीं सामर्थ्य का पुंज माना जाने लगा है।

विचार-माध्यम से ही विज्ञान का आविर्भाव हुआ है। विज्ञान की अनेकानेक शाखा-प्रशाखाओं का आज प्रचलन है। उसके प्रयोग, परीक्षण के लिए यंत्र उपकरणों का निर्माण हुआ है किन्तु उसके मौलिक आविष्कार की रूपरेखा चिन्तन के माध्यम से ही संभव हुई है। विज्ञान का प्रयोग मशीनों के माध्यम से होता है। पर उन मशीनों का आविष्कार, आविर्भाव मनुष्य के बुद्धिबल से ही हुआ है। आकाशगमन, उपग्रह, कम्प्यूटर, अणु शक्ति आदि अनेकों, एक से एक विचित्र विज्ञान की शाखाएँ कार्यरत दिखाई पड़ती हैं। पर यह सब आकाश से नहीं टपका है। मनुष्य के चिन्तन ने ही इनका सूत्रपात किया है और उन्हें क्रियारत होने की स्थिति तक पहुँचाया है।

विचार विज्ञान की ही एक शाखा श्रद्धा है। इसके वैज्ञानिक प्रयोग हिप्नोटिज्म माध्यम से होते हैं। व्यक्ति को सम्मोहित करके उसके बिना दर्द के आपरेशन होने लगे हैं। दाँत उखाड़ने में तो यह कला बहुत आगे बढ़ गई है। सुन्न करके दाँत उखाड़ने की अब आवश्यकता नहीं पड़ती। जादुई खेलों में इसका अच्छा खासा उपयोग होता है। दर्शकों के समूह में मतिभ्रम उत्पन्न करके कुछ के बदले कुछ दृश्य दिखाये जाते हैं। रस्सी पर मनुष्य का चढ़ जाना और ऊपर से शरीर के टुकड़े-टुकड़े करके गिराना। बाद में असली शरीर को ज्यों का त्यों दिखा देना, हिप्नोटिज्म का खेल है। इस दिशा में अब भारी प्रगति हो चुकी है।

यह साधारण खेल-खिलवाड़ जैसी बात हुई। शारीरिक और मानसिक चिकित्सा में अब इस विधा के

महत्वपूर्ण प्रयोग होने लगे हैं। यह श्रद्धा विज्ञान का एक अंश है। भूत, प्रेत और देवी-देवताओं द्वारा विचित्रताएँ प्रदर्शित होने और लाभ-हानि के प्रतिफल सामने आने की घटनाएँ श्रद्धा पर अवलम्बित हैं। ‘शंका डाकिन मनसा भूत’ की उक्ति शत-प्रतिशत चरितार्थ होती है। रात्रि के अँधेरे में डरपोक व्यक्तियों को झाड़ी भूत बनकर दिखाई देती है। पीपल के पत्तों की खड़खड़ाहट में ऐसा डर लगता है जिससे भयभीत होकर कई व्यक्ति बीमार पड़ जाते और हृदय की धड़कन बन्द हो जाने जैसी विपत्ति के ग्रास बन जाते हैं।

पारिवारिक सम्बन्धों में छोटों को बड़ों के प्रति जो विश्वास, प्रेम होता है, उसे भी श्रद्धा कहते हैं। बच्चों का अभिभावकों के प्रति, पत्नी का पति के प्रति, छात्रों का गुरुजनों के प्रति जो गहरा सद्भाव है वह श्रद्धा कहा जाता है। यह अनुशासन के रूप में दृष्टिगोचर होता है। यह सद्गुण है। इसका परिणाम दोनों पक्षों के लिए श्रेयस्कर होता है। यदि छोटे-बड़ों के प्रति श्रद्धा रखेंगे तो उसके कार्यों के प्रति गहरी सद्भावना रहेगी। जो कहा गया है, पढ़ा गया है उस पर गहरी आस्था रहेगी और कथन हृदयंगम होता चला जायेगा। बदले में बड़ों का सहज वात्सल्य भी मिलेगा। दोनों ओर का वह आदान-प्रदान शिक्षा की सफलता के लिए श्रेयस्कर है। इसका प्रतिफल अनुशासन के रूप में दृष्टिगोचर होगा। ऐसे परिवारों में सद्भाव का सहज आदान-प्रदान होता रहता है और दोनों पक्ष एक-दूसरे के लिए असाधारण सहायक सिद्ध होंगे। इसमें दोनों पक्षों का हित है।

महापुरुषों के सम्बन्ध में श्रद्धा होने का अर्थ है उनके जीवन से प्रभावित होना। उनकी शिक्षाओं का हृदयंगम करना, उसके निर्देशों और क्रिया-कलापों में हाथ बँटाना। इससे परोक्षतः महापुरुषों को भी अपने मिशन का विस्तार करने में सहायता मिलती है। उनकी शिक्षाओं से लोग अधिक लाभ उठा पाते हैं। श्रद्धा दो व्यक्तियों को परस्पर जोड़ने का सर्वोत्तम माध्यम है। मित्रों के बीच-छोटे बड़े का अन्तर रहने पर भी गुणों के आधार पर गहरी श्रद्धा हो सकती है। यह सामान्य मित्रता से बहुत आगे की चीज है।

आदर्शों के प्रति श्रद्धा होने का अर्थ है कि इनका परिपालन भली प्रकार से हो सकेगा और निभ सकेगा। आदर्शों की सामान्य जानकारी समझना और औचित्य मानना एक बात है और श्रद्धा होना दूसरी। जिन सिद्धान्तों के प्रति श्रद्धा होगी व्यक्ति उन्हें तोड़ने के लिए ललचायेगा नहीं वरन् दृढ़तापूर्वक उनका निर्वाह करता

रहेगा। यदि मान्यता उथली है तो कहा नहीं जा सकता कि परीक्षा की घड़ी आने पर वह निभेगा या नहीं।

अध्यात्म क्षेत्र में तो श्रद्धा ही सफलता का मूलभूत आधार है। किसी देवता या मंत्र के प्रति श्रद्धा है तो उसकी सामान्य साधना बन पड़ने पर भी उसके चमत्कारी परिणाम होते हैं। इसके विपरीत श्रद्धा के अभाव में कोई उपासनात्मक कर्म-काण्ड ढेरों समय लगाकर करते रहने पर भी कहने लायक प्रतिफल नहीं होता।

रामायण में श्रद्धा को भवानी और शिव को विश्वास की उपमा दी है और कहा गया है कि इन दोनों के बिना हृदय में विराजमान होते हुए भी इष्टदेव का दर्शन, अनुग्रह नहीं होता। इससे प्रकट होता है कि जितनी किसी देवता या मंत्र में शक्ति है उसकी तुलना में सघन श्रद्धा किसी प्रकार कम नहीं पड़ती।

किसी कार्य की गरिमा के प्रति श्रद्धा रखते हुए सच्चे मन और पूरे परिश्रम के साथ जुड़ जाना सफलता का सुनिश्चित पथ-प्रशस्त करना है।

आकांक्षाओं को आदर्शवादी

मोड़ दिया जाय

मनुष्य की अभिलाषाओं और आकांक्षाओं में मूलतः उसकी प्रेरक शक्तियाँ समायी हैं। इच्छाओं का उफान जिस दिशा में उमड़ता है उसी ओर मस्तिष्क चल पड़ता है। सोचने का ढर्रा उसी पटरी पर लुढ़कता और बुद्धि उसी स्तर के साधन-संरंजाम जुटाने का ताना-बाना बुनने लगती है। शरीर की क्रियाएँ उसी दायरे में अग्रसर होती हैं और साधन, सहयोग, वातावरण उसी प्रकार के जुटने शुरू हो जाते हैं। अपने बनाये जाल में मकड़ी पूरी तरह फँस जाती है। मनुष्य अपनी इच्छाओं द्वारा विनिर्मित परिस्थितियों के जाल-जंजाल में जकड़ा रहता है। उसे इतना शारीरिक एवं मानसिक अवकाश ही नहीं मिलता कि जीवनोद्देश्य की दिशा में कुछ महत्वपूर्ण कदम बढ़ा सके।

आकांक्षाओं का महत्व समझा जाना चाहिए और उनकी दिशा निर्धारित करने के सम्बन्ध में समुचित ध्यान दिया जाना चाहिए। मानवी सुख-शान्ति और सामाजिक प्रगति की कुंजी यहीं छुपी पड़ी है। पिछले समय में हुए वैयक्तिक अधोपतन और सामाजिक दुर्गति का यदि तात्विक लेखा-जोखा लिया जाय, तो इसी निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ेगा कि लोगों के सोचने का स्तर घटिया बन गया। उनकी महत्वाकांक्षाएँ संकीर्ण प्रयोजनों में अटककर विकृतियाँ ही विकृतियाँ पैदा करती रह गई।

मानवी अन्तःकरण के विश्लेषक आर. डी. लेंग के ग्रन्थ “द डिवाइडेड सेल्फ” के पन्ने पलटने पर पता चलता है—इच्छाएँ सोचने को प्रेरित करती हैं। मस्तिष्क वह जादू का पिटारा है कि जिधर चलेगा उसी प्रकार के साधन और अवसर प्राप्त कर लेगा। यदि विलासी और संग्रही बनने की अभिरुचि भड़क उठे तो व्यक्ति उन्हीं के लिए रात-दिन सोचेगा और करेगा। पिछले दिनों यही हुआ है। व्यक्ति संकीर्ण स्वार्थों की परिधि में स्वयं को सीमाबद्ध रखता रहा है। वह लोभ-मोह को परम-प्रिय विषय बनाये बैठा रहा और काम-क्रोध की आग बुझाने के संरंजाम इकट्ठे करता रहा।

इस तरह की प्रवृत्तियों ने यदि उसे नर-पशु जैसा जीवन प्रदान किया तो आश्चर्य क्या ? कुत्सिग लालसाएँ जब-जब भड़कती हैं तो अपनी उग्रता के कारण मानवीय मर्यादाओं को तोड़-फोड़कर रख देती हैं। नैतिकता का कोई मूल्य उस प्रवाह के सामने टिक नहीं पाता। किसी भी प्रकार अपनी हविस पूरी करने की उतावली इतनी बेचैनी उत्पन्न करती है कि नीति और सदाचार, न्याय और औचित्य का ध्यान ही नहीं रहता। तृष्णाओं से, समस्त वासनाओं से पीड़ित, अहंकार से उन्मत्त व्यक्ति जो कुछ भी न कर डाले वही कम है।

मनोविद एरिक फ्रॉम के ग्रन्थ “द एनाटमी ऑफ ह्यूमन डिस्ट्रिक्टवनेस” के अनुसार इच्छाओं का केन्द्र यदि पशु प्रवृत्ति से भरा रहे और मनुष्य अपने शारीरिक सुखों को पाने, अहंकार को सँजोने और लालच को बढ़ाने में लगा रहे तो उस सन्दर्भ में कुछ भी अनर्थ करने में तत्पर हो सकता है। व्यक्तियों का निखार और उत्कर्ष आदर्शवादी विचारणा और कार्य-पद्धति पर निर्भर है। जो लोग नीचा सोचते और ओछा करते हैं, वे सम्मनता एकत्रित कर लेने पर भी किसी की या अपनी आँखों में अपना सम्मान सुरक्षित नहीं रख सकते। कोई बड़ा काम नहीं कर सकते और मूर्धन्य, प्रामाणिक एवम् गणमान्य लोगों की पंक्ति में नहीं बैठ सकते। धन-शिक्षा-सौन्दर्य, कला-कौशल में कुछ प्रगति कर लेने पर भी उनके व्यक्तित्व निखर न सकेंगे और उनमें आत्मबल की न्यूनता ही बनी रहेगी।

विकासवान व्यक्तित्व की आधारशिला मनुष्य की आन्तरिक अभिलाषाओं और आकांक्षाओं पर निर्भर रहती है। वस्तुतः यही केन्द्र-बिन्दु व्यक्तित्व का सार तत्व है। मनुष्य वस्तुतः क्या है ? यदि उसकी असलियत परखनी हो तो उसके अन्तरंग में घुसकर यह ढूँढ़ना होगा कि वह वस्तुतः चाहता क्या है ? सामाजिक दबाव या लोक-लाज के कारण बहुधा बाहर से वह प्रदर्शित किया

जाता है—वह कहा जाता है जो सामाजिक सम्मान बनाए रखे। वास्तविक इच्छाएँ कई बार इस बाह्य प्रदर्शन से सर्वथा प्रतिकूल होती हैं। यह अन्तर सामान्य व्यक्तियों में ही नहीं नेताओं, धर्म-ध्वजियों और दूसरे ख्यातिनामा व्यक्तियों में भी देखा जा सकता है। जब उनकी मनोदशा तथा करतूतों का नग्न स्वरूप छन-छन कर बाहर आता है तो उस सड़े मवाद की दुर्गन्ध से नाक फटने लगती है। बाहर से आदमी कुछ भी कहता-बताता रहे, असल में वही रहेगा जो स्वरूप अन्तरंग में विनिर्मित किए बैठा है।

यह अन्तरंग की अभिलाषाएँ ही जीवन का सार तत्व हैं। इसी बीज के अनुरूप परिस्थितियों के अंकुर उगते और साधनों के पत्ते जुटते हैं और उन्हीं के अनुरूप क्रिया-कलापों के पुष्प और परिणामों के फल सामने आकर उपस्थित हो जाते हैं। एक शब्द में यों कह सकते हैं कि आंतरिक अभिलाषाएँ ही जीवन का सर्वस्व हैं। वे जिधर बहेगी उधर ही मन, शरीर, कर्तृत्व और वातावरण सहज ही बढ़ता-ढलता चला जाएगा। इस प्रवाह के आगे कोई अवरोध ठहर नहीं सकता। समस्त प्रतिकूलताओं को चीरता हुआ वह प्रवाह अपने लिए रास्ता बना लेता है और उन साधनों को प्राप्त कर लेता है—उन स्थानों तक पहुँच जाता है, जिनकी प्रारम्भिक स्थिति में कल्पना कर सकना भी कठिन था।

मनोविज्ञान के इस रहस्य को हमें इसलिए समझना चाहिए क्योंकि विचार क्रान्ति की प्रक्रिया इसी मर्मस्थल को छूती है। उसका आरम्भ यहीं से होता है। हम साधनों का निर्माण करने नहीं चले हैं, क्योंकि अपनी दृष्टि में वे बार-बार झड़ने उगने वाले पत्र-पल्लव मात्र हैं। निकृष्ट मनोभूमि के रहते अच्छी परिस्थितियाँ निरर्थक सिद्ध होती हैं और देखते-देखते पलायन कर जाती हैं। इसके विपरीत उत्कृष्ट मनोभूमि गई-गुजरी परिस्थितियों में भी आनन्द-उल्लास का बाहुल्य अनुभव करती है और क्रमशः अनुकूल साधनों को जुटाती चली जाती है।

यह मनोवैज्ञानिक अनुभूति हमें बताती है कि सामाजिक विकास और नव निर्माण के लिए व्यक्तियों का विकास अनिवार्य रूप से आवश्यक है। इसलिए हमें जन-इच्छाओं को परिष्कृत करने की दिशा में सारा ध्यान केन्द्रित और प्रयत्नों को समवेत करना चाहिए। आज का इन्सान बाहर से कुछ भी बकता या बनता हो, भीतर से बहुत ही लोभी, स्वार्थी, संकीर्ण, अनुदार और कामुक प्रवृत्ति का बन गया है। यदि पोस्टमार्टम करने चलें तो भावना शरीर का शवोच्छेद लगभग एक ही प्रकार का निष्कर्ष प्रस्तुत करेगा। हर आदमी अमीरी के आधार पर विलासिता, कामुकता और अहमन्यता का मजा उठाने के

लिए व्याकुल है। उसे ऐश चाहिए, शान-शौकत चाहिए, वाह-वाही चाहिए, इसके अतिरिक्त उसे और कुछ नहीं चाहिए। ये चीजें उसे अति विशाल मात्रा में और अति शीघ्र चाहिए। इसी धुरी पर आज के व्यक्ति का सारा जीवन घूम रहा है।

इस प्रवाह को उलट सकना कैसे सम्भव हो सकता है? इसका उत्तर एक ही है कि अन्तरंग की आकांक्षा मर्मस्थल में आदर्शवादिता पैदा की जाय। ऐसा हो सके तो मन, मस्तिष्क समय श्रम सभी उस दिशा में मुड़ चलें और साधन, सुविधा, परिस्थिति, सहयोग आदि के सारे सरंजाम उसी स्तर के सहज ही जुटने लगें। जो लोग निन्दा, व्यंग्य, उपहास, लांछन एवं अवरोध उत्पन्न करने में आज लगे हुए हैं वे कल अपनी हार मान लें और पत्थर से सिर फोड़ना छोड़कर उस अतिमानवी साहस के चरणों पर श्रद्धा सुमन बिछाने लगें।

महत्वाकांक्षाओं को तृष्णा-वासना-लोभ मोह के पाप-पिशाचों से बचाकर लोक मंगल के लिए बड़े से बड़ा त्याग, बलिदान, पुरुषार्थ एवं अनुदान देने में लगाया जा सके तो सामान्य स्तर का मनुष्य भी धीरे-धीरे इतने महत्वपूर्ण कार्य कर सकता है कि उसका लेखा-जोखा तथाकथित संत महात्माओं से हजारों गुना अधिक आगे ठहराया जाय। मनीषी गोपीनाथ कविराज के ग्रन्थ “भारतीय संस्कृति और साधना” के शब्दों में कहें तो—“जब तक मनुष्य लेने की लिप्सा में डूबा रहता है—उसे अपने चारों ओर अभाव और दारिद्र्य ही घिरा दीखता है। पर जब वह अपनी मनोदशा देने में रस लेने वाली बना लेता है तो धन न रहते हुए भी शारीरिक, मानसिक सम्पदाएँ इतनी बहुमूल्य दीखने लगती हैं, जिनके आधार पर लोक मंगल के लिए बहुत कुछ किया जा सकना सम्भव हो सके।”

नव-निर्माण के लिए उत्कृष्ट भाव सम्पन्न व्यक्तियों की आवश्यकता है। लक्ष्मी और विद्या न होने से किसी को रंज नहीं करना चाहिए। जिन्होंने अपनी अभिलाषाओं, आकांक्षाओं को आदर्शवादी बनाया है उन्हीं के द्वारा विश्व के भावनात्मक नव निर्माण का महान अभियान संभव है।

विधेयात्मक चिन्तन की फलदायी परिणतियाँ

जीवन की अन्यान्य बातों की अपेक्षा सोचने की प्रक्रिया पर सामान्यतः कम ध्यान दिया गया है जबकि मानवी सफलताओं, असफलताओं में उसका महत्वपूर्ण योगदान है। विचारणा की शुरूआत मान्यताओं अथवा

धारणाओं से होती है, जिन्हें या तो मनुष्य स्वयं बनाता है अथवा किन्हीं दूसरे से ग्रहण करता है अथवा वे पढ़ने-सुनने और अन्यान्य अनुभवों के आधार पर बनती है। अपनी अभिरुचि के अनुरूप विचारों को मानव मस्तिष्क में प्रविष्ट होने देता है, जबकि जिन्हें पसन्द नहीं करता उन्हें निरस्त भी कर सकता है। जिन विचारों का वह चयन करता है उन्हीं के अनुरूप चिन्तन की प्रक्रिया भी चलती है। चयन किये गये विचारों के अनुरूप भी दृष्टिकोण का विकास होता है जो विश्वास को जन्म देता है। वह परिपक्व होकर पूर्व धारणा बन जाता है। व्यक्तियों की प्रकृति एवं अभिरुचि की भिन्नता के कारण मनुष्य मनुष्य के विश्वासों, मान्यताओं एवं धारणाओं में भारी अन्तर पाया जाता है।

चिन्तन पद्धति में अर्जित की गयी भली-बुरी आदतों की भी भूमिका होती है। स्वभाव चिन्तन को अपने ढर्रे में घुसा भर देने में समर्थ हो जाता है। स्वस्थ और उपबोगी चिन्तन के लिए उस स्वभावगत ढर्रे को भी तोड़ना आवश्यक है जो मानवी गरिमा के प्रतिकूल है अथवा आत्म-विकास में बाधक है।

प्रायः अधिकांश व्यक्तियों का ऐसा विश्वास है कि विशिष्ट परिस्थिति में मन द्वारा विशेष प्रकार की प्रतिक्रिया व्यक्त करना मानवी प्रकृति का स्वभाव है पर वास्तविकता ऐसी है नहीं। अभ्यास द्वारा उस ढर्रे को तोड़ना हर किसी के लिए सम्भव है। परिस्थिति विशेष में लोग प्रायः जिस ढंग से सोचते एवं दृष्टिकोण अपनाते हैं, उससे भिन्न स्तर का चिन्तन करने के लिए भी अपने मन को अभ्यस्त किया जा सकता है। मानसिक विकास के लिए अभीष्ट दिशा में सोचने के लिए अपनी प्रकृति को मोड़ा भी जा सकता है।

मन विभिन्न प्रकार के विचारों को ग्रहण करता है, पर जिनमें उसकी अभिरुचि रहती है, चयन उन्हीं का करता है। यह रुचि पूर्वानुभवों के आधार पर बनी हो सकती है। प्रयत्नपूर्वक नयी अभिरुचियाँ भी पैदा की जा सकती हैं।

प्रायः मन एक विशेष प्रकार की ढर्रे वाली प्रतिक्रियाएँ मात्र दर्शाता है, पर इच्छित दिशा में उसे कार्य करने के लिए नियन्त्रित और बिबरश भी किया जा सकता है। बन्दरों की तरह उछल-कूद मचाना उसका स्वभाव है। एक दिशा अथवा विचार विशेष पर एकाग्र नहीं होना चाहिए। नवीन विचारों की ओर आकर्षित तो होता है, पर उपयोगी होते हुए भी उन पर टिका नहीं रह पाता। कुछ ही समय बाद उसकी एकाग्रता भंग हो जाती तथा वह परिवर्तन चाहने लगता है, पर अभ्यास

एवं नियन्त्रण द्वारा उसक्रे अन्दर स्वभाव को बदला भी जा सकता है। यह प्रक्रिया समय साध्य होते हुए भी असम्भव नहीं है। एक बार एकाग्रता का अभ्यास बन जाने से जीवनपर्यन्त के लिए लाभकारी सिद्ध होता है।

सोचने की प्रक्रिया में विषयों पर एकाग्रता ही नहीं स्वस्थ और सही दृष्टिकोण का होना भी आवश्यक है। किसी भी विषय पर दो प्रकार से सोचा जा सकता है—विधेयात्मक और निषेधात्मक भी। परस्पर विरोधी दोनों ही दिशाओं में एकाग्रता का अभ्यास किया जा सकता है। इस महत्वपूर्ण तथ्य को हर व्यक्ति जानता है कि निषेधात्मक चिन्तन से मनुष्य की वैचारिक क्षमताओं में ह्रास होता है। विधेयात्मक दृष्टिकोण से ही चिन्तन का सही लाभ लिया जा सकता है।

निषेधात्मक चिन्तन से बचने का एक तरीका यह भी हो सकता है कि अपनी गरिमा पर विचार करते रहा जाय तथा यह अनुभव किया जाय कि मानव जीवन एक महान उपलब्धि है, जिसका उपयोग श्रेष्ठ कार्यों में होना चाहिए। निकृष्ट चिन्तन मनुष्य को उसकी गरिमामय स्थिति से गिराता है, यह विश्वास जितना सुदृढ़ होता चला जायेगा, विधेय चिन्तन को उतना ही अधिक अवसर मिलेगा।

पूर्वाग्रहों से ग्रसित होने पर भी सही चिन्तन बन नहीं पड़ता। किसी विचारक का यह कथन शत-प्रतिशत सच है कि “जो जितना पूर्वाग्रही हो वह चिन्तन की दृष्टि से उतना ही पिछड़ा होगा।” परिवर्तनशील इस संसार में मान्यताओं एवं तथ्यों के बदलते देरी नहीं लगती। अतएव मन-मस्तिष्क को सदा खुला रहना चाहिए ताकि यथार्थता से वंचित न रहना पड़े। खुले मन से हर औचित्य को बिना किसी ननुनच के स्वीकार करने के लिए तैयार रहना चाहिए। तथ्यों की ओर से आँखें बन्द रखने पर कितनी ही जीवनोपयोगी बातों से वंचित रह जाना पड़ता है।

किसी विषय पर एकाकी चिन्तन भी सही निष्कर्षों पर नहीं पहुँचने देता। उस चिन्तन में मनुष्य की पूर्व मान्यताओं का भी योगदान होता है। सही विचारणा के लिए यह भी आवश्यक है कि अपनी पूर्व मान्यताओं, आग्रहों तथा धारणाओं का भी गम्भीरता से पक्षपातरहित होकर विश्लेषण किया जाय। पक्ष और विपक्ष दोनों पर ही सोचा जाय। किसी विषय पर एक तरह से सोचने की अपेक्षा विभिन्न पक्षों को ध्यान में रखकर चिन्तन किया जाय। स्वस्थ और यथार्थ चिन्तन तभी बन पड़ता है। एकाकी मान्यताओं एवं पूर्वाग्रहों को तोड़ना सम्भव हो सके तो सर्वांगीण प्रगति का मार्ग प्रशस्त हो सकता है।

विचारों का सही विश्लेषण सतही स्तर पर कर सकना सम्भव नहीं है। घटना अथवा विषय विशेष की परिस्थिति की गहराई में जाये बिना विचारणा के निष्कर्ष भी अधूरे, एकाकी और कभी-कभी गलत होते हैं। उल्लेखनीय बात यह भी है कि विश्वास विश्लेषण की सही प्रक्रिया अपने ही बलबूते पर सम्पन्न की जा सकती है, न कि दूसरे के सहयोग से। सामाजिक रूप से कोई वैचारिक सहयोग सुझाव एवं परामर्श दे भी सकता है पर हर क्षण अपने विचारों का निरीक्षण मात्र मनुष्य स्वयं ही कर सकता है। सही ढंग से उचित-अनुचित का विश्लेषण एवं चयन भी वही कर सकता है। कहा जा चुका है कि विचारणा में पूर्व अनुभवों एवं आदतों की भी पृष्ठभूमि होती है। इस तथ्य से दूसरे व्यक्ति नहीं परिचित होते। अपनी वैचारिक पृष्ठभूमि हर व्यक्ति थोड़े प्रयत्नों से स्वयं पता लगाकर उसमें आवश्यक हेर-फेर कर सकता है। आत्म-विश्लेषण के लिए मन एवं उसकी प्रवृत्तियों को विवेक के नेत्रों से देखना पड़ता है। कठिन होते हुए भी यह कार्य असम्भव नहीं है।

क्या उचित है और क्या अनुचित? कौन-सा कार्य औचित्यपूर्ण है, कौन-सा अनौचित्य से भरा इसका पता लगाना असम्भव नहीं है। हर कोई थोड़े प्रयास से इसमें अपने को दक्ष कर सकता है?

एक समय में एक से अधिक विषयों पर चिन्तन करने से भी उथले परिणाम हाथ लगते हैं। एकाग्रवान बन पाने से विषय की गहराई में जाना सम्भव नहीं हो पाता। एक से अधिक विषयों पर एक साथ विचार करने से विचारों में भटकाव आता है, किसी उपयोगी परिणाम की आशा नहीं रहती है। कई बातों से विचारों को भटकने देने की खुली छूट देने की अपेक्षा उपयोगी यह है कि एक समय में एक विषय पर सोचा जाय और जितना सोचा जाय पूरे मनोयोगपूर्वक। मनीषी, विचारक, वैज्ञानिक, कलाकार, साहित्यकार कुछ महत्वपूर्ण समाज को इसीलिए दे पाते हैं कि वे अपने विचारों को भटकने-बिखरने नहीं देते। एक ही विषय के इर्द-गिर्द पूरी तन्मयता के साथ उन्हें घूमने देते हैं। सार्थक परिणति भी इसीलिए होती है।

कर्म, विचारों के गर्भ में ही पकते हैं। जैसे भी विचार होंगे, उसी ढंग की गतिविधि मनुष्य अपनायेगा। जो प्रयास को सफल उपयोगी और कल्याणकारी बनाना चाहते हैं, उन्हें सर्वप्रथम अपनी विचारणा की प्रक्रिया से अवगत होना चाहिए। अनुपयोगी, निषेधात्मक को सुधारने, बदलने तथा उपयोगी को बिना किसी असमंजस के स्वीकारने के लिए सतत् तैयार रहना चाहिए।

आत्म-विश्वास की महती शक्ति सामर्थ्य

मन से हारा हुआ व्यक्ति आमतौर से हारता है। पर जिसे अपनी जीत पर पूरा विश्वास है वह देखता है कि अपने में इतनी क्षमता का भण्डार भरा पड़ा था, जिसे कभी जाना-पहचाना नहीं गया और वैसा सोचने का भी अवसर नहीं आया। वस्तुतः मनुष्य का मनोबल ही उच्चस्तरीय वैभव है। उसी के सहारे लोग साधारण से असाधारण बनते हैं और कम योग्यता होते हुए भी कथित समर्थ कहे जाने वालों के कान काटते हैं। आत्म-विश्वासी कछुआ अस्थिर मन वाले खरगोश से बाजी मार ले गया था यह सबविदित है।

अपने आपको दीन-हीन, कमजोर मानने वालों का अनायास ही मनोबल गिरा रहता है। वह आज की अपेक्षा कल को अधिक अच्छा बनाने की बात सोच तक नहीं पाता। कहते हैं कि जो अपनी सहायता आप नहीं करता, उसकी सहायता करने के लिए ईश्वर भी आगे नहीं आता। झूठ जब आवश्यक शक्ति अर्जित कर लेता है तो बाहर निकलने का प्रयत्न करता है। कठिनाइयों से जूझने का नाम ही 'प्रसव पीड़ा' है। इसके बाद ही कभी बालक का जन्म संभव होता है। यदि वह अत्यधिक दुर्बल हो और बाहर आने का पुरुषार्थ न अपनाए तो कदाचित् उसे सही स्थिति में जन्म लेने का अवसर ही न मिले। अण्डा जब खोल के भीतर पकता है और बाहर निकलने की आवश्यकता अनुभव करता है तो छिलके को तोड़ने की भीतर से ही शक्ति निकालता है। अण्डे में दरारें पड़तीं, हलचल होती और चूजा बाहर निकल आता है। आत्म-विश्वास और पराक्रम की यह शिक्षा जन्म से पहले ही मिल चुकी होती है ताकि उसे जीवन भर भुलाया न जाय और कठिनाई से निपटने तथा प्रगति पथ पर अग्रसर होने के लिए हर पल ध्यान में रखा जा सके। ऐसी ही मनःस्थिति में स्वतन्त्र निर्णय बन पड़ते हैं। अपनी स्थिति के अनुरूप अभीष्ट प्रयोजनों के लिए साहस भरे कदम उठाते बन पड़ते हैं, जिनमें इस मौलिक क्षमता का अभाव है वे दूसरों का मुँह ताकते रहते हैं। अवसर आकर उन्हें स्वयं गोदी में उठाए, सफलता का छप्पर फाड़कर आँगन में आ टपके, इसी का इन्तजार करते रहते हैं। ऐसी हतप्रभ मनोभूमि वाले या तो निराश होकर भाग्यवादी बन जाते हैं या फिर शेखचिल्ली जैसे इस प्रकार के सपने देखते रहते हैं, जिनका वास्तविकता के रूप में विकसित होने का कभी-अवसर आता ही नहीं। तार में बिजली होने पर बल्ब जलते और पंखे घूमते हैं। पर यदि बिजली गुल हो जाय तो न पंखे चलते हैं और

न बल्ब जलते हैं। आत्म-विश्वास एक प्रकार की बिजली है, जो मनुष्यों की अनेक विशेषताओं को उभारता और प्रस्तुत क्षमताओं को जगाकर इस योग्य बनाता है कि व्यक्ति कुछ महत्वपूर्ण कार्य कर सके और अपने क्रिया-कलापों से अनेकों को प्रभावित करके उन्हें प्रतिभावान बनाने में समर्थ हो सके। समझना चाहिए कि मनुष्य में आधी क्षमता शरीर और कौशल के साथ जुड़ी होती है और शेष आधी आत्म-विश्वास आत्म-गौरव पर अवलम्बित रहती है।

आत्म-विश्वास आत्म-गौरव को विकसित करता है और अपने अनुरूप मनःस्थिति एवं परिस्थिति बनाकर रहता है। भूमि की उर्वरता और बीज की सशक्तता मिलकर जिस अंकुर को उगाते हैं उसमें अपनी निज की सशक्तता भरी रहती है और उसके सहारे पौधा, झाड़ तथा वृक्ष बनता है वृक्ष बनने में बहुत दिन लगते हैं। एक दिन का अंकुर ही विकास क्रम पर ठीक प्रकार चलते हुए फूलों, फलों से लदा सघन छाया और विशाल कलेवर वाला वृक्ष बन जाता है। विकास का यही क्रम उन पर भी लागू होता है। जो आत्म-विश्वास के धनी होते हैं, वे न तो हेय परिस्थितियों में पड़े रह सकते हैं और न सामान्यजनों जैसा निर्वाह-उपार्जन तक सीमित जीवन जी पाते हैं। यही है आत्म-विश्वास का चमत्कार एवं उसकी महती सामर्थ्य।

विचार शक्ति की परिणति और प्रतिक्रिया

विचारों का असाधारण प्रभाव मनुष्यों एवं समीपवर्ती वातावरण पर पड़ता है। मनःसंस्थान से उठने वाले प्रत्येक विचार अदृश्य तरंगों के रूप में सूक्ष्म जगत में प्रवाहित होते रहते हैं तथा सम्पर्क में आने वाले व्यक्तियों को प्रभावित करते हैं। भले-बुरे दोनों ही प्रकार के विचार अपने उद्गम स्रोत के निकट वातावरण में छाये रहते हैं। सान्निध्य में आने वाले व्यक्ति जाने-अनजाने उनकी प्रतिक्रियाओं को अनुभव करते हैं।

वैज्ञानिकों का कहना है कि विचार कभी भी नष्ट नहीं होते। विचार-कम्पन ईथर में होता है। ईथर के परमाणु अति सूक्ष्म होते हैं। इनकी सूक्ष्मता का अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि 'सोने' जैसे घने पदार्थ में ईथर के लाखों परमाणु पाये जाते हैं। अर्थात् 'सोना' भी विचारों के प्रवाह में अवरोध नहीं बन सकता। उसमें विद्यमान ईथर 'तत्व' विचार-तरंगों के प्रवाह का माध्यम बनता है। विज्ञान की नई शोधों द्वारा ज्ञात हुआ

है कि विचारों की आकृति भी सूक्ष्म ईथर से बनती है किन्तु सूक्ष्मता के कारण दिखायी नहीं पड़ती है।

विचारों की आकृति को देखने के लिए अनेक प्रयास भी हुए हैं। जर्मनी के प्रख्यात डाक्टर बेंडक ने ईथर में उत्पन्न होने वाली आकृतियों की प्लेटें लेने में सफलता पायी है। एक बार एक युवक अपनी पत्नी के शोक में चिन्तित था। डा. बेंडक को उसकी जानकारी न थी। उन्होंने ईथर से विचारों के माध्यम से जो चित्र उतारा वह उसकी पत्नी का था। इस प्रकार के अनेकों चित्र लेने में डॉ. बेंडक ने सफलता पायी। किलियन फोटोग्राफी कुछ वर्षों से बहुचर्चित हुई है। किलियन से विचार तरंगों के माध्यम से चित्र लेने में सफलता पायी है। अब इस तथ्य को स्वीकार किया जा रहा है कि जल में उत्पन्न हुई लहरें तो मिट जाती हैं—वायुमण्डल का कम्पन भी नष्ट हो जाता है किन्तु ईथर में उत्पन्न हुआ कम्पन, विचार आकृतियाँ अमर रहती हैं।

विचार आन्तरिक प्रकृति ही नहीं, बाह्य आकृति को भी प्रभावित करते हैं। प्राणियों के स्वभाव एवं बाह्य स्वरूप के निर्माण में मनःशक्ति का महत्वपूर्ण योगदान होता है। उनके शारीरिक अवयवों का उत्पन्न होना अथवा किसी अंग का क्रमशः लुप्त होना मनःशक्ति पर ही अवलम्बित है। इस तथ्य को आधुनिक विकासवाद के मानक 'डार्विन' ने भी स्वीकार किया है। प्राणियों के आन्तरिक प्रकृति के अनुरूप ही उनकी बाह्य आकृति भी दिखायी पड़ती है। शेर खूंखार एवं उग्र अपने स्वभाव के कारण लगता है शान्त स्वभाव के कारण 'गौ' की शक्ति सहज ही अपनी ओर आकर्षित करती है। किसी को भय नहीं होता। मनुष्यों में भी कितने व्यक्तियों की आकृति को देखकर सहज ही आकर्षण पैदा हो जाता है, जबकि कितनों को देखते ही भय का संचार होने लगता है। यह उनके आन्तरिक विचारों का प्रभाव है। जो निकट आने वाले व्यक्तियों को अपने अनुरूप प्रभावित करते हैं।

मनःशक्ति ही मानवी आकृति एवं प्रकृति का निर्माण करती है। स्वभाव ही नहीं शरीर के निर्माण में भी विचारों का महत्वपूर्ण योगदान होता है। गर्भावस्था में विकसित हो रहा शिशु माता-पिता के स्वभाव, आचरण एवं विचारों के अनुरूप ही संस्कार ग्रहण करता है। संस्कारों के बीजारोपण की महत्वपूर्ण अवधि तो यही होती है। बाद में वही परिपक्व होते तथा व्यक्तित्व को गढ़ते हैं। इतिहास के अधिकांश महामानवों के इतिहास पढ़ने पर पता चलता है। उनके निर्माण में माताओं की प्रमुख भूमिका रही है। गुण, कर्म, स्वभाव का बीजारोपण गर्भकाल में ही हुआ। गर्भावस्था में चलने वाले विचारों

की प्रतिक्रिया का असाधारण प्रभाव शिशु पर पड़ा और उसी के अनुरूप वे बनते-ढलते चले गये।

नेपोलियन बोनापार्ट की साहसिकता विश्व-विख्यात है। सामान्य व्यक्ति उसे ईश्वर के वरदान के रूप में मानते हैं। पर इतिहास मर्मज्ञ जानते हैं कि इस गुण के पीछे उसमें माँ का कितना बड़ा योगदान था। उसके जीवन परिचय को पढ़ने पर पता चलता है कि जिस समय नेपोलियन गर्भ में था, उसकी माँ प्रसिद्ध लेखक 'प्लूटार्क' के लिखे वीर पुरुषों के जीवन चरित तथा ग्रशियन के वीर रस के साहित्य के अध्ययन में अपना अधिकांश समय गुजारती थी। वह स्वयं भी बड़ी साहसी थी। घोड़े की सवारी करती तथा एक शासक की भाँति अपने पति के अधीन कार्य करने वाले सैनिकों को निर्देश देती थी। उसका समूचा व्यक्तित्व ही साहस, शौर्य एवं पराक्रम से भरा-पूरा था। विचारों में वीर रस की तरंगें ही उठती थीं। इन्हीं सबका सूक्ष्म प्रभाव नेपोलियन पर पड़ा। जन्म के उपरान्त भी नेपोलियन को वैसा ही वातावरण मिला। फलतः बीजाप्रेषित संस्कार पुन्य परिपक्व होते गये और इन गुणों के कारण वह सफल एवं विश्व-विख्यात हुआ।

माँ के रहन-सहन, विचारणा का कितना बड़ा प्रभाव गर्भस्थ शिशु पर पड़ता है, इसके उदाहरणों से इतिहास-पुराण भरे पड़े हैं। मदालसा ने अपने तीन पुत्रों को स्वेच्छा से ब्रह्मज्ञानी बनाया। पति के अनुरोध पर गर्भ में आये चौथे पुत्र को राजा के योग्य-संस्कार देकर इच्छा पूरी की। बिनोवा की माँ ने अपने तीनों बच्चों को ब्रह्मज्ञानी बनाने का संकल्प लिया और सफल हुई। गर्भकाल से ही उन्हें ढालने के लिए संस्कार देने आरम्भ किए। साध्वी-जीवन एवं श्रेष्ठ विचारणा का चमत्कार प्रभाव बच्चों पर पड़ा।

मनचाही सन्तान भी पैदा की जा सकती है यदि इसके अनुरूप अपनी विचारणा एवं गतिविधियों को ढाल लिया जाय। 'मेरी विनीशिया' नामक एक अमेरिकन महिला अपनी एक पुस्तक में लिखती है कि मनःशक्ति एवं विचारों का सन्तान पर पड़ने वाले प्रभाव के विषय में मैंने एक पुस्तक पढ़ी। इस समय मेरा दूसरा पुत्र गर्भ में था। इच्छा हुई कि उसे चित्रकारी में प्रवीण बनाऊँ इसके लिए मैं अमेरिका के प्रसिद्ध चित्रालयों में जाती, चित्रों को ध्यान से देखती तथा उनमें खो जाती। उसका चमत्कारी प्रभाव बच्चे पर पड़ा और वह महान चित्रकार बना।

शोक, उद्वेग, चिन्ता, आवेश, क्रोध का हानिकारक प्रभाव गर्भ के शिशु पर पड़ता है। डा० 'फार्वलर' अपनी

पुस्तक में एक महिला रोगी का वर्णन करते हैं कि वह अपने बच्चे को निद्रा की औषधि देकर कहीं बाहर चली गई। औषधि की मात्रा अधिक होने पर बच्चा मर गया। उसका शोक दिनों-दिन बढ़ता गया। शोकावस्था में ही वह दूसरी बार गर्भवती हुई। परिणामस्वरूप बच्चा रोगी उत्पन्न हुआ और दो वर्षों के बाद मर गया इसका और भी भयंकर प्रभाव पड़ा। तीसरा बच्चा अधिक रोगी उत्पन्न हुआ और मात्र छः मास बाद चल बसा। इस शोक को सहन न कर सकने के कारण स्त्री भी चल बसी।

गर्भस्थ शिशु ही नहीं भले-बुरे विचारणा का प्रभाव व्यक्तियों एवं वातावरण पर भी पड़ता है। सम्पर्क में आने वाले व्यक्ति उसके अनुरूप प्रभाव ग्रहण करते हैं। देवालय, मन्दिर, गिरजाघर, मजिस्ट आदि के निकट पहुँचने पर शान्ति मिलती है। भाव संवेदनाएँ उमड़ने लगती हैं। यह उस वातावरण में छाये धार्मिक विचारों, भावनाओं का ही प्रभाव है, जो सम्पर्क में आने वाले को प्रभावित करते हैं। कसाई खाने, मदिरालय आदि के निकट से होकर गुजरने पर एक विचित्र प्रकार की घृणा एवं उतेजना पैदा होती है। जीव-जन्तुओं की हत्या के समय किये गये क्रन्दन उक्त वातावरण में छाये रहते हैं, जिसके कारण इस प्रकार की अनुभूति होती है।

ऋषियों ने इस मनोवैज्ञानिक तथ्य को जानते हुए मन को सदा पवित्र एवं शान्त बनाये रखने तथा उसके अनुरूप आचरण करने की प्रेरणा दी है। विचारणा व्यक्ति को ही नहीं, वातावरण को भी प्रभावित करती है। इस तथ्य को समझते हुए सद् विचारणा को ही जीवन में स्थान देना श्रेयष्कर है।

विचार विभ्रम के दुष्परिणाम

मनःस्थिति से परिस्थितियाँ पैदा होती हैं। मन जिधर भी ढलता है, जीवन का उत्थान-पतन उसी दिशा में देखा जाता है। विचार ही कालान्तर में कर्म बनते हैं और उन भले-बुरे कर्मों के अनुरूप ही मनुष्य को सुखद या दुःखद परिस्थिति को सुधारने का शुभारम्भ मनःस्थिति का परिमार्जन करने के साथ करना चाहिये।

एक जैसी परिस्थितियों में जन्मे, पले या रहने वाले व्यक्ति कई बार एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न पाये जाते हैं। दरिद्रता से अभावग्रस्त, दुःखी और विपन्न रहना स्वभाविक है, किन्तु उदारमना, ऋषिकल्प व्यक्ति साधनों की दृष्टि से निर्धनों की अपेक्षा और अधिक असुविधाओं में रहते हुए स्वयं आनन्दमग्न रहते और असंख्य दुःखीजनों को आनन्द के मार्ग पर चलाते देखे गये हैं। सम्पन्नता को सुख-सुविधा का प्रधान कारण माना जाता

है, पर ऐसा भी होता है कि सुसम्पन्न व्यक्ति कुसंग में पड़कर दुर्व्यसनों के शिकार होकर ऐसी विपत्तियाँ में फँसकर त्रास पाते हैं, जैसी कि गरीबों को भी परेशानी नहीं रहती। सम्पन्नता का दुरुपयोग होने लगे तो वह विपन्नता से भी अधिक कष्टसाध्य होती है।

क्रियायें तो शरीर से बन पड़ती हैं, पर उनका संचालन मानसिक चेतना के ही माध्यम से बन पड़ता है। अंग-अवयव वही करते हैं जो मन का रुझान अपना आदेश देता है। बात इससे भी बड़ी है। चिकित्सा की नवीनतम शोधों ने सिद्ध किया है कि विभिन्न रोगों की जड़ें मनःक्षेत्र में होती हैं। दुश्चिन्तन से उत्पन्न मनोविकार ऐसा ताना-बाना बुनते हैं कि उसके कारण शरीर रोगी और मन उद्विग्न, शिथिल रहने लगता है। दवा-दारू का इलाज प्रायः इसलिये सफल नहीं होता है कि रोगों की जड़ मनोविकारों में जमी होती है। वहाँ से उसे उखाड़ने या समझने का प्रयत्न किया नहीं जाता। शरीर की औषधियाँ चलती रहती हैं। जिनकी उत्तेजना और विषाक्तता थोड़े दिन जादू-चमत्कार दिखाती हैं। इसके बाद बीमारी कोई दूसरा रूप बनाकर उभर आती है। अधिकांश लोगों को जीवनभर रुग्णता से ग्रस्त रहकर पापड़ बेलने पड़ते हैं। आरोग्यशास्त्री सोचते हैं कि रुग्णता से यदि सचमुच पीछा छुड़ाना है तो रोगी को तनावमुक्त, हल्का-फुल्का, हँसता-हँसाता जीवन जीना चाहिये। मनोविकार के खरपतवार को मानसिक क्षेत्र में उगने, बढ़ने या फलने-फूलने नहीं देना चाहिये।

शरीर की तरह मन के अपने रोग हैं, जो प्रत्यक्ष तो दिखाई नहीं पड़ते, भीतर ही भीतर न केवल शरीर को वरन् मन समेत सारे व्यक्तित्व को खोखला करते रहते हैं। अनुपयुक्त चिन्तन, आवेश, उद्विग्नता, चिन्ता, भय, संदेह, सनक आदि की व्यथायें उत्पन्न करते रहते हैं। इस घुटन में मनुष्य शारीरिक सूजन, दर्द, जलन आदि से भी अधिक व्यथित रहता है। ऐसे लोगों को अनिद्रा से लेकर भ्रान्तियों का जंजाल घेरे रहता है और अनुपयुक्त चिन्तन से प्रायः अनैतिक, अवांछनीय, अनुपयुक्त, उल्टी, अस्वाभाविक कल्पनायें छाई रहती हैं। फलतः किसी सही निष्कर्ष पर पहुँचना और सही कदम उठाना दोनों ही कठिन पड़ जाते हैं। गुण, कर्म स्वभाव में विकृतियों के भर जाने के कारण हँसते-खेलते जिया जाने वाला जीवन भारभूत होकर किसी प्रकार जिन्दगी के दिन पूरे करता है। ऐसे लोग प्रायः आधी जिन्दगी ही जी पाते हैं और आधी को अनुपयुक्त रहन-सहन के कारण अकाल मृत्यु के सुपुर्द कर देते हैं।

मन मालिक और शरीर सेवक। उसके लिये मालिक के इशारे पर चलने के अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं। आलस्य, प्रमाद से लेकर अभाव-पिछड़ेपन की परिस्थिति मात्र दुश्चिन्तन से उत्पन्न बुरी आदतों की ही प्रतिक्रिया होती है। इन्हीं से ग्रस्त व्यक्ति दरिद्रता, गन्दगी और असम्पन्नता का जीवन जीता है। यदि आदतें सुधरे हुए स्तर की रही होतीं, स्वभाव को सभ्य सुसंस्कृत बनाया गया होता तो परिस्थिति सुधरने में देर न लगती। दूसरे लोग अपनी जिम्मेदारी भी समझते-प्रगति के लिये अनेक बातें सोचते और अनेक उपाय करते रहते हैं, पर वे कभी पार नहीं पड़ते। कारण कि जीवन तंत्र की संचालक पद्धति गड़बड़ा रही हो तो फिर ऊपर से की गयी लीपापोती कितना काम चला सकेगी। पैदे में छिद्रों वाले घड़े में पानी बराबर भरते रहने पर भी टिक कब तक सकेगा।

जीवन में आये दिन अनेकानेक समस्यायें आती रहती हैं। उनका समाधान दूरदर्शी विवेकशीलता अपनाने पर ही सही रूप से निकल सकता है। मन के अदूरदर्शी कुसंस्कारी होने पर जो भी उपाय कठिनाइयों के समाधान या प्रगति-पथ पर आगे बढ़ने के लिये सूझते हैं, वे सभी प्रायः उल्टे पड़ते हैं। अनुपयुक्त निधारण, अनुपयुक्त क्रिया-कृत्य करने के लिये ही बाधित करते हैं। जिनके परिणाम सुख चाहते हुए भी दुःख के रूप में सामने आते हैं। भ्रष्ट चिन्तन की प्रतिक्रिया प्रायः चिन्ता के रूप में ही सामने आती है। आँखों पर जिस रंग का चश्मा पहना जाता है, बाहर की सभी वस्तुयें उसी रंग में रंगी हुई दिखती हैं। कान बहरे हों तो सुनाई कैसे दे? आँखें अंधी हों तो बाहर के सुन्दर दृश्य भी कैसे दीख पड़ें। मस्तिष्क की स्थिति उल्टी होने पर संसार में जो कुछ हो रहा है, उल्टा ही उल्टा दिखता है। सही वस्तुस्थिति का भान न होने पर सही समाधान सोच सकना और सही मार्ग पर चल सकना संभव न होगा। यही कारण है कि गुत्थियाँ, समस्यायें, विकृतियाँ, विपत्तियाँ घटने के स्थान पर निरन्तर अधिकाधिक बढ़ती ही रहती हैं।

जिनका दृष्टिकोण परिष्कृत है, उन्हें सज्जनोचित निर्णय करने में देर नहीं लगती। ऐसी दशा में समस्याओं में से अधिकांश तो सुलझ जाती हैं। जो शेष रह जाती हैं, उन्हें धैर्य और साहस के सहारे परास्त कर सकना भी कठिन नहीं होता।

आर्थिक चिन्ताओं में दोनों प्रकार के लोग फँसे हुए पाये जाते हैं-गरीब भी और अमीर भी। गरीब इसलिये हेय जीवन जीने के लिये बाधित होते हैं कि वे अपनी संपदा और दक्षता बढ़ाने में रुचि नहीं लेते। पूर्वाग्रहों और

दुराग्रहों से ग्रस्त ढर्रे का जीवन ही उन्हें इतना रास आता है कि बदलने की उमंग उठती ही नहीं। वर्तमान परिस्थितियों में भी विकास के किन आधारों का अवलम्बन लिया जा सकता है, यह सोचना भी अनगढ़ मानसिकता के रहते कठिन पड़ता है। फिर परिवर्तन का आवश्यक सरंजाम जुटाने के लिये जिस रचनात्मक प्रवृत्ति की आवश्यकता होती है उसके अभाव में कुछ करते धरते नहीं बनता। मनसूबे कल्पना मात्र बनकर ही रह जाते हैं।

मनुष्य भटका हुआ देवता है। यह भटकाव और कुछ नहीं मात्र विचारों की विकृति है। यदि सही चिन्तन, तथ्य, तर्क और प्रमाणों की खोज करते हुए अपने लिये सही मार्ग अपनाये तो साधारण से साधारण मनुष्य हँसी-खुशी का जीवन जीते हुए अपने लिये प्रगति का पथ प्रशस्त कर सकता है और दूसरों के लिये इतना उपयोगी हो सकता है कि उसकी उपस्थिति-समीपता भर से आनन्द की अनुभूति हो, भले ही कोई प्रत्यक्ष सहयोग-सहायता का सुयोग उस सान्निध्य में न बन पड़े।

इसके विपरीत दुर्गुणी व्यक्ति अपने निज की दुरभिसंधियों से अपने लिये तो विपत्ति निर्मित करता ही है, साथ ही देखने-सुनने वालों तक के मन में विक्षोभ पैदा करता है। अकारण उन्हें दुःखी एवं उद्वेलित करता है। दुर्घटनाओं की प्रतिक्रिया हर किसी पर विक्षोभकारी होती है। इसलिये दुर्गुणी और दुराचारी व्यक्ति अपने और दूसरों के लिये अभिशाप बनकर ही रहता है। प्रकारान्तर से दूर-दूर तक का वातावरण उसके कारण आक्रोश, उद्वेग से भरने लगता है। छूत की बीमारी जिस क्षेत्र में फैलती है, उसमें रहने वाले प्रायः सभी लोग चपेट में आते हैं, चाहे वे व्यवहार में स्वच्छ एवं सावधान ही क्यों न रहते हों? समूचा समाज एक बड़े जलाशय की तरह है, इसमें एक जगह ढेला फेंक देने पर उसमें उठने वाली लहरें हर दिशा में फैल जाती हैं और उठने वाली लहरें उसकी स्थिरता में बाधक बनती हैं।

साधनों की महिमा, महत्ता विचारपूर्वक गाई-बताई जाती है। लोक मान्यता भी ऐसी ही बन गयी है। वर्तमान परिस्थितियों में ऐसा समझा जाना भी किसी कदर सही भी है, क्योंकि सुविधाओं से लेकर सम्मान की परिस्थितियाँ धन के आधार पर ही खरीदी जाने लगी हैं। इसलिये सम्पदा के प्रति अत्यधिक आकर्षित-उत्साहित व्यक्ति उस उतावली में उचित-अनुचित का अन्तर भी भूल जाते हैं और भ्रष्ट आचरण अपनाकर भी पैसा बटोरने लगते हैं। यह प्रचलन बढ़ते जाने पर भी एक बात निश्चित है कि अर्थशास्त्र के मौलिक सिद्धान्त यथावत् ही रहेंगे। आर्थिक आदान-प्रदान एवं लोक व्यवहार

भी स्थायित्व तभी पकड़ते हैं, जब प्रामाणिकता और उपयोगिता का गहरा पुट होता है। अन्यथा उच्छृंखलपन के अभ्यस्त लोग आये दिन एक स्थान से बिस्तर बदल करके ही पोल खुलती है, अविश्वास छा जाता है और फिर ऐसे व्यक्ति के साथ कोई साधारण व्यक्ति भी सम्पर्क साधने में कतराते हैं। ऐसी दशा में वह अविश्वस्त व्यक्ति कोई स्थायी या बड़ी सफलता अर्जित नहीं कर पाता।

जब तक माया-जाल फैलाने में धूर्तता काम करती है तभी तक भोले लोग चिड़ियों और मछलियों की तरह फँसते रहते हैं, पर जैसे ही वस्तुस्थिति प्रकट होती है उस खतरे से सभी लोग सावधान हो जाते हैं और किसी प्रकार दूर रहने में ही खैर समझते हैं। ऐसे लोग जीवन में कभी भी कोई बड़ी सफलता अर्जित नहीं कर सकते। कारण कि आदान-प्रदान में विश्वसनीयता अतीव आवश्यक है। उसके बिना इस हाथ दे, उस हाथ ले की नीति अपनाते समय भी फूँक-फूँक कर कदम उठाया जाता है। संदेह यही बना रहता है कि सतर्कता बरतने पर भी कहीं न कहीं कुछ जालसाजी का समावेश न कर लिया हो। ऐसे व्यक्ति जिस क्षेत्र में भी सम्पर्क बनाते हैं, उसमें थोड़े ही दिनों में अपनी प्रामाणिकता खो बैठते हैं और सर्वत्र घृणा, तिरस्कार, अविश्वास बरतने के कारण देर तक पैर जमाये रहने में असमर्थ हो जाते हैं। देखा भी जाता है कि चोर, उचक्के, जालसाज आये दिन अच्छी कमाई कर लेने पर भी खाली हाथ ही रहते हैं। अनाचार की कमाई देर तक ठहरती ही नहीं। वह अपव्ययों के, दुर्व्यसनों के अनेक नये रास्ते खोलकर उनसे होते हुए पलायन कर जाती है। अन्ततः ऐसे लोगों की अपनी इस भूल का पता चलता है कि अप्रामाणिकता का परिणाम वह नहीं होता जो आरम्भ में सोचा गया था। अब तक न कोई गलत कमाई करने वाला प्रतिष्ठित धनवानों में अपनी गणना करा सका है और न भविष्य में ऐसे लोगों को कोई चिरस्थायी सफलता हाथ लगने वाली है।

यह विचार विभ्रम का ही दुष्परिणाम है कि शालीनता का राजमार्ग छोड़कर लोग अनाचार पर उतरते हैं और बहुत पाने के, जल्दी बटोरने के लालच में अपनी साख गँवा बैठते हैं। अविश्वस्त लोगों को दरिद्रता और भर्त्सना का भाजन हो बने रहना पड़ता है। ऐसी दशा में लक्ष्मी उनके यहाँ टिके भी कैसे ? हराम का पैसा गुनाहों में खर्च होता है और प्रकृति के नियमानुसार भी बीमारी, मुकदमेबाजी, प्रतिशोध, ईर्ष्या, घृणा, तिरस्कारजन्य अन्यान्य अवांछनीय घटनाओं के माध्यम से वह सब कुछ गँवा बैठता है, जो अतिशय लालच के

वशीभूत होकर अवांछनीय अपनाकर किसी प्रकार संग्रह किया गया था।

धन के प्रति भी जिन्हें असाधारण मोह है, उन्हें भी यह ध्यान रखना चाहिये कि इस संदर्भ में बरती जाने वाली अधीरता घातक ही सिद्ध होती है। प्रामाणिक व्यक्ति ही उधार देन-लेन की सुविधा प्राप्त कर पाते हैं और कम पूँजी होने पर भी बढ़ा-चढ़ा करोबर कर सकने में सफलता अर्जित कर लेते हैं। कुविचार ही आर्थिक क्षेत्र के अनाचारों में परिणित होते देख गये हैं।

सुलझे विचार-सुख का द्वार

मनुष्य का जीवन उसके विचारों का प्रतिबिम्ब है। व्यक्तित्व विकास एवं भाग्य निर्माण में इन्हीं की महती भूमिका होती है। सफलता-असफलता, उन्नति-अवनति, सुख-दुःख, शान्ति-अशान्ति आदि सभी मनुष्य के अपने विचारों पर निर्भर करते हैं। किसी भी व्यक्ति के विचार जानकर उसके जीवन के स्वरूप को सहज ही मालूम किया जा सकता है। मनुष्य को कायर-वीर, स्वस्थ-अस्वस्थ, प्रसन्न-अप्रसन्न कुछ भी बनाने में उसके विचारों का महत्वपूर्ण हाथ होता है। स्पष्ट है कि विचारों के अनुरूप ही मानव जीवन का निर्धारण होता है। अच्छे विचार उसे उन्नत बनायेंगे तो उनकी निकृष्टता उसे गत में धकेलेगी।

विचार-चेतना क्षेत्र की एक विशिष्ट सम्पदा है। इसी के आधार पर मनुष्य जीवन का उपयोग करता, योजनाएँ बनाता और उन्हें पूरी करता है। विचारशील व्यक्ति सामर्थ्यवान माने जाते हैं। इसके विपरीत विचारहीनों की गणना नर-पशुओं में की जाती है। विचारक्षमता को बढ़ाने के लिए स्वाध्याय, चिन्तन, मनन, सत्परांमर्श आदि उपाय काम में लाये जाते हैं। यह उपाय साधन जिन्हें उपलब्ध नहीं होते वे कूपमण्डूक बने रहते हैं। वे जीवन का भार ढोने के अतिरिक्त और कुछ कर नहीं पाते। इसीलिए जहाँ चेतना की शक्ति पर विचार किया जाता है, वहाँ प्रकारान्तर से उसे विचार शक्ति का विशेष सुनियोजन किया जाना कहा जाता है। विचारशील ही महत्वपूर्ण योजनाएँ बनाते, महत्वपूर्ण कार्य करते और सफल महापुरुष कहलाते हैं।

विचारों को कभी चिन्तन क्षेत्र में घुमड़ते रहने और मस्तिष्क को कुछ काम देने वाली एक विशेषताभर समझा जाता था, परन्तु अब इसे भी विद्युत के समतुल्य ही प्रभावोत्पादक शक्ति माना जाने लगा है। यह न केवल शारीरिक हलचलों को जन्म देती है वरन् व्यक्ति, पदार्थ एवं वातावरण पर भी अपना प्रभाव डालती है और

उन्हें बदलने तक में अपनी आश्चर्यजनक भूमिका सम्पन्न करती है। विचारों के विद्युत प्रवाह दूरस्थ व्यक्ति को उसी प्रकार प्रभावित करते हैं जैसा कि चाहा जाता है। जब मानव विचार एक मस्तिष्क से दूसरे मस्तिष्क तक भेजे जाते हैं तो उसे 'टेलीपैथी' या 'विचार संप्रेषण' कहते हैं। विश्व के अनेक वैज्ञानिक एवं परामनो वैज्ञानिक इस क्षेत्र में अनुसंधानरत हैं।

प्रख्यात मनोविज्ञानी डा० अष्टन सिन्क्लेयर ने अपनी पुस्तक 'मेण्टल रेडियो' में बताया है कि मानवी मस्तिष्क में यदि उत्कृष्ट स्तर के विचार विद्यमान रहें तो वह उनका प्रसारण करता रह सकता है और अनेकों मस्तिष्कों को अपने जैसा सोचने वाला बना सकता है। विचारशील व्यक्तियों की एक और श्रेष्ठता होती है कि संसार में जो श्रेष्ठ विचार कहीं भी किसी के पास भी विद्यमान हैं, उन्हें आकर्षित कर वह अपने ज्ञान भण्डार को विस्तृत कर लेते हैं। परामनोविज्ञानी जैम्बिस मोनार्ड का भी कहना है कि "आइडियोस्फियर" अर्थात् विचारों के प्रभामण्डल में सभी प्रकार के विचार-प्रवाह निरन्तर गतिमान हैं। उनमें से अपने अनुकूल विचार तरंगों को आकर्षित किया और तदनुरूप लाभान्वित हुआ जा सकता है। साथ ही दूसरों तक प्रवाहित करके उन्हें अपनी इच्छानुरूप मोड़ा-मरोड़ा जा सकता है। वस्तुतः अपनी प्रबल चुम्बकत्व शक्ति के कारण ही विचार शक्ति सहायक साधनों को अपने अनुरूप वातावरण में से घसीट लाती है। इस विश्व-ब्रह्माण्ड में सब कुछ विद्यमान है। मनुष्य चाहे जिसका चुनाव कर सकता है और तदनुरूप उस ढाँचे में ढलकर अपना विकास या विनाश कर सकता है।

"साइकोलॉजी ऑफ रिलीजन" नामक अपनी प्रसिद्ध पुस्तक में मनोविज्ञानवेत्ता डा० यूथेस ने लिखा है कि मनुष्य की विचारणा जिस भी प्रयोजन में लग जाती है उसी में उसका तादात्म्य स्थापित हो जाता है। उसके मनःसंस्थान एवं अन्यान्य अवयव भी तदनुरूप ही कार्य करने लगते हैं। इसी तरह की मान्यता मनःशास्त्री डा० हेनरी लिडनहर की है। उन्होंने अपनी पुस्तक—'प्रेक्टिस ऑफ नेचुरल थेरेप्यूटिक्स' में कहा है कि विचारों का स्वास्थ्य पर गहन प्रभाव पड़ता है। महापुरुषों अथवा महान सुदृगुणों के साथ एकात्मकता स्थापित करने से मनुष्य की अनेकानेक शारीरिक, मानसिक व्यथायें दूर हो जाती हैं। व्यक्तित्व को प्रभावोत्पादक बनाने में उत्कृष्ट विचारों की महान भूमिका होती है। विचारशक्ति ही कर्म की प्रेरणा देती है।

विचारों की छाया आचरण में प्रवेश किये बिना उभरे बिना रह नहीं सकती। निषेधात्मक चिंतन वाला व्यक्ति जहाँ जाता है, वहीं प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से तिरस्कार का भाजन बनता है। उसके मिलन की किसी को प्रसन्नता नहीं होती और चले जाने से न दुःख लगता है न आघात लगता है। उसकी निज के जीवन की समस्याएँ ही इतनी उलझ जाती हैं, जिन्हें सुलझाते नहीं बनता और ऐसे ही परेशानियों में डूबता-उतरता है। जिनसे मन मिलता है उनके सामने अपनी विपन्नता का रोना रोने के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं बन पड़ता है। मानवी विचार चेतना के विपरीत प्रवाहों का ही यह परिणाम है कि आज पर्याप्त सुख-सुविधा, समृद्धि, ऐश्वर्य, वैज्ञानिक साधनों से युक्त जीवन बिताकर भी वह अधिक अशान्ति दुःख व उद्विग्नता से परेशान है। अँग्रेजी के प्रसिद्ध विद्वान लेखक डा० स्विफ्ट अपने प्रत्येक जन्म दिन पर काले और भदे कपड़े पहनकर शोक मनाया करते थे। वह कहते थे—“अच्छा होता यह जीवन मुझे न मिलता, मैं दुनिया में न आता।” इसके ठीक विपरीत अन्धे कवि मिल्टन कहा करते थे—“भगवान का शुक्रिया है जिसने मुझे जीवन का अमूल्य वरदान दिया।” नेपोलियन बोनापार्ट ने अपने अन्तिम दिनों में कहा था—“अफसोस है—मैंने जीवन का एक सप्ताह भी सुख-शान्तिपूर्वक नहीं बिताया।” जबकि उसे समृद्धि, ऐश्वर्य, सम्पत्ति यश आदि की कोई कमी नहीं रही। सिकन्दर महान भी अपने अन्तिम जीवन में पश्चाताप करता हुआ ही मरा। जीवन में सुख-शान्ति, प्रसन्नता अथवा दुःख, क्लेश, अशान्ति, पश्चाताप आदि का आधार मनुष्य के अपने विचार हैं—अन्य कोई नहीं। साधन सम्पन्न जीवन में भी व्यक्ति गलत विचारों के कारण दुःखी रहेगा और उत्कृष्ट विचारों से अभावग्रस्त जीवन में भी सुख-शान्ति, प्रसन्नता अनुभव करेगा।

संसार एक दर्पण है। इस पर हमारे विचारों की जैसी छाया पड़ेगी वैसा ही प्रतिबिम्ब दिखाई देगा। इसके आधार पर ही सुखमय अथवा दुःखमय सृष्टि का सृजन होता है। संसार के समस्त विचारकों ने एक स्वर से उसकी शक्ति और असाधारण महत्ता को स्वीकार किया है। स्वामी रामतीर्थ ने कहा था—“मनुष्य के जैसे विचार होते हैं वैसा ही उसका जीवन बनता है।” स्वामी विवेकानन्द के अनुसार—“स्वर्ग और नरक कहीं अन्यत्र नहीं इनका निवास हमारे चिन्तन-चेतना में ही है।” भगवान बुद्ध ने अपने शिष्यों को उपदेश देते हुए कहा था—“भिक्षुओ ! वर्तमान में हम जो कुछ हैं अपने विचारों के ही कारण हैं और भविष्य में जो कुछ भी बनेंगे वह इसी के कारण।”

शेक्सपियर ने लिखा है—“कोई वस्तु अच्छी या बुरी नहीं है। अच्छाई और बुराई का आधार हमारे विचार ही हैं।” ईसा ने कहा था—“मनुष्य के जैसे विचार होते हैं वैसा ही वह बन जाता है। प्रसिद्ध अमेरिकी लेखक डेलकार्नेगी ने अपने अनुभवों पर आधारित तथ्य प्रकट करते हुए लिखा है कि—“जीवन में मैंने सबसे महत्वपूर्ण कोई बात सीखी है तो वह है विचारों की अपूर्व शक्ति और महत्ता। विचारों की शक्ति सर्वोच्च तथा अपार है।”

संक्षेप में जीवन की विभिन्न गतिविधियों का संचालन करने में हमारे विचारों का ही प्रमुख हाथ रहता है। यद्यपि देखने में वह मस्तिष्क को बिना पर वाली रंगीली उड़ान भर मालूम होते हैं। मस्तिष्क को बिना पैसे का सिनेमा भर दिखाते रहते हैं। किन्तु यदि उन्हें उद्देश्यपूर्ण दिशा में ही प्रवाहित रहने की आदत डाली जाय तो वह दृष्टिकोण को परिष्कृत कर सकते हैं। जीवन जीने की संजीवनी विद्या जैसी कला में प्रवीण कर सकते हैं। व्यक्तित्व को इस स्तर का उभार सकते हैं, जिसे देवोपम कहा जा सके, जिसके साथ चिरस्थायी सुख शान्ति जुड़ी रहे।

विचारधारा का प्रगतिशील परिष्कार

छोटे बच्चे भूत-पलीतों की, परियों की, पशु-पक्षियों की कथा गाथाएँ चावपूर्वक सुनते हैं। कल्पनालोक में विचरण उन्हें बहुत सुहाता है। अनगढ़ विचार हवा के साथ उड़ने वाले पत्तों, तिनकों एवं रेतकणों की तरह उछाल भरते रहते हैं। अनियन्त्रित विचार जिन पर स्वच्छन्द कल्पनाएँ सवार रहती हैं, मस्तिष्क को व्यस्त तो बनाये रहते हैं पर उनसे किसी प्रयोजन की पूर्ति नहीं होती।

शेखचिल्ली की कहानी प्रसिद्ध है। उसने कल्पना के स्वेच्छाचारी घोड़े पर सवार होकर ऐसी मनगढ़ंत कहानी गढ़नी शुरू कर दी थी, जो न व्यावहारिक थी न संभव। अन्त में घाटा भी उठाना पड़ा और तिरस्कार भी सहना पड़ा। इतने पर भी देर तक उसका मन तो रंगीले दिवास्वप्नों में डूबे रहने का मनोविनोद मात्र ही तो करता रहा। कितने ही व्यक्ति भावावेश की अधिकता और व्यावहारिक अनुभव की कमी के कारण कई प्रकार की कल्पनाएँ-जल्पनाएँ करते रहते हैं पर समयक्षेप के अतिरिक्त पल्ले कुछ भी नहीं पड़ता। असफलताओं की खीज और सम्पर्क वालों का उपहास तिरस्कार ही उनके ऊपर लदता है।

एक और प्रकार की मानसिकता होती है, जिसमें शारीरिक आलस और मानसिक प्रमाद ही प्रेरणा स्रोत होता है। वे झंझटों से बचना चाहते हैं, जो हैं उसी में

संतुष्ट रहते हैं और ऐसा कुछ नहीं सोचते जिसमें परिवर्तन की बात उठती हो, कुछ नया सोचने कुछ नया करने की आवश्यकता पड़ती हो। किसी तरह दिन गुजारना, काम चलाना ही उन्हें पर्याप्त लगता है। ऐसे लोगों की, नर पामरों की बहुलता सर्वत्र देखी जाती है अन्यथा गई-गुजरी स्थिति में जीने वाले लोग अपने उत्कर्ष—अभ्युदय की बात सोचते और संकल्प उभारते हुए, योजना बनाते हुए, परिपक्व पुरुषार्थ के सहारे कुछ न कुछ कर गुजरते और अनगढ़ स्थिति से उबरकर कहीं से कहीं जा पहुँचते। लम्बे समय से पिछड़ी हुई परिस्थितियों में पड़े रहने का एक ही कारण है कि परिवर्तन के लिए उत्साह न उभरना। प्रयासों में उत्कर्ष की पक्षधर प्रेरणाओं का समावेश न होना। यदि ऐसा न रहा होता तो कोई कारण नहीं कि संसार का अकाट्य नियम “अग्रगमन” इस प्रकार कुंठित होकर न पड़ा रहता।

विचार एक प्रकार की हलचल है। शरीर के भीतरी सभी अंग-अवयव निरन्तर गतिशील रहते हैं। बाहर से भी इन्द्रियों की कुछ न कुछ क्रिया होती ही रहती है। मनःसंस्थान की भी अपनी हलचलें हैं, जो विचारों के रूप में जानी जाती हैं। यह सार्थक भी हो सकते हैं और निरर्थक भी। उनके पीछे योजनाएँ भी रह सकती हैं और बेतुकी हरकतें हलचलें भी। कई बार उपयोगी सृजनात्मक विचार भी उठ सकते हैं और कई बार पतनोन्मुख, ऐसे भी जो अपने और दूसरों के लिए मात्र अनर्थ ही प्रस्तुत करें। ऐसे दोनों ही प्रकार के विचार सशक्त स्तर के होते हैं। इसलिए उनकी प्रेरणा शक्ति के नाम से जानी जाती है। किसी दिशा में प्रगति भी उसी आधार पर होती है और भले-बुरे स्तर की प्रतिभा के निखरने का आधार भी उसी के सहारे बढ़ता, परिपक्व होता है।

अन्तिम-निर्णय अपनी बुद्धिमत्ता पर निर्भर रहता है। यदि वह कुत्साग्रस्त हुई तो उस मार्ग को अपनाती है, जिसमें तत्काल अधिक लाभ मिलने की संभावना प्रतीत होती है। भले ही कुछ समय उपरान्त उसके भयानक दुष्परिणाम सामने आवें। अनाचारी, अतिवादी, अपराधी, दुर्व्यसनी इसी मन को अपनाते हैं। तात्कालिक लाभ उसकी दुर्बुद्धि का समर्थन ही करता है पर यह नहीं समझा जाता है कि अनैतिक को अपनाकर जो सफलता हस्तगत की जाती है। वह कुछ ही समय ही उपरान्त व्यक्तित्व की प्रामाणिकता समाप्त कर देती है और भविष्य की सुखद संभावनाओं का द्वार स्थायी रूप से बन्द कर देती है। “जाल में फँसने वाली चिड़ियाँ, मछलियाँ ऐसे ही अदूरदर्शी लालच के फेर में पड़कर बहेलियों के हाथ पड़ती, और अपना सर्वनाश करती हैं। यह विचारों की अधोगति का ही प्रतिफल है। कितने

ही तथाकथित समझदार, सुशिक्षित भी इसी मार्ग पर चल पड़ते हैं, उन्हें नीतिमत्ता की गरिमा और उसे अपनाने पर उपलब्ध होने वाली सुखद संभावना का ज्ञान नहीं होता। इस विडम्बना को “समझदारों की नासमझी” ही कह सकते हैं। फुलझड़ी घुमाकर हाथ जला लेने वाले प्रायः इसी स्तर के अदूरदर्शी होते हैं।

प्रतिभा के पीछे आस्थाएँ और मान्यताएँ काम करती हैं। किसी भले-बुरे तथ्य पर सघन विश्वास जमा लेना एक संकल्प शक्ति का प्रवाह उत्पन्न करता है। जिसमें कुछ कर गुजरने की क्षमता होती है। तस्कर, लुटेरे, ठग, आततायी प्रायः इसी प्रकार की निकृष्ट स्तर की प्रतिभा से सम्पन्न होते हैं। दुस्साहस भी उनका बढ़ा-चढ़ा होता है। यदि इसका अभाव रहता तो वे आगा-पीछा सोचते और करने न करने की उधेड़बुन में फँसे रहते। साहसिक पुरुषार्थ करने की क्षमता जिस आधार पर उत्पन्न होती है, उसे भी प्रतिभा कहते हैं, भले ही वह अनैतिक या अनर्थ मूलक ही क्यों न हो ?

प्रतिभा का उज्ज्वल पक्ष वह है, जिसमें व्यक्ति मानवी गरिमा के स्तर को अक्षुण्ण बनाये रहने को सर्वोपरि महत्व देता है। आदर्श अपनाने पर श्रेष्ठ, वरिष्ठ बनने की उमंग आती रहती है। वैसा ही कुछ कर गुजरने की योजना बनती है और उस राह पर चल पड़ने की तैयारी होने लगती है। उसके सामने ऐसे लोगों के जीवन-चरित्र एवं संस्मरण सामने रहते हैं, जिन्होंने उत्कृष्टता के पक्षधर विचारों को अपनाया। उन्होंने अपने स्तर को बढ़ाने और प्रगति-पथ पर चल पड़ने का राजमार्ग पाया।

आमतौर पर अपने स्वास्थ्य, धन और क्षमता सम्वर्धन के क्षेत्रों पर ध्यान रखा जाता है। कहीं कोई छेद नहीं उभर रहा है। समर्थता का अपव्यय तो नहीं रहा है इसके लिए अपनी अपनी मनःस्थिति के अनुरूप सभी ध्यान रखते हैं। प्रत्यक्ष को बनाने और बढ़ाने का प्रयत्न किया जाता है पर वह भुला दिया जाता है कि समय एवं चिन्तन जैसी सर्वोपरि सम्पदा का सही नियोजन हो रहा है या नहीं। इन दोनों का अपव्यय उससे कहीं अधिक घातक है जितना कि वैभव को क्षति पहुँचने पर होता है। इन दोनों में भी विचारों के सदुपयोग, दुरुपयोग का महत्व सर्वोपरि है। यदि चिन्तन प्रवाह गड़बड़ाये लगे तो स्थिति अर्धविक्षिप्त जैसी बन जाती है। अनगढ़ स्थिति में लोग मात्र इसी एक कारण में पड़े रहते हैं कि उन्हें प्रगति-पथ पर चलने की आकांक्षा जगा सकने का अवसर नहीं मिलता। वे यह नहीं सोचते कि अबकी अपेक्षा भविष्य में अधिक अच्छी स्थिति प्राप्त करने के लिए

विचारों में क्या परिवर्तन करना चाहिए और तदनु रूप अवसर ढूँढ़ने के लिए क्रियाकलाप को किस दिशा में मोड़ना-मरोड़ना, धकेलना चाहिए ?

बीज आधारभूत कारण है, वृक्ष उसका प्रगति परिणाम। विचारों की प्रगतिशीलता, उमंग भरी साहसिकता उस बीज के समान है जो मनुष्य में उमंग उभारती, उकसाती और ऐसा कुछ करने के लिए बाधित करती है जो अब की अपेक्षा भविष्य को अधिक सुन्दर, समुन्नत, व्यवस्थित एवं अग्रगामी बना सके। इस तथ्य को समझ लेना और आधार को अपना लेना उन्नतिशील भविष्य के निर्माण का सुनिश्चित मार्ग है।

प्रवृत्तियों का विवेकपूर्वक उपयोग करें

मनुष्य के अन्दर कई प्रकार की वृत्तियाँ कार्य करती हैं। उपयोगी भी और अनुपयोगी भी, भली भी, बुरी भी। वे अनगढ़ एवं अव्यवस्थित हैं। उन्हें सुगढ़, परिष्कृत और सुसंगत करना आवश्यक है। व्यक्तित्व का विकास इस परिष्कार प्रक्रिया पर ही निर्भर करता है। जो जितने अंशों में इन्हें परिष्कृत, सुसंगत कर लेता है, उतने अंशों में उसका व्यक्तित्व आकर्षक एवं श्रेष्ठ बन जाता है। प्रवृत्तियाँ दानवी स्तर की भी हैं और मानवी स्तर की भी। उनमें देवत्व के तत्व भी विद्यमान हैं और नर-पिशाच बनने के बीज भी। इनमें किसे कितने अंशों में उभारा जाये? किसे संयमित किया जाये? यह परिस्थितियों के ऊपर निर्भर करता है। इसके लिए विवेक का प्रयोग आवश्यक है अन्यथा उचित समय एवं परिस्थितियों के अध्ययन का विवेक न हो तो उपयोगी वृत्तियाँ भी हानिकारक सिद्ध हो सकती हैं।

समय एवं परिस्थितियों के अनुरूप हँसना, प्रसन्न रहना, उत्तेजित होना, क्रोध करना, साहस एवं शौर्य का प्रदर्शन करना, परामर्श देना, दया सिखाना, दूसरों के दुःखों में हिस्सा बटाना, सहयोग करना, दुःखी होना, रोना, पढ़ना, श्रम करना सभी आवश्यक है। किस समय किसको अपनाना चाहिए इसकी विवेक बुद्धि बने रहने से प्रत्येक वृत्ति उपयोगी एवं व्यक्तित्व के विकास में सहायक हो सकती है। यदि विवेक न हो एवं परिस्थितियों का ध्यान न हो तो वही वृत्ति अवगुण का रूप ले सकती है और सहायक के स्थान पर दुश्मन सिद्ध हो सकती है।

हँसना, मुस्कराना, प्रसन्न रहना अच्छी बात है। शारीरिक, मानसिक स्वास्थ्य के लिए यह आवश्यक भी है। पर समय-कुसमय का ध्यान न हो, प्रस्तुत प्रसंग पर विचार न किया जाय तो इसका बुरा प्रभाव सामने वालों

के ऊपर पड़ता है। गम्भीर प्रसंगों में गम्भीरता बनाए रखना भी उतना ही आवश्यक है। समयानुसार दुःख प्रकट करना भी जरूरी है। निकटवर्ती, सम्बन्धी, मित्रों के दुःखों में यदि संवेदनायें न व्यक्त की जायें तो वहाँ भी हँसने-मुस्कराने की वृत्ति का परिचय दिया जाय तो उल्टी प्रतिक्रिया सामने वाले पर पड़ सकती है। कई व्यक्ति दूसरों की गलतियों पर भी हँसते देखे जाते हैं। इससे सामने वाले का आक्रोश उभरता तथा व्यंग्य कसने, दयनीय स्थिति पर हँसने वाले को अपना दुश्मन मान बैठता है। अपनी इस छोटी-सी भूल से मित्र भी बैरी बन जाते हैं। महाभारत की कथा प्रख्यात है। भ्रमवश जल को थल मानकर दुर्योधन के गिर पड़ने तथा द्रौपदी द्वारा हँसकर अंधे के अंधे शब्द कहने मात्र से इतिहास का सबसे बड़ा युद्ध महाभारत खड़ा हो गया। अपनी वृत्तियों पर विवेक के अंकुश के अभाव से लाखों व्यक्ति महाभारत युद्ध की बलिवेदी पर चढ़े। उपहास करने की इस प्रकार की प्रवृत्ति अनेकों व्यक्तियों में पाई जाती है। पर जहाँ किसी के स्वाभिमान पर आघात पहुँचता हो ऐसा उपहास सदा संकट का कारण बनता है। कब, कहाँ और किस सीमा तक प्रसन्नता व्यक्त की जाय, यह विवेक बुद्धि रहनी आवश्यक है। परिस्थितियाँ क्या हैं और दूसरों पर इसकी क्या प्रतिक्रिया होगी, यह भी ध्यान देने योग्य है।

दुःखी होने के सम्बन्ध में भी यही बात लागू होती है। दूसरों के दुःख, पीड़ा, कष्ट के अवसरों पर द्रवित होना अपनी संवेदनाएँ व्यक्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। यथासम्भव सहयोग के लिए प्रयत्नशील भी रहना चाहिए पर उनसे इतना अधिक प्रभावित नहीं होना चाहिए कि अपना ही संतुलन बिगड़ जाय। इससे तो दुहरी हानि होगी। असन्तुलन की स्थिति में सहयोग करते तो बनेगा नहीं उल्टे अपनी मनःस्थिति अस्त-व्यस्त होगी। कितने व्यक्ति किसी स्नेहपात्र के बिछुड़ जाने, दिवंगत हो जाने, आर्थिक विपन्नता आ जाने अथवा किसी से वाद-विवाद हो जाने पर अपना सन्तुलन खो बैठते हैं। बीती घटनाओं को अपने अनुकूल नहीं बनाया जा सकता, न ही दिवंगत हुए व्यक्तियों को वापस बुलाया जा सकता है। इन अवसरों पर अपनी सहज संवेदना व्यक्त करना तो आवश्यक है पर वह अनियन्त्रित न हो। प्रतिकूल परिस्थितियों के लिए सदा दुःखित बने रहने से भी कोई समाधान नहीं निकलता। इसके लिए तो प्रचण्ड पुरुषार्थ करना होता है।

आवश्यकता नियंत्रण एवं सदुपयोग करने की है। वे अनगढ़ हैं। वृत्तियों में भली-बुरी का विचित्र सामंजस्य है, पर उपयोगिता दोनों ही की है। क्रोध को निन्दित ठहराया

गया है किन्तु हर परिस्थितियों में नहीं स्वाभिमान की रक्षा के लिए, शौर्य जाग्रत करने के लिए क्रोध करना भी आवश्यक है। अवांछनीयताओं से लड़ने के लिए 'मनु' न हो तो असामाजिक तत्व हावी हो जायेंगे तथा सदा क्षति पहुँचाते रहेंगे। उचित कारणों पर विवेकसंगत क्रोध व्यक्ति एवं समाज दोनों के लिए लाभप्रद है।

नियन्त्रण के अभाव में तो हर प्रवृत्ति हानिकारक ही सिद्ध होगी। 'कामवृत्ति' को ही लें तो पता चलता है कि यह प्रकृति प्रदत्त प्राणियों की एक सहज प्रवृत्ति है। प्राणियों की रेस बनाए रखने के लिए परमात्मा ने दी है। जीवों की वंश परम्परा न टूटे, सहकारिता बनी रहे इस दृष्टि से 'काम' का भी अपना महत्व है। पर जब यह उच्छ्वेग होकर कामुकता का रूप ले लेती है तो व्यक्ति एवं समाज दोनों ही के लिए हानिकारक सिद्ध होती है। कामशक्ति का दुरुपयोग शारीरिक अस्वस्थता एवं मानसिक दुर्बलता लेकर आता है। अस्वस्थ शरीर एवं निर्बल मन द्वारा कोई भी महत्वपूर्ण कार्य नहीं किया जा सकता। सुसंयत एवं नियन्त्रित रहने पर स्वास्थ्य एवं मनोबल का संवर्धन होता है।

ईश्वर प्रदत्त कोई भी वृत्ति अपने में बुरी नहीं है। सभी उपयोगी एवं मनुष्य के लिए कल्याणकारी हैं। अनुपयोगी तो दुरुपयोग के कारण होती हैं। निन्दनीय हेय तो उस स्थिति में ठहराई जाती हैं- जब उनसे व्यक्ति एवं समाज को हानि होने लगती है। यह स्थिति विवेक के अंकुश न रहने से आती है।

उदारता को श्रेष्ठ मानवीय गुण ठहराया गया है। आदान-प्रदान एवं सहयोग की प्रवृत्ति पर समाज की सुव्यवस्था गतिशील रहती है। जो समर्थ एवं सम्पन्न हैं उनके अनुदान समाज में पीड़ित एवं अभावग्रस्त व्यक्तियों को मिलने चाहिए पर कभी-कभी विवेक का अंकुश न रहने पर कितने चालाक एवं धूर्त किस्म के व्यक्ति ऐसे उदारपूर्ण व्यक्तियों से अवांछनीय लाभ उठाने का प्रयत्न करते हैं।

भाव संवेदनाएँ मानवी गरिमा की मेरुदण्ड हैं। यह सुसंयम ही मनुष्य एवं समाज के लिए विशेष लाभप्रद सिद्ध हो सकता है। पर भावातिरेक से तो अनेकों हानियाँ हैं। उचित, अनुचित के बीच विवेक बुद्धि न रहने तथा भावावेश में व्यक्ति एवं घटनाओं से प्रभावित होकर उनके प्रवाह में बह जाने से तो संकट उपस्थित हो जाते हैं। परोपकार, कल्याण, सेवा की वृत्तियों से भरे-पूरे होने पर ही मानवी गरिमा सुशोभित होती है। पर इनके उपयोग को विवेक बुद्धि परिस्थितियों के अनुरूप होनी चाहिए। अन्यथा चालाक, धूर्त किस्म के लोग व्यक्तियों

की भावना को उभार कर अपना उल्लू सीधा करते देखे जाते हैं।

मनुष्य को जन्मजात मिली प्रत्येक वृत्ति उपयोगी है किसको, कब, किस सीमा तक उभारा एवं प्रयोग किया जाय इस पर ही उनकी उपयोगिता निर्भर करती है। उन्हें संयमित एवं परिष्कृत करने की आवश्यकता है।

कल्पना लोक की रंगिनियों में न खोयें

कल्पना शक्ति की क्षमता सर्वविदित है। क्रिया से पूर्व कल्पना न हो तो कार्य की सफलता संदिग्ध बनी रहती है। छोटे-बड़े हर कार्य के लिए यह जितना उपयोगी है, उतना ही हानिकारक इसकी अतिशयता है। काल्पनिक जगत में सैर करना मनोरंजक तो होता है, किन्तु इससे न तो व्यक्ति का जीवन विकास संभव है, न कोई कहने लायक उपलब्धि ही। उल्टे समय और शक्ति नष्ट करते रहने से प्रतिगामिता पल्ले बँधती और दीन-हीन स्थिति सामने आती है।

कल्पना करना बुरी बात नहीं है, पर हर वस्तु की तरह उसकी भी एक सीमा है। उस सीमा के अन्तर्गत ही यह सार्थक-सोद्देश्य होती है और तदनु रूप परिणाम उत्पन्न करती है। वैसे तो कल्पना दैनिक जीवन का अनिवार्य अंग है, मगर वहीं तक यह आवश्यक और लाभकारी है, जहाँ तक हम उसे साकार रूप प्रदान कर सकें। यदि हमारी क्षमता और स्थिति वैसी नहीं कि हम उन्हें कार्य रूप में परिणति कर सकें, तो ऐसी कल्पनायें निरर्थक ही नहीं, हर प्रकार से कष्टकारी-अनिष्टकारी साबित होती हैं। फिर यह कल्पनायें, कल्पनाएँ न रहकर हवाई उड़ान बनती और शेखचिल्ली का खयाली पुलाव साबित होती हैं। शेखचिल्ली की स्थिति वैसी थी नहीं, जैसी वह जीवन में बनने-करने की सोचा करते थे, किन्तु फिर भी उनकी योजनायें चलती रहतीं और हर समय वे दिवा-स्वप्न में खोये रहते।

एक दिन शेखचिल्ली मर्तबान में मधु सिर पर रखकर बाजार बेचने जा रहे थे और सोचते जा रहे थे कि इनसे पैसे मिलेंगे उनसे और मधुमक्खियाँ पालूँगा। फिर उनसे जो आय होगी, उससे एक छोटी दुकान खोलूँगा। धीरे-धीरे दुकान का विस्तार कर उसे बड़ा बनाऊँगा। अन्त में एक बड़ी दुकान का मालिक बन जाऊँगा। इससे जो आमदनी होगी, उससे एक भव्य महल खड़ा करूँगा। बीबी-बच्चे होंगे। उन्हें पढ़ा-लिखा कर बड़ा आदमी बनाऊँगा, फिर आराम की जिन्दगी गुजारूँगा। ऐसा सोचकर उनने ज्यों ही अँगड़ाई ली, संतुलन बिगड़ने

से मर्तबान जमीन पर गिर पड़ा और सारा मधु चारों ओर गिर गया। उनका सारा सपना चकनाचूर हो गया।

बेसिर-पैर की अनावश्यक कल्पनाओं का ऐसा ही अन्तः परिणाम होता है। अतः सामान्य जीवन में अपनी स्थिति और परिस्थिति को देखते हुए ही कल्पनाएँ और योजनाएँ बनाने में भलाई है। जब कल्पनाएँ औकात से बहुत आगे की बात सोचने और सुन्दर-सुन्दर योजनाएँ बनाने लगती हैं, तो इनकी रंगीनियों में खोकर व्यक्ति को मजा आने लगता है एवं सदा इसी दुनिया में बना रहना चाहता है। यह जानते हुए भी कि वास्तविक जगत में इन सपनों से ही कोई कार्य तब तक सिद्ध नहीं होता, जब तक इसके लिए प्रयत्न-पुरुषार्थ न किये जायें, फिर भी वह मन की इस वृत्ति को त्यागने की कोशिश नहीं कर पाता और जाने-अनजाने समय और विचार रूपी बहुमूल्य सम्पदा गँवाता रहता है।

प्रगति की बात सोचना बुरा नहीं है। वह बुरा तो तब हो जाता है, जब व्यक्ति मूल प्रयोजन को भूलकर कल्पना लोक को ही यथार्थ मान बैठता है और उसी में विचरण करने लगता है। यह सही है कि कार्य सम्पादन से पूर्व योजना निर्धारण आवश्यक होता है, किन्तु यदि कोई जीवन भर योजनाएँ ही बनाता रहे, अच्छी-अच्छी बातें ही सोचता रहे, उनके क्रियान्वयन की ओर ध्यान न दे, तो क्या वह अपने जीवन में सफल हो सकेगा ? तब तो वह उल्टे पिछड़ा कहलायेगा और आलसी-अकर्मण्य बना रहने का दोष सिर मढ़ा जायेगा। सफल-समुन्नत जीवन जीने के लिए व्यक्ति को कल्पना लोक में नहीं वास्तविक संसार में रहना पड़ता है और चिन्तन के साथ-साथ उसके क्रिया रूप की बात भी सोचनी पड़ती है। इसी में हर किसी की प्रगति-समृद्धि निहित है।

नशीली दवाओं का सेवन करने वालों की स्थिति ऐसी हो जाती है कि उन्हें हर वक्त रंगीन सपने दिखाई पड़ते हैं, जिससे वे इस आनन्द की दुनिया से पृथक् होना नहीं चाहते। कल्पनाशीलों की स्थिति भी ऐसी ही होती है। वे हर समय कल्पना की दुनिया में उड़ानें भरते और उसी में खोये रहते हैं। यह कल्पना का अतिरेक हुआ, जो व्यक्ति को अकर्मण्य जैसी अवस्था में पहुँचा देता है, पर सामान्य स्थिति में कल्पनाशील व्यक्ति सृजनशील होता है। इन्जीनियरों को मशीनों के मॉडेल तैयार करने से पूर्व कल्पना का सहारा लेना पड़ता है। चित्रकार यदि कल्पना जगत की यात्रा न करें, तो वह सुन्दर-सुन्दर चित्र कदापि नहीं बना सकते। अच्छा निबन्ध लिखने के लिए साहित्यकार को उसकी काल्पनिक

रूपरेखा तैयार करनी पड़ती है। भवन निर्माताओं को निर्माण कार्य से पहले इमारत का कल्पना चित्र बनाना पड़ता है, तब कहीं जाकर सृजन-कार्य आरम्भ हो पाता है। बरतन, उपकरण, खिलौने, यान, उपग्रह, रॉकेट सभी के निर्माताओं को इसी प्रक्रिया से होकर गुजरना पड़ता है। तात्पर्य यह कि क्रियान्वयन से पूर्व अधिकांश कार्य मस्तिष्क में कल्पना रूप में उभरते हैं, तभी उनका सफल सम्पादन हो पाता है। यदि इसकी उपेक्षा कर दी जाय, तो कार्य आधे-अधूरे, काने-कुबड़े ही हो पावेंगे, क्योंकि तब किसी प्रकार का मानसिक प्रारूप न बन पड़ने की स्थिति में कार्य में सुधार-परिवर्तन की तकनीक भी गुंजाइश न रह जायेगी और उसे सीधे कार्य रूप में परिणति करना पड़ेगा, किन्तु इससे बड़ी कठिनाई तब एक और पैदा होगी, वह यह कि इस दशा में फिर किसी प्रकार मॉडेल तैयार कर सकना संभव ही नहीं हो पायेगा। यदि हुआ भी तो अनेक प्रयत्नों के बाद भी वह निम्नस्तरीय ही होगा और परिष्कृत रूप तैयार करने में अनेकानेक सुधार, परिवर्तन और वर्ष अपेक्षित होंगे। इस प्रकार अत्यधिक समय, श्रम और सम्पदा गँवाने के बावजूद भी वस्तु स्तरीय नहीं बन पायेगी और अपनी आदिम अवस्था के आस-पास ही पड़ी रहेगी। उसमें उन्नयन-विकास अत्यन्त मन्द गति से होगा।

यह सत्य है कि सदा कल्पना की उड़ानें भरते रहने में न तो व्यक्ति का कल्याण है, न समय और समाज का। कार्य को क्रियान्वित करने के लिए निस्संदेह कल्पना आवश्यक है, पर वह उसी स्तर पर, उसी परिमाण में होनी चाहिए, जितने से कार्य का श्रेष्ठ निष्पादन हो जाय। अनावश्यक कल्पना-जल्पना में उलझे रहने से हम प्रगति के उन अवसरों को भी गँवाते चले जाते हैं, जो हमें जीवन में प्राप्त होते हैं, साथ ही मानसिक शक्ति को नष्ट करते रहते हैं। अस्तु, विवेकशीलता इसी में है कि हम सदा सामान्य धरातल पर रहते हुए क्रिया के अनुरूप कल्पना को महत्व दें। न तो अनावश्यक कल्पना में डूबें न कल्पना लोक की रंगीनियों में खोयें।

निरर्थक नहीं, सारगर्भित कल्पनायें करें

मन ही मन लम्बी-चौड़ी योजना बना लेना जितना सरल है उतना सरल उनको मूर्तिमान करना नहीं है। जहाँ कल्पना में नित्य ही बीसियों योजनायें बनकर सरलता पूर्वक कार्यान्वित हो सकती हैं, वहाँ यथार्थ में किसी योजना का एक अंश भी सफल होना मुश्किल हो जाता है। उसके लिये वह कार्य क्षमता, वह सहिष्णुता और वह दक्षता, जो किसी कार्य को करने के लिए आवश्यक

होती है, कल्पना-शील व्यक्ति में नहीं होती है। उसकी सारी शक्ति ही काल्पनिक योजनाओं में विनिष्ट होती रहती है।

यह बात गलत नहीं है कि संसार के किसी भी सृजन की योजना पहले विचार क्षेत्र में बनती, उसकी कल्पना ही मस्तिष्क में उठती है, उसके बाद वह बाह्य क्षेत्र में व्यक्त होती है। किन्तु मस्तिष्क के वे विचार यों ही अपने आप अभिव्यक्त अथवा मूर्तिमान नहीं हो जाते। उनके लिये ठोस कार्य करना होता है। पसीना बहाना और संघर्ष करना होता है। अपने में इतनी सहिष्णुता तथा धैर्य उत्पन्न करना होता है, जिससे कि असफलता के प्रभाव से बचा जा सके।

संसार के सारे महापुरुष जिन्होंने बड़े-बड़े काम करके दिखलाये हैं, कल्पनाशील रहे हैं। यदि इनके मानस में अपनी योजना न बनती, आगामी कार्यक्रम की रूपरेखा तैयार न होती हो तो वे व्यवस्थित रूप से किस प्रकार काम कर सकते। पहले योजना ही बनती है, उसकी रूपरेखा तैयार होती है और तब उसके अनुसार कदम-कदम चल कर लक्ष्य तक पहुँचना होता है। यदि ऐसा न किया जाये और बिना सोचे-विचारे किसी ओर चल पड़ा जाये तो यह गलती ही होगी। जिस गति का कोई लक्ष्य नहीं, कोई उद्देश्य अथवा निश्चित मार्ग नहीं उसकी यात्रा तो व्यर्थ ही होती है। किन्तु वे महापुरुष केवल काल्पनिक अथवा मनोरथी भर ही न थे। विचार के साथ कार्य का समुचित समन्वय करना भी जानते थे। बैठे-बैठे विचार करते रहने अथवा योजनाओं के मानस चित्र बनाते रहने की जगह वे ज्यों ही कोई विचार दृढ़ कर लेते थे, उसको कार्यान्वित करने के लिये जी जान से जुट पड़ते थे। एक विचार अथवा योजना का एक अंश पूरा करने के बाद ही वे दूसरा विचार मस्तिष्क में लाया करते थे।

निर्माण का आधार क्रिया ही है, केवल विचार नहीं। शिल्पी का विचार उसे किसी मूर्ति का एक रूप ही देता है। किन्तु उसको यथार्थ में उसके हाथ तथा औजार ही लाते हैं। यदि वह अपनी मानसिक मूर्ति को देख-देखकर ही संतुष्ट होता रहे और अपने को शिल्पी मानता रहे तो इससे संसार का क्या काम चल सकता है, वह अपने के लिये शिल्पी अथवा कलाकार हो सकता है, संसार के लिए वह कुछ नहीं होता है। संसार तो उसका मूल्यांकन उसकी उस रचना के आधार पर करेगा। जिसका निर्माण वह यथार्थ के ठोस धरातल पर पत्थर से करेगा, कोई अपनी कल्पनाओं, इच्छाओं तथा मनोरथों में कितना महान है इसका सम्बन्ध संसार से नहीं

रहता। संसार तो उसे उस रूप में जानता है जो रूप वह अपनी रचना द्वारा उसके सामने उपस्थित करता है।

क्रिया का आधार विचार ही होते हैं, किन्तु मनुष्य के सारे विचार इस कोटि में नहीं आते। बहुत-से विचार व्यर्थ तथा निरुपयोगी होते हैं। यों तो मनुष्य के अन्तःकरण में विचारों का वृहत् भण्डार भरा है। वे क्षण-क्षण पर उत्पन्न तथा विनष्ट होते रहते हैं। ऐसे क्षण-क्षण पर उठने वाले और बिगड़ने वाले विचार सृजनात्मक नहीं होते। सृजनात्मक विचार केवल वही होते हैं, जिनका मनुष्य की आत्मा से गहरा सम्बन्ध रहता है। जो किसी परिस्थिति से प्रभावित होकर बदलते नहीं और अभिव्यक्ति पाने के लिए हृदय में उथल-पुथल मचाये रहते हैं और जब तक उन्हें सृजनात्मक मार्ग पर लगा नहीं दिया जाता चैन से नहीं बैठने देते। ऐसे प्रौढ़ तथा परिपक्व विचार बहुसंख्यक नहीं होते। मनुष्य के नित्य-प्रति उठने वाले विचारों में ही कोई एक-आध विचार ही इस कोटि का होता है। जिस विचार के पीछे एक उत्कंठा, लगन तथा व्यग्रता काम कर रही हो, जिसमें प्रेरणा तथा सृजन का आन्दोलन चल रहा हो, वही विचार मनुष्य का मूल विचार होता है। अन्य सारे विचार तो मानस की साधारण तरंगें होती हैं, जो हवा के रुख पर बनती-बिगड़ती रहती हैं। उनका न तो कोई मूल्य महत्व ही होता है और न उन सबको मूर्तिमान ही किया जा सकता है।

मनुष्य को चाहिए कि वह विचारों की भीड़ में से अपने इस मूल तथा स्थायी विचार को परखकर अलग कर ले, उसी को विकसित करे और उसी के आधार पर जीवन का लक्ष्य निर्धारित कर अपनी सम्पूर्ण शक्ति के साथ उसे मूर्तिमान करने में लग जाये। क्षण-क्षण पर उठने वाले विचारों के माया-जाल में पड़ा रहने वाला जीवन में कोई बड़ा काम नहीं कर सकता। बहुधा मनुष्य किसी का अध्यात्मिक प्रवचन सुनकर प्रभावित हो जाता है और मोक्ष प्राप्ति की ओर विचार करने लगता है, कभी किसी राजनीतिज्ञ की उक्तियाँ सुनकर प्रभावित होता और राजनीति में बढ़ने का विचार करने लगता है। कभी किसी का कारोबार देखकर व्यापारी बनने की सोचता है तो किसी की रचना देखकर चित्रकार, साहित्यकार अथवा शिल्पी बनने की इच्छा करने लगता है। इस प्रकार के अनुक्षण आने वाले विचारों को विचारों की कोटि में नहीं स्थापित किया जा सकता। यह केवल बाह्य प्रभाव अथवा विकार ही होते हैं, इनमें कोई मौलिकता नहीं होती। मौलिक विचार वही होता है जो अपनी आत्मा की प्रेरणा से

प्रबुद्ध होता है, और मूर्तिमान होने के लिए मस्तिष्क में आन्दोलन संचार करता है।

अनेक बार लोगों में मौलिक विचार नहीं भी होते। किन्तु उन्हें जीवन में कुछ कर जाने की इच्छा जरूर होती है। ऐसी दशा में वह यह नहीं समझ पाता कि वह क्या करे अथवा उसे क्या करना चाहिये, ऐसी दशा में विचार उधार भी लिये जा सकते हैं अथवा यों कह लिया जाये कि दूसरों से ग्रहण किये जा सकते हैं। दूसरे विचार-ग्रहण करने में एक सावधानी यह रखनी होगी कि कोई ऐसा विचार ग्रहण न किया जाये, जो अपनी स्वाभाविक प्रवृत्ति के अनुरूप न हो। मान लीजिए किसी की प्रवृत्ति तो स्वाभाविक है और वह किसी की सफलता अथवा उन्नति देखकर विचार-ग्रहण कर लेता है। राजनीतिक और जीवन में नेता बनने की सोचने लगता है, तो वह अपने उद्देश्य में सफल न हो सकेगा। उसकी प्रवृत्तियाँ क्षण-क्षण पर उसका विरोध करती रहेंगी। उसकी क्रियायें अपनी पूर्ण क्षमता के साथ आगे नहीं बढ़ सकती। कोई कार्य सफल तभी होता है, जब उसके साथ तन-मन तथा मूल प्रवृत्तियों का भी सहयोग हो। केवल क्रिया ही कोई सफलता ला सकती है, यह सम्भव नहीं।

किसी को अपना जीवन लक्ष्य बनाने के लिये किसी से कौन-सा विचार ग्रहण करना चाहिये? इसी परख के लिये आवश्यक है कि वह विचार सुने और उनमें से अच्छे-अच्छे जो सबसे अधिक आकर्षक लगें अपने पास इकट्ठे कर ले और बाद में उनको अपनी बुद्धि तथा प्रवृत्तियों की तुलना पर बार-बार तोलता रहे। जिस विचार के साथ उसकी प्रवृत्तियों का सबसे अधिक तालमेल बैठे उसी को स्थायी रूप से ग्रहण कर लेना चाहिए और सब विचारों को छोड़ देना चाहिए। किन विचारों से किसका तालमेल सबसे अधिक होता है? यह समझ सकना कोई मुश्किल नहीं। मनुष्य की प्रवृत्तियाँ अपने सामंजस्य अथवा असामंजस्य को बड़ी जल्दी प्रकट कर देती हैं। इस परख के लिये एक उपाय यह भी है कि जिस ग्रहण किये विचार के साथ उसकी स्वयं की विचारधारा मिलकर बह चले, वह विचार भी उसी लिये ग्राह्य है। अर्थात् जिस ग्रहीत विचार को हमारा अन्तःकरण सरलतापूर्वक विक्सित एवं पल्लवित कर सकता है, उसमें शाखाएँ-प्रशाखायें उत्पन्न कर सकता है, उसे अपने चिन्तन के बल पर रूपान्तर कर सकता है, सर्वथा ग्राह्य है।

लक्ष्य बनाने लिए किसी से विचार ग्रहण करते समय एक यह बात भी विचारणीय है कि जिस विचार को हम ग्रहण कर रहे हैं, साथ ही हमारी मूल-प्रवृत्तियों से जिसका सामंजस्य भी है, क्या उसके अनुसार हमारी

क्षमता अथवा परिस्थितियाँ भी हैं अथवा नहीं। मानिए हम एक विचार ऐसा ग्रहण कर लेते हैं, जिसका सम्बन्ध एक विशाल आध्यात्मिक साधना से है और उसको सफल करने के लिये बहुत बड़े संयम अथवा त्याग की आवश्यकता है, हमारी प्रवृत्ति भी उसके अनुकूल है। किन्तु परिस्थिति इस योग्य नहीं है कि सब कुछ त्यागकर साधना में लग जाया जाय। घर गृहस्थी, कारोबार और छोटे-छोटे बच्चों का उत्तरदायित्व का भार सिर पर है, जिसका त्याग करने से बहुत बड़ा अनिष्ट हो सकता है। परिवार तथा बच्चों का भविष्य अन्धकारमय में हो सकता है, तो वह विचार ग्राह्य होते हुये भी अग्रहणीय है। इसको क्रियान्वित करने के लिये समय की प्रतीक्षा करनी होगी और तब तक करनी होगी, जब तक परिस्थिति उसके अनुकूल न हो जाये। विचार-ग्रहण करके उसे अपनी आत्मा में सँजो लेना होगा और धीरे-धीरे अन्दर मन में चिन्तन करते हुये उसे दृढ़ से दृढ़तर बनाते रहना होगा। साधना पथ पर धीरे-धीरे परिस्थिति से सामंजस्य करते हुये चलना होगा। सहसा कोई बड़ा कदम उठा लेना उचित न होगा। ऐसा करने से हित के स्थान पर अहित होने की सम्भावना रहती है।

तो इस प्रकार विचारों की भीड़ से अपने मूल-विचार को छाँट लेना चाहिये और यदि मूल विचार न हो तो अनुकूल विचार कहीं से ग्रहण करके अपना जीवन लक्ष्य तथा पथ निर्धारित कर उस पर योजनाबद्ध गति से चलना चाहिये। विचार को केवल विचार-मात्र बनाए रखने से कोई प्रयोजन सिद्ध न होगा। सिद्धि के लिये विचारों तथा क्रियाओं का समुचित समन्वय भी करना होगा। जो केवल विचार ही विचार करता रहता है और उनको मूर्तिमान करने के लिये क्रियाशील नहीं होता और उसके विचार मस्तिष्कीय विचार बनकर उसे निष्क्रिय एवं निरर्थक बना देते हैं। विचार-सृजन की आधारशिला जरूर है किन्तु तब ही जब वे मौलिक दृढ़ तथा कार्यान्वित हों, अन्यथा वे केवल कल्पना बनकर अपने विचारों पर उसे लिये उड़ते फिरेंगे और कहीं का न रखेंगे। जो निष्क्रिय विचारों के जाल में फँस जाया करता है, उसका जीवन बहुधा असफल ही रहा करता है। फिर भले ही उसके विचार कितने ही महान्, सुन्दर और कल्याणपूर्ण ही क्यों न हों और क्यों न वह उनके विभ्रम में अपने को महान्, महापुरुष अथवा आदर्श व्यक्ति समझता रहे। वास्तव में वह एक कल्पक के सिवाय और कुछ नहीं एक साधारण कर्मठ व्यक्ति भी नहीं।

शेखचिल्ली न बनें

इच्छाओं, आकांक्षाओं की भाँति मनःस्थान से पैदा होने वाली तीसरी विशेषता है, कल्पनाओं का आविर्भाव। विचारणा और तर्क की तरह यह एक मनःशक्ति धारा है, जिसके सही दिशा में नियोजन और सदुपयोग द्वारा महत्वपूर्ण सफलताएँ अर्जित की जा सकती हैं। अन्यान्य शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक और आत्मिक विशेषताओं की भाँति यह क्षमता मनुष्य मात्र को प्राप्त है पर कोई-कोई ही कल्पना शक्ति का महत्व समझते और उससे लाभ उठा पाते हैं अन्यथा अधिकांश व्यक्तियों की कल्पनाएँ अस्त-व्यस्त बनी रहती हैं और कोई विशेष प्रयोजन नहीं पूरा कर पातीं।

वैचारिक क्षेत्र में आने और क्रिया में परिवर्तित होने के पूर्व कोई भी महत्वपूर्ण विचार सर्वप्रथम कल्पना क्षेत्र में ही उमड़ते हैं तथा कालान्तर में उपयोगी दिशा मिल जाने पर चमत्कारी परिणाम प्रस्तुत करते हैं। संसार भर में अब तक जितने भी आविष्कार अनुसन्धान हुए हैं, वे सर्वप्रथम कल्पना क्षेत्र में ही अवतरित हुए विचारों के रूप में अंकुरित, पल्लवित, पुष्पित होकर क्रिया का सम्बल पाकर उपलब्धियों के रूप में फलित होते चले गये।

कुशल माली और चतुर किसान की भाँति कल्पनाओं की भी खेती करनी पड़ती है। माली उद्यान में उग आये झाड़-झंकड़ की काट-छोट करता और उपयोगी पौधों में पानी खाद देने के व्यवस्था जुटाता है। कृषक को भी खाद-पानी देने निराई-गुड़ाई आदि की प्रक्रिया अपनानी होती है। दोनों यह क्रम न अपनायें तो बीजांकुरित पौधों को बढ़ने-फूलने और फलने का अवसर न मिल सकेगा। मनःक्षेत्र में भी कितनी ही प्रकार की उपयोगी, अनुपयोगी कल्पना घूमती रहती हैं। यह चुनाव मनुष्य को स्वयं ठीक कृषक और माली की भाँति करना होता है कि कल्पनाओं में से कौन-सी व्यावहारिक और कौन-सी अव्यावहारिक। किसको पोषण देना चाहिए और कौन निरस्त करने योग्य है? उपयोगी का चुनाव और परिपोषण ही चमत्कारी परिणाम प्रस्तुत करता है। इस कला के अभाव में अधिकांश व्यक्ति कल्पना शक्ति का लाभ नहीं उठा पाते और महत्वपूर्ण उपलब्धियों से वंचित रह जाते हैं।

सजीव कल्पना का अर्थ है कि मन में चलने वाली अनेकानेक कल्पनाओं में से उनका ही चयन किया जाना, जो अपनी परिस्थितियों से तालमेल खाती हों। हवाई कल्पना करने से कोई बात नहीं बनती उल्टे अपनी क्षमता

नष्ट होती, अव्यावहारिक होने और साकार न हो सकने के कारण निराशा और खीझ उत्पन्न करती है। अस्तु कौन-सी कल्पना साकार करने योग्य है, इसके लिए अपनी क्षमता और स्थिति पर भी विचार करना आवश्यक है।

अशिक्षित व्यक्ति डाक्टर बनने, इंजीनियर का पद सँभालने अथवा सरकारी क्षेत्र में महत्वपूर्ण पद हासिल करने की हवाई कल्पना करता रहे तो उपहास का ही पात्र बनेगा। शरीर निर्माण की निर्धारित आयु बीत जाने के बाद कोई बलिष्ठता में विश्व चैम्पियन बनने का ख्वाब देखता रहे तो कभी यह कल्पना साकार नहीं हो पाती। अतएव कल्पना के चयन के साथ-साथ यह विचार करना भी जरूरी है कि उसे व्यावहारिकता के धरातल पर उतार सकना सम्भव है अथवा नहीं। अधिकांश व्यक्ति जीवनपर्यन्त जैसी-तैसी गई-गुजरी स्थिति में इसलिए पड़े रहते हैं। अपने लिए उपयोगी कल्पनाओं का चयन नहीं करते और अनुपयोगी, अव्यावहारिक कल्पनाओं के किले बाँधे रहते हैं। इस असामंजस्य से असफलता ही हाथ लगती है।

यदि रचनात्मक दिशा दी जा सके तो कल्पना शक्ति के गर्भ में से बढ़कर एक सम्भावनाएँ सन्निहित होती हैं। वैज्ञानिक इसी से सफल होते हैं। न्यूटन का गुरुत्वाकर्षण, डार्विन का विकासवाद, आइन्स्टीन का सापेक्षवाद जैसे अनेकानेक आविष्कार कल्पना की ही उपज हैं। साहित्य, कविता, कला, संगीत आदि क्षेत्रों में तो कल्पना के बिना एक कदम आगे बढ़ पाना सम्भव नहीं है। इन विषयों के मर्मज्ञ विशेषज्ञ कल्पनाओं के पुंज होते हैं और इसी के बलबूते गम्भीर से गम्भीर विचारों और मर्मस्थल को छूने वाले भावों को अभिव्यक्ति कर पाने में समर्थ होते हैं। नाटक, गायन, वादन, साहित्य, कविता-कला की प्रभावोत्पादक क्षमता कल्पनाओं की ही सजीव, सार्थक और उच्चस्तरीय अभिव्यक्ति है। कल्पना शक्ति न रही होती तो न तो ज्ञान का विकास सम्भव था और न ही विज्ञान का आविष्कार, न संगीत की झंकार सुनाई पड़ती और न कला सजीव हो पाती, न साहित्य का सृजन हो पाता और न कविता की उत्पत्ति। विश्व भर में आज विविध विषयों पर जितनी भी वैचारिक सम्पदा संग्रहीत है, उसकी उत्पत्ति कल्पना के गर्भ से ही हुई है।

साम्यवाद की एक धुँधली कल्पना एक दिन एक सामान्य व्यक्ति के मन में आई। उसे साकार करने में अपनी क्षमताएँ उसने नियोजित कर दीं। साम्यवाद की प्रचण्ड विचारधारा का प्रादुर्भाव हुआ जिसने कार्लमार्क्स को

अमर बना दिया। ऐसी ही एक कल्पना रूसो के मन में उपजी। वैचारिक क्षमता का सम्बल पाकर वह कल्पना रूपी बीज प्रजातन्त्र के रूप में प्रस्फुटित हुआ। नेपोलियन ने एक दिन विश्व विजय का सपना देखा। मन की उस कल्पना ने ही उसे विश्व-विजय के लिए प्रेरित किया। हिटलर को तानाशाह और विश्वविख्यात बनाने में उसकी कल्पनाओं का बहुत बड़ा योगदान था। मन की कल्पना का साकार रूप देने के लिए वह सदा ताना-बाना बुनता तथा शरीर मन और मस्तिष्क को उसी में नियोजित रखता था।

विश्व के मूर्धन्य मनोवैज्ञानिक भी अब इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि मनुष्य को बनाने-बिगाड़ने, उत्कर्ष-अपकर्ष में सार्थक-निरर्थक कल्पनाओं की महती भूमिका होती है। किसी विचारक ने कहा भी है “मनुष्य जिन कल्पनाओं को मन में स्थान देता है, वैसी ही विचारणाएँ उठती और गतिविधियाँ चल पड़ती हैं और अन्ततः वह अपनी कल्पना के अनुरूप बन जाता है।”

“राबर्ट थियोबाल्डा” जैसे विचारक का कहना है कि “सृजनात्मक विचारधाराओं की उत्पत्ति कल्पना क्षेत्र में ही हुआ करती है पर कम ही व्यक्ति हैं जो इस तथ्य को समझते और लाभ उठा पाते हैं। कारण यह है कि अधिकांशतः व्यक्ति अपने अनुरूप कल्पना का चुनाव नहीं कर पाते और निरर्थक में उलझे रहते हैं। सफलता की दिशा में अग्रसर होने के लिए सर्वप्रथम आवश्यकता है। सजीव सार्थक और सृजनात्मक कल्पनाओं को ही मन में स्थान देने और निरर्थक को निकाल बाहर कर देने की।

इस दिशा में एक महत्वपूर्ण बात और याद रखने के योग्य है कि कल्पना करने और उपयोगी का चुनाव करते समय अपनी सामर्थ्य, परिस्थिति एवं साधनों का निरीक्षण भी कर लिया जाय। तदुनुरूप लक्ष्य निर्धारित किया जाय। उसे साकार करने के लिए व्यवस्थित कार्यक्रम बनाया जाय। अपनी परिस्थितियों, साधनों और क्षमताओं का ध्यान न रहे और हवाई कल्पनाएँ करते रहा जाय तो शेखचिल्ली की भाँति उपहास का ही पात्र बनना होगा। अन्ततः निराश, खिझ से भरी असफलता ही हाथ लगेगी।

सर्वविदित है कि शारीरिक और मस्तिष्कीय अवयवों की दृष्टि से समता होते हुए भी मनुष्य-मनुष्य के बीच भी मौलिक गुणों और जन्मजात प्राप्त विशेषताओं की दृष्टि से भिन्नता होती है। कुछ आनुवंशिक विशेषताएँ होती हैं तो कुछ जन्म-जन्मान्तरों के संस्कार। कुछ को अनुकूल परिस्थितियाँ सहज ही उपलब्ध रहती हैं, जिनके सहारे एक निश्चित दिशा में पुरुषार्थ करने पर आशातीत

सफलता मिलती है। मनोवैज्ञानिकों का मत है कि सहज अभिरुचि का किसी लक्ष्य विशेष की ओर होना इस बात का परिचायक है कि अभिरुचि की दिशा में प्रवृत्त होकर विशेष सफलता सम्पादित की जा सकती है। पश्चिमी देशों में बच्चों की शिक्षण पद्धति में इस मनोवैज्ञानिक तथ्य का भली-भाँति ध्यान रखा जाता है। उनका रुझान और मनोयोग की दिशाधारा किन विषयों की ओर है, उसी के अनुरूप उनकी शिक्षण व्यवस्था बनायी जाती है।

इस तथ्य को और भी भली-भाँति इस तरह समझा जा सकता है जैसे कि गला अच्छा होते हुए भी हर व्यक्ति गायन विद्या में पारंगत नहीं हो सकता। यह तभी सम्भव है जब कंठ मधुर हो। पर यह विशेषता अभ्यास द्वारा नहीं जन्मजात प्राप्त होती है। कंठ मधुर न होते हुए भी कोई तानसेन बनने की कल्पना करता रहे तो इस दिशा में प्रयत्न करते हुए भी असफलता ही हाथ लगेगी। विकलांगता से ग्रस्त व्यक्ति गामा पहलवान बनने की कल्पना करे तो प्रयास करते हुए भी असफल ही रहेगा। पूँजी न होते हुए भी बड़ा उद्योग करने और लाभ कमाने की कल्पना अव्यावहारिक ही कही जायेगी। चाँद और सितारों पर सैर करने की कल्पना लुभावनी और मनोरंजक हो सकती है। पर उसके लिए साधन और अभीष्ट योग्यता न हो तो वह कभी भी पूरी नहीं हो सकती। अस्तु, सृजनात्मक कल्पनाओं का चुनाव करते समय अपनी आज की स्थिति सामर्थ्य और साधनों पर विचार करना आवश्यक है। दोनों के बीच सामंजस्य न हो तो कल्पना कभी साकार नहीं हो पाती। सार्थक कल्पना वस्तुतः वही है जिसमें इस व्यावहारिक दृष्टि का समावेश है।

कवि, कलाकार, साहित्यकार जैसी-प्रतिभाएँ भी अपने साथ अभीष्ट तरह की विशेषता के बीज लेकर पैदा होते हैं। बाद में अनुकूल परिस्थितियाँ मिलते ही वे अंकुरित और विकसित होते हैं। मौलिक प्रतिभा के बीज न हों तो चाहकर भी कोई मात्र अभ्यास और प्रशिक्षण के बलबूते काव्य, कला और साहित्य के क्षेत्र में आगे नहीं बढ़ सकता।

किसी भी क्षेत्र में असफलता हाथ लगने का एक प्रमुख कारण यही होता है कि कल्पना के साथ व्यावहारिक दृष्टि नहीं रहती, अपने उपलब्ध साधनों और सामर्थ्यों के अनुरूप कल्पना का चयन नहीं हो पाता। यह तालमेल बन जाय तो कोई कारण नहीं कि असफलता का मुँह देखना पड़े।

एक दिशा एक निश्चित लक्ष्य के प्रति कल्पना शक्ति का नियोजन सम्भव हो सके तो विभिन्न क्षेत्रों में सफल हुए व्यक्तियों की तरह ही हर व्यक्ति अपने-अपने

अनुरूप सफलताएँ प्राप्त कर सकता है। आवश्यकता इतनी भरी है कि कल्पना शक्ति की उपादेयता को भली-भाँति समझा जाय और उसका सही उपयोग किया जाय।

कुकल्पनाओं के नरक से हम

स्वयं ही उबरें

डर उसे लगता है जो अँधेरे में भटकता है। अनिश्चितता और आशंका का सम्मिश्रित स्वरूप ही भय है। जहाँ सुनिश्चितता हो, स्पष्टता हो वहाँ भय लगने का कोई कारण नहीं।

भय के कारण ही मनुष्य उद्विग्न रहता है। अमुक व्यक्ति या अमुक परिस्थिति अथवा अमुक सम्भावना हमारी अमुक प्रकार की हानि करेगी—इस आशंका को बढ़े-चढ़े रूप में देखने से हमें एक भयानक संकट सामने खड़ा दीखता है। मस्तिष्क की संरचना विचित्र है। वह अन्तरंग की मान्यताओं की पुष्टि करने में एक के बाद एक तर्क प्रस्तुत करता चला जाता है। पहले जो आशंका या सम्भावना की कल्पना मात्र थी वह पीछे मस्तिष्क की कसरत द्वारा बढ़ा-चढ़ा कर इतने भयंकर रूप में गढ़ ली जाती है मानो वह यथार्थता ही हो। दूसरों की सामान्य गतिविधियाँ भी ऐसी लगती हैं मानो वे अपने अनर्थ के लिए जान-बूझकर की गई दुरभिसंधियाँ ही हों। कुकल्पाएँ तिल को ताड़ बनाती चलती हैं और हमें विभीषिकाओं के ऐसे भयानक जंगल में ले जाकर अकेला छोड़ देती हैं, जहाँ अनर्थ और संकट के भूत-पिशाच नृत्य कर रहे होते हैं।

कल्पना की, मान्यता की शक्ति अद्भुत है। उसे निषेधात्मक दिशा में चलने दें तो फिर विपत्ति की घटाएँ ही इर्द-गिर्द घुमड़ती रहेंगी। भले ही वे कुकल्पनाएँ कभी भी साकार न बन सकें, पर डराते रहने के लिए तो उनका अवास्तविक अस्तित्व ही पर्याप्त है।

चिन्तन की दिशा मोड़कर यदि मान्यताओं को शुभ सम्भावनाओं की दिशा में चलने के लिए प्रोत्साहित करें, विषेधात्मक चिन्तन का अभ्यास करें तो प्रतीत होगा कि अपने लिए देवता लोग दिव्य वरदानों के उपहार लिए सामने खड़े हैं और आकाश से अब अपने ऊपर पुष्प वर्षा होने ही वाली है। उज्ज्वल भविष्य के प्रति यदि आशा और आस्था सँजोई जाय तो मस्तिष्क उस सम्भावना के समर्थन में अनेकानेक तर्क, कारण, उदाहरण प्रस्तुत करेगा और भावी घटनाक्रम का ऐसा सुनहरा चित्र उपस्थित करेगा मानो वह सब अगले ही दिनों मूर्तिमान होने जा रहा हो। इस सुखद पृष्ठभूमि के सहारे हमें सदा

प्रमुदित रहने का अवसर मिलता रहेगा, भले ही वे सुखद कल्पनाएँ कभी भी वास्तविकता न बन सकें।

वस्तुतः घटनाएँ छोटी होती हैं और उनकी वास्तविक प्रक्रिया अत्यन्त तुच्छ और क्षणिक होती है। यह संसार ऐसे ही अपने ढर्रे पर चल रहा है। क्षति की पूर्ति दूसरे ही क्षण हो जाती है और हर चमक क्षणभर उपरांत भूतकाल के गर्त में विलीन हो जाती है। इसलिए कोई भी घटना न तो अपने वास्तविक रूप में अत्याधिक प्रभावशाली होती है और न कोई बहुत बड़ी प्रतिक्रिया उत्पन्न करती है। संसार चक्र बड़ी सरलता से अपनी धुरी पर घूमता रहता है। यहाँ कोई भी बात महत्वपूर्ण नहीं। न किसी उपलब्धि का बहुत बड़ा लाभ है और न किसी क्षति के कारण कहीं किसी पर वज्रपात होता है। महत्व केवल कल्पनाओं का है। वे ही हमें बेतरह डराती हैं अथवा उन्हीं का चक्र हमारी मनोभूमि को सुखद सम्भावनाओं के सपने दिखाकर आनन्द-विभोर रखे रहता है।

विवाह होने पर पत्नी कितनी मनोरम मिलेगी? उसके साथ गृहस्थ जीवन कितना सुखद बीतेगा? यह कल्पना विवाह के प्रति उत्सुकता और आकांक्षा में चमक उत्पन्न करेगी। जब तक विवाह न होगा, मन बहुत ही उल्लसित रहेगा पर विवाह होने के कुछ दिन उपरान्त ही प्रतीत होने लगेगा कि सामान्य रूप से एक घर में रहने वाले दो व्यक्तियों के स्वाभाविक क्रम से एक ढर्रा चल पड़ा। सुनहरी कल्पनाएँ अपने लोक को चली गईं। हर किसी का गृहस्थ ऐसे ही एक ढर्रा बनकर रह जाता है। किन्तु यदि वे पति-पत्नी भविष्य में अधिक सुखद स्थिति की कल्पना गढ़ने लगे तो फिर नये सिरे से आनन्द की एक लहर मन में उठने लगेगी। पुत्र उत्पन्न होगा, वह सुनहरी सपना जितना आकर्षक होता है, उससे हजारवाँ भाग भी पुत्र प्राप्ति का परिणाम सुखद नहीं होता। बेटा इतनी समस्याएँ साथ लेकर आता है कि पूर्व कल्पना सर्वथा निरर्थक प्रतीत होती है। इतने पर भी यदि नये सिरे से यह सोचने लगे कि बड़ा होने पर यह हमारी अमुक प्रकार सेवा सहायता करेगा तो भरण-पोषण की कष्ट साध्य-प्रक्रिया के रहते हुए भी शिशु पालन फिर एक सुखद क्रिया-कलाप बन जायेगा।

इन्द्रिय-लिप्सा का अधिकांश आनन्द उसकी पूर्व कल्पना तक सीमित रहता है। अमुक दिन, अमुक दावत में, अमुक प्रकार के व्यंजन मिलेंगे, उनका कल्पित स्वाद जितना मधुर होता है, उतना उन व्यंजनों के सामने आने पर नहीं रहता। रहता भी है तो वह कुछ ही क्षणों में भूख शान्त होने पर पूरी तरह समाप्त हो जाता है। यहाँ

तक कि आग्रह करने पर भी उन्हें अस्वीकार करना पड़ता है। काम तृप्ति के बारे में भी यही बात है। रमणी की स्वप्निल कल्पनाएँ ही उत्तेजना प्रदान करती हैं, रमण की कल्पना ही उद्विग्न करती है। यौनकर्म तो कुछ ही क्षणों में निस्सार और थकान भरा अनुभव होने लगता है।

एम० ए० की डिग्री जब तक नहीं मिली है, उन सपनों की तुलना यदि डिग्री को शीशे में गढ़कर कमरे में टाँग देने की मनःस्थिति के साथ करें तो प्रतीत होगा कि एक गहरा नशा उतर गया और कुछ अदभुत परिणाम सामने नहीं आया जैसा कि शिक्षण अवधि में वर्षों तक सोचते रह गया था।

चुनाव जीतने के बाद प्रतीत होता है कि लोक सम्मान के आकाश में उड़ने की रंगीली बेकार थी। एम० एल० ए० बन जाने और मामूली अध्यापक का पद पा जाने में कोई बहुत बड़ा अन्तर नहीं था। लोग अपने काम में व्यस्त हैं, अपनी समस्याओं में उलझे हैं, उन्हें इतनी फुरसत कहाँ है कि किसी के चुनाव जीतने पर उसे आकाश में उड़ने वाला देवता मानने और उसके गुण गाते रहने में ही लगे रहें। जीत का समाचार छपने के कुछ ही समय बाद सब कुछ विस्मृत हो जाता है और विजेता ऊँची गरदन करके चलता तो है, पर देखता है कि उसकी इस विजय में किसी को कोई दिलचस्पी नहीं है। जीत का सम्मान एक कल्पना मात्र था। काम निकालने के लिए तो लोग पत्थर के पास भी जाते हैं। छोटे चपरासी की भी खुशामद करते हैं, चुनाव जीते व्यक्ति के पास भी जा टकरायेँ तो उसमें क्या बड़ी बात हो गई ?

विवाह-शादियों में अनाप-शनाप पैसा खर्च करने वाले सोचते हैं कि हमारी धाक जमेगी और शान बढ़ेगी, पर वस्तुस्थिति यह है कि इस बेकार की बदतमीजी को गौर से देखने तक के लिए किसी का मन नहीं होता। चापलूस लोग तो मुँह देखकर किसी की भी बड़ाई कर सकते हैं। इसी प्रकार सज्जज बनाने वाले—ठाट-बाट रोपने वाले अपनी कष्ट उपार्जित कमाई को न जाने क्या-क्या सोचकर बेकार की चीजों में खर्च करते हैं, पर पीछे जब वे बारीकी से देखते हैं तो पता चलता है कि दर्शकों को इसमें तनिक भी रुचि नहीं है। कौतूहलवश रास्ता चलते कोई ऐसे ही तनिक आँखें उठाकर देखले तो बात दूसरी है।

यह विधेयात्मक विचारों की बात हुई, निषेधात्मक विचारों के आधार पर गढ़ी गई कुकल्पनाओं की भयंकरता भी वस्तुतः अवास्तविक हो होती है। यदि आशंकित दुर्घटना घट भी जाय तो भी उससे कोई पहाड़ नहीं

टूटता। परिवर्तन के समय कुछ अड़चन तो जरूर पड़ती है, पर कुछ ही समय बाद दूसरी स्थिति उसका स्थान ग्रहण कर लेती है और क्षति-पूर्ति का नया रास्ता निकल आता है। पिता के मर जाने पर सारा बोझ अपने कंधे पर आ जायेगा और वह सँभाल न सकेगा—ऐसी कल्पना करके डरते रहने वाले पिता के मरने पर देखते हैं कि वैसी कोई आपत्ति खड़ी नहीं हुई। थोड़ी अड़चन के बाद दर्श नये ढंग से चलने लगा। पति-पत्नी, पुत्र, भाई आदि के मरने की बात सोचते ही कलेजा कँपता था और लगता था कि इस क्षति को सहन न किया जा सकेगा किन्तु उनके मरने के बाद भी कोई वज्रपात नहीं होता। थोड़ी हलचल और उथल-पुथल के बाद गाड़ी दूसरी पटरी पर चलती रहती है और उस अभाव को सहन करने अथवा दूसरे ढंग से उसे पूरा करने का रास्ता निकल आता है।

प्रचलित मान्यता यह है कि पति-पत्नी के बीच दाम्पत्य प्रेम में किसी तीसरे को सम्मिलित नहीं होना चाहिए अन्यथा प्रेम बँट जायेगा और अनर्थ उपस्थिति होगा। किन्तु उत्तर प्रदेश के देहरादून जिले में जौनसार बाबर इलाके में बहु-पति प्रथा का प्रचलन बहुत ही शान्तिपूर्वक चलता है। बड़े भाई का विवाह होता है, शेष सभी भाई उसी पत्नी का हिल-मिलकर उपभोग करते हैं। इसमें न स्त्री को आपत्ति होती है न पति को। परिवार न बँटने देने, संयुक्त कुटुम्ब बना रहने और अर्थ-व्यवस्था सही रहने की दृष्टि से वे लोग इस प्रचलन की गर्वपूर्वक उपयोगिता सिद्ध करते हैं। ठीक इसी प्रकार अफ्रीकी स्त्रियाँ अपने पतियों पर दबाव डालती हैं कि कई अन्य पत्नियाँ और लाईं जायें ताकि परिवार का काम मिल-जुलकर अच्छी तरह चले और अर्थ-व्यवस्था सुधरे। जो पति वैसा नहीं कर पाते उन्हें छोड़कर वे स्त्रियाँ उनके यहाँ चली जाती हैं जिनके यहाँ पहले से ही कई पत्नियाँ रह रही होती हैं। अकेलेपन की अपेक्षा वे इस सह-निर्वाह को कहीं अधिक सुविधाजनक मानती हैं।

यह सब कल्पनाओं को मोड़ देने भर का खेल है। भविष्य की आशंका एवं सुखद संभावना का विचार करते हुए सुख और दुःख में अपना जीवन बीतता है। वास्तविकता को नगण्य ही होती है और उसकी प्रतिक्रिया इतनी स्वल्प होती है, जिसे तुच्छ अथवा उपेक्षणीय कहा जा सके। दूसरों को शत्रु मानते रहने की अपेक्षा यह कहीं अधिक लाभदायक है कि उन्हें मित्र मानकर चलें। भले ही इसमें कुछ हानि ही क्यों न उठानी पड़े ?

निर्धन लोगों की कल्पना में धनी बनने की स्थिति बहुत सुखद होती है और वे इसके लिए बहुत प्रयत्न

करते हैं, किन्तु जो धनी हैं, वे इस स्थिति के साथ जुड़ी हुई समस्याओं में न उलझकर अपना शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य खो बैठते हैं। इतना ही नहीं साधु की महत्ता मन में जम जाय तो सारे सुविधा-साधन छोड़कर अभावग्रस्त तपस्वी जीवन क्रम अपनाने में प्रसन्नता अनुभव करते हैं। सन्तान के न होने पर दुःखी रहने वाले लोगों की कमी नहीं और ऐसे भी बहुत हैं, जो सन्तान के दुर्व्यवहार से खिन्न होकर आत्म-हत्या तक कर बैठते हैं। सुख क्या है ? दुःख क्या है ? इसका मापदण्ड यही है कि हमारी कल्पना यदि सुखद सम्भावनाओं के साथ लेकर चलती रहे, तो मनुष्य हर स्थिति में सुखी रहेगा और यदि उसकी कल्पनाएँ और आकांक्षाएँ दुर्घटनाओं के भयानक चित्र गढ़ने में लगी रहें तो उसके लिए हर घड़ी दुःखी बने रहने के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं है।

सुख-साधनों को बाहर तलाश करना भी उचित है और सुविधाजनक वस्तुएँ तथा परिस्थितियाँ प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करना भी आवश्यक है। पुरुषार्थ की सार्थकता के लिए प्रगतिशील होना चाहिए और इसलिए अधिक अच्छे साधनों का उपार्जन करना चाहिए। किन्तु यह भूलना नहीं चाहिए कि सुख-साधन कितनी ही बड़ी मात्रा में सम्पादित क्यों न कर लिए जायँ यदि चिन्तन की धारा निषेधात्मक रहेगी तो उसकी गद्दी हुई विभीषिकाएँ हमें हर घड़ी नरक में डुबोये रहेंगी। व्यक्ति डरावने लगेंगे और आशंकाएँ शूल भोकने जैसे कष्ट प्रदान करती रहेंगी। इस नरक से और कोई हमें बचा नहीं सकता क्योंकि यह अपने द्वारा ही विनिर्मित किया गया है। यदि चाहें तो हम स्वयं ही इस स्थिति से उबर सकते हैं और सामने खुले पड़े स्वर्ग द्वार में प्रवेश कर सकते हैं।

सुखद कल्पनाएँ, सुसम्भावनाएँ, उज्ज्वल भविष्य की रेखाएँ जोड़कर सुखद भविष्य का सुनहरा चित्र गढ़ा जा सकता है और मात्र उन आस्थाओं के आधार पर अभावग्रस्त परिस्थितियों में भी प्रसन्न, प्रमुदित रहते हुए जिया जा सकता है। कुकुल्पनाओं की भयंकरता भी कहाँ शत-प्रतिशत सही उतरती हैं। उन आशंकाओं में से अधिकांश निर्मूल ही सिद्ध होती हैं। यदि सुकल्पनाएँ मूर्तिमान न हो सके, वे आकाश-कुसुम बनकर ही रह जायँ तो भी लाभ उन्हीं के सँजोये रहने में है। जब चिन्तन की दिशा ही मानव जीवन की अनुभूतियों का आधार है तो फिर अँधेरे में भटकने वाले चित्र गढ़ने की अपेक्षा उज्ज्वल आलोक का आह्वान करने के लिए ही अपने आपको तैयार क्यों न करे?

अपना कल्पना जगत हम स्वयं बनाते हैं

मनुष्य के मन में गतिविधियों का यदि ग्राफ बनाया जा सके तो उसमें बहुत से उतार-चढ़ाव दिखाई देंगे। ये उठाव-गिराव यह प्रदर्शित करते हैं कि व्यक्ति के मन में हलचलों की एक निरन्तरता बनी रहती है। दार्शनिकों ने इसी कारण मन की तुलना तालाब से की है। जिस तरह जलाशय के पानी में वायुमण्डल की हवा के संयोग से लगातार हलचलों-हिलोरों का क्रम बना रहता है, ठीक इसी तरह हमारे मन में प्रकृति व परिवेश के उद्दीपनों के कारण लगातार हिलोरें उठती रहती हैं। फिर यह उद्दीपन चाहे बाह्य प्रकृति के हों या अन्तः प्रकृति के, उनका सातत्य सदा बना ही रहता है।

इन हलचलों को ही मनोवैज्ञानिकों ने ‘कल्पना शक्ति’ का नाम दिया है। कल्पना ही विचारों की जड़ है। मानसिक स्तर पर उठने वाले इन स्पन्दनों को जब बुद्धि के द्वारा गढ़ा जाता है, प्राण के द्वारा ताकत दी जाती है, तो यही विचार कहलाते हैं, पर इन सबकी जड़ कल्पना है। इसकी अपनी महत्ता है। मनुष्य के अपने उत्थान-पतन में कल्पनाओं की-विचारों की अहम् भूमिका होती है क्योंकि मनुष्य एक कल्पनाशील प्राणी है। वह अपनी ज़िन्दगी को योजनापूर्वक चलाना चाहता है। इसकी सन्तुष्टि इस-उस वृत्ति को पूरा करने सुखाभोग भोगने भर से नहीं होती। एक ओर वह समूचे संसार, जिसमें वह रहता है। खाका बनाना चाहता है। दूसरी ओर वह अपनी निजी ज़िन्दगी की ऊँची कल्पनीय या प्रतीत होने वाली सम्भावनाओं के उजाले में सारे जीवन का कार्यक्रम बना लेना चाहता है। इस तरह उसका दायरा सीमित न होकर असीम है। उसे मात्र एक सामाजिक प्राणी कहलाने भर से सन्तुष्टि नहीं मिलती। मिले भी कैसे? दीमक, चींटी, खरगोश, मधुमक्खी जैसे प्राणी भी तो सामाजिक हैं। यह भी अपने समाज की समस्याओं का निपटारा करने में जुटे रहते हैं। यदि मनुष्य को सिर्फ सामाजिक मान लिया जाय, तो उसे भी इन्हीं की कतार में खड़ा करना पड़ेगा। किन्तु वह स्वभावतः कल्पनाशील है, अतः अपने समूचे जीवन की प्रगति का चित्र सामने रखते हुए चलता है, उसका भी जो व्यक्तिगत एवं सामाजिक है और इस लोक से सम्बंधित है तथा उसका भी जिसका सम्बन्ध परलोक से है।

कल्पनाओं की सीमा केवल व्यक्तिगत जीवन को आदर्श रूप में विकसित करने तक सिमटी नहीं है। इसमें

आदर्श समाज व्यवस्था एवं सामाजिक सम्बन्ध सँजोए और समाए हैं। इसका क्षेत्र बहुत विशाल है।

इस विशालता की बात हममें से कितनों को ज्ञात है, कुछ कहा नहीं जा सकता, पर मनोवैज्ञानिकों ने इस सम्बन्ध में एक आश्चर्यजनक तथ्य खोजा है, वह यह कि इसमें शक्ति भी है, एक ऐसी शक्ति, जिसका सही ढंग से उपयोग करने पर हम न केवल समस्त मानसिक झंझटों से छुटकारा पा सकते हैं, वरन् व्यावहारिक जीवन को कहीं अधिक सफलतापूर्वक चलाया जा सकता है। मनोविदों की इस बात को श्री अरविन्द ने भी प्रमाणित किया है। उनके अनुसार यदि इसको जीवन के उत्कर्ष में जुटाया जा सके, तो यह केवल मानसिक रचनाएँ गढ़ने तक सीमित नहीं रहेगी बल्कि सृजनशीलता के रूप में भी इसे देखा जा सकेगा।

मनोविज्ञानी आर० एस० बुडवर्थ ने “ए रिव्यू ऑफ़ इमेजलेस थॉट” में इस सम्बन्ध में अपने अध्ययन व अनुभव का विस्तारपूर्वक उल्लेख किया है। उनके अनुसार प्रत्येक कल्पना मानसिक धरातल पर सच होती है। उदाहरण के लिए किसी उपन्यास की समूची कहानी मन के धरातल पर स्वतन्त्र रूप से विराजमान रहती है। उनका मानना है कि हम में से हर कोई किसी न-किसी हद तक उपन्यासकार है, उसमें मानसिक स्तर पर आकार बनाने की क्षमता है।

अनेक दार्शनिक इस बात को स्वीकार करते हैं कि हमारे जीवन का बहुत-सा भाग खुद की कल्पनाओं का मूर्त रूप है। परामनोवैज्ञानिकों ने अपने लगातार किए गए प्रयोग-परीक्षणों के आधार पर इसे सही प्रमाणित किया है। उनके अनुसार प्रत्येक बार जब हम किसी अस्वस्थ कल्पना में रस लेने लगते हैं, तब अपने भयों की रूपरेखा बनाकर, दुर्घटनाओं, विपत्तियों की आशंका कर भावी परेशानियों की खाई खोद लेते हैं इसके विपरीत यदि हम आशापूर्ण अच्छी सुखद कल्पना करें, तो लक्ष्य को पूरा कर सकना उतना ही अधिक सम्भव और सरल बन पड़ेगा, जितना फिल्म कहानी अथवा उपन्यास में।

क्रिश्चियन साइंस के विशेषज्ञों ने इस रहस्य के आधार पर कल्पना शक्ति को एक निर्माणकारी व जीवनोपयोगी शक्ति के रूप में विकसित करने का अच्छा प्रयास किया है। फ्रेडहिलिंग के नाम पर इसे चिकित्सा विधि के रूप में भी अपनाया गया है इसी के विशेषज्ञ मि० कुए ने सैकड़ों लोगों को केवल यह सिखाकर अच्छा कर दिया कि अपनी कष्ट मुक्ति की भाव कल्पना करें। एक घटना का विवरण प्रस्तुत करते हुए वे कहते हैं कि एक स्त्री के बाल झड़ते जा रहे थे। इनकी सलाह

पर उसने स्वयं को सुझाव देना शुरू किया कि मैं दिन-रात अच्छी हो रही हूँ। मेरे बाल निश्चय ही बढ़ रहे हैं। लगातार ऐसी कल्पना करने से उसके बाल सचमुच बढ़ने लगे। यहाँ तक कि अधिक आत्म-प्रेरणा से वह जितना चाहती थी उतने लम्बे हो गए।

मन की इस शक्ति का प्रयोग आश्चर्यजनक लगने पर भी सही है। इसी कारण मनोवैज्ञानिक, दार्शनिक एवम् अध्यात्मविज्ञानी सभी निषेधात्मक चिन्तन रोकने का समर्थन करते हैं। स्वामी अखिलानन्द का “मेण्टल हैल्थ एण्ड हिन्द साइकोलॉजी” में कहना है कि कल्पनाशक्ति की क्षमता को न समझ पाने के कारण ही कई बार हम स्वयं को अवसाद एवं चिन्ताओं में डाल लेते हैं। मन की ऐसी प्रकृति ही है कि उसे जिस दिशा में प्रवाहित किया जाय, उसी दिशा में तब तक बढ़ता चला जाएगा, जब तक उसे रोक न जाय। गलत दिशा अर्थात् निराशापूर्ण कल्पनाएँ करने का नतीजा है कि हम अधिकाधिक मानसिक सन्तप्त व निराश-हताश होते चले जाते हैं। इस स्थिति से उबरने का तरीका बिजली के झटके नहीं है। भले ही वह थोड़ी देर के लिए आराम दें। इसका सही तरीका कल्पनाओं के उल्टे-प्रवाह को सीधा करना है।

ये अपने में चाकू की तरह हैं। जिस तरह चाकू से कोई तरकारी काटकर उसका सदुपयोग कर सकता है। अनाड़ी आदमी उससे अपना हाथ भी काट सकता है। हमें परमेश्वर द्वारा दी गई इस शक्ति का सदुपयोग सीखना चाहिए। सामान्यतया अधिकांश लोग इस मौलिक शक्ति का दुरुपयोग ही करते हैं। यदि उच्च भावों एवम् आदर्शों में निवास किया जाय तो यह समग्र विकास में सहायक होगा। इसके विपरीत यदि उदास रहकर यह रोना रोया जाय कि हम असमर्थ और अयोग्य हैं, तो हम खुद ही अपनी जिन्दगी में जहर भरते चले जायेंगे।

सुप्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक पी० टी० यंग ने “द रिलेशन ऑफ़ ब्राइट एण्ड डल प्रेशर टू एक्विटी” में इसे अधिक स्पष्ट करते हुए कहा कि किसी भी परिस्थिति में न तो उदास रहा जाय और न ही निषेधात्मक, निराशावादी कल्पनाओं को जगह दी जाय। दूसरे शब्दों में हम अपनी कल्पना को आशापूर्ण स्वरूप प्रदानकर उन्नत भावों में लगाएँ। ऐसा करने पर उसकी निर्माणकारी शक्ति से हम स्वयं को इच्छित दिशा में कवि-मनीषी, दार्शनिक कलाकार आदि के रूप ढाल सकेंगे।

हर व्यक्ति के अन्दर दिव्यता का खजाना छुपा हुआ है। इसको खोदकर बाहर निकालने के लिए जरूरी है कि मानसिक हलचलों को सृजनात्मक स्वरूप प्रदान

किया जाय। इसके लिए ऐसे जीवन दर्शन को प्रोत्साहन देना चाहिए, जो दोनों बातों पर ध्यान रखें। एक ओर मानव स्वभाव तथा उसके परिष्कार पर, तो दूसरी ओर व्यावहारिक क्रियाकलापों को सुधारने, सँवारने पर। ऐसा करने पर हर कोई खुद की जिन्दगी को शुभ व सुन्दर बना सकेगा।

ऊँची उड़ान न उड़ें, धरती पर चलें

सफलताएँ अनायास ही उत्पन्न नहीं होतीं, उन्हें क्रियाशीलता की प्रतिक्रिया कह सकते हैं। यह क्रिया भी अकारण उत्पन्न नहीं होती। उसके पीछे इच्छा शक्ति की प्रबल प्रेरणा क्रम कर रही होती है। सरल शब्दों में कहें तो इच्छा से क्रिया-क्रिया से साधन और साधन से परिस्थिति का क्रम चल रहा दिखाई पड़ेगा।

बड़ी-बड़ी सफलताएँ चाहने के लिए न जाने कौन-कौन कितने-कितने सपने देखता रहता है। सोते में चित्र-विचित्र स्वप्नों की कथायें, जगने पर कई लोग सुनाते हैं और जाग्रत अवस्था में अपने असफल अरमानों का सँजोया हुआ श्मशान देखते दिखाई देते हैं। उन्हें दुःख होता है कि इतनी मनोकामनाएँ उन्ने सँजोई, पर एक भी पूरी न हुई। इन दिवास्वप्न देखने वालों को निशास्वप्न देखने वालों की पंक्ति में बिठाया जा सकता है। अन्तर इतना ही होता है कि सपने में राजा बनने और बाद में गद्दी छिन जाने का जागने पर इतना उतना दुःख नहीं होता, जितना कि अरमानों के महल खड़े करने वालों को उनके उजड़ जाने का होता है।

कल्पनाओं की उपयोगिता तो है पर उससे दिशा मिलने मात्र का प्रयोजन सिद्ध होता है। सोचने भर से चाही वस्तु मिल जाना सम्भव नहीं। उसके लिए साधन जुटाने होते हैं और परिस्थितियाँ उत्पन्न करती पड़ती हैं। इसके लिये प्रचण्ड पुरुषार्थ करने की आवश्यकता पड़ती है। बिना थके, बिना हारे चलते रहने और कठिनाइयों से पग-पग पर जूझने का साहस ही लम्बी मंजिल पूरी करा सकने में सफल होता है। उचित परिश्रम के मूल्य पर ही अनुकूलताएँ उत्पन्न होती हैं और उन्हीं के सहारे सफलताओं की सम्भावना दृष्टिगोचर होती है। यह अथक परिश्रम व साहस भरे संकल्पों पर निर्भर है। देर तक टिका रहने वाला और प्रतिकूलताओं से जूझने वाला साहस ही संकल्प कहलाता है। कल्पना से नहीं, संकल्प शक्ति से मनोरथ पूरा करने की परिस्थितियाँ बनती हैं।

बच्चे भविष्य के मधुर सपने देखने में निरत रहते हैं, बूढ़ों को भूतकाल की स्मृतियों में उलझे रहना सुहाता है किन्तु तरुण को वर्तमान से जूझना पड़ता है। बच्चों

को स्वप्नदर्शी कहते हैं, वे कल्पनाओं के आकाश में उड़ते हैं और परियों के साथ खेलते हैं। मनोरथ रचने वाले और सहज ही उनको सिद्ध सामने खड़े देखने वाले मानसिक दृष्टि से ऐसे बालक हैं जिनकी आयु भर बड़ी हुई है, मनःस्थिति पूर्णतया बचकनी है। यहाँ सपनों का कोई मोल नहीं। संसार के बाजार में पुरुषार्थ से योग्यता भी बढ़ती है और साधन भी जुटते हैं। इन दुहरी उपलब्धियों के सहारे ही प्रगति के पथ पर दो पहिये की गाड़ी लुढ़कती है। स्वप्नों के पंख लगाकर सुनहरे आकाश में दौड़ तो कितनी ही लम्बी लगाई जा सकती है पर पहुँचा कहीं नहीं जा सकता।

ऊँची उड़ान उड़ने की अपेक्षा यह अच्छा है कि आज की स्थिति का सही मूल्यांकन करें और उतनी बड़ी योजना बनायें जिसे आज के साधनों आज पूरा कर सकना सम्भव है। कल साधन बढ़ें तो कल्पना को विस्तार करने में कुछ भी कठिनाई न होगी। मंजिल एक-एक कदम उठाते हुए पूरी की जाती है। लम्बी छलाँग आश्चर्य भर उत्पन्न करती है, मंजिल तक नहीं पहुँचती। कल्पना की समीक्षा करें और उन्हें आज की परिस्थिति के साथ चल सकने योग्य बनायें। गुण-दोषों का, सम्भव-असम्भव का भली प्रकार विचार करें। पक्ष-विपक्ष का ध्यान रखते हुए जो विवेकपूर्ण निर्णय किया जाय, उसे पूरा करने के लिए अटूट साहस और प्रबल पुरुषार्थ के लिए जुट पड़ा जाय तो विश्वास किया जा सकता है कि सफलता का वृक्ष अपने समय पर अवश्य ही फूलेगा और फल देगा।

पलकों की हलचल है मन का दर्पण

यों पलकें तो आँखों की समीक्षा के लिए होती हैं और सेकेण्ड के दसवें हिस्से से भी कम समय में झपकती रहती हैं, पर यदा-कदा इनका उठना-गिरना और तेज अथवा मन्द हो सकता है। ऐसी दशा में वह व्यक्ति की उस स्थिति एवं परिस्थिति का परिचायक होती है, जिससे वह उस समय गुजर रहा होता है। दूसरे शब्दों में सामने वाले की मनोदशा जानने-समझने का वह महत्वपूर्ण माध्यम है और एक हद तक व्यक्ति की तात्कालिक अवस्था का पता उनसे लगाया जा सकता है।

वैसे तो पलकों का खुलना-बन्द होना एक प्राकृतिक प्रक्रिया है, जिसमें आँखों की सुरक्षा और सफ़ाई ही प्रमुख होती है; पर देखा यह भी गया है कि जब व्यक्ति असामान्य अवस्था से गुजर रहा होता है, तो उस पर उसका प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता है। उदाहरण के

लिए, जब व्यक्ति आवश्यकता से अधिक सावधान या सचेत होता है, तो उसकी पलकें कम झपकती हैं। रुचिकर विषय अथवा वस्तु को पढ़ते-देखते समय भी यह गति स्वाभाविक रूप से कम हो जाती है। ऐसे समय इसकी रफ्तार प्रति मिनट लगभग छः बार होती है, किन्तु जब विषय-वस्तु सामने वाले के मन पसन्द की न हो यह क्रिया तीव्र हो सकती है। वार्तालाप कर रहे दो व्यक्तियों में से कौन कितना एक दूसरे की बातों में रस ले रहा है? यह उनकी पलकों की गिरने-उठने की गति से जाना जा सकता है। जो ऊब या आलस्य महसूस कर रहा होगा, उसकी अत्यधिक गतिवान पलकें यह बता देंगी कि श्रोता को वक्ता एवं उसकी बातों में कोई रुचि नहीं है।

इसी आशय का एक प्रयोग बर्लिन यूनिवर्सिटी के मनोवैज्ञानिकों ने किया। उन्होंने कुछ लोगों को संगीत की कुछ उबाऊ धुनें सुनायीं। आधे घंटे के इस प्रयोग के दौरान देखा गया कि सामान्य स्थिति में उनकी पलकें जितनी बार झपकती थीं, उसकी आवृत्ति इस मध्य बढ़ गई। परीक्षण को पुनः दोहराया गया; किन्तु इस बार धुन बदल दी गई। अबकी बार का संगीत सरस और सुरीला था, अतः इसका परिणाम भी पहले से विपरीत प्राप्त हुआ। पाया गया कि इस मध्य श्रोताओं की पलकें असाधारण रूप से कम झपकीं। इस प्रयोग से यह सिद्ध हो गया कि रुचि-अभिरुचि, पसन्द-नापसन्द का कितना कैसा प्रभाव हमारी दृश्येन्द्रिय पर पड़ता है? इस आधार पर सामने वाले का मनोभाव आसानी से जाना जा सकता है।

शोध से यह भी ज्ञात हुआ कि कार्य के दौरान बरती गई एकाग्रता एवं तन्मयता का स्पष्ट आभास आँख के खुलने-बन्द होने की गति से सरलतापूर्वक मिल जाता है। उदाहरण के लिए चित्र बनाते समय चित्रकारों की पलकें, अपेक्षाकृत कम उठती-गिरती हैं। यह उसके एकाग्र चित्त का द्योतक है। कवि जब अपनी कल्पना की दुनिया में खोता है, साहित्यकार अपने विचार-प्रवाह में बहता है, कर्मयोगी किसी काम में निष्ठापूर्वक निमग्न होता है, संगीतकार किसी नई धुन की रचना कर रहा होता है, तब भी उनकी पलकों के झपकने की गति कम होती है।

इसके विपरीत परेशान व्यक्ति की पलकें जल्दी-जल्दी उठती-गिरती हैं। यदि व्यक्ति समस्याग्रस्त हो, किर्करव्यविमूढ़ हो, असमंजस की दुविधाजनक स्थिति में हो, तो भी आँखों के खुलने-बन्द होने की रफ्तार तीव्र होती है। पलकों का गिरना-उठना यह भी दर्शाता है कि

व्यक्ति में कितना आत्मविश्वास है। एक आत्मविश्वासी अपनी बात को प्रकट करते समय अपेक्षाकृत न्यून पलकें झपकाता है, जबकि उस व्यक्ति की जिसका कथन अनिश्चय युक्त हो अथवा उसमें दृढ़ता का अभाव हो, तो उसके नेत्र जल्दी-जल्दी खुलते-बन्द होते हैं। साक्षात्कार के समय इस बात को स्पष्ट रूप से देखा अथवा अनुभव किया जा सकता है। वैसे परीक्षार्थी जिनकी तैयारी अच्छी होती है अथवा जो आत्मविश्वास के धनी होते हैं, मौखिक परीक्षा के दौरान जबाब देते समय परीक्षक के आगे कम आँखें मुलमुलाते हैं, जबकि जिनकी तैयारी ठीक नहीं होती, जिन्हें स्वयं पर, अपने उत्तर पर भरोसा नहीं होता, उनमें यह क्रिया अधिक तीव्र होती देखी गई है।

पलक के झपकने की गति व्यक्ति के दबंगपन को भी अभिव्यक्त करती है। पाया गया है कि झेंपू या संकोची प्रकृति के लोगों में पलकों की रफ्तार अधिक तेज होती है, वहीं दबंग व्यक्तित्व की यह सुनिश्चित पहचान है कि उसकी पलकें किसी भी व्यक्ति के समक्ष प्रति मिनट कम झपकती हैं। डरपोक स्वभाव वाले लोगों की भी यही निशानी है कि उनमें आँख मुलमुलाने की प्रवृत्ति अधिक तीव्र होती है। कुछ हद तक झूठ और सच की पहचान भी इससे की जा सकती है। झूठ बोलने और सच्चाई को छिपाने का प्रयास करने वालों में पलक-संचालन की क्रिया ज्यादा तीव्र होती है। दूसरी ओर सत्यवादियों, न्याय के पक्षधरों में इसकी गति मन्द होती है। देखा गया है कि जो झूठ को सच का रंग चढ़ाकर प्रस्तुत करते हैं, समय आने पर न्याय के दरबार में उनकी निगाहें नीची हो जाती हैं। जो थोड़ा साहस कर उसे ऊपर उठाते भी हैं, तो उनके पलकों की तीव्र गति उनकी पोल खोल देती है। ऐसा व्यक्ति फिर प्रामाणिक और प्रेम का पात्र नहीं कहा जाता। उसे पग-पग पर अपमान और अपयश उठाना पड़ता है। अप्रामाणिकता का कलंक सिर चढ़ता है, सो अलग।

सीखने-सिखाने की प्रक्रिया में प्रशिक्षक और प्रशिक्षार्थी के बीच के सम्बन्ध एवं प्रशिक्षार्थी के विषय सम्बन्धी पकड़ को भी उक्त क्रिया एक सीमा तक बोलती-बताती है। अध्ययनों के दौरान स्पष्ट परिलक्षित हुआ है कि जिस शिक्षार्थी में विषय सम्बन्धी गहराई एवं उसे पकड़ने का माद्दा कम होता है, उसका पलकें अधिक झपकती हैं। यह भी देखने में आया है कि जब दोनों के बीच खुलापन का अभाव होता है, तब भी अध्येता की आँखें जल्दी-जल्दी खुलती-बन्द होती हैं। इसके विपरीत जब शिक्षक और छात्र के बीच स्नेह-सौमनस्य जैसा मधुर

सम्बन्ध और खुलापन होता है, तो अध्ययन करने वाले छात्र की पलकें कम झपकती हैं।

उपरोक्त मनोविज्ञान को ध्यान में रखकर ही भाषण का अभ्यास करने वाले अभ्यासी को आरम्भ में इसका अभ्यास निर्जन स्थानों में, निकुंजों अथवा नदी-तटों के पथरों एवं पेड़-पौधों जैसे जड़ पदार्थों को सजीव श्रोता मानते हुए सलाह दी जाती है। इस प्रारम्भिक प्रयास से जैसे-जैसे उनका मानस परिपक्व होने लगता है, वैसे-ही-वैसे उसकी झिझक मिटती और पलक संचालन की गति घटती जाती है। फिर भी शुरू-शुरू में उन्हें व्याख्यान देते समय श्रोताओं से सीधे आँख मिलाने की मनाही की जाती है और जहाँ तक संभव हो सके, इससे बचने की बात कही जाती है। कुछ इसी प्रकार की हिदायत टेलीविजन के समाचार वाचकों को भी दी जाती है और कहा जाता है कि समाचार पढ़ते समय किसी प्रकार की उच्चारण सम्बन्धी कोई त्रुटि अथवा सूचना सम्बन्धी कोई त्रुटि अथवा सूचना सम्बन्धी गलती हो जाय, तो भी वे आत्म नियंत्रण खोये न अपने को संयत व शान्तिचित बनाये रखकर सदा यह प्रदर्शित करने की कोशिश करें कि वह एकदम सामान्य स्थिति में हैं। अशुद्धि के समय उनकी बढ़ी-चढ़ी पलक की रफ्तार उनकी त्रुटि को और उजागर कर सकती है, इसी को देखते हुए उन्हें इस प्रकार की चेतावनी दी जाती है।

स्मरण रखने और पलक झपकाने के बीच भी सीधा सम्बन्ध है। यदि किसी से किसी लम्बे-चौड़े शब्द शृंखला को याद करने के लिए कहा जाय, तो सम्भव है कि सम्पूर्ण शृंखला को स्मरण करने के बाद ही वह पलकें गिराये। मूर्धन्य मनोविज्ञानी सेली ने अपने गहन अध्ययनों से यह निष्कर्ष निकाला है। कि यदि व्यक्ति से शब्द-शृंखला के बाद और अक्षर याद करने को कहा जाय, तो पलक झपकाने के बीच की अवधि और अधिक बढ़ जायेगी।

संक्षेप में पलक का उठना-गिरना व्यक्तित्व का दर्पण है। जानकार व्यक्ति इस आधार पर सामने वाले के बारे में काफी कुछ पता लगा सकता है कि वह किस प्रकार का व्यक्ति है, अतः पलक झपकाने में सावधानी बरती जाय। कहीं ऐसा न हो कि वह हमारी कमी और कमजोरी को दूसरों के आगे प्रकट कर दे।

लाख छिपायें, अन्दर के भाव

छिप नहीं सकते

कई बार मनुष्य नकली भाव-भंगिमा बनाकर असली भाव संवेदना को छिपा ले जाता है, जैसे वह बिल्कुल सच्चा अभिनय कर रहा हो, पर कोई उसकी आँखों में झाँककर देखे, तो पता चलेगा कि कुछ भी उससे छिपा नहीं। वह सच-झूठ को सदा उसी प्रकार प्रकट करती रहती है, जिस प्रकार मुकद्दमे का कोई चश्मदीद गवाह अपराधी की सत्यता-असत्यता का प्रमाण प्रस्तुत करता है।

पिछले दिनों आँख और पुतलियों पर हुई शोध से ज्ञात हुआ है कि अनेक अवसरों पर जहाँ व्यक्ति की बनावटी मुख-मुद्रा सत्य पर सामान्य रूप से पर्दा डालने में सफल हो जाती है, वहीं उसकी पुतलियाँ भेद खोलती रहती हैं। इस रहस्य को जानने वाला कोई भी व्यक्ति तथ्य को देखकर सत्य का पता लगा सकता है, भले ही उस बनावटीपन का कितना ही मुलम्मा क्यों न चढ़ा हो? आमतौर पर देखा यह जाता है कि जब किसी व्यक्ति को वर्षों का बिछुड़ा उसका प्रियजन मिलता है, आकस्मिक संपदा अथवा मनोवांछित वस्तु प्राप्त होती है, किसी ऐसे कार्य में सफलता मिलती है, जिसमें आशा नगण्य जितनी की गई थी, तो वह भाव-विभोर हो उठता है, प्रसन्नता से उसकी आँखें चमक उठती हैं। इस दौरान उसकी पलकें थोड़ी चौड़ी हो जाती हैं और आँखें कुछ बड़ी दिखने लगती हैं। आश्चर्य और प्रसन्नता दोनों स्थितियों में यह क्रिया समान रूप से होती है। इसी प्रकार जब कोई बुरी खबर, प्रतिकूलता, भय, विषाद जैसी स्थिति का सामना करना पड़ता है, तो आँखें निस्तेज, बुझी-बुझी सी दिखाई पड़ने लगती हैं। यह अनुकूलता-प्रतिकूलता, प्रसन्नता, विपन्नता के अभिव्यक्ति पाने का स्वाभाविक ढंग है, पर अनेक बार व्यक्ति सच्चाई का ढोंग रचकर तथ्य को सामने वाले से छिपाने का प्रयत्न करता है। अभिनय में वह बहुत हद तक सफल भी हो जाता है, इतने पर भी उसकी पुतलियाँ उसके अन्दर के भाव को बिना किसी दुराव-छिपाव के, सही-सही बताती रहती हैं, इस दृष्टि से यह एक प्रकार की 'लाई डिटेक्टर' है। इसी कारण इन दिनों इनका इस्तेमाल अपराध-जगत में सही-गलत अपराधियों को पहचानने, परखने में किया जा रहा है।

यों शरीरशास्त्र में पुतलियों का कार्य उपयुक्त परिमाण में प्रकाश के प्रवेश करने और अनावश्यक को भीतर जाने से रोकने तक ही सीमित है, पर मनोविज्ञानवेत्ता बताते हैं कि यह तो इसका अत्यन्त स्थूल

कार्य हुआ। सूक्ष्म और महत्वपूर्ण तो वह है, जो मनोभावों को बताता है। इन दिनों पुतलियों के इसी पक्ष पर अनुसंधान हो रहे हैं, जिसमें अन्वेषणकर्ता यह जानने का प्रयास कर रहे हैं कि पुतलियाँ इस कार्य को किस प्रकार कितनी दक्षता से करती हैं।

एक प्रयोग के दौरान देखा गया कि तब कुछ छात्रों को गणित सम्बन्धी जटिल प्रश्न हल करने को दिये गये, तो पाया गया कि उनकी पुतलियाँ फैल गई हैं और जब तक इसी अवस्था में बनी रहीं जब तक छात्रों ने सवाल हल न कर लिये। इसके अतिरिक्त अन्य ऐसे शारीरिक लक्षण भी उस दौरान उनमें देखे गये, जो प्रकट करते थे कि छात्र घबराहट की स्थिति से गुजर रहे हैं।

मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि स्वाद और गंध भी पुतलियों को समान रूप में प्रभावित करते हैं। इसकी पुष्टि के लिए उन्होंने एक प्रयोग किया, ताकि यह सुनिश्चित किया जा सके कि यह कथन किस हद तक सही है? शोध के दौरान उन्होंने कुछ लोगों को मृदु पेय पीने को दिया। उसके प्रथम घूंट के साथ ही स्वाद के सम्बन्ध में लोगों की भिन्न-भिन्न प्रतिक्रियाएँ सामने आयीं। यह प्रतिक्रियाएँ उनके बोलने से पूर्व ही उनकी पुतलियों ने फैल और सिकुड़कर जाहिर कर दीं। उल्लेखनीय है कि खुशी अच्छे स्वाद अथवा सुगन्ध की स्थिति में पुतलियाँ फैलकर इसकी अभिव्यक्ति करती हैं, जबकि दुर्गन्ध, बेस्वाद एवं विषाद अथवा भय के अवसर पर वह अत्यन्त सिकुड़ जाती हैं, जो इस बात का प्रमाण है कि व्यक्ति अच्छा अनुभव नहीं कर रहा है। मनःशास्त्रियों का कहना है कि पुतलियों का अध्ययन कर और भी गहरी और सूक्ष्म स्तर की जानकारी अर्जित की जा सकती है—इतनी सूक्ष्म जो कि गहन अन्तराल में अवस्थित हो और जिसकी स्थूल अभिव्यंजना छिपायी जा रही हो, किन्तु यह अवयव अन्तस् से उस भाव को भी पकड़ने और प्रकट करने में सक्षम है। आवश्यकता इस आशय के विस्तृत अन्वेषण की है, ताकि यह जाना जा सके कि किस भाव को प्रकट करने के लिए यह कैसा प्रदर्शन करती है? मनोविशारदों का कहना है कि चूँकि मनुष्य का अपनी पुतलियों पर कोई नियंत्रण नहीं है, अस्तु इस माध्यम से उन संवेदनाओं को भलीभाँति समझा जा सकता है, जो उनके स्थूल अवयव गुप्त रखने में सफल हो जाते हैं। इस अध्ययन से पूर्व तक मान्यता यह थी कि नारी की पुतलियाँ पुरुषों के प्रति कोई भाव प्रकट नहीं करतीं। अतएव एक प्रयोग द्वारा इस बात की जाँच करने का निश्चय किया गया कि उपरोक्त कथन किस सीमा तक सत्य है, प्रयोग के दौरान जब एक महिला के समक्ष एक आकर्षक व्यक्ति का चित्र रखा

गया, तो पुतलियाँ अचानक फैल गईं, यद्यपि उसने प्रकट रूप में इस प्रकार का कोई भाव व्यक्त नहीं किया था, जिससे तत्संबंधी किसी मान्यता पर पहुँचा जा सके, पर पुतलियों का फैलना इस बात की साक्ष्य थी कि नारी को तस्वीर देखकर खुशी हुई है। निष्कर्ष को और अधिक स्पष्ट और पुष्ट करने के लिए दूसरी बार उसी नारी के सम्मुख एक अन्य नर का चित्र प्रस्तुत किया गया, पर इस बार की तस्वीर एक ऐसे व्यक्ति की थी, जो बड़ा ही कुरूप भौंड़े नाक-नकशायुक्त और डरावना था। तस्वीर के सामने आते ही उसकी पुतलियाँ सिकुड़कर अत्यन्त छोटी हो गईं, जो इस बात को सिद्ध कर रही थीं कि महिला के मन में घृणा उपज रही है। इस प्रकार उस सम्बन्ध में प्रयोगार्थी के बिना कुछ कहे भी उसकी आँखें बहुत कुछ कह रही थीं।

भय के संदर्भ में पुतली की प्रतिक्रिया कैसी होती है? यह जानने के लिए प्लास्टिक के एक नकली साँप को असली जैसा बनाया गया और उसे एक व्यक्ति के सामने अचानक रख दिया गया। उसकी चीख निकल गई, साथ ही आँखों की पुतलियाँ सिकुड़कर संकीर्ण बन गईं।

मनोविज्ञानियों का मानना है कि यदि इस कला में निपुणता हासिल की जा सके, तो अनेक मौकों पर ऐसे करतब दिखाये जा सकते हैं, जो जनसाधारण को चमत्कार जैसा लगे। उदाहरण देते हुए वे बताते हैं कि अनेक तमाशेबाज ऐसे होते हैं, जो अपनी विद्या में निष्णात नहीं होते, फिर भी ताश के खेल में वे कई बार ऐसे कौशल दिखा जाते हैं, जो सामने वालों को चमत्कृत कर जाते हैं। उनका कहना है कि ऐसे बाजीगर ऐसे क्षणों में पुतली की हलचलों द्वारा ही ऐसा कुछ कर सकने में सफल होते हैं। इस दौरान वे सामने वाले की आँखों पर अपना अधिकांश ध्यान केन्द्रित रखते हैं और बड़ी सूक्ष्मता से पुतलियों की गतिविधियों का अध्ययन करते रहते हैं। उनके अचानक फैलने, संकुचित होने के आधार पर ही वे भविष्यवाणी करते हैं। जब वे सही सिद्ध होती हैं, तो उपस्थित जन आश्चर्य में पड़ जाते हैं और उन्हें तरह-तरह के नाम-उपनाम दे डालते हैं, बहुत बड़ा जादूगर मान बैठते हैं, पर यथार्थता इतनी ही है कि आँख की वह खिड़की ही सब कुछ देखती-दिखाती, बोलती-बताती रहती है। उससे कुछ भी तो छिपा नहीं है।

हम इस संसार में रहते हैं और तरह-तरह के भले-बुरे, उचित-अनुचित काम करते रहते हैं। इन्हें छिपाने में भी प्रायः सफल हो जाते हैं। स्वयं गलत करते और उसका दोष दूसरों के सिर मढ़ देते हैं। बुद्धिबल और चतुरता के आधार पर प्रमाण भी जुटा लेते हैं और

निर्दोष को न्यायालय के कठघरे में खड़ा कर देते हैं। समझते हैं हम बदनामी से, पाप से अन्याय-अत्याचार से दूसरों की नजर से बच गये। कई बार यह चाल सफल भी हो जाती है। समाज और संसार उसे निष्पाप एवं निर्दोष मानने लगते हैं और निर्दोष को दोषी, पर हमें यह भुला देना चाहिए कि उस सर्वदृष्ट, न्यायकारी सत्ता से कुछ भी छिपा नहीं। कुछ समय के लिए हम समाज और उसके लोगों को भुलावे और छलावे में रख सकते हैं, पर सही-गलत, दोष-निर्दोष, न्याय-अन्याय के निर्णय में निष्णात, कण-कण में संव्याप्त उस “सहस्र शीर्षाः” पुरुष की आँखों को धोखा नहीं दे सकते। उसकी तीक्ष्ण आँखें सब कुछ देखती व उचित-अनुचित का सूक्ष्म हिसाब रखती है। इसी के आधार पर व्यक्ति को लोक एवं परलोक में पुण्य का पारितोषिक मिलता तथा पाप का दण्ड भोगना पड़ता है। अगले जन्म में वही प्रारब्ध भोग बनता एवं आनन्द-ऐश्वर्य तथा रोग-शोक बनकर प्रकट होता है। अस्तु हमें धोखाधड़ी की धारणा को न सिर्फ त्याग देना चाहिए, वरन् अन्याय-अत्याचार को पोषण देने वाले कार्यों से भी बचना चाहिए। समझदारी इसी में है और सर्वोपरि मनुष्य की गरिमा भी।

पहले मन को संस्कारित कीजिए

मन की दो सर्वज्ञात विशेषताएँ हैं—चंचलता एवं सुख-लिप्सा। बन्दर जैसी उछल-कूद, आवारा छोकरी जैसी मटरगश्ती, चिड़ियों की तरह यहाँ-वहाँ फुदकते फिरना, उसकी चपलवृत्ति को सन्तुष्टि पहुँचाते हैं। कल्पना के महलों की सृष्टि, कल्पना लोकों का तीव्र भ्रमण-विचारणा, उसकी शक्ति का बड़ा अंश तो इन्हीं भटकनों, जंजालों में नष्ट हो जाते हैं। शक्ति का यह व्यर्थ छीजन रोककर उसे सुनिश्चित एवं सार्थक प्रयोजन में केन्द्रित करना ही योगाभ्यास है। शक्तियों का यह सही उपयोग जीवन में स्पष्ट और आश्चर्यजनक परिणाम सामने लाता है। पिछड़ेपन के स्थान पर प्रगतिशीलता आ जाती है। दरिद्रता समृद्धि में परिणत हो जाती है। भटकाव की जगह प्रचण्ड पुरुषार्थ प्रवृत्ति पनपने पर परिस्थितियाँ अनुकूल बनने लगती हैं और साधन संचित होने लगते हैं। लौकिक सफलताएँ भी लक्ष्य केन्द्रित पुरुषार्थ का ही परिणाम होती हैं। मन की भटकन रोककर ही उसे लक्ष्योन्मुख बनाया जा सकता है।

यही सधा हुआ मन आत्मिक क्षेत्र में लगाये जाने पर सुषुप्त शक्ति केन्द्रों को जाग्रत व क्रियाशील बनाता है और दिव्य क्षमताएँ प्रकाश में आती हैं। अन्तश्चेतना का परिष्कार सामान्य व्यक्ति को महामानव स्तर पर ले जाकर ही रहता है। प्रगति का सम्पूर्ण इतिहास मनःशक्ति के

पुंजीभूत लक्ष्य केन्द्रित पुरुषार्थ की ही यश गाथा है। चंचलता की प्रवृत्ति को पुरुषार्थ की प्रवृत्ति में परिवर्तित करने का पराक्रम ही प्रगति का सार्वभौम आधार रहा है।

मन की दूसरी प्रवृत्ति है—सुख-लिप्सा। शारीरिक सुखों के भोग का माध्यम है—इन्द्रियाँ। उनके द्वारा विभिन्न वासनाओं को स्वाद मिलता है। पेट और प्रजनन के सम्बन्धित सुखों के लिए तरह-तरह की चेष्टाओं में ही मन उलझा रहता है और इन सुखों की प्राप्ति के लिए प्रेरणा ही नहीं देता, बल्कि इनकी मात्र कल्पनाएँ करने की में भी बहुत अधिक समय नष्ट करता है। फिर इन भौतिक सुखों के लिए साधन जुटाने में भी मन को जाने कितने ताने-बाने बुनने पड़ते हैं। इन्द्रियों की प्रिय वस्तु या व्यक्ति देखने, सुनने, छूने, सूँघने अथवा स्वाद लेने की लिप्साएँ मन को ललक से भर देती हैं और वह उसी दिशा में लगा रहता है। अहंकार की पूर्ति के लिए मन औरों पर प्रभाव डालने हेतु तरह-तरह की चेष्टाएँ करता है और व्यक्ति भौतिक-भौतिक के ठाट-बाट बनाता है। संग्रह और स्वामित्व की इच्छाएँ भी अनेक विधि प्रयत्नों का कारण बनती हैं। इन सभी इच्छाएँ, आकांक्षाओं की प्यास को व्यक्त करने के लिए ही तृष्णा शब्द का प्रयोग होता है। अहंभावना पर आघात पहुँचते ही प्रतिशोध की उत्तेजना प्रबल हो उठती है। इच्छित विषय पर अपना हक मान लेना और फिर उसके न प्राप्त होने या प्राप्ति में बाधा पड़ने पर भड़क उठना भी, अहंता पर आघात के ही कारण होता है। यह उत्तेजना ही क्रोध है। क्रम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर आदि सम्पूर्ण विकारी-समूह वस्तुतः मन में उठने वाली प्रतिक्रियाएँ मात्र हैं, जो भौतिक सुख की लिप्साओं के कारण उठती रहते हैं। लिप्सा की इस ललक की दिशा को उलट देना ही ‘तप’ है। वह दूसरी दिशा भौतिक सुखों की वासना, तृष्णा और अहंता की पूर्ति से होने वाले क्षणिक सुखों की नहीं है। वरन् आनन्द की है। आनन्द उपभोग से नहीं, उत्कर्ष और उत्सर्ग से प्राप्त होता है। सुख मन का विषय है, जबकि आनन्द और आत्म-संतोष आत्मा का। सुख-लिप्सा का अभ्यस्त मन आनन्द के अस्वाद को नहीं जान पाता और जिसे जाना ही नहीं, उसके प्रति गहरी स्थायी प्रीति, सच्चा आकर्षण सम्भव नहीं। आनन्द की आकांक्षा विषय-लोलुप मन में प्रगाढ़ नहीं होती। उसके लिए तो मन का प्रशिक्षण आवश्यक है। यह प्रशिक्षण-प्रक्रिया ही तप है। तपस्वी को कष्ट इसी अर्थ में सहना पड़ता है, कि अभ्यस्त सुख का अवसर जाता रहता है। शारीरिक सुख-सुविधाएँ सिमटती हैं, मानसिक आमाद-प्रमोद का भी अवकाश नहीं रहता है और आदर्श निष्ठ आचरण आर्थिक समृद्धि के भी आड़े ही आता है।

प्रत्यक्ष तीर पर तो, ऐसे परिणामों के लिए किया जाने वाला प्रयास मूर्खता ही प्रतीत होगा। लेकिन श्रेष्ठ उपलब्धियों का राज-मार्ग यही है।

किसान, विद्यार्थी, पहलवान, श्रमिक, व्यवसायी, कलाकार आदि को भी अपनी प्रगति व उपलब्धियों की प्राप्ति के लिए बाल-चंचलता से मन को विरत ही करना पड़ता है और अपने नीरस प्रयोजनों में ही मनःशक्ति नियोजित करनी पड़ती है। शौक-मौज के अभ्यस्त उनके संगी उन लोगों की ऐसी लक्ष्योन्मुख प्रवृत्तियों का मजाक भी उड़ाते हैं। लेकिन सभी जानते हैं कि अन्ततः बुद्धिमान और प्रगतिशील ऐसे ही लोगों को माना जाता है, जो चित्त की चपलता को नियन्त्रित कर उसे अपने लक्ष्य की ओर ही लगाये रहते हैं—वह कृषि का क्षेत्र हो या शिक्षा का शरीर-सौष्ठव का हो या आर्थिक समृद्धि का, कला-कौशल का हो या वैज्ञानिक आविष्कार का अथवा दार्शनिक चिन्तन-मनन का।

भारतीयों मनीषियों के मन को संस्कारित व परिष्कृत करने लिए पंचकोशीय साधना विधान में मानवीय कोश की साधना का एक स्वतन्त्र चरण हाँ रखा है। मनोमय कोश का अर्थ है, विचारशीलता विवेक बुद्धि।

मनोमय कोश, अर्थ और साधना

मन कोई ऐसा तत्व नहीं है जो केवल मनुष्य के पास ही है। वह हर जीवित प्राणी के पास होता है। कीट-पतंग भी उससे रहित नहीं हैं। परन्तु मनोमय कोश के व्याख्याकारों ने उसे दूरदर्शिता, तर्क प्रखरता एवं विवेकशीलता के रूप में विस्तारपूर्वक समझाया है। मन की स्थिति हवा की तरह है वह दिशा विशेष तक सीमित न रहकर स्वेच्छाचारी वन्य-पशु की तरह किधर भी उछलता-कूदता है? पक्षियों की तरह किसी भी दिशा में चल पड़ता है। इसे दिशा देना, चिन्तन को अनुपयोगी प्रवाह में बहने से बचाकर उपयुक्त मार्ग पर सुनियोजित करना मनस्वी होने का प्रधान चिन्ह है। मनोनिग्रह-मनोजय इसी का नाम है। जंगली हाथी को पकड़कर अनुशासित बनाने का काम तो कठिन है; पर इसकी उपयोगिता अत्यधिक है। जंगली हाथी फसलें उजाड़ते और झोपड़ियाँ तोड़ते हैं और भूखे-प्यासे अनिश्चित स्थिति में भटकते हैं किन्तु पालतू बन जाने पर उनकी जीवनचर्या भी सुनिश्चित हो जाती है और साथ ही वे अपने मालिक का भी बहुत हित साधन करते हैं। सधे हुए मन की तुलना पालतू हाथी से की जा सकती है और अनियन्त्रित मन को उन्मत्त जंगली हाथी कहा जा सकता है।

आवेग और आवेशग्रस्त होकर उन उतेजनाओं से प्रेरित मनुष्य कुछ भी सोच सकता है और कुछ भी कर गुजर सकता है। वह चिन्तन और कर्तव्य इतना असंगत हो सकता है कि फलस्वरूप जीवन भर पश्चाताप करना पड़े और असीम हानि उठानी पड़े। किन्तु आवेगों के प्रवाह में बुद्धि पर पर्दा पड़ जाता है और कुछ सूझ नहीं पड़ता। उन्मत्तों की तरह दूसरों की हत्या, आत्म-हत्या न सही ऐसे काम तो सहज ही बन पड़ते हैं जिन पर शान्तः मनःस्थिति में विचार करने पर स्वयं ही अपने घर क्रोध आता है। असंख्य मनुष्य ऐसे ही उद्धत कर्म करते हैं अथवा मरे हुए मन से अकर्मण्य बने हुए जीवन की लाश ढोते हैं। स्थिति से उबरने का कोई प्रकाश भी उन्हें नहीं मिलता।

प्रायः एक समय में एक प्रकार के निचार एक ही दिशा में दौड़ते हैं। यह प्रवाह जिधर भी चलता है, उधर लाभ ही लाभ, औचित्य ही औचित्य दिखाई पड़ता है, जबकि वास्तविकता कुछ और ही होती है। प्रवाह को रोककर, धारा द्वारा उससे बाँध या बिजली-घर बनाये जाते हैं। मन के प्रवाह को जिस दूसरी प्रतिरोध शक्ति से रोका जाता है, उचित अनुचित के मंथन से उलट-पुलटकर नवनीत निकाला जाता है, तब पता चलता है कि क्या सोचना सार्थक है क्या निरर्थक ? लाभ किसमें है और हानि किसमें ? तत्काल के क्षणिक लाभ को ही सब कुछ न मानकर भविष्य के चिरस्थायी परिणाम का विचार करने में समर्थ एवं परिपक्व बुद्धि मन के प्रवाह को अवांछनीय दिशा में रोक सकती, उसे उचित में नियोजित कर सकती है। इस परिष्कृत चिन्तन-प्रक्रिया को मनोमय कोश की उपलब्धि कह सकते हैं।

महामनीषी, तत्त्वदर्शी, शोधकर्ता एवं मनस्वी व्यक्ति ही महामानवों की पंक्ति में बैठ सकने में समर्थ हुए हैं। उनसे संसार का नेतृत्व किया है और अपने महान कर्तव्यों से इतिहास को यशस्वी किया है। इन सभी की यह प्रमुख विशेषता रही है कि उन्होंने अपने मन पर अंकुश करना और उसे दिशा देना सीखा। सामान्य लोगों का मन हवा के साथ उड़ते-फिरते-वाले तिनके की तरह अपनी मानसिक चेतना को निरर्थक अथवा अनर्थ मूलक स्थिति में भटकने देता है, जबकि मनस्वी व्यक्ति उसकी प्रत्येक लहर को सुनियोजित करता है। उचित और अनुचित की कसौटी का अंकुश रखकर मन को उसी दशा में, उसी गति से चलने देता है, जिससे कुछ महत्वपूर्ण हित साधन हो सके।

इच्छाओं को मोड़ने में, चिन्तन को सुनियोजित करने में सफलता प्रखर-तर्क बुद्धि से उत्पन्न होती है और आत्म-दमन कर सकने की साहसिकता से मनोनिग्रह बन पड़ता है। एकाग्रता का, चित्त-वृत्ति निरोध का बहुत माहात्म्य योगशास्त्रों में बताया गया है। इसका अर्थ चिन्तन प्रक्रिया को ठप्प कर देना, एक ही ध्यान में निमग्न रहना नहीं, वरन् यह है कि विचारों का प्रवाह नियत निर्धारित प्रयोजन से ही पूर्वतः लगा रहे। यह कुशलता जिनकी करतलगत हो जाती है और वे जो भी लक्ष्य निश्चित करते हैं उसमें प्रायः अभीष्ट सफलता ही प्राप्त करके रहते हैं। बिखराव की दशा में चिन्तन की गहराई में उतरने का अवसर नहीं मिलता। अस्तु किसी विषय में प्रवीणता और पारंगतता भी हाथ नहीं लगती। संसार में विशेषज्ञों का स्वागत होता है, यहाँ हर क्षेत्र में 'ए-वन' की माँग है और यह उपलब्धि कुशाग्र बुद्धि पर नहीं, सधन मनोयोग के साथ सम्बद्ध है। यह मनोयोग का वरदान प्राप्त करने के लिए जो प्रयास व्यायाम करने पड़ते हैं, उन्हें ही मनोमय कोश की साधना कहते हैं।

मनोमय कोश की साधना मस्तिष्कीय क्षेत्र में घुसे मनोविकारों को दुष्प्रवृत्तियों को निरस्त करने के लिए लड़ा जाने वाला महाभारत हो, साथ ही इसमें धर्म राज्य की—राम राज्य की स्थापना का लक्ष्य संकल्प भी जुड़ा हुआ हो।

इस सन्दर्भ में वैज्ञानिक अनुशीलन प्रयत्न ध्यान देने योग्य है। बहुत समय पहले शारीरिक रोगों का कारण, वात पित्त, कफ, अपच, मलाव-रोध, ऋतु, प्रभाव, विषाणुओं का आक्रमण आदि माना जाता है। नवीनतम शोधों शरीर पर पूरी तरह मनःसत्ता का अधिकार मानती हैं और बताती हैं कि बाह्य कारणों से उत्पन्न हुए रोग तो शरीर की जीवनी शक्ति स्वयं ही अच्छे कर लेती है अथवा मामूली से उपचार से वे अच्छे हो सकते हैं। जटिल रोग तो आमतौर से मनोविकारों के ही परिणाम होते हैं। उनका निराकरण दवा-दारु से नहीं, मानसिक परिशोधन से ही सम्भव हो सकता है।

शारीरिक ही नहीं मानसिक रोगों का भी यही प्रधान कारण है। दुष्कर्म अथवा दुर्बुद्धिग्रस्त व्यक्ति शारीरिक ही नहीं मानसिक रोगों से भी ग्रसित रहते हैं। उन्माद विस्फोट की स्थिति न आये तो भी असन्तुलन से ग्रस्त व्यक्ति अर्ध-विक्षिप्त स्थिति में पड़े रहते हैं। अकारण दुःख पाते और अकारण दुःख देते हैं। इनकी मनःस्थिति कितनी दयनीय होती है यह देखने भर से बड़ा कष्ट होता है। शारीरिक व्यथाओं से पीड़ितों की अपेक्षा मनोरोगों से ग्रस्त लोगों की संख्या ही नहीं पीड़ा भी

अधिक है। इन व्यथाओं से छुटकारे का उपाय अस्पतालों में नहीं, मानसिक संशोधन की साधनाओं पर ही अवलम्बित है। वे उपाय, उपचार अन्य प्रकार भी हो सकते हैं, पर अध्यात्म विज्ञान के आधार पर उसे मनोमय कोश से, साधना से अधिक सुविधापूर्वक सम्पन्न किया जा सकता है।

काय-विज्ञान के विद्यार्थी जानते हैं कि मस्तिष्क के साथ जुड़े हुए ज्ञान तन्तु सारे शरीर में फैले हैं। उन्हीं के माध्यम से इस जटिल यन्त्र का संचालन होता है। इन्द्रियों की क्रियाशक्ति, अनुभूतियाँ, सरसताएँ मस्तिष्क में ही जाकर खुलती हैं। इन्द्रिय गोलक तो मात्र सूचनाएँ संग्रह करने और उन्हें मस्तिष्कीय केन्द्रों तक पहुँचाने भर का काम करते हैं। कोई मानसिक कष्ट होने पर सारा शरीर शिथिल हो जाता है और क्रियाशक्ति में स्पष्टतः अस्त-व्यस्तता दीखने लगती है। भय, चिन्ता, शोक, निराशा जैसे प्रसंगों पर किसी भी मनुष्य का चेहरा उदास और सारा शरीर शिथिल देखा जा सकता है। क्रोध, अपमान, द्वेष, प्रतिशोध की स्थिति में किस प्रकार अंग-प्रत्यंगों में उत्तेजना दीख जाती है, इसे किसी आवेशग्रस्त पर छाये हुए भावोन्माद को देख कर सहज ही देखा, समझा जा सकता है। प्रसन्न और निश्चिन्त रहने वाले स्वस्थ रहते और दीर्घजीवी बनते हैं। इसके विपरीत क्षुब्ध रहने वाले अकारण दुर्बल होते जाते हैं और अकाल मृत्यु से असमय मरते हैं। यह तथ्य स्पष्ट करते हैं कि शरीर-संस्थान पर आहार-विहार का, जलवायु का जितना प्रभाव पड़ता है, उससे कहीं अधिक भाव-संस्थान का होता है।

शरीर में स्नायुमण्डल द्वारा तथा नलिकाविहीन ग्रन्थियों द्वारा भावनाएँ क्रियाशील होती हैं। हमारे सम्पूर्ण शरीर में स्नायुओं का जाल बिछा हुआ है। सामान्यतः स्नायु उज्ज्वलवर्णी होते हैं और तार की तरह ठोस होते हैं। हमारी सभी पेशियाँ स्नायुओं के ही आधार पर चलती हैं। प्रत्येक पेशी में पहुँचने वाला मुख्य स्नायु सुतली की तरह मोटा होता है। फिर उसकी शाखा-प्रशाखाएँ अधिकाधिक पतली होती चली जाती हैं। कई प्रशाखाएँ तो बारीक सूत जैसी पतली होती हैं।

सम्पूर्ण स्नायुमण्डल के दो भाग हैं—(१) ऐच्छिक (२) अनैच्छिक। चलने-फिरने, झुकने-मुड़ने, वस्तुएँ उठाने, रखने आदि की क्रियाओं में हम अपने हाथ-पैर आदि की इच्छानुसार हिलाते हैं। यह ऐच्छिक स्नायुओं के ही कारण है। अनैच्छिक स्नायुओं पर हमारा ऐसा अधिकार नहीं होता। वे शरीर की आन्तरिक क्रियाएँ सम्पादित करते हैं जैसे—हृदय की धड़कनें, साँसों का आना-जाना आदि।

अनैच्छिक स्नायुमण्डल का केन्द्र मस्तिष्क का एक लघु अंश हाइपोथैलामस होता है। यही 'हाइपोथैलामस' नारी व पौरुष ग्रन्थियों को भी नियन्त्रित करता है। साथ ही 'मोनोएमीन आक्सीडेज' नामक किण्वज (एन्जाइम) भी सम्पूर्ण शरीर में विकीर्ण होते हुए भी केन्द्रीय स्नायविक प्रणाली में विशेष रूप से जमा रहता है। 'हाइपोथैलामस' द्वारा पिट्यूटरी ग्रन्थि भी उत्तेजित होती है और उनसे विभिन्न हार्मोन्स निकलते हैं जो भावनाओं का परिणाम भी होते हैं और नई भावनाओं का कारण भी। किसी नई परिस्थिति के उपस्थित होने पर नलिकाविहीन ग्रन्थियों पर दबाव पड़ता है और वे विभिन्न हार्मोनों को स्रावित करती हैं। इन हार्मोनों की शरीर में प्रतिक्रिया होती है और यह प्रतिक्रिया उसी के अनुरूप भावना समूहों को जन्म देती है। जैसे किसी रोग के कीटाणुओं के संक्रमण-दबाव से पिट्यूटरी ग्रन्थि ने कोई हार्मोन छोड़ा, इससे शरीर में तेज हलचल मच गई, व्यक्ति को अस्वस्थता महसूस होने लगी और वह खाट पर पड़ गया। अब बीमारी की दशा में तरह-तरह की भावनाएँ जो अचेतन में दबी थीं, उभरने लगीं। उनके परिणामस्वरूप अनेक प्रकार की शारीरिक प्रतिक्रियाएँ भी पैदा होने लगती हैं।

मनोमय कोश का निवास मस्तिष्क में बताये जाने का अर्थ केवल इतना ही है कि उसका केन्द्रीय कार्यालय वहीं है। उसके सूक्ष्म अवयव उसकी शाखा-प्रशाखायें तो सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त-विस्तृत हैं। मस्तिष्क के जीवाणु अन्य जीवाणुओं से अधिक समझदार और अधिक अनुभवी होते हैं; इसीलिए वे शेष जीवाणुओं के अनुआ नेता कहे जाते हैं। वे जिस दिशा में चलते हैं, शेष जीवाणु भी उसी दिशा में, धारा में बहने लगते हैं। सम्पूर्ण सूक्ष्म शरीर को स्वस्थ, प्रसन्न, उत्तलसित, प्रगतिशील बनाये रखने के लिए मस्तिष्कीय-स्थिति वैसी होनी जरूरी है। नेता ही निराश-हताश, कुण्ठित-त्रस्त हुआ, तो प्रगति की क्या आशा की जा सकती है। नेता का संवेग समस्त अनुयायियों को प्रभावित करता है।

विनया के मनोचिकित्सक डा० फैकल का मत है कि मानसिक धरातल ही शारीरिक स्वास्थ्य का आधार है। मानसिक असन्तुलन का कारण जीवन की सार्थकता को न समझना है। इसीलिए उन्होंने 'लौगोथैरेपी' या 'अर्थबोध चिकित्सा' नाम की चिकित्सा पद्धति विकसित की है। डा० फैकल की मान्यता है कि जिस व्यक्ति को अपने जीवन और कार्य की सार्थकता का बोध नहीं वह स्वस्थ नहीं रह सकता। मनुष्य जीवन में लक्ष्य और उनकी सिद्धि ही आनन्द का आधार है। डा० फैकल की चिकित्सा पद्धति में रोगी से प्रिय-अप्रिय सभी विषयों पर चर्चा कर,

उसे जीवन की सार्थकता की तलाश की प्रेरणा दी जाती है। व्यक्ति को जैसे ही जीवन में सार्थकता की अनुभूति हो उठती है, वह अपने भीतर निहित शक्तियों का स्मरण कर आत्मविश्वास से भर उठता है और धीरे-धीरे स्वस्थ होने लगता है। मनःक्षेत्र की स्वस्थता उसके स्थूल शरीर को भी स्वस्थ बना देती है।

सूक्ष्म शरीर की हलचलों का स्थूल शरीर पर स्पष्ट एवं निश्चित परिणाम होता है। तन्त्रकीय रोगों का कारण दबे हुए गन्दे विचार ही होते हैं। शरीर-शास्त्रियों का भी मत है कि मात्र मानसिक-चित्रों के आधार पर ही अनेक शारीरिक बीमारियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। "इम्प्लुएन्स ऑफ द माइन्ड अपान द बॉडी" नामक पुस्तक के लेखक डा० डुके ने लिखा है—“विक्षिप्तता, मूढ़ता, अंगों का निकम्मा हो जाना, पित्त, पाण्डुरोग, केश-पतन, रक्ताल्पता, घबराहट, मूत्राशय के रोग, गर्भाशय में बच्चे का अंग-भंग हो जाना, चर्मरोग, फुन्सियाँ, फोड़े, एगिजमा आदि अनेक स्वास्थ्यनाशक रोग मात्र मानसिक क्षोभ तथा भावनात्मक उद्देलन, निषेधात्मक चिन्तन, सूक्ष्म शरीर की विकृतियाँ हैं, जिनका स्थूल शरीर पर स्पष्ट प्रभाव पड़ता है। इसी प्रकार परिष्कृत दृष्टिकोण, स्वस्थ-उदात्त चिन्तन, आदर्शवादी विचारधारा सूक्ष्म शरीर को तेजस्वी, प्रखर बनाती है और उसका श्रेष्ठ प्रभाव स्थूल शरीर पर भी स्पष्ट देखा जा सकता है।

विधेयात्मक विचारों की, ऊर्ध्वमुखी चिन्तन की आश्चर्यजनक महत्ता के प्रतिपादन में डा० बैनेट ने स्वयं को ही प्रस्तुत किया है। ५० वर्ष की आयु तक डा० बैनेट निराशा और अवांछनीय चिन्तन के कारण अपना स्वास्थ्य पूरी तरह गँवा बैठे। उन्हें जब ऊर्ध्वगामी चिन्तन की इस असीम उपादेयता का पता चला तो उन्होंने अपना जीवन-क्रम ही बदल डाला। मन की जड़ता और विषय-विचारों का जुआ उन्हे उतार फेंका, हृदय को श्रद्धा आस्था से भरा, सदैव प्रसन्न प्रफुल्ल रहने की आदत बना ली। २० वर्षों के अपने इस जीवन का स्वर्गीय सुख से ओत-प्रोत बनाते हुए डा० बैनेट ने अपनी ५० वर्षीय फोटो तथा ७० वर्षीय फोटो भी इस पुस्तक में छपी है। पहली में उनका चेहरा झुर्रियों से पिचके गाल, धँसी आँखों के कारण मनहूस दिखाई देता है, जबकि ७० वर्ष की आयु में वे स्वस्थ सशक्त दिखाई देते हैं, झुर्रियाँ न जाने कहाँ चली गईं, चेहरे में उदीप्ति है और युवकों जैसी सक्रियता।

अब तक किये गये ऐसे ही विविध आधुनिक प्रयोगों से यह स्पष्ट हो गया है कि मन का, मस्तिष्क का कष्ट प्रत्येक जीवाणु को कष्ट में डाल देता है। घृणा,

१.४८ चेतन, अचेतन एवं सुपर चेतन मन

ईर्ष्या, क्रोध का अनिष्ट प्रभाव समस्त जीवाणुओं में तुरन्त दौड़ जाता है, झलक उठता है। मस्तिष्क में प्रसन्नता का भाव आते ही प्रत्येक जीवाणु प्रसन्न पुलकित हो उठता है। ये सभी जीवाणु परस्पर गहन आत्मीयता और अभिन्नता का भाव रखते हैं। प्रत्येक जीवाणु की दशा से सभी प्रभावित होते हैं, इनका सुख-दुःख मिला-जुला ही होता है। इनका पारस्परिक सौहार्द-सदभावना अनूठा है। सच्ची मैत्री, प्रगाढ़ आत्मीयता सहानुभूति के ये अनूठे उदाहरण हैं। कल्पना करें कि एक व्यक्ति को तेज भूख लगी है। सुस्वादु भोजन का थाल सामने है, उसी समय किसी प्रियजन की मृत्यु का तार मिलता है। उसे पढ़ते ही मस्तिष्क में उस प्रियजन की संचित स्मृति सहसा जाग्रत हो उठती है। मन में आत्मीय संवेदना उमड़ पड़ती है। मस्तिष्क के जीवाणुओं की इस प्रतिक्रिया का तत्काल सम्पूर्ण शरीर के जीवाणुओं पर प्रभाव पड़ता है। जीभ सूखने लगती है। भूख बढ़ाने वाले जीवाणु जो उछल-कूद मचा रहे थे, चीख-चीखकर भोजन की माँग कर रहे थे, सहमकर शान्त, निष्क्रिय, दुबके से बैठ जाते हैं। हृदय और दूसरे अंग भी निष्पाण से हो चलते हैं। दिल-डूबने लगता है, आँखों के सामने अन्धेरा छा जाता है, शरीर निढाल हो जाता है। समस्त अंगों पर यह प्रभाव पड़ता है। स्पष्ट है कि मस्तिष्कीय जीवाणुओं की भावदशा का तत्काल प्रभाव सम्पूर्ण शरीरस्थ जीवाणु-समूहों पर पड़ता है।

‘ओल्ड एज:इट्स काफ एण्ड प्रिवेन्शन’ नामक पुस्तक में उसके रचयिता सुप्रसिद्ध अमरीकी वैज्ञानिक तथा लेखक डा० बेंनेट ने एक बहुत ही मनोरंजक किन्तु शिक्षाप्रद घटना दी है। एक १९ वर्षीय फ्रान्सीसी युवती ने एक अमेरिकन नव-युवक से विवाह का निश्चय किया। युवक निर्धन था सो यह तय हुआ कि पहले वह अमेरिका जाकर धन कमायेगा और लौटकर शादी करेगा। युवक ने ३ वर्ष में पर्याप्त धन कमा लिया, पर दुर्भाग्य से कोई मुकद्दमा लग जाने के कारण वह १५ वर्ष तक फ्रान्स नहीं लौट सका। १५ वर्ष बाद जब वह वापस लौटा तो यह देखकर आश्चर्यचकित रह गया कि उसकी मँगतर का स्वास्थ्य, सौन्दर्य बिल्कुल वैसा ही है जैसा वह १९ वर्ष पूर्व था। ३४ वर्ष की अघेड़ अवस्था हो जाने पर उसमें १९ वर्षीय नव-युवती के गुण विद्यमान थे।

घटना का विवेचन करते हुये बेंनेट महोदय लिखते हैं—प्रकृति ने मनुष्य शरीर की संचालन प्रक्रिया इस प्रकार रखी है कि शरीर का प्रत्येक कोश (सैल) ८० दिन पीछे पुराना होकर मेल के रूप में उसी प्रकार बाहर निकल जाता है, जिस प्रकार समुद्री लहरों में निरन्तर

ज्वार-भाटे से समुद्र की गन्दगी तटों पर जमा होती रहती है। कोश-परिवर्तन की यह प्रक्रिया आयु बढ़ने के साथ क्षीण होती रहती है, उसी का नाम वृद्धावस्था है किन्तु इस घटना ने इस प्राकृतिक व्यवस्था को ही उलट दिया, ऐसा क्यों ?

इसका उत्तर युवती के मुँह से दिलवाते हुये श्री बेंनेट लिखते हैं कि—मैं प्रतिदिन प्रातःकाल एक आदमकद शीशे के सम्मुख खड़ी होकर अपना चेहरा देखती और मन ही मन अनुभव करती कि मैं ठीक वैसी ही हूँ जैसी कल थी। दिन के परिवर्तन ने मेरे शरीर में कोई प्रभाव नहीं डाला। इच्छा शक्ति की यह दृढ़ता मुझे दिन भर पुलकित और प्रसन्न बनाये रखती। उसी का फल है जो मैं जैसी १५ वर्ष पूर्व थी वैसी ही आज भी हूँ।” सूक्ष्म शरीर के शोधन के विचारों को ऊँचा उठाने की संकल्प की महत्ता उन्होंने अमरीका के अध्यात्म-परायण व्यक्ति डा० मारडन की पुस्तक “लौह इच्छा शक्ति” (एन आइरन विल) से समझी, जिसमें बताया गया है—मनुष्य अपने विचार नये कर ले, चरित्र को ऊँचा उठा ले तो अपना शरीर ही बदल सकता है।” यह स्वाध्याय उनके लिये तो औषधि बना ही, सैकड़ों को नया जीवन देने वाला है। प्रेम, मैत्री, दया, करुणा और परोपकारी विचारों को धारण कर कोई भी इसका प्रत्यक्ष लाभ ले सकता है।

खोपड़ी के ऊपर या नीचे की रक्तवाहिनियों की पेशियाँ भावनाओं के अनुसार फैलती-सिकुड़ती व तीव्र सम्वेदनात्मक प्रतिक्रियाएँ करती हैं।

अस्वस्थ भावनाएँ विभिन्न शारीरिक रोगों का कारण बनती हैं। सामान्य सिर-दर्द से लेकर “माइग्रेन” नामक कठिन सिर-दर्द भावनात्मक तनाव से होता है। इस तनाव से खोपड़ी की रक्तवाहिनियाँ सिकुड़ती हैं और इससे सिर दर्द शुरू हो जाता है। आज तो यह पाया जाता है कि सिर-दर्द की, सी घटनाओं में से पचासी का कारण भावनात्मक तनाव होता है।

भावना-क्षोभ के कारण पेशियों में उत्पन्न तनाव के कारण कई बार लोग भोजन के बाद ऐसा अनुभव करते हैं कि कलेजे पर बोझ आ पड़ा है और भोजन नीचे सरक ही नहीं रहा है। अधिक तनाव होने पर उबकाई आने लगती है, जी मिचलाने लगता है।

भावनात्मक तनाव से उत्पन्न स्नायु-रोगों में डकारें आना, पेट में ऐंठन होना, विभिन्न वज्रु-विकार, अनेक त्वचा-विकार, एग्जिमा, खुजली आदि होते हैं।

कमर-दर्द के बारे में अब ऐसा ज्ञात हुआ है कि अधिकांश मामलों में इसका कारण भावनात्मक तनाव ही होता है।

यह जान लेने पर कि भावनात्मक तनावों एवं विकृतियों से ही अधिकांश रोग पैदा होते हैं, यह प्रश्न अनेकों को कचोटता है कि भावनाओं पर नियन्त्रण कैसे हो ? इसका एक ही सरल मार्ग है—समझदारी भरे दृष्टिकोण का नित्य-प्रति के जीवन में अभ्यास। बिना अभ्यास के यह दृष्टिकोण व्यावहारिक जीवन में नहीं उतरता। जिन्दगी को बोझ न मानते हुए, खेल-भावना से जीना, अभ्यास द्वारा ही सम्भव है। अपनी सीमाओं को पहचानना, शक्ति के सर्वोत्तम उपयोग की व्यवस्था करना, 'मैं-मैं' की चीख-पुकार से मुक्त होकर अपने दायित्वों को समझना और निभाना तथा सृजनात्मक वृत्तियों का जीवन में निरन्तर विकास करना ही एकमेव राजमार्ग है।

सामान्यतः कठोरता, क्रोध, बात-बात में लड़ बैठने आदि को हम भ्रान्तिवश शक्ति का पर्याय मान बैठते हैं, जबकि मनोवैज्ञानिक इस सबको 'बचकानी हरकतें' मानते हैं। ये दुर्बलता के प्रतीक हैं। शक्तिशाली व्यक्ति विनम्र एवं दृढ़ होता है। क्रोध और झगड़ालूपन तो शक्तिहीनता की उपज हैं। सादगी-संयम का अभ्यास ही शक्ति का स्रोत है। किन्तु अपनी दुर्बलताओं पर व्यर्थ की खीज भी लाभकर न होगी। धीरे-धीरे ही कुसंस्कार चित्त तल पर जमते हैं और धीरे-धीरे ही उनका उन्मूलन सम्भव है। सतत अभ्यास ही सर्वोत्तम उपचार है। इस बात को सदा ध्यान में रखा जाय कि मन की कुटिलता और अनैतिक कर्म ही रोग का आधार हैं तथा मन की शुचिता, स्नेह, करुणा और व्यापक मानवीय प्रेम द्वारा इन रोगों को मिटा सकना सरलता से सम्भव है।

मस्तिष्क की धुलाई-सफाई वैज्ञानिक उपकरणों से भी सम्भव हो सकती है। फिर अध्यात्म साधना के उपचार तो उससे अधिक ही सशक्त-समर्थ होते हैं। उनका प्रभाव तो और भी अधिक होना चाहिये।

इलेक्ट्रिकल स्टीम्यूलेशन आफब्रेन (ई. एस. बी.) पद्धति के अनुसार कई एशियन विश्वविद्यालयों ने आंशिक रूप से मस्तिष्क की धुलाई (ब्रेन वाशिंग) में सफलता प्राप्त कर ली है। अभी यह बन्दर, कुत्ते, बिल्ली, खरगोश, चूहे जैसे छोटे स्तर के जीवों पर ही प्रयोग किये गये हैं। आहार की रुचि, शत्रुता, मित्रता, भय, आक्रमण आदि के सामान्य स्वभाव को जिस प्रकार चरितार्थ किया जाना चाहिए, उसे वे बिल्कुल भूल जाते हैं और विचित्र प्रकार का आचरण करते हैं। बिल्ली के सामने चूहा छोड़ा गया तो वह आक्रमण करना तो दूर

उससे डरकर एक कोने में जा छिपी। क्षणभर में एक-दूसरे पर खूनी आक्रमण करना, एक आध मिनट बाद परस्पर लिपटकर प्यार करना, यह परिवर्तन उस विद्युत क्रिया से होता है, जो उनके मस्तिष्कीय कोशों के साथ सम्बद्ध रहती है। यही बात मनुष्यों पर भी लागू हो सकती है। मानव मस्तिष्क अपेक्षाकृत अधिक परिष्कृत होता है, उसमें प्रतिरोधक शक्ति भी अधिक होती है इसलिए उसमें हेर-फेर करने के लिए प्रयास भी कुछ अधिक करने पड़ेंगे और सफलता प्राप्त करने में देरी भी लगेगी, पर जो सिद्धान्त स्पष्ट हो गये हैं उनके आधार पर यह निश्चित हो गया है कि मनुष्य को भी जैसा चाहे सोचने, मान्यता बनाने और गतिविधियाँ अपनाने के लिए विवश किया जा सकता है।

मनोमय कोश की साधना मस्तिष्कीय क्षेत्र की धुलाई सफाई ही नहीं करता, वरन् उसे समुन्नत सुसज्जित एवं सुसंस्कृत बनाने का काम भी बहुत हद तक पूरा कर सकती है।

मनोमय कोश शरीर और मस्तिष्क के समूचे क्षेत्र को अपने अंचल में समेटे हुए है। वह इन दोनों क्षेत्रों को प्रभावित करता है। अन्तःकरण के अस्त-व्यस्त और विकृत स्थिति से बने रहने पर उसकी प्रतिक्रिया शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य पर विनाशकारी प्रभाव डालती है। व्यक्तित्व लड़खड़ा जाने पर दृष्टिकोण और व्यवहार दोनों ही गड़बड़ाते हैं। फलतः गतिविधियाँ अवांछनीयता से भर जाती हैं। स्पष्ट है कि ऐसी स्थिति में विपत्तियाँ ही उत्पन्न होंगी। अवरोध ही खड़े होंगे। कलह और संकट आक्रमण करेंगे। समूचा जीवन ही नरक बन जायेगा। इस नारकीय यन्त्रणा से छुटकारा कोई और नहीं दिला सकता क्योंकि इस विपत्ति का दोष भले ही किसी पर थोपा जा सके उसका कारण अपना आपा ही होता है। मनःस्थिति के अनुरूप परिस्थिति बनने का तथ्य इतना स्पष्ट है कि उसे झुठलाये जाने की कहीं कोई गुंजायश नहीं है। अपने आप में परिवर्तन किये बिना हम इस नरक से अन्य किसी तरह उबर नहीं सकते। जीवनक्रम में उत्पन्न विविध-विधि अवरोधों से छुटकारा पाये बिना हमारा उद्धार हो नहीं सकता, समस्याओं और विपन्नताओं से त्राण मिल नहीं सकता।

समृद्धि, प्रगति और सुख-शान्ति की समस्त सम्भावनाएँ बीज रूप में अपने ही भीतर भरी पड़ी हैं। सत्त्ववृत्तियों की देवी और सद्भावनाओं के देवता ही हमें दिव्य वरदानों से सुसम्पन्न बनाते हैं। अन्तरंग की विभूतियाँ ही बहिरंग की सिद्धियाँ बनकर सामने आती हैं। आत्म-शोधन और आत्म-परिष्कार जीवन का सबसे बड़ा

पुरुषार्थ माना गया है। इसे प्रत्यक्ष कल्प-वृक्ष की उपमा दी जा सकती है।

मनोमय कोश का विज्ञान और साधन हमारी मानसिक स्थिति के परिष्कार का ऋषि प्रणीत उपाय है। इस दिशा में कदम बढ़ाने पर हम हर दृष्टि से लाभान्वित ही होते हैं।

मन को कैसे वश में किया जाय?

साधारण मनुष्यों के मन में सांसारिक विषयों के संकल्प सदैव उठा करते हैं, पर आध्यात्मिक विचारों को ग्रहण करने को वह शीघ्र प्रस्तुत नहीं हो सकता। इसका कारण यही है कि हमारा मन विकारों से भरा रहता है। उसे शुद्ध करना आसान काम नहीं है। निष्काम कर्म, जप, प्राणायाम आदि जैसे साधनों द्वारा उसे विकारों से मुक्त करना पड़ता है, तब उसकी प्रवृत्ति स्वभावतः अध्यात्म की ओर जाती है।

मन दर्पण के समान है। यदि दर्पण गन्दा हो तो आप अपना मुँह साफ नहीं देख सकते। जब मन मलीन हो तो उसमें ईश्वर को साफ नहीं देखा जा सकता। जब आध्यात्मिक प्रयत्नों द्वारा उसे शुद्ध बना लिया जाता है, तो ईश्वर का साक्षात्कार अवश्य होता है। यदि शुद्ध होकर मनुष्य का मन शास्त्रों के अध्ययन, ज्ञानियों के सत्सङ्ग और ध्यान के अभ्यास में निरन्तर लगे तो ज्ञान की वृद्धि होगी और दिव्य दृष्टि प्राप्त हो जायेगी, जिससे परब्रह्म का सत्य ज्ञान होना सम्भव होगा। यज्ञ, दान, दया, वेदाध्ययन, सत्यभाषण—ये पाँचों मन को शुद्ध करने वाले हैं, छठी तपस्या है। तीर्थ-यात्रा भी मन को शुद्ध करती है। इसके द्वारा महात्माओं का सत्सङ्ग प्राप्त हो सकता है। जप निष्काम कर्म, अग्निहोत्र, ब्रह्मचर्य, सन्ध्या, तीर्थ-यात्रा, शम, दम, यम, नियम, स्वाध्याय, तप, व्रत, साधु-सेवा से सभी मन को शुद्ध करने के साधन हैं। निश्चय ही ऐसे शुद्ध हुए मन में पूर्ण आनन्द रहेगा। मन्त्र भी मन को शुद्ध करता है, पर तोते की तरह मन्त्र को केवल रटने से बहुत कम फल होता है। मन्त्र को भाव के साथ कहने से उसका आश्चर्यजनक फल होता है। जब तक मन्त्र में अपने ही मन की पूर्ण इच्छा-शक्ति नहीं भरी जायेगी, तब तक उसका बहुत ज्यादा प्रभाव नहीं हो सकता। सत्य भाषण और दया का अभ्यास मन को बहुत शुद्ध करने वाले व्यवहार हैं।

हमारी आँखें केवल देख सकती हैं। कान केवल सुन सकते हैं। जीभ केवल स्वाद ले सकती है। त्वचा केवल स्पर्श कर सकती है। नाक केवल सूँघ सकती है।

परन्तु मन देख सकता है, सुन सकता है, स्वाद भी ले सकता है, स्पर्श कर सकता है, सूँघ भी सकता है। सब इन्द्रियों की शक्तियाँ मन में निहित हैं। योगाभ्यास से आप मन के द्वारा देख और सुन सकते हैं। मन और इन्द्रियाँ एक हैं। मन का विकास इन्द्रिय है। मन इन्द्रियों का समूह है। मन में खाने की साधना से जिह्वा, दाँत और उदर की प्रवृत्ति होती है। यदि मन को वश में कर लिया जाये तो इन्द्रियाँ वश में हो जाती हैं। जो इन्द्रियों को वश में करता है वह मन को पहले ही वश में कर चुका होता है।

पंच महाभूतों के प्रभाव से उत्पन्न पाँचों इन्द्रियों का आपस में घनिष्ठ सम्बन्ध है। नासिका और गुदा की उत्पत्ति पृथ्वी तत्व से है। नाक सात्विक भाग से और गुदा राजसिक भाग से। ये दोनों आपस में सम्बन्धित इन्द्रियाँ हैं। ये दोनों सब से कम दुःख देती हैं और इनका संयम भी जल्दी हो जाता है। जिह्वा और उपस्थ (लिंगेन्द्रिय) जल-तत्व से बनी हैं। पहली सात्विक भाग से और दूसरी राजसिक भाग से। इनमें भी आपस में सम्बन्ध है। भोजन से जनेन्द्रिय को शक्ति मिलती है। यदि जिह्वा को वश में कर लिया जाय तो अन्य इन्द्रियाँ सहज ही वश में आ जाती हैं। सबसे ज्यादा चंचल और दुःखदायी जनेन्द्रिय है, उससे कम जिह्वा, उससे कम वाक्येन्द्रिय (बोलना), फिर कान और आँख। आँखें तथा पैर अग्नि तत्व से हैं। आँखें सात्विक भाग से और पैर राजसिक भाग से। आँखें देखना पसन्द करती हैं और पैर उसे वहाँ ले जाने को तैयार रहते हैं। त्वचा और हाथ वायु तत्व से बने हैं। वाक्येन्द्रिय और कान दोनों आकाश तत्व से हैं।

जिस प्रकार समुद्र नदियों से भरा जाता है, बिना नदियों के समुद्र की स्थिति नहीं है। इसी प्रकार मन इन्द्रियों द्वारा पूर्ण होता है, बिना इन्द्रियों के मन का अस्तित्व नहीं रह सकता। आँख, कान और जिह्वा—ये तीनों इन्द्रियाँ मन को बहिर्मुखी कर देती हैं और मनुष्य को सांसारिक विषयों में फँसा देती हैं। इसलिए किसी भी आध्यात्मिक साधना में इन तीनों इन्द्रियों को वश में करके ही मन को अन्तर्मुखी बनाया जा सकता है। मन की शान्ति के लिए शम और दम जरूरी हैं। इन्द्रियाँ यदि प्रबल हों तो अच्छे-अच्छे साधकों के मन भी इस तरह चलायमान हो जाते हैं। सब इन्द्रियों को भड़काने वाला मन है। इन्द्रियों और मन के द्वारा माया भी अपना मोह-जाल फैलाती है। इसलिए साधक को सदा सचेत रहना चाहिए। वैराग्य और वासना के द्वारा दम का अभ्यास करें। उदाहरणार्थ मिठाई के बाजार में खूब पैसा लेकर जाओ। तरह-तरह की मिठाइयों को खूब ललचाई

निगाह से देखो। पर कोई चीज खरीदो मत और घर को वापिस आ जाओ। उस दिन घर पर यदि उत्तम भोजन भी दिये जायें तो उन्हें ग्रहण मत करो। सादा भोजन करो। ऐसा करने से जिह्वा वश में आ सकेगी और आपकी इच्छा-शक्ति भी बढ़ेगी। यदि आप चाय छोड़ने का संकल्प करलें तो आपने जिह्वा को कुछ अंश तक वश में कर लिया। सारे बढ़िया भोजन छोड़ दो और इन्द्रियों के उपभोग के सारे पदार्थ त्याग दो। तीव्र तप का अभ्यास करो। तप से इन्द्रियाँ दुर्बल हो जाती हैं और मन वश में हो जाता है।

कुछ समय तक मौन रहने से वाक् इन्द्रिय का संयम होता है। इससे मन के चंचल रहने का एक बड़ा कारण दूर हो जायेगा और आपको शान्ति का अनुभव होगा। अब दृढ़ निश्चय के साथ ब्रह्म का ध्यान करो। बोलने से पहले अपने शब्दों के चुनने में सतर्क रहो। बोलने से पहले दो-तीन बार सोच लो। विचार करो कि आपके शब्द दूसरे पर क्या असर डालेंगे? धीरे-धीरे मौन का समय बढ़ाते रहो यहाँ तक कि महीनों तक बिना बोले तुम्हारा काम चल जाय। मन का अनुमान सदा बात को बढ़ाया करता है। इससे बचना चाहिए। शब्दों को ठीक-ठीक तोलकर बोलना चाहिए। मन का मौन वाणी के मौन से भी उत्तम है। जबर्दस्ती वाणी का मौन करने से मन के साथ बड़ा झगड़ना पड़ता है, प्रयत्न करना पड़ता है। इसलिए ऐसा अभ्यास करना चाहिए कि मौन स्वाभाविक हो जाय। वह अपने आप भीतर से उत्पन्न होना चाहिए तब ही पूर्ण शान्ति मिल सकती है।

एक प्रसिद्ध कहावत है कि 'मन जीता तो जगत जीता।' एक ओर प्रकृति है दूसरी ओर ब्रह्म है। मन इन दोनों के बीच में पुल का काम करता है। पुल पार करके आप ब्रह्म को प्राप्त कर सकते हैं। इच्छाओं, संकल्पों और अहंकार के नाश का तात्पर्य मन को पूर्णतः वशीभूत कर लेने से ही है। किले में से निकलते सिपाहियों को एक-एक करके मार दो तो आप किले पर कब्जा कर लेंगे। ऐसे ही ज्यों-ज्यों विचार उठते जायें एक-एक करके उनका नाश कर दो। आखिर को मन का भी नाश हो जायेगा। बराबर परमात्मा का विचार करते रहो आप बड़ी सुगमता से मन को जीत सकोगे।

जैसे श्वेत वस्त्र पर गुलाबी रंग अच्छा फैलता है, इसी प्रकार जब मन शान्त होवे, सारे लोगों की तरफ से उदासीन होवे, सारी इन्द्रियाँ अन्तर्मुखी हो जायें और मन के अज्ञान का नाश हो गया हो, तभी सद्गुरु के उपदेश शिष्ट के मन में प्रवेश करके प्रभाव दिखायेंगे। मन का

पूर्ण संयम केवल ब्रह्म विचार द्वारा ही हो सकता है। दूसरे साधन तो सहायक हैं।

यदि मन वश में रहे तो इसमें कुछ भी भेद नहीं होता कि आप महल में रहें या पहाड़ की गुफा में। मन का संयम होने से शरीर का भी संयम हो जाता है। शरीर तो मन की छाया है। मनोनिरोध में कोई वृत्ति या विचार नहीं रहता, परन्तु शून्यवृत्ति रहती है। संस्कारों का नाश नहीं होता। जिसने मन को जीत लिया है, वही सच्चा विजयी और महाराजा है जिसने इच्छाओं और मन को वश में कर लिया है वही सच्चा वीर है।

मानसिक सन्तुलन

सर्वोपरि—कला-कौशल

मनुष्य की सारी गतिविधियाँ और क्रिया-कलापों का संचालन केन्द्र मनःसंस्थान है। सागर की लहरों की भाँति मनः क्षेत्र में भी कितने ही उतार-चढ़ाव आते रहते हैं। कभी तो वह समुद्र-सा शान्त, आकाश जैसा नीरव और शीतल वायु का स्पर्श करता हुआ बहता है तो कभी समुद्र में आने वाले ज्वार-भाटे जैसा उफनता-उबलता रहता है। इच्छाएँ, आकांक्षाएँ, विचारणाएँ, भावनाएँ मन में ही उठती हैं तथा उन्हें पूरा करने की योजना बनाने का कार्य भी उसके जिम्मे आता है। स्वस्थ मनोभाव ही व्यक्ति के जीवन को सुयोग्य, सुसंस्कारी और हृष्ट-पुष्ट बनाने में सक्षम है। मानसिक सन्तुलन-सामंजस्य ही वस्तुतः स्वास्थ्य के चिह्न हैं।

चेतन प्राणियों की चेतन सत्ता ही नहीं वस्तु, व्यक्ति और परिस्थिति की दशा भी सदैव एक जैसी नहीं रहती। प्रकृति जड़ वस्तुओं को भी नचाती रहती है। प्रकृति चक्र के अनुसार समय-समय पर उनमें परिवर्तन होते रहते हैं। व्यक्तियों पर इन परिवर्तनों का प्रभाव पड़ता है और वह प्रतिक्रिया व्यक्त करता है। यह व्यक्ति की अपनी मनोदशा एवं मानसिक बनावट पर निर्भर है कि वह इन परिवर्तनों का क्या प्रभाव ग्रहण करे और क्या न करे ? जीवन के प्रति संतुलित दृष्टिकोण अपनाने से ही व्यक्ति मानसिक संक्षोभों, संवेगों को तटस्थ या संतुलित भाव से ग्रहण कर सकता है।

सन्तुलन के चार पक्ष हैं—(१) सतर्कता-सजगता, (२) विचार-प्रवाह कल्पना, (३) व्यवहार-अभ्यास, (४) रुझान उत्साह। इन चारों का सुव्यवस्थित क्रम चल पड़ने से मनुष्य मानसिक दृष्टि से समर्थ एवं सुविकसित बनता है।

मानसिक सन्तुलन न केवल जीवन की एक अनमोल निधि है, वरन् यह जीवन जीने की एक कला

भी है। इस कला के द्वारा जीवन को हरा-भरा, पल्लवित-पुष्पित और सुखी-शान्त बनाया जा सकता है। मन की गरिमा एवं विशालता पर विचार करने से प्रतीत होता है कि जीवन का अस्तित्व, स्वरूप, स्तर और भविष्य उसी केन्द्रबिन्दु के साथ जुड़ा हुआ है। देखने में जो कुछ प्रत्यक्ष दिखाई देता है उसमें शरीर की भूमिका प्रमुख दृष्टिगोचर होती है। पर वास्तविकता दूसरी ही है। मन ही पूरी तरह शरीर पर छाया हुआ है, उसके भीतर भी वही रमा है। पर्दे के पीछे बैठे बाजीगर मन की अँगुलियाँ ही व्यक्ति के अन्दर से अपनी करमात दिखाती रहती हैं।

सन्तुलन और सामंजस्य ही स्वस्थ रहने तथा तनाव मुक्त जीवन जीने का चिह्न है। तनाव तभी उत्पन्न होता है जब विचार-प्रवाह में गड़बड़ी पड़ जाने से कल्पनाएँ अनियन्त्रित हो जाती हैं। क्या सोचना और करना उपयुक्त है, क्या नहीं, क्या सम्भव है या असम्भव, साधन और परिस्थितियाँ क्या हैं ? इन सभी पहलुओं पर विचार करने के बाद ही कोई ठोस या अन्तिम निर्णय करना उपयुक्त होता है।

शान्तिमय एवं तनावमुक्त जीवन जीने के लिए यह आवश्यक है कि अस्त-व्यस्त बहुत-सी बातों सोचने और बेसिलसिले काम करने की बजाय पूरे दिन की एक योजना बनाकर यह निर्धारित कर लिया जाय कि कौन-कौन से कार्य सबसे जरूरी हैं? निर्धारित कार्यक्रमों पर ही चित्त को एकाग्र कर लिया जाय एवं बाकी चीजों को दिमाग से निकाल दिया जाय तो उस दिन का कार्य आसानी से निबटाया जा सकता है। समय और शक्ति, जो तमाम चीजों के सोचते रहने, आधे-अधूरे मन से काम करते रहने में अपव्यय हो रही थी, आसानी से बचाया जा सकता है और यही वह रहस्य है जिस पर चलकर महापुरुषों ने अनेकों महत्वपूर्ण कार्य किये हैं।

एक साथ बहुत सारे काम निबटाने के चक्कर में मनोयोग से कोई कार्य पूरा नहीं हो पाता। आधा-अधूरा कार्य छोड़कर मन दूसरे कामों की ओर दौड़ने लगता है। यहीं से श्रम और समय की बर्बादी प्रारम्भ होती तथा मन में खीझ उत्पन्न होती है। विचार और कार्य सीमित एवं संतुलित कर लेने से श्रम और शक्ति का अपव्यय रुक जाता है और व्यक्ति सफलता के सोपानों पर चढ़ता चला जाता है।

महत्वाकांक्षी होना प्रगतिशीलता की निशानी है। उनका होना किसी भी प्रकार अनुचित नहीं है। पर वे मात्र संकीर्ण स्वार्थपरता पर ही सीमित नहीं होनी चाहिए। 'स्व' के साथ पर का भी समन्वय होना चाहिए

महत्वाकांक्षाएँ जब समाज कल्याण एवं परोपकार की भावना से प्रेरित होती हैं, तब व्यक्ति के मार्ग में आने वाले अवरोध क्षोभ, तनाव, खीझ जैसे उत्पात पैदा नहीं कर पाते बल्कि प्रस्तुत अवरोध स्वयं आगे बढ़कर उस व्यक्ति का पथ-प्रशस्त करने लगते हैं। तुरन्त सफलता मिल जाने का भूत सवार होना, अपने बन्धु मित्र और परिचितों के सिर पर पैर रखकर आगे निकलने का नशा चढ़ जाना व्यक्ति को परेशान करके रख देता है। जब आतुर इच्छाओं के अनुकूल कार्य योग्यताओं, साधनों एवं परिस्थितियों के अभाव में ही नहीं हो पाता और असफलता मिलने लगती है, बाधाएँ सामने खड़ी दीखती हैं, तब मन तनावग्रस्त होने लगता है और सारी महत्वाकांक्षाएँ धूल में मिलने लगती हैं।

महत्वाकांक्षाओं को कम करके ईमानदारी से इस बात पर विचार किया जाय कि हम क्या-क्या काम कर सकते हैं, अपनी वर्तमान परिस्थितियों, साधनों और योग्यताओं के आधार पर क्या कार्य, कितनी मात्रा में, किस तरह कर सकते हैं? इस आधार पर किये गए निर्णय प्रायः असफल नहीं रहते। फलतः निरर्थक उद्विग्नता का भी सामना नहीं करना पड़ता। युक्ति-युक्ति महत्वाकांक्षाओं को सरलतापूर्वक प्राप्त किया जा सकता है।

इन दिनों दूसरों की उन्नति को देखकर ईर्ष्या-डाह में झुलसते रहने की आम आदत बन गई है। ईर्ष्या का यह भूत मानसिक तनाव उत्पन्न करने से प्रधान रूप से अपनी भूमिका अदा करता है। पराई उन्नति देखकर उसकी बराबरी करने के लिए लालायित होकर दौड़ने की बजाय यदि हम उसकी विशेषताओं से सीख ग्रहण करने लग जायें और उनकी खुशी में अपनी खुशी मिला लें तो जीवन की आधी समस्या हँसते-हँसते हल हो जायेगी। दूसरों से यह अपेक्षा करना कि सभी हमसे होंगे और हमारे कहे चाहे अनुसार चलेंगे, मानसिक तनाव बने रहने का निरर्थक उलझनों में फँसे रहने का मुख्य कारण है। इससे छुटकारा पाने के लिए यह आवश्यक है कि हम चुपचाप शान्तिपूर्वक अपना काम करते चलें और लोगों को अपने हिसाब से चलने दें। किसी व्यक्ति पर हावी होने की कोशिश न करें और न ही हर किसी को खुश रखने के चक्कर में अपने अमूल्य समय और शक्ति का अपव्यय करें।

सबको प्रसन्न रखना असम्भव है। इससे व्यर्थ में ही मन में अशान्ति, चिन्ता और क्षुब्धता बढ़ती है। शिष्ट, सहृदय, निष्कपट और मित्रतापूर्ण व्यवहार ही प्रसन्न बने रहने-तनाव मुक्त होने के लिये पर्याप्त है। दूसरों से केवल सीमित अपेक्षाएँ ही की जा सकती हैं। हर व्यक्ति

की अपनी परिस्थिति, मनःस्थिति, दृष्टि रुचि, मान्यता एवं आदरते हैं। उसे कोई हमारे चाहने मात्र से बदल देगा, यह सोचना निरर्थक है। कोई हमारी ही बात माने, उसी के अनुसार चलें, हममें ही रुचि ले और हमारी ही सहायता करे—ये चाहनाएँ गलत भी और हानिकारक भी। दूसरों पर भावनात्मक रूप से आश्रित न होना ही श्रेयस्कर है।

अस्त-व्यस्त जीवन जीना, जल्दबाजी करना, रात-दिन व्यस्त रहना, हर पल-क्षण को काम-काज में ही ढूँसते रहना भी मनःक्षेत्र में भारी तनाव पैदा करते हैं। अतः यहाँ यह आवश्यक हो जाता है कि अपनी जीवन-विधि दैनिक जीवन को विवेकपूर्ण बनाकर चलें। ईमानदारी, सज्जनता, संयमशीलता, नियमितता, सुव्यवस्था से भरा-पूरा हल्का-फुल्का जीवन जीने से ही मनःशक्ति का सदुपयोग होता है और उस ईश्वर प्रदत्त क्षमता से समुचित लाभ उठा सकने का सुयोग बनता है।

मन को मनाइये—अपना सहयोगी बनाइये

बुद्धिमान उसे कहा जाता है जो 'टूटे' को बनाना और रूठे को मनाना जानता है। कपड़े, बर्तन, फर्नीचर, मकान आदि की टूट-फूट होती रहती है। उसकी मरम्मत की जाती है। जो टूटा उसे फेंक दिया जाय, ऐसा कैसे हो सकता है? सब कुछ नया ही नया हो यह कैसे सम्भव है? इसी प्रकार जो रूठ जाय उससे खुद भी रूठ बैठें, तो घर परिवार का चलाना कठिन है? कभी पत्नी से अनबन हो जाती है, कभी बच्चों से, कभी भाई से मनचाल हो जाती है तो कभी पड़ोसी से मन-मुटाव बन जाता है, इस स्थिति को ऐसे ही रहने दिया जाय अथवा गाँठ को और कड़ी करते रहा जाय, तो काम नहीं चलेगा। उलझन बढ़ती चली जायेगी। जिनके साथ रहना है उनसे मीठे सम्बन्ध बनाये रहने में ही लाभ है।

मन हमारा सबसे निकट का सम्बन्धी है। पत्नी, बच्चे, भाई, पड़ोसी तो दूर वह शरीर से भी अधिक समीप रहने वाला स्वजन है। शरीर से तो सोते समय सम्बन्ध ढीले हो जाते हैं, मरने पर पर साथ छूट जाता है पर मन तो जन्म-जन्मान्तरों का साथी है और तब तक अपना अस्तित्व रहेगा, तब तक उसका साथ भी छूटने वाला नहीं। मन मुख्य और शरीर गौण है। मन की मर्जी पर आत्महत्या आदि से शरीर छोड़ा जा सकता है। शरीर की मर्जी से मन नहीं छूट सकता। मन की समझदारी से शरीर की अस्त-व्यस्तता दूर हो सकती है। शरीर परिपुष्ट

होने से मनोविकार दूर नहीं किये जा सकते। शरीर की सामर्थ्य तुच्छ है, मन की महान। मन का शासन शरीर पर ही नहीं—जीवन के प्रत्येक क्षेत्र पर है। उत्थान-पतन का वही सूत्राधार है। निन्दा और प्रशंसा उसी की गतिविधियों की होती है। किसी को सन्त, ऋषि, देवदूत और महापुरुष बना देना यह मन की सज्जनता का ही चमत्कार है।

ऐसे उपयोगी और सामर्थ्यवान साथी को रूठने नहीं देना चाहिए। रूठ जाय तो मनाना चाहिए। हमारी आज की सबसे बड़ी आवश्यकता यही है। अन्य काम छोड़कर भी इस ओर ध्यान देना चाहिए और जितनी जल्दी हो सके मन को मना लेना चाहिए।

मन आँख से दिखाई नहीं पड़ता, इसलिए उसका रूठना भी नहीं दीखता, पर विवेक की आँख से देखें तो वह रूठा हुआ प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होगा। रूठने वाले की पहचान है—साथ न देना, कहना न मानना, सहयोग न करना, नुकसान करना। बच्चा रूठ जाता है तो ऐसे ही उपद्रव करता है। घर का सामान तोड़ता-फोड़ता है और अपने हाथ-पैर पीटता है। घर को नुकसान पहुँचाता है और स्वयं कष्ट पाता है। रूठी हुई पत्नी भोजन करना, बोलना बन्द कर देती है। मन को पुष्ट करने में उपयुक्त स्वाध्याय सत्संग की खुराक लेनी उसने बन्द कर दी है। आत्मा के पास बैठकर कभी विचार नहीं करता कि घर का बनाव बिगाड़ किसमें है? कुमार्गगामी होकर रूठे बच्चे की तरह सबलता के साधन सदगुणों को तोड़ता-फोड़ता रहता है और स्वयं निन्दा, तिरस्कार, अप्पाव, दारिद्र्य, शोक-संताप का भागी बनकर कष्ट पाता है। रूठा हुआ नौकर या तो काम करता ही नहीं, करता है तो ऐसे ढंग से कि मालिक को और उलटा नुकसान पड़े। मन ने आत्मोन्नति के सारे प्रयास अवरुद्ध कर रखे हैं, कुछ करता है तो ऐसा विलक्षण जिससे इस लोक और परलोक में भविष्य अन्धकारमय ही बनता चला जाय। यह रूठने के प्रत्यक्ष चिन्ह हैं।

यह असहयोग-अवरोध देर तक नहीं चलने देना चाहिए। वह अपना भाई है उसके साथ राम-भरत जैसे मधुर सम्बन्ध बनाने चाहिए, रावण-विभीषण की तरह—सुन्दर उपसुन्द की तरह परस्पर द्रोही-विद्रोही बनकर रहने में क्या आनन्द?

मन ने यदि साथ दिया होता तो शरीर की ऐसी दुर्गति न होती जैसी आज है। उसने काया को स्वस्थ और समर्थ रखने के लिए संयम बरता होता। लिप्सा के फेर में न पड़ा होता। जीभ को, कामेन्द्रिय को व्यवस्थित में रखा होता। आहार-विहार की नियमितता बरती होती तो

काया गुलाब के फूल की तरह खिली हुई और गेंद की तरह उछलने वाली रही होती। बीमारी और कमजोरी की इस घर में घुसने की हिम्मत ही न पड़ती। मन रूठा बैठा रहा, शरीर को देखा सम्भाला ही नहीं, रुग्णता, ने घेरा डाल लिया। शरीर टूटा, आत्मा को अशान्ति रही और मन स्वयं ही उस रुग्ण काया में रहकर टूटे मकान में रहने वाले किरायेदार की तरह उद्दिग्न बना रहा।

मन यदि रूठा हुआ न होता तो उसने अपने आपको सँभाल लिया होता। अपने को गुण, धर्म, कर्म, स्वभाव से सुसंजित सुसंस्कृत रखा होता, पर वह तो कोपभवन में बैठा था। कपड़े फाड़े, बाल बिखरे, बिना नहाये-धोये, ऐसा ही गन्दा पड़ा रहा। अपना वेष बिगाड़ा, सम्मान खोया और बाप का काम बिगाड़ा। आत्मा को सहयोग देना तो सुसंस्कृत स्थिति में ही हो सकता था। मलीनता और कुत्सा का कलेवर ओढ़ लेने पर तो वह भारभूत ही रह सकता था, सो ही रह भी रहा है।

जीवन-क्षेत्र को सँभालने का उत्तरदायित्व यदि उसने सँभाला होता तो आज इस उद्यान की शोभा देखते ही बनती। शिक्षा से यदि उसने प्यार किया होता और एक-दो घण्टे रोज भी पढ़ने के लिए उत्सुकता प्रकट की होती तो अन्धाधुन्ध अपव्यय होने वाले समय में से थोड़ा-सा शिक्षा के लिए भी लगा सकता था और पिछले जो दिन ऐसे ही बर्बाद हो गये अब तक अपनी स्थिति उच्चकोटि के विद्वान जैसी हो गई होती। पर उसने विद्या में रस लिया कब ? रूठा जो बैठा रहा।

देवत्व के सारे उपकरण अपने भीतर विद्यमान थे। एक उँगली के सहारे यह सारा साज झंकृत हो सकता था। अपने भीतर बैठा सन्त, ऋषि, देव प्रतीक्षा करता रहा, जरा-सा सहारा मिले तो ऊपर उभरकर आये। पर मन को फुरसत ही नहीं मिली। वह रूठा रहा, भटकता रहा और अँगूठा दिखाता रहा, समय की निधि चुकती चली गई। अवसर हाथ से निकलता रहा। जीवन सन्ध्या निकट आ गई तो भी हाथ रे मन, तेरा सहयोग न मिल सका।

मन से अपनी दयनीय दुर्दशा का वर्णन करना चाहिए। परमात्मा का राजकुमार—सकल साधनों से सम्पन्न इस प्रकार दीन-हीन, निन्दित, तिरस्कृत असफल, असहाय बना फिर यह कितने दुःख की बात है? यह दुर्दशा केवल एक ही कारण से हुई है कि गाड़ी के दो पहियों में सहयोग नहीं रहा। आत्मा के गौरवशाली वर्चस्व की उपलब्धियों के लिए यह जीवन मिला है। यदि मन साथ दे तो महामानव की गरिमामयी स्थिति में प्रकाश और उल्लास भरा जीवन अब भी जिया जा सकता है। जो

गया सो बहुत था पर जो बचा है सो भी कम नहीं। यदि उतने में भी परस्पर सहयोग रह सके तो अभी भी उतना अवसर है कि अभिशाप को वरदान में बदला जा सके।

मन कुचाल छोड़, इन्द्रिय में भटकना छोड़। वासना आग की तरह है; भोग उपभोग से यह शान्त होने वाली नहीं है। इन्हें तृप्त करने के जितने ही साधन जुटायेगा उतनी ही अतृप्ति भड़ेकेगी। फिर उनके कुचक्र में जितना ही फँस जाय उतनी ही क्षमता, आयु, प्रतिभा घटती है। क्षणिक चटोरेपन के पीछे समर्थता की समाप्ति को गँवाने और दिन-दिन दुर्बल होते जाने से क्या लाभ ? बता मन, तू कोयलों के ऊपर मुहँरे निछावर करने में क्या बुद्धिमत्ता अनुभव कर रहा है ?

आत्मा रोती बिलखती रही, उसके सन्तोष, उत्थान, कल्याण के लिए एक कदम नहीं बढ़ाया गया, एक प्रयत्न नहीं किया गया। अन्तरात्मा की सहचरी सत्त्ववृत्तियाँ कुम्हलाई, मुरझाई और सूख गयीं, उन्हें सींचने को एक लोटा पानी नहीं डाला जा सका। सदभाव के बालक अपने पोषण की पुकार करते रहे, उनकी आवश्यकताएँ जुटाने से मुँह मोड़े रहा गया, पर दुर्बुद्धि, दुष्प्रवृत्ति और दुर्भावनाओं के पोषण के लिए तरह-तरह के साज-सरंजाम जुटाये जाते रहे। परिवार का पोषण विकास करना पर्याप्त था। पर उन्हें विलासी और धन, कुबेर बताकर छोड़ जाने के मोह से सारी ममता उन्हीं पर उड़ेल दी गई। उन्हें ही अपना समझा गया। जो कुछ किया जाये उन्हीं के लिए, जो कुछ सोचा जाय उन्हीं के लिए—सम्पन्न बनाया जाय तो उन्हीं को, समृद्ध बनें तो वे ही। उस छोटे से दायरे में अपनी सारी ममता समेटकर मन तू ठगा गया। इस मोहग्रस्तता ने लोक भी बिगाड़ा और परलोक भी। बता मन, तू इसी चाल पर कब तक चलता रहेगा ? विश्व परिवार की ओर से कब तक आँखें बन्द कराये रहेगा ?

मन तू शरीर का मित्र बना और आत्मा का शत्रु। शरीर को ठाठ-बाट जुटाने में, बड़प्पन दिलाने में, सत्ताधारी बनाने में लगा रहा, उसी के ताने-बाने बुनता रहा। पर इससे मात्र अहंकार बढ़ा। शरीर पर चिन्ता का भार बढ़ा और इस गधे पर इतना बोझ लादा कि कमर ही टूट गई। बाहर वाले बड़प्पन देखकर चौधियाते जरूर हैं पर भीतर ही भीतर सब कुछ खोखला पड़ा है। मन तू खुद भी मरा और अपने मित्र शरीर को भी मारा। यदि तू आत्मा का मित्र बन गया होता और जितना श्रम शरीर के लिए किया है उतना आत्मा के लिए करता, तो आनन्द आ जाता। आत्मा ऊँची उठकर परमात्मा बन

जाती और तू यशस्वी होता-धन्य हो जाता। पर हाथ रे कुचाली, तू तो रूठा बैठा रहा-उलटा ही चलता रहा-घर को खोखला किया और अपनों को चौपट कर दिया। जिन विरानों को अपना सब कुछ समझ रहा था, उनकी करतूतें तो देख-अहसान मानना तो दूर-अधिक शोषण के लिए उतावले और कृतघ्नता से बावले बने फिर रहे हैं। तेरे सारे प्रयास एक तरह से निरर्थक और निष्फल ही चले गये।

जीवन-लक्ष्य की बात सोचने के लिए तुझे फुरसत ही नहीं मिली, कर्तव्य का ध्यान कभी आया ही नहीं, ईश्वर के दरबार में जाकर लेखा-जोखा देना पड़ेगा, यह कभी सूझा ही नहीं, स्वार्थपरता की संकीर्ण परिधि में कीचड़ के कीड़े की तरह कुलबुलाता, बिलखता रह गया अभागे। अपने को ज्वलन्त दीपक की तरह प्रकाशवान बनाकर सबको प्रकाश देते और स्वयं प्रकाशपुञ्ज कहलाता, यह मार्ग तुझे क्यों नहीं सूझा? विश्व भगवान की सेवा साधना के लिए भीतर से हुलास क्यों नहीं उठी—पत्थर के टुकड़ों पर सिर पटककर ईश्वर भक्ति की विडम्बना तो रचता रहा पर प्रेम के अमृत की एक बूंद भी सच्ची भक्ति के रूप में कभी नहीं उपजी। आस्तिकता का कलेवर ओढ़े फिरने वाले नास्तिक बता, तेरी इस बाल-क्रीड़ा से ईश्वरीय अनुग्रह का एक भी कण कैसे मिल सकेगा ?

भूलें, बहुत चुकीं। बहुत क्या-यों कहना चाहिए कि अब तक का सारा जीवन भूल-भुलैया में भटकते हुए ही बीत गया। जब वस्तुस्थिति पर विचार आता है, हानि का लेखा-जोखा सामने आता है, तो छाती फटती है। जितना समय, श्रम और प्रयत्न मृग तृष्णा में भटकते बीता, यदि वह सही दिशा में, राजमार्ग पर चलने में लगा होता तो अब तक कितनी मंजिलें पार हो गई होतीं। कितने ऊँचे पहुँचे होते, कितने आगे बढ़े होते। पर कोल्हू के बैल की तरह, बालू में से रेत निकालने की तरह हाथ कुछ नहीं आया। खीज, क्षीणता, जलन और पछतावे के सिवाय इस भूल भरे मार्ग पर और मिलना ही क्या था? सब कुछ गँवा बैठने पर भी तृष्णा और वासना के शूल अभी भी वैसा ही दर्द करते रहते हैं और चैन नहीं मिलने देते।

शिक्षा, विनोद, व्यायाम, मैत्री, खर्च, सम्भाषण, परामर्श, चिन्तन आदि सामान्य दैनिक कार्यों में वह औचित्य और मनुष्यत्व को बनाये रखता है। फलस्वरूप यही रोज मर्रा के काम एक प्रकार से योग साधना बन जाते हैं। इसका प्रभाव मानसिक स्थिति पर पड़ता है। यह विहार क्रम जिसे सात्विक मिला है, उसका मन न

कुमार्गगामी होगा, न उच्छ्वंखल। वह उद्धत आचरण नहीं करता। जानता है, मुझे अस्तित्व की सहायता करनी है। मुझे कोई ऐसा काम न करना चाहिए जससे जीवात्मा के जीवन-लक्ष्य में बाधा-व्यवधान उत्पन्न हो। ऐसा समझदार मन मर्यादा तोड़कर सेवक से शासक बनने का प्रयत्न स्वतः ही नहीं करता औरक उसके उच्छ्वंखल बनने की आशंका नहीं रहती।

मन पर देख-रेख न रखी जाय, उसे दुनिया की भेड़चाल में चलने दिया जाय तो वह भी अन्य चोर नौकरियों की तरह भोले मालिकों की हजामत बनाने का ढर्रा अपना लेगा। यदि मालिक सावधान हो और यह जानता हो कि इस दुम्हूँ सर्प को कैसे बरता जाय तो वह खतरे से बच जायेगा। सरकस के शेर की तरह सधा हुआ मन मालिक का हित साधता और दर्शकों का मनोरंजन करता है पर यदि वह उजड़ु और अनियन्त्रित हो तो मालिकों से लेकर दर्शकों तक सभी के लिए संकट सिद्ध होगा। मन रूपी दुधारी तलवार से जहाँ शत्रु को समाप्त किया जा सकता है, वहाँ उलटा प्रयोग होने पर अपना भी सर्वनाश हो सकता है।

मन को साध लिया जाय तो वह पारद से रसायन बनने की तरह उपयोगी भी अत्यधिक है। उसका कुसंस्कारी रूप तो विषैले पारे की तरह है, जो जिस शरीर में भी जायेगा उसे तोड़-फोड़कर बाहर निकलेगा। मन को निग्रह के लिए जहाँ उसे सत्परामर्श देना, समझाना-बुझाना, मनन, चिन्तन के आधार पर परिष्कृत करना, स्वाध्याय, सत्संग से सम्मार्गगामी बनाया जाना चाहिए, वहाँ यह भी आवश्यक है कि उसके लिए आहार-विहार की ऐसी व्यवस्था बनाई जाय, जिससे वह स्वयं उच्छ्वंखलता छोड़कर शालीनता को स्वीकार करने के लिए सहमत हो जाय।

मन, तेरे हाथ जोड़ते हैं, तेरे पैर छूते हैं, तेरे चरणों पर लोटते हैं, तू जीता हम हारे। पर अब कृपाकर, रूठना छोड़ दे। कुचाल मत चल, सही रास्ते पर आ जा। आत्मा का बन, उसी के साथ रह—उसी की सहायता कर, उसी के काम आ। आखिर तू आत्मा का ही तो पुत्र है। माता के साथ दुष्टता, माया के साथ रास-विलास। बच्चे इस रास्ते से पीछे लौटा। बाप अब तो कृपा कर। तेरी शरण में आये—शरणागत को अब और आगे मत सता। तू रूठना छोड़ दे, मन जाय, तो जीवन सन्ध्या की इन घड़ियों में भी अन्धकार को प्रकाश में बदला जा सकता है। देवता, अब तू प्रसन्न हो, वरदान दे तभी नाव पार उतरेगी अन्यथा अब डूबे-तब डूबे।

ऐसा चिन्तन, मनन हमें नित्य ही एकान्त में करना चाहिए। मन के साथ वार्तालाप करने का नाम ही चिन्तन है। उसी को स्वाध्याय सत्संग की उच्च भूमिका भी कहते हैं।

मन का बचकानापन एवं विवेक

बुद्धि का दायित्व

चिन्तन का एक स्वरूप है अपने चिन्तन और चरित्र का वर्गीकरण करना, विचारों की विकृतियों का निष्कासन एवं सुधार करना। दूसरा अपनी सत्ता और क्षमता का वास्तविक स्वरूप समझना और उसे प्रगतिशीलता के मार्ग पर बढ़ाते चलना।

हवा के साथ उड़ती हुई धूल हमारे शरीर, वस्त्र, फर्श, बर्तन आदि को रोज मलीन करती है। अतएव इन सबको नहाने, धोने, बुहारने, मॉजने का नित्य कर्म करना पड़ता है। यह सफाई चिन्तन एवं चरित्र की भी होनी चाहिये। संसार का प्रचलन प्रवाह यों अच्छा भी है और बुरा, पर उसमें से अच्छा बहुत ढूँढ़ने पर मिलता है। चन्दन, मोती, केशर, कस्तूरी आदि कहीं-कहीं मिलते हैं और उन्हें प्राप्त करने के लिये कष्टसाध्य प्रयत्न करने पड़ते हैं, पर पैर में चुभने वाले कंकड़ और काँटे तो हर जगह बिछे मिल जाते हैं। राह में उनसे बचने के लिये जूते पहनने पड़ते हैं और हर घड़ी सामने निगाह रखकर चलना पड़ता है। चूक होने पर उसके प्रभाव से पैर लहलुहान हो जाता है। यही बात संसार में फैली हुई अच्छाइयों और बुराइयों के सम्बन्ध में भी है। श्रेष्ठता से सम्पर्क जब-तब जहाँ-तहाँ ही हो पाता है। किन्तु बुराई से पाला पग-पग पर पल-पल में पड़ता है। वातावरण में जो तत्व बहुलता से भरे हैं, वे आसानी से ऊपर चढ़ दौड़ते हैं। मन का रुझान भी पानी की तरह नीचे की ओर बहता है। बुराइयों से तात्कालिक तुष्टि होती है। फिर चाहे उसका परिणाम कुछ भी क्यों न हो ? परिणाम देर से मिलता है पर दुष्कर्म के साथ जुड़ा हुआ रसास्वादन तो हाथों-हाथ मिल जाता है। इसलिये उसे अपनाने को मन मचलता और हाथ बढ़ाना अनायास ही हो जाता है। कोई बुद्धिमान ही आगा-पीछा सोचते हैं। अधिकांश लोगों की बाल-बुद्धि तत्काल लाभ के लिये ही मचलती रहती है।

छोटा बच्चा आग और साँप की चमक देखता है और उसे पकड़ने दौड़ता है। इसे पकड़ने का क्या परिणाम होगा ? यह सोचने की बुद्धि समझदारी आने पर ही विकसित होती है। बच्चा कोई कीड़ा-मकोड़ा, कील-पत्थर आदि मुँह में डाल सकता है। इससे उसका प्राण संकट में पड़ सकता है, पर वह करे क्या ?

बालक जो ठहरा। उचित और अनुचित का भेद करने और दोनों में से किसे अपनाना है, यह विवेक देर से आता है। इसलिये बच्चे पर अभिभावक निगाह रखते हैं कि वह घुटनों चलने लगा सो तो ठीक पर कुछ ऐसा न कर डाले जिससे संकट खड़ा हो जाय। वे उसे बराबर रोकते, टोकते, सिखाते और बचाते रहते हैं। यही स्थिति हर व्यक्ति की होती है। मनुष्य आयु की दृष्टि से बड़ा हो जाता है, पर उसका बचपना बना ही रहता है, जिनके अभिभावक बेखबर रहते हैं, वे बच्चे को संकट में डालते और स्वयं पछताते हैं। यह व्यवहार मन के साथ भी होना चाहिये।

विवेक बुद्धि को अभिभावक की भूमिका निभानी चाहिये और उसे अपना कर्तव्य निभाना चाहिए। बच्चा जब तक समर्थ समझदार नहीं हो जाता, तब तक बड़े उसका बराबर ध्यान रखते हैं। विवेक बुद्धि को अभिभावक जैसी भूमिका निभानी चाहिये। उस पर तिरछी निगाह रखनी चाहिये कि कोई अटपटा काम तो नहीं कर रहा है। गलती करने पर रोकते। साथ ही पढ़ाने, लिखाने, सफाई रखने, शिष्टाचार बरतने की शिक्षा भी देते रहते हैं, इन प्रसंगों में अभिभावकों की सतर्कता आगे चलकर बड़ा काम करती है। भले ही रोकते समय बच्चा ज़िद करे या मचले। भले ही सिखावन की ओर उपेक्षा बरते, पर बच्चे का भरण-पोषण करते हुए भी उसकी मर्जी नहीं चलने देते। जब हैरान करता है तो आँखें दिखाने से लेकर, झल्लाने और चपत लगाने का उपक्रम करते हैं।

झूठे लाड़-प्यार में बच्चे बिगड़ जाते हैं। रोक नहीं करते। बच्चे को नाराजी न हो इसलिये उसकी गतिविधियों पर रोक नहीं लगाते। फलतः वह धीरे-धीरे बुरी आदतें अपनाता रहता है और जब बड़ा हो जाता तब समझाने-बुझाने का समय निकल जाता है। बुरी आदतें परिपक्व होने पर छूटती नहीं। अच्छी आदतों को कई प्रतिभाशाली बहकाकर छुड़ा भी देते हैं।

विवेक बुद्धि की सुयोग्यता इसी में है कि वह मन के ऊपर नियन्त्रण भी रखे और प्रशिक्षण भी करे। इसी को कहते हैं एक आँख प्यार की एक आँख सुधार की रखना।

शरीर की आयु बड़ी हो जाने पर भी मन का बचकानापन जाता नहीं। उसकी कल्पना पर दृष्टि डाली जाय तो पता चलेगा कि वह जो उड़ानें उड़ता है, उसमें उपयोगिता का अंश कम और अनुपयोगिता का ज्यादा होता है। इसीलिये कहा गया है कि “खाली दिमाग शैतान की दुकान होती है।”

छोटे बच्चे को गोदी में लेकर मेला देखने जाया जाय और उससे पूछा जाय कि क्या चाहिए ? तो हर चमकीली वस्तु की ओर इशारा करेगा। किसी-किसी को लेने के लिये वह मचलेगा भी। उसे इस बात का ज्ञान कहाँ होता है कि हर चमकीली चीज आकर्षक भले ही लगे पर काम की नहीं होती। यदि बच्चे को फुसलाया धमकाया न जाय तो वह सारा मेला खरीदकर रहे। जहाँ कहीं सुख-सुविधा, ऐश्वर्य, ठाठ-बाट, सौन्दर्य दीख जाता है वहीं अटक जाता है और संसार का सारा वैभव समेटकर अपनी झोली में ले चलने के लिये ललचाता, पैर फैलाता है। उसे यह ज्ञान नहीं होता कि संसार की वस्तुयें मूल्य देकर खरीदनी पड़ती हैं। क्षमता, योग्यता, पात्रता अर्जित किये बिना धन, वैभव, ठाठ-बाट एवं वासनाओं का उपयोग सम्भव नहीं है। क्षमताओं का सम्पादन न करके जो किसी भी मूल्य पर वैभव के लिये मचलते हैं, उन्हें अपराधी दुष्प्रवृत्तियाँ अपनाती पड़ती हैं। साथ ही उनका दुष्परिणाम भी भुगतना पड़ता है। यह सब मन की बाल बुद्धि है। इसके हानि-लाभ समझना विवेक बुद्धि का काम है। यदि वह अंकुश न रखे, रोकथाम न करे, समझाने से लेकर प्रताड़ित करने तक काम न करे तो समझना चाहिए कि बुद्धि ने पैर फैला दिये और मन को स्वेच्छाचार बरतने की छूट मिल गयी। इसका परिणाम पश्चात्ताप ही हो सकता है। जब अनौचित्य का दुष्परिणाम भुगतना पड़ता है तब मन की और बुद्धि की आर्थिक निन्दा होती है। दोषारोपण भी उसी पर होता है। कुछ अनर्थ कर बैठने पर यही कहा जाता है कि तेरी बुद्धि मारी गयी थी क्या ?

स्मरण रहे मनुष्य का शरीर बड़ा हो जाने पर भी मन बच्चा ही बना रहता है। वह सदा ऊटपटांग ही सोचता रहता है। असम्भव और निरर्थक कल्पनाओं में ही उलझा रहता है। अवसर मिल जाये तो कुकृत्य करने और विपत्ति में फँसने में भी नहीं चूकता।

हाथी को सही राह पर चलाना महावत का काम है। घोड़े की सामर्थ्य का किस प्रकार क्या उपयोग करना है यह सवार का काम है। वह यदि अपना दायित्व निभाने में प्रमाद करे तो मनुष्य आलसी, प्रमादी, दुर्व्यसनी, दुर्गुणी, कुमार्गगामी कुछ भी हो सकता है। इसलिये अभिभावक और बच्चे का उदाहरण ध्यान में रखते हुए विवेक बुद्धि को अपनी गरिमा के अनुरूप मन को सुधारने के लिये जिम्मेदारी भी निबाहनी चाहिये और कड़ाई भी बरतनी चाहिये।

शरीर मन के नियन्त्रण पर चलता है

मन और शरीर ऊपर से देखने में दो अलग-अलग वस्तुएँ प्रतीत होती हैं पर वस्तुतः इनमें किसी प्रकार का भेद नहीं है। केवल रूप में भिन्नता है। विशुद्ध रूप से इन दोनों का अस्तित्व एक-दूसरे पर टिका हुआ है। मन शरीर के बिना कुछ कर नहीं सकता और शरीर मन के बिना किसी भी कार्य को कर सकने में असमर्थ होता है। इसी से अनुमान लगाया जा सकता है कि शरीर और मन का एक-दूसरे से कितना घनिष्ठ सम्बन्ध है?

शरीर मन की रक्षा करने वाला ऊपरी आवरण है। इस जड़ शरीर का निर्माण जड़ और चेतन तत्वों के मिश्रण से हुआ है। उन्हीं तत्वों के सूक्ष्म और अदृश्य स्वरूप से हमारे सूक्ष्म शरीर की रचना हुई है। अतः शरीर और मन में मात्र इतनी ही भिन्नता है कि एक दृश्य है और दूसरा अदृश्य, एक स्थूल है दूसरा सूक्ष्म। उदाहरणार्थ—पानी का साधारण रूप जड़ और उसका दूसरा रूप सूक्ष्म है जो दिखाई नहीं पड़ता है, जिसे हम भाप कहते हैं। जिस प्रकार पानी और भाप के स्वरूप में भिन्नता भर है गुण दोनों के समान है, उसी प्रकार सूक्ष्म और स्थूल शरीर के बारे में भी है। स्वरूप में भिन्नता है गुण दोनों के ही समान है। मन में विचार उत्पन्न होते हैं। शरीर उन्हें क्रिया रूप में परिणित कर देता है। मनुष्य के मन में उदित होने वाले विचार शरीर को प्रभावित करते हैं। उससे प्रभावित होकर ही व्यक्ति का शरीर क्रियाशील बनता है। प्रायः लोगों को ऐसा कहते सुना जाता है कि 'मेरा मन ठीक नहीं है' इस समय हर काम नहीं कर सकते हैं। कारण कि मन दुःखी, चिन्तित एवं असन्तुष्ट होता है तो उसका प्रभाव हमारे शरीर पर भी पड़ता है।

मनुष्य वर्तमान समय में जो कुछ भी है अपने मन में निहित विचारों के ही कारण है। मन में व्यक्ति जिस बात का विचार कर लेता है वैसा ही आचार-व्यवहार करता है। फलतः उसका जीवन उसी ढाँचे में ढल जाता है। जब कभी हमारे ऊपर कोई विपत्ति आ पड़ती है तो हम उसका पूरी तरह से सामना करते हैं तथा सफल हो जाते हैं। ऐसे ही क्षणों में मन की उस दिव्य एवं अमोघ शक्ति का हमें आभास होता है। यह विराट शक्ति सबके अन्दर सुप्तावस्था में छुपी हुई है। इसकी तुलना अग्नि से कर सकते हैं, उसे हम कुछ प्रयत्न एवं पुरुषार्थ करके जला सकते हैं। मन की इसी प्रचण्ड शक्ति के सहारे मनुष्य बड़ी-बड़ी कठिनाइयों को पार कर जाता है और

१.५८ चेतन, अचेतन एवं सुपर चेतन मन

कभी-कभी तो इतने बड़े-बड़े काम कर दिखता है कि जिसकी कभी आशा भी नहीं की जा सकती थी।

कार्य के प्रति सच्चा प्रेम मन में उत्पन्न हो जाय तो व्यक्ति निठल्ले बैठ रहना पसन्द न करेगा। आलसी और दरिद्री लोग बेकार पड़े रहने में सुख अनुभव करते हैं किन्तु कामकाजी वास्तविक कार्य करने में ही सुख पाते हैं। कर्तव्यनिष्ठ व्यक्तियों के जीवन में ऐसे अनेक अवसर उत्पन्न होते हैं कि यदि आलसियों के जीवन में यह अवसर आ जाए तो वह बीमार ही पड़ जायें, किन्तु कर्मठ व्यक्तियों के मन और शरीर पर उनकी कर्तव्यपरायणता के कारण इन साधारण कष्टों का कुछ असर नहीं पड़ता है।

घर में आग लग जाने के कारण अपना बचाव करने के लिए कई महीनों से बीमार पड़ा हुआ व्यक्ति उठकर भाग निकलता है। रोगी में वह विलक्षण परिवर्तन उसके अन्दर छुपी हुई शक्ति के कारण हुआ था। उसी अद्भुत शक्ति से प्रेरित होकर व्यक्ति दुरुह कार्यों को भी कर दिखाता है। जब तक कोई कठिन परिस्थिति नहीं होती है तब तक उसे अपनी सहनशीलता एवं सामर्थ्य का सही अनुमान नहीं लग पाता।

कई भयंकर रोगियों की स्थिति देखकर देखने वाला यह सोचने लगता है कि न जाने इसके प्राण कहाँ रुके हुए हैं। इस कठोर यातना को वह कैसे सह रहा होगा किन्तु जब ऐसी स्थिति उसकी हो जाती है तो वह जैसे-तैसे उसे सहन कर लेता है। अभिप्राय यह है कि मनुष्य सशक्त मन के द्वारा शरीर से हर कठिनाई का सामना कर लेता है। मन में जिस तरह के विचार उठते हैं। शरीर पर उनका ही प्रभाव पड़ता है। मन रोगी है तो शरीर भी रोगी हो जाता है। भावी संकट की कल्पना मात्र करके मनुष्य इतना भयभीत हो जाता है कि उसकी सारी शक्तियाँ शिथिल पड़ जाती हैं। यह सब उनके मन की दुर्बलता का द्योतक है। मन की दुर्बलता ही व्यक्ति के शारीरिक स्वास्थ्य एवं सुख का नाश करती है। विपत्ति जितनी ज्यादा भयानक नहीं होती उससे अधिक मन की अस्त-व्यस्तता हमें दुःखी एवं असन्तुष्ट बना देती है। मनुष्य जो कुछ भी अच्छा-बुरा कार्य करता है, वह सब सूक्ष्म शरीर की अकथनीय एवं अज्ञात शक्ति से प्रेरित होकर ही करता है।

मन में उत्पन्न हुई शक्ति से शरीर कार्य करता है। शरीर में कभी कोई कष्ट होता भी है किन्तु मन उत्साह एवं प्रसन्नता से पूरित होता है, तब शारीरिक कष्ट भी थोड़ी देर के लिए विस्मृत हो जाते हैं। हम उस अमोघ शक्ति का नाश करते जा रहे हैं, जो दुःखों, रोगों एवं

विपत्तियों में भी धैर्यपूर्वक सामना करने की हमें प्रेरणा देती है। यह शक्ति जब मन से प्रस्फुटित होती है तभी शरीर उसके सहारे कार्य कर दिखता है। व्यक्ति अनेक समस्याओं से उलझा हुआ मन में चिन्तित रहता है और उसका असर अवश्य पड़ता है। मन खिन्न है तो शरीर पर उसका असर अवश्य पड़ेगा। आवश्यकता इस बात की है कि शरीर और मन के अविच्छिन्न सम्बन्ध के विषय में ध्यान रखते हुए मन को शुद्ध एवं संतुलित रखें। तभी हम स्वस्थ रह सकेंगे और मन की दिव्य शक्ति के सहारे प्रगतिशील बन सकेंगे।

मनुष्य ईश्वर की सृष्टि का सर्वश्रेष्ठ प्राणी है। उसकी रचना में उसने अपना सारा कौशल लगा डाला है, इतना ही नहीं सुखी एवं समृद्ध बनाने वाली शक्ति भी प्रदान की है। जिसके सहारे मनुष्य दुःख-कष्ट की ज्वाला को मन रूपी प्रचण्ड शक्ति के माध्यम से शान्त करता चलता है। जीवन की दिव्य से दिव्यतम् बना देने की शक्ति इसी के अन्दर छुपी रहती है।

मनुष्य के शरीर के अन्दर सभी सुख-सुविधा एवं प्रगति के साधन छुपे हुए हैं। मनुष्य को सुख बाहरी किसी वस्तु से नहीं मिल सकता है। वह तो तभी मिल सकता है जब वह अपनी आन्तरिक शक्ति से परिचित हो। उन साधनों के उपयोग से वह स्वास्थ्य, सुख एवं शान्ति प्राप्त कर सकता है। यह मार्ग प्रत्येक व्यक्ति के लिए खुला हुआ है। मनुष्य के अन्दर एक दैवी शक्ति निवास करती है। यदि यह शक्ति विकसित हो जाय तो शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार के दुःख खत्म हो जाते हैं।

गीता में कहा गया है 'मन ही मनुष्यों के बन्धन और मोक्ष का कारण है।' व्यक्ति का मन अगर भव-बन्धनों अर्थात् काम-क्रोध, मद-लोभ, दम्भ, दुर्भाव, दोष आदि पर विजय प्राप्त कर लेता है तो वही मोक्ष की स्थिति होती है, तभी बन्धनों से व्यक्ति छुटकारा पा जाता है। हमारा मन ही बन्धन का कारण है क्योंकि हमारे मन में दूषित विचारों का बाहुल्य हो तो शरीर भी अवांछनीय कार्यों को करेगा और फलस्वरूप दुःख भोगने पड़ेंगे। शरीर मन की प्रेरणा से कार्य करता है। मन में विचार उत्पन्न न हों तो शरीर तो जड़ वस्तु है, वह कैसे कोई कार्य कर सकता है।

शरीर और मन के अटूट सम्बन्ध पर विचार करते हुए हमें अपने अन्दर छुपी हुई मनःशक्ति को जानना चाहिए, जो कि हमारे शरीर को नियन्त्रण में रखती है और दिव्य एवं आलौकिक बनाने में सहायक सिद्ध होती है।

मन को शासक नहीं, सेवक बनाया जाय

मन हमारे शासक और सेवक के दोनों काम कर सकता है। यदि हम उसे ढीला छोड़ दें, स्वच्छन्द विचरने दें, उसके कहने पर चलें और अपना आत्म-समर्पण उसे कर दें तो मन शासक है। इसके विपरीत यदि हम उसे कसे रहें, नियन्त्रण में रखें, अभीष्ट मार्ग पर चलायें, आदेश दें और उसे उपकरण या वाहन की तरह इस्तेमाल करें तो वह सेवक है। शासक की दृष्टि से वह बुरा शासक है। अपना भी नाश करता है और अपने प्रदेश, शरीर, प्रजा कायिक उपकरणों का भी सत्यानाश करके रख देता है। ऐसे चंचल मर्कट को शासक नियुक्त करने की जो भी भूल करेगा पछतायेगा। पर वह सेवक के स्थान पर बहुत ही उपयुक्त, योग्य, सामर्थ्यवान् कुशल, सब कुछ है। इससे बढ़िया, सस्ता, अहर्निश साथ रहने वाला वाला, वफादार नौकर इस दुनिया में और कोई मिल ही नहीं सकता, हो ही नहीं सकता।

मन की खुराक दो है—आहार और विहार। जैसा हम अन्न खाते हैं उसका स्थूल रूप शरीर के उपयोग में आता है और सूक्ष्म भाग मन को खुराक बन जाता है। प्रोटीन, स्टार्च, शर्करा, खनिज विटामिन, वसा, कार्बोहाइड्रेट आदि तत्वों के सन्तुलन पर शारीरिक खुराक की उत्कृष्टता निकृष्टता रहती है। खराब भोजन हमें दुर्बल और रुग्ण करता है, अच्छा भोजन नीरोग और बलिष्ठ। आहार का सूक्ष्म भाग उसके साथ अविच्छिन्न रूप से जुड़ी हुई सात्विकता है। मिर्च, मसाले, तले, भुने, नशीले पदार्थ तामसिक हैं, यह गुण मन को प्रभावित करता है और ऐसा आहार करने वाले, क्रोधी तामसी, कामुक, चंचल और पतनोन्मुख प्रवृत्तियों से घिर जाते हैं। बेईमानी से दूसरों को दुःख या धोखा देकर, अनीतिपूर्वक बिना परिश्रम कमाया हुआ पैसा जब पेट में जाता है तो उससे मन अतीव उच्छृंखल, उद्दण्ड हो जाता है। तब वह न शास्त्र की बात मानता है और न सन्त की। अपनी तानाशाही चलाता है और सर्वनाश करने वाले नृशंस शासक का धिनौना उदाहरण प्रस्तुत करता है।

पोषण का दूसरा माध्यम है-विहार। जल, वायु, वस्त्र, निवास, सोना, उठना, श्रम, विनोद, संयम, स्वच्छता, सङ्गति, परिस्थिति, वातावरण आदि की मिली-जुली व्यवस्था को विहार कहते हैं। इन बातों का शारीरिक स्वास्थ्य पर बहुत प्रभाव पड़ता है। अवांछनीय विहार करने वाले उच्छृंखल लोग कभी स्वस्थ नहीं रह सकते। अकेला आहार अच्छा होने से ही काम नहीं

चलता, विहार भी ठीक होना चाहिए। तभी गाड़ी के दोनों पहिये ठीक तरह लुढ़केंगे और स्वास्थ्य ठीक रहेगा।

विहार का सूक्ष्म रूप भी है जो मन का पोषण करता है। यह है काम करते समय रखा जाने वाला दृष्टिकोण। सामान्य जीवनयापन भी उच्च दृष्टिकोण युक्त हो सकता है और उसी को निकृष्ट भावना से किया जा सकता है। काम का बाहरी स्वरूप एक जैसा रहते हुए भी उसका सूक्ष्म प्रभाव सर्वथा विपरीत होगा और मन का पोषण उसी एक जैसे काम से भिन्न व्यक्तियों को भिन्न प्रकार का मिलेगा।

काम सेवन इन्द्रिय लिप्सा के लिए या समाज को सुयोग्य नागरिक प्रदान करने के लिए, इन दोनों दृष्टिकोणों में जमीन-आसमान का अन्तर है। पत्नी नौकरानी, चौकीदारिन, महाराजिन और काम-पिपासा एवं मनोरंजन के लिए अथवा जीवन सहचरी, धर्म पत्नी का प्रयोजन पूरा करने के लिए ? विवाह दाम्पत्य जीवन एक समान रहते हुए भी दोनों की दिशाएँ विपरीत हैं। एक दृष्टिकोण से किया गया विवाह मनुष्य को सदा असन्तोष और संताप ही देता रहेगा दूसरे दृष्टिकोण से बनाया गया दाम्पत्य जीवन एक वरदान की तरह प्रतीत होगा।

जीवन के लिए भोजन अथवा भोजन के लिए जीवन इनकी प्रतिक्रिया सर्वथा भिन्न होती है। दो व्यक्ति एक साथ, एक समय, एक जैसा भोजन करते हैं। पर उनके परिणाम मन के ऊपर भिन्न प्रकार की छाप डालते हैं। भोजन सम्बन्धी रुचि और मर्यादा में अन्तर उपस्थित करते हैं। खाते समय जो छाप मन पर पड़ती है, उसमें भारी अन्तर रहता है। भोजन को औषधि, ईश्वर का प्रसाद समझकर ग्रहण करने वाला व्यक्ति उसे अमृत समझकर श्रद्धा और प्रसन्नतापूर्वक उतनी मात्रा में खाता है, जितना स्वास्थ्य के लिए आवश्यक है। वस्तुओं के चुनाव में उसे पोषक तत्वों और गुणों का ध्यान रहता है। जबकि भोजन के लिए जीने वाला स्वाद के पीछे पड़ा रहता है। मनचाहा स्वाद न मिलने पर आहार को फेंके-फेंके फिरता है, नाक-भौं सिकोड़ता है और स्वादिष्ट वस्तु मिलने पर पेट में अधिक दूँसता चला जाता है। ऐसा आहार मन पर कुत्सित प्रभाव ही डालेगा, उसे कुसंस्कारी ही बनायेगा।

व्यापार, कृषि, नौकरी आदि आजीविका के माध्यमों में दृष्टिकोण की भिन्नता रहती है। एक व्यक्ति इन माध्यमों से बिना नीति-अनीति का विचार किये जितना भी, जैसे भी सम्भव हो अधिक उपार्जन का प्रयत्न करता है। ग्राहक के, मालिक के, साथियों के अधिकारों का अपहरण करता है और किसी भी सूरत से अपनी

सम्पन्नता बढोरने में लगा रहता है। दूसरा व्यक्ति दूसरों का प्रयोजन सिद्ध करने के फलस्वरूप निर्वाह की व्यवस्था रखने के लिए उपार्जन करता है। अपनी ही तरह वह उनके स्वार्थों का भी ध्यान रखता है, जिनके माध्यम से वह आजीविका उपार्जित की गई। किसान है तो बैलों के, मजदूरों के हितों को हानि नहीं पहुँचने देता। नौकर है तो मालिक के प्रति ईमानदारी और वफादारी बरतता है। व्यापारी है तो ग्राहक को ठगता नहीं, वरन् उसकी आवश्यकता का ध्यान रखते हुए अपने और दोनों के स्वार्थों में उचित समन्वय स्थापित करता है।

शिक्षा, विनोद, व्यायाम, मैत्री, खर्च, सम्भाषण, परामर्श, चिन्तन आदि सामान्य दैनिक कार्यों में वह औचित्य और मनुष्यत्व को बनाये रखता है। फलस्वरूप यही रोजमर्रा के काम एक प्रकार से योग साधन बन जाते हैं। इसका प्रभाव मानसिक स्थिति पर पड़ता है। यह विहार क्रम जिसे सात्विक मिला है उसका मन न कुमार्गगामी होगा न उच्छृंखल होगा। वह उद्धत आचरण नहीं करता। जानता है मेरा अस्तित्व सेवा करना है। मुझे सेवक के रूप में बनाया गया है मेरा कर्तव्य आत्मा की सहायता करना है। मुझे कोई ऐसा काम न करना चाहिये, जिससे जीवात्मा के जीवन लक्ष्य में बाधा व्यवधान उत्पन्न होता है। ऐसा समझदार मन मर्यादा तोड़कर सेवक से शासक बनने का प्रयत्न स्वतः ही नहीं करता और उसके उच्छृंखल बनने की आशङ्का नहीं रहती।

सतोगुणी, न्यायोपार्जित सज्जनों के सम्पर्क में बना हुआ आहार मन की सत्यवृत्तियों का समन्वय रखने से क्रिया-कलाप की छाप मन पर ऐसी सुसंस्कार युक्त डालता है, जिसे परिष्कृत विहार कहा जा सकेगा। शरीर को स्वस्थ रखने की तरह ही मन को सुसंस्कारी रखने के लिए भी उपयुक्त आहार-विहार की व्यवस्था रखी जानी चाहिए। तभी वह आत्मा का शासक बनने की कुवेषा न करके एक सदाचारी, सहयोगी की तरह सेवक बना रहने के लिए सहमत रह सकेगा।

समस्त सफलताओं का हेतु—‘मन’

यदि ध्यानपूर्वक देखा जाये तो हर मनुष्य को अपने जीवन में ऐसे अनेकों उदाहरण मिलेंगे कि एक बार उसका किया हुआ काम बड़ा सुन्दर होता है और दूसरी बार वही काम बिगड़ जाता है। एक ही काम, एक ही कर्त्ता और एक ही समय, फिर भला कार्य की यह निकृष्टता, उत्कृष्टता क्यों? ऐसा तो हो नहीं सकता कि पहली बार जब उसने काम को सुन्दरतापूर्वक किया तब उसकी योग्यता अधिक थी और दूसरी बार जब काम बिगड़ता है, तब उसकी योग्यता कुछ कम हो गई थी। पहली बार की अपेक्षा अभ्यास और अनुभव के कारण योग्यता में बढ़ोत्तरी ही होनी चाहिए न कि कमी।

एक ही काम में लगे दो समान व्यक्तियों को देख लीजिये। एक अधिक दक्ष है, दूसरा नहीं। एक ही कक्षा के विषय के दो विद्यार्थियों को ले लीजिए एक अधिक अंक लाता है, दूसरा कम। कलाकार, कवि, शिल्पी, वैज्ञानिक, विद्वान, लेखक, दार्शनिक, किन्हीं को भी क्यों न ले लीजिए, अनेकों में उन्नीस-बीस का अन्तर मिलेगा ही। एक की कृतियाँ दूसरे की अपेक्षा कुछ न कुछ न्यूनाधिक सुन्दर होंगी।

इस अन्तर का एकमात्र कारण एकाग्रता, तल्लीनता एवं तन्मयता ही है। जो जिस समय अपने काम में जितना अधिक एकाग्र, तल्लीन और तन्मय होगा उसका काम उस समय उतना ही सुचारु एवं सुन्दर होगा। जो जितनी अधिक एकाग्रता से चिन्तन करेगा उसके विचार उतने ही स्पष्ट एवं उन्नत होंगे। तन्मयता दक्षता का मूलमन्त्र है।

तन्मयता जितनी तीव्र, तल्लीनता जितनी स्थायी और एकाग्रता जितनी सूक्ष्म होगी, कार्य का सम्पादन उतना ही शीघ्र और सुन्दर होगा। किसी कला-कौशल अथवा कार्य के सीखने में दो आदमियों के समय और सीमा में जो अन्तर रहता है, वह भी इस एकाग्रता की मात्रा का ही अन्तर होता है। वैसे सामान्यतः एक ही क्षेत्र में रुचि रखने वालों की योग्यता में कोई विशेष अन्तर नहीं होता।

मन की स्थिरता, केन्द्रीयता एवं समाविष्टि को ही एकाग्रता, तन्मयता तथा तल्लीनता कहा जाता है। संसार की समग्र क्रियाओं का वास्तविक कर्त्ता तो मन है शरीर तो साधन मात्र, उपादान भर ही है। बहुत बार देखा जा सकता है कि एक शरीर से हृष्ट-पुष्ट स्वस्थ एवं सम्पन्न व्यक्ति किसी कार्य को उस खूबी के साथ नहीं कर पाता है जिस खूबी से एक दुबला-पतला और निर्बल दिखने वाला व्यक्ति कर दिखाता है। यदि शरीर ही वास्तविक कर्त्ता होता तो शारीरिक सम्पन्नता वाले व्यक्ति का कार्य दूसरे दुर्बल शरीर व्यक्ति से अवश्य ही सुघड़ एवं सुन्दर होना चाहिए। किन्तु ऐसा नहीं होने का कारण यही है कि एक का वास्तविक कर्त्ता मन स्वस्थ एवं सशक्त है और दूसरे का नहीं।

संसार की समस्त सफलताएँ वास्तविक कर्त्ता मन की क्षमताओं पर निर्भर करती हैं और मन की शक्ति है उसकी एकाग्रता। जिस समय मन तन्मय होकर किसी कार्य में नियोजित होता है, तब असम्भव को भी सम्भव करके रख देता है। मनुष्य की मन-मंजूषा में क्या लौकिक और क्या पारलौकिक सारी शक्तियाँ सुरक्षित रहती हैं। मन की स्थिरता का अर्थ है—सब प्रकार की शक्तियों की उपस्थिति और शक्तियों की उपस्थिति का अर्थ है, सफलता। मन के परिभ्रमण का अर्थ है शक्तियों का अनुपस्थिति। जिसका अर्थ है—असफलता।

संसार का प्रत्येक व्यक्ति जीवन के हर क्षेत्र में सफलताओं के दर्शन चाहता है। क्या आर्थिक, क्या पारिवारिक, क्या सामाजिक, क्या सार्वजनिक, क्या बौद्धिक, क्या भौतिक और क्या आत्मिक ऐसा कोई क्षेत्र नहीं है, जिसमें मनुष्य सफलता का आकांक्षी न हो। बहुत-से सफलता पाते भी हैं और बहुत-से असफल रह जाते हैं।

जीवन में निश्चित सफलता पान के लिए मन में एकाग्रता का स्वभाव उत्पन्न करना बहुत आवश्यक है। मन की वृत्ति कुछ उल्टी होती है। वह जितना ही मुक्त, निर्भीक एवं निर्विकार होता है उतना ही स्थिर रहता है और जितना ही यह बोझिल एवं बंधित होता है उतना ही चञ्चल एवं प्रथमनशील रहता है। मन को स्थिर एवं शक्तिशाली बनाने के लिए आवश्यक है कि उसे हर प्रकार से मुक्त और निर्भर स्वा जाये।

जिस प्रकार स्थिरता के सम्बन्ध में मन की वृत्ति कुछ उल्टी-सी है, उसी प्रकार चंचलता के विषय में कुछ अनुकूल सी है। आप जिस दिशा में इसको संकेत कर देंगे। यह उसी दिशा में दौड़ जायेगा, जिस विषय से परिचय करा देंगे उसके घनिष्टता पैदा कर लेगा। विषय विशेषों की ओर एक बार मार्ग दिखा भर देने से फिर वह सजातीय हजारों विषयों का मार्ग स्वयं खोज लेता है और फिर बिना प्रेरणा के ही विषय-पथ पर दौड़ा-दौड़ा फिरता है। थोड़ी-सी भी छूट पाने पर यह उच्छ्रंखल ही नहीं निरंकुश हो जाता है और तब मनमानी करता हुआ जल्दी हाथ नहीं आता।

बेहाल हुआ मन भयानक प्रेत की तरह मनुष्य को लग जाता है और उसे एक असहाय की तरह पतन के गतों में गिराता और कष्ट देता रहता है। उसकी विवेक, बुद्धि को ग्रसित कर विपरीत बना देता है। जिससे ईश्वर अंश का सगुण स्वरूप मनुष्य नारकीय यन्त्रणाओं को भोगा करता है। मन की दो ही गतियाँ हैं। या तो यह मनुष्य का स्वयं दास बनकर उसका आज्ञाकारी रहेगा अथवा मनुष्य को अपना दास बनाकर उस पर विविध अत्याचार करेगा। निरंकुश मन के वशीभूत मनुष्य की वही दशा होती है जो भागते हुए घोड़े की दुम में बँधे किसी अपराधी की। घोड़ा बुरी तरह ऊँचे-नीचे, कँकरीले, पथरीले, सँकरे, गन्दे मार्गों को लाँघता, कूदता चला जाता है और पूँछ में बँधा मनुष्य, घसिटता-खिंचता और मरता, मिटता दुःसह कष्ट पाता रहता है।

जिससे मन को स्वाधीन बना लिया है, उसने मानो त्रयलोक की सुख-सम्पत्ति अपनी मुट्ठी में बन्द करली है। जब मन निर्विकार होकर स्थिर हो जाता है तब अपने

दिव्य चमत्कारों की पिटारी खोलता है। एक से एक सुन्दर स्वर्गों की रचना करके मनुष्य को सुख-शान्ति से परिपूर्ण कर देता है।

निर्बल मन क्षण-क्षण पर बुरे-भले मनोरथ करता रहता है किन्तु अधिकतर वह जाता बुराई की तरफ ही है। इसका कारण उसकी वह दुर्बलता है जो उसे सुन्दर और पवित्र जीवन का आकर्षण ही उत्पन्न नहीं होने देती है।

मन में ईश्वर ने एक प्रचण्ड शक्ति भर दी है जो स्फुरित होते ही सारे संसार को प्रभावित कर सकती है। बड़े-बड़े आन्दोलनों का संचालन तथा जन नेतृत्व मनोबल से ही किये जाते हैं। मन को अपने कार्यों एवं इच्छाओं के लिए किसी पर निर्भर नहीं रहना होता। स्वयं ही वह इच्छायें कर लेता है और स्वयं ही अपनी आकर्षण शक्ति से उसकी पूर्ति के साधन जुटा लेता है।

जीवन में अभ्युदय की इच्छा रखने वालों को कुछ और न करके पहले अपने मन की महान शक्तियों का उद्घाटन करना चाहिये। मन की शक्तियों का उद्घाटन करने के लिए उसे अपने अनुकूल बनाना बहुत आवश्यक है। मन के अनुकूल होते ही उसकी सारी शक्तियाँ कल्याण कर कार्यों की ओर लग जाती हैं और मनुष्य के जीवन में एक से एक बढ़कर फल लाती हैं।

मन को अनुकूल बनाने का एक ही उपाय है कि इसे बुरी भावनाओं, अवांछनीय इच्छाओं और अकल्याण कर मनोरथों से बचाये रखा जाये। विषय-वासनाओं तथा भोग-विलास की प्रमादी प्रवृत्तियों का बोझ इस पर न डाला जाये। विकारों से थका हुआ मन विद्रोही होकर अनिष्टकारी दिशाओं में ही भागता है। उसकी सत्चेतना का ह्रास हो जाता है और वह एक बदहवास मछप की तरह बनकर मनुष्य का घोरतम अहित किया जाता है।

अधिक कामनायें, लिप्सायें एवं तृष्णायें मनुष्य के मन को जर्जर कर डालती हैं। जिससे उसकी शक्ति स्वयं मनुष्य पर आक्रमण करके उसे हानि पहुँचाया करती हैं।

संयम एवं साधना का सहारा लेकर मनुष्य को अपने मन का परिष्कार करना चाहिए। यह एक महान तप है। जिसने इस तप की सिद्धि करली, मन को मुट्ठी में कर लिया मानो उसने संसार की समस्त सफलताओं एवम् उन्नतियों की कुंजी ही पा ली।

मन को समुन्नत बनाने का एकमात्र राजमार्ग

प्रत्येक पिता की इच्छा होती है कि हमारा पुत्र हमारी तुलना में अधिक सम्पन्नता, ख्याति, पदवी, प्रतिष्ठा प्राप्त करे। गुरु भी अपने शिष्य को अपने से बढ़कर देखना चाहते हैं क्योंकि गद्दी हुई प्रतिमा का श्रेय अन्ततः उसके सृजनकर्ता को ही जाता है।

हमारा 'स्व' वस्तुतः आत्मा है। आत्मा के अतिरिक्त और कुछ नहीं। हमारे दो पुत्र हैं—एक मन दूसरा शरीर। इन दोनों के द्वारा ही गाड़ी के दो पहियों की तरह जीवन की रीति-नीति बनाई और चलाई जाती है। गाड़ी में दो बैल जुते हैं उनके बीच ठीक तालमेल बना रहे तो राह आसानी से कटती है और गाड़ी लक्ष्य तक जा पहुँचती है।

आत्मा का कर्तव्य है कि वह अपनी वरिष्ठता-विशिष्टता इस बात से सिद्ध करे कि वह अपने इन दोनों पुत्रों, शिष्यों को कितनी समुन्नत स्थिति तक पहुँचा सका। लक्ष्य को कितना ऊँचा रखने और उसे प्राप्त कर लेने की प्रतिज्ञा कितनी लगन और प्रतिष्ठापूर्वक सम्पादित की जा सकी।

अनुकरणीय, अभिनन्दनीय, महामानवों की तरह जीवनयापन कर सकना, किसी के लिए कुछ भी कठिन नहीं है। उसके उपरान्त मेधा, प्रतिभा, क्षमता और साधन-सुविधा हर किसी को मिली है। प्रश्न इतना भर है कि उनका सही रीति से सही प्रयोजन के लिए, सही समय पर उपयोग कर सकना जाना गया या नहीं।

जीवन का आयुष्य की दृष्टि से महत्वपूर्ण भाग उठती आयु से लेकर-प्रौढ़ता बनी रहने तक का है। बचपन ऐसे ही बचकानेपन में बीत जाता है। ढलती आयु में थके माँदे दिन कटते हैं। जो कुछ भी कहने लायक पुरुषार्थ किसी से बन पड़े हैं वे उसी शक्ति और स्फूर्ति वाली अवधि में सम्पन्न हुए हैं। जिनें यह समय वासना, तृष्णा, के चंगुल में कसे-कसे गँवा दिया। समझना चाहिए कि उसने बहुत भारी घाटा उठाया। इस तथ्य को प्रत्येक आत्मा स्वयं समझे और दोनों भुजाओं की तरह प्रयासों को सफल बनाने वाले मन और शरीर को समझाये।

मनुष्य स्वभावतः बहुत महत्वाकाँक्षी है। अबोध स्थिति से ही उसे मान और प्यार पाने की इच्छा होती है। तनिक सी आयु बढ़ते ही विलास, वैभव और बढ़प्पन की ललक जगती है। यही है वे ग्राह जो गज को सरोवर में घसीट ले जाते हैं। यही है वे कौरव जो

द्रोपदी को भरी सभा में निर्वस्त्र करते हैं। सतर्कता इस बात की रहनी चाहिए कि शत्रुओं से बचा जाय। सज्जनों के साथ मित्रता का निर्वाह इसके उपरान्त ही बन पड़ता है। दल-दल में कंठ तक फँसा हुआ मनुष्य प्रगति पथ पर अग्रसर कैसे हो ? पहला प्रयास डूबने की स्थिति से उबरने का होना चाहिए। मन को तृष्णाओं से और शरीर को वासनाओं के गर्त में गिरने से बचाया जाना चाहिए। उन्हें कहा जाना चाहिए कि कुसंग से पहले निकला जाय, सत्संग का लाभ इसके उपरान्त ही मिलेगा। हेय पशु प्रवृत्तियों से पीछा पहले छुड़ाया जाय। ऊँचा उठने की चेष्टा तभी बन पड़ेगी।

पतन में गिरने से बचना और ऊँचा उठने का सुयोग बनना तभी सम्भव है जब सांसारिक ऐश्याओं की ओर सरपट दौड़ने की आदत बदली जाय और उलटकर उन महत्वाकांक्षाओं के मार्ग पर चला जाय तो महानता के लक्ष्य तक पहुँचाता है।

परिवर्तन की यह सन्धि बेला आई या नहीं, इसकी एक ही कसौटी है कि औसत भारतीय स्तर का निर्वाह स्वीकार हुआ या नहीं। “सादा जीवन उच्च विचार” के आदर्श की महत्ता मानी गई या नहीं। अमीरी का बढ़प्पन निरर्थक मानकर महानता का गौरव गले उतरा या नहीं। यदि इतना बन पड़े तो जीवन वस्तुतः नितान्त हल्का-फुल्का हो जायगा। उसकी राई-रत्ती जितनी आवश्यकता है, तनिक सी सूझ-बूझ और मेहनत के सहारे पूरी होती चलेगी। सांसारिक समस्याएँ और कठिनाइयाँ सरलतापूर्वक हल होती चलेगी। अनसुलझी कोई गुथी रहेगी नहीं। जहाँ सन्तोष और सादगी का रसास्वादन हुआ नहीं कि वह परिस्थितियाँ देखते-देखते बदल जायेंगी जो व्यस्त रखती और त्रस्त करती थीं।

समस्याओं के समाधान के सौ उपाय हैं। हम हठ पूर्वक एक को ही पकड़ बैठते हैं और सोचते हैं कि काम इसी प्रकार बनना चाहिए। अपनाया हुआ रास्ता छूटना नहीं चाहिए। जिस प्रकार सोचा जाता रहा है, उसी प्रकार पूरा होना चाहिए। यदि इस दुराग्रह को छोड़ दिया जाय तो जीवनयापन के सम्बन्ध में दूसरे उपाय-उपचार सोचे जायें तो ऐसे अनेकों मार्ग मिल सकते हैं जिन्हें अपनाकर शरीर की आवश्यकताएँ सरलतापूर्वक पूरी की जा सकें।

महत्वाकांक्षाएँ वही श्रेयस्कर हैं, जो बड़ा नहीं महान बनायें। महान बनने का एक ही उपाय है कि दृष्टिकोण और कार्यक्रम महान बनाया जाय। उत्कृष्ट चिन्तन, आदर्श चरित्र और शालीन व्यवहार, यह तीन ही ऐसे त्रिभुज हैं

जो मिलकर महानता की समग्र आकृति बनाते हैं। इन्हीं का समन्वय त्रिवेणी संगम बनाता है।

महान जीवन मात्र अपने लिए नहीं जिया जा सकता। वह संकीर्ण स्वार्थपरता की सीमा में आबद्ध नहीं हो सकता। उदात्त दृष्टिकोण अपनाते ही सब अपने प्रतीत होते हैं। “आत्मवत् सर्वभूतेषु” का शास्त्र वचन जीवन व्यवहार में उतर जाता है तब जैसी चिन्ता अपने लिए करनी पड़ती है, वैसी ही सबके लिए उठ खड़ी होती है। जैसा व्यवहार दूसरों से अपने लिए चाहते हैं, उसी प्रकार का दूसरों के साथ बन पड़ता है। दुर्गुण हटते ही सद्गुण उनका स्थान ग्रहण करने लगते हैं। आलस्य और प्रमाद गया नहीं कि पराक्रम और साहस जगा नहीं। मूढ़ता से पीछा छूटते ही सतर्कता व्यक्तित्व में समा जाती है। जो विवेक की कसौटी पर कसकर वस्तुएँ खरीदता है- नीतियाँ अपनाता है, उसे खोटा खरीद लाने की शिकायत नहीं करनी पड़ती।

बल्व बिजली के तार में सटते ही चमकने लगता है। आत्मा की गरिमा उसी क्षण प्रकाशवान हो उठती है, जिस क्षण कि वह प्रचलन की कीचड़ से निकलकर भगवान के चरणों में जा बैठता है। आत्माओं का समुच्चय ही परमात्मा है। विराट् विश्व को ही परब्रह्म कहते हैं। सत्प्रवृत्तियों का सम्वर्धन ही वह प्रयास है, जिसे ईश्वर की सर्वोपरि आराधना कहा जा सकता है। उसके उद्यान को सुरम्य, सुविकसित बनाने में ईमानदार और परिश्रमी माली की तरह जुट पड़ना ही भगवान को प्रसन्न करने का एकमात्र उपाय है। इस तथ्य को स्मरण रखने के लिए ही बार-बार राम नाम रटा जाता है ताकि राम का सौपा हुआ काम दृष्टि से ओझल न होने पावे।

इस संसार की समस्त समस्याओं का समाधान लोक-मानस के परिष्कार और सत्प्रवृत्ति सम्वर्धन से है। इन्हीं प्रयासों में निरत रहकर समूचे वातावरण को बदला जा सकता है। इस प्रयास में निरत रहकर अपनी दबी सत्प्रवृत्तियों को उभारा जा सकता है और महामानवों की गणना में अपने को सम्मिलित किया जा सकता है।

व्यक्तित्व को पुण्यमय और क्रिया-कलाप को परमार्थ परायण बनाकर ही हम अपना और साथ ही अगणित अन्यायों का भला कर सकते हैं। नाविक अपनी नाव को भुजबल से चम्पू चलाकर किनारे लगाता है और उसमें बिठाकर असंख्यों को पार लगाता है। यह कार्य किसी को धन या सुविधा साधन देकर नहीं किया जा सकता है। इसका उपाय तो एक ही है कि व्यक्ति की स्वतन्त्र चेतना को जगाया जाय और सन्मार्ग अपनाने के लिए उसे मार्गदर्शन, प्रोत्साहन और साहस प्रदान किया जाय।

प्रत्यक्ष सहायता तो सामयिक आवश्यकता पूर्ति के लिए सहानुभूति अर्जित करके विश्वासपात्र बनने भर के लिए अर्जित करने के निमित्त की जाती है। वास्तविक हित साधन तो स्वावलम्बन और सुसंस्कार से ही बन पड़ता है। मन को यही पाठ हर घड़ी पढ़ाया जाय और उस हेतु व्यावहारिक कार्यक्रम बनाकर उन दोनों को दिया जाय, तो समझना चाहिए कि आत्मा का शरीर और मन के प्रति जो कर्तव्य है, वह पूरा हुआ।

मन एक सूक्ष्म प्राकृतिक शक्ति

इंग्लैण्ड के एक रसायन शास्त्री आहार सम्बन्धी परीक्षण कर रहे थे। चूहों के एक पिंजरे में से एक चूहे को निकाला गया और उसे सामान्य भोजन न देकर असामान्य मिर्च, मसाले और माँस व शराब से बना आहार दिया गया। चूहा जिसकी प्रकृति अब तक शान्त और शीतल थी, इस आहार को ग्रहण करने के बाद से ही उदंड और आक्रामक बन गया। पिंजरे के दूसरे चूहों को उस अकेले ने बुरी तरह सताया और यह सिद्ध कर दिया कि लोग जैसा अन्न खाते हैं उनका मन सचमुच वैसा ही बनता है।

इसके बाद उस चूहे को फिर से सरल, शुद्ध और सात्विक भोजन दिया गया अब वह फिर से अपने दैनिक जीवन में विनीत और शान्त हो गया। इससे यह पता चलता है कि आज जो मानसिक जटिलता देखने में आ रही है, वह सब अन्न के दूषित होने, आहार के अप्राकृतिक और अपवित्र होने का ही परिणाम है। शास्त्रकार का कथन है, सृष्टि के कण-कण में “मन” (चेतन विद्युत) विद्यमान है। आहार ग्रहण करते समय तक तो यह निश्चित रूप से ध्यान रखना चाहिये कि कोई ऐसा पदार्थ न लिया जाय जिससे “मन” कलुषित और क्रूर हो। माँस जीवों को निर्दयतापूर्वक काटकर बनाया जाता है, उसके अणुओं में उस जीव के प्रतिशोध और अभिशाप के भाव अवश्य भरे होंगे उस प्रकार का आहार ग्रहण करने वाला न तो उस प्रतिशोध की ज्वाला से बच सकेगा और न ही अभिशाप से। धीरे-धीरे यह बातें वैज्ञानिक ढंग से स्पष्ट होती जा रही हैं।

आत्मचेतना या ब्राह्मीचेतना मन से कहीं बहुत अधिक सूक्ष्म और पवित्र स्तर की चेतना है। उसे पाने के लिए मन को भी वैसा ही सूक्ष्म और पवित्र होना आवश्यक है जिस “किलो साइकिल” पर रेडियो स्टेशन बोल रहा है। रेडियो को उसी “किलो साइकिल” पर-उसी बेण्ड में लगाकर ही उसका प्रसारण सुना जा सकता है। मानसिक चेतना द्वारा ब्राह्मी चेतना की अनुभूति

और उसके क्रिया-कलापों के ज्ञान के लिए भी ठीक उसी प्रकार मन का पूर्ण पवित्र और प्राकृत होना आवश्यक है। यह तभी सम्भव है जब वैसा ही शुद्ध और सात्विक आहार भी लिया जाय। इसीलिये योग के दस लक्षणों में ध्यान-धारण समाधि आदि के साथ “प्रत्याहार” को भी आवश्यक माना गया है।

आमतौर से लोग सांसारिकता में पड़े लड़ते-झगड़ते रहते हैं। उसका वैज्ञानिक कारण आहार का दूषण ही है इस सम्बन्ध में फ्रांस के एक वैज्ञानिक ने परीक्षण किया। उन्होंने ब्रिटिश वैज्ञानिकों द्वारा किये गये परीक्षण को मनुष्यों पर प्रयोग किया और पाया कि चिड़चिड़े और मानसिक दृष्टि से विक्षिप्त लोगों को विशेष प्रकार के आहार से ठीक किया जा सकता है। १० सितम्बर, १९७० के नवभारत टाइम्स में इन डॉक्टरों का हवाला देते हुये लिखा है कि एक चिड़चिड़े व्यक्ति को कार्बोहाइड्रेट पथ्य के साथ गाय का दूध ही पीने को दिया गया और उन्हें गहरी साँस लेने को कहा गया। उससे उनका चिड़चिड़ापन ठीक हो गया। ईर्ष्या, द्वेषवृत्ति वाले लोगों को हल्का गरम पानी बार-बार पिलाया गया और खुले मैदान में घूमने और व्यायाम करने को कहा गया उससे वह ठीक हो गया। इसी प्रकार सोवियत वैज्ञानिक और एम० एम० अरब व ए० डब्ल्यू० अयूब नामक दो अरब वैज्ञानिक उपवास पर प्रयोग कर यह पा रहे हैं कि उपवास और एक खास प्रकार के आहार से जटिल से जटिल मानसिक रोगों का इलाज हो सकता है। लगता है, विश्व शांति के वैज्ञानिक उपाय की कभी खोज हुई तो लोग उसका उपाय शुद्ध शाकाहार ही पायेंगे। यह भारतीय आहार पद्धति की एक और विजय है, सफलता है।

मन की अपार शक्ति और उसका उपयोग

जब कोई साधक ईश्वर की खोज में आगे बढ़ता है तो सबसे अधिक कठिनाई अपने मन को रोकने में होती है। जो मन को रोकने का अभ्यास कर रहे हैं, वे ही इसका प्रत्यक्ष अनुभव कर सकते हैं। जब हम विचारों का संयम करने बैठते हैं, तो हमें मालूम होता है कि हमारा मन कितना स्वच्छन्द और निरंकुश रहा करता है तथा उसमें सब प्रकारों के विचारों को ग्रहण करने की भी कितनी अपार शक्ति रहती है। हमें यह स्मरण करके बड़ा दुःख और आश्चर्य होता है कि हमने इधर-उधर की निरर्थक बातों में अपना कितना अमूल्य समय नष्ट किया है। अगर इसी समय को हम किसी विशेष लक्ष्य की

ओर, जीवन ऊपर उठाने वाले विचारों की ओर लगाते तो हमारा चरित्रबल कितना अधिक बढ़ जाता, हमारा हृदय कितना शुद्ध हो जाता, हमारा प्रभाव कितना बढ़ जाता और हमारी आत्मिक-उन्नति कितनी अधिक हो गई होती।

यदि उपरोक्त कथन की सच्चाई किसी दिन किसी की समझ में आ जाय, तो उस दिन को उसके जीवन का एक बड़ा महत्वपूर्ण दिन समझना चाहिये।

मन पहिले-पहल अपने ऊपर हाथ नहीं रखने देता। उसकी अवस्था उस बछेड़े की सी होती है जो मुँह में पड़ी लगाम तोड़कर स्वतन्त्र होना चाहता है। वास्तव में यदि हम मन को वश में करना चाहते हैं, तो हमें बड़े धैर्य से काम लेना होगा और उसको इधर-उधर जाने से बार-बार रोकना होगा। सम्भव है निराश होकर हम उसे रोकने का प्रयत्न बन्द कर दें, पर ऐसा करना हमारे लिये बहुत घातक होगा।

मन को रोकने के लिए सबसे पहले धैर्य धारण करने की आवश्यकता है। शीघ्रता करने से सिवाय हानि के लाभ नहीं है। धीरे-धीरे काम करके सफलता प्राप्त करना अच्छा है, किन्तु शीघ्रता करके असफल हो जाना बुरा है, अतएव मन को प्रारम्भ में तंग करने का अधिक प्रयत्न न करो और न उसे एकाग्र करने में अधिक समय लगाओ। सम्भव है, इस प्रकार के व्यवहार में अभ्यस्त न होने के कारण वह थम जाय और अपने लक्ष्य को प्राप्त न कर सके। सच्चा मनुष्य वही है जो धीरे-धीरे मन को वश में कर लेता है।

मन को एक स्थान पर लगाने का अभ्यास करो। प्रातःकाल का समय इसके लिये सबसे उत्तम समय है। दस मिनट से प्रारम्भ करो और फिर बीस मिनट कर दो। एक या दो सप्ताह के बाद आध घण्टे तक ले जाओ इस प्रकार धीरे-धीरे मन किसी स्थान पर आपसे आप एकाग्र होने लगेगा।

आत्मा की उन्नति के लिए एक आदर्श की अत्यन्त आवश्यकता है। यह आदर्श तभी फलदायक हो सकता है जब मन उस पर एकाग्र हो जाय। पहले परीक्षा करके अपने आपको जानना चाहिए। मनुष्य का मन बड़ा ही दुर्ज्ञेय है। पर अपने को जानना उतना सुगम नहीं जितना कि जान पड़ता है। तो भी यदि हम मन को वश में करना चाहते हैं तो सबसे पहले अपने आपको जानना चाहिए। हम अपनी गहरी जाँच-पड़ताल करें, अपनी कामनाओं का विश्लेषण करें, अपनी इच्छाओं को तौलें और फिर यह विचार करें कि हमने अमुक बात क्यों कही थी अथवा हमने अमुक कार्य क्यों किया था ?

प्रतिदिन हम अपने कामों का निरीक्षण करते रहें और यदि कोई भूल हमसे हुई हो तो उसको मानने में न हिचकें। अपनी अन्तरात्मा से अपने दोष कहने में किसी प्रकार का भय न करो। इससे तुम्हारी आत्मा निरन्तर उन्नति करती जायगी। इस प्रकार उद्योग करते हुए धीरे-धीरे हम अपने लक्ष्य तक अवश्य पहुँच जायेंगे और अन्त में अपने उद्देश्य की पूर्ति में सफल मनोरथी होंगे।

मन का गुप्त रेडियो

बाह्य स्पर्श के कारण कम्पन उत्पन्न होते ही सदा तत्काल इनका असर अन्तर मन पर नहीं पड़ता और बोध भी नहीं होता। जब कोई साधारण विचार बाहर से हमारे मन में आता है तो तत्काल उसका ज्ञान हमें नहीं होता-परंतु कभी-कभी इनका प्रभाव हम पर वैसा ही होता है जैसा सूर्य, वर्षा, खाद का असर उस बीज पर होता है जो पृथ्वी में दबा पड़ा हुआ है। पहले-पहिले उन कम्पनों का कोई दृष्टिगोचर परिणाम नहीं होता जो उस बीज पर विहार कर रहे हैं किन्तु उसके अन्तर में एक ऐसा मन्द स्पन्दन होता रहता है जो शनैः-शनैः प्रबल होते-होते इतना तीव्र हो जाता है कि वह उस बीज के छिलके को फाड़कर नहीं-नहीं जड़ों को निकालता है और उसका विकास करता है।

ठीक ऐसी ही गति मन की भी है। प्रज्ञा, अन्तर में धीरे-धीरे स्फुरित होती रहती है। बाह्य स्पर्शों का बाह्य ज्ञान होने के पूर्व हमारे अन्तर में एक ऐसी स्फुरणा हो रही है जिसका हमें मानसिक ज्ञान नहीं है। किसी महापुरुष की संगति से जब हम लौटते हैं तो हमारी मन-मानसिक महाप्रवाह के साथ-अर्थात् उस महापुरुष के तेजस् मण्डल के साथ, पहले से अधिक सन्निहित होकर आता है। पहले हमारा मन महापुरुष की संगति में प्रवेश करते समय उसके तेजोमण्डल अथवा विचार-प्रवाह की परिधि के इतने समीप नहीं होता, जितना कि सत्संग से लौटते समय होता है। अतः हमारे अन्तर में तथा हमारे चारों ओर वायुमण्डल में-आकाश में स्थित संकल्प के परमाणु उत्तेजित हो जाते हैं और हमारे मन की उन्नति में सहायता मिलती है। हमारे मन की उन्नति बहुत कुछ बाह्य स्पर्श से हो सकती है।

विचार शक्ति शनैः-शनैः बढ़कर हमारे वश में आती है और उसका उपयोग विशेष प्रयोजनों की सिद्धि के निमित्त किया जा सकता है। आजकल प्रायः प्रत्येक व्यक्ति 'वैतार का तार' का नाम जानता है और आध्यात्मिक जगत में प्रवेश करते ही उसकी यह आन्तरिक कामना रहती है कि वह किसी स्थूल यंत्र के

बिना अपने मानसिक रेडियो द्वारा ही विचार प्रेषण कर सके और डाक अथवा तार की सहायता के बिना ही अपने दूरस्थ मित्रों अथवा कुटुम्बियों से घर बैठे ही वार्तालाप किया करें तो बड़ा ही आनन्द आवेगा। बहुतों का यह विचार हुआ करता है कि थोड़े प्रयत्न से ही साधन की सिद्धि प्राप्त हो सकती है किन्तु जब वे अपने प्रयत्न को सर्वथा व्यर्थ पाते हैं तो आश्चर्य होता है। स्पष्ट बात तो यह है कि संकल्प भेजने के लिए शक्ति प्राप्त करने के पूर्व वे लोग मनन करने की शक्ति प्राप्त कर लें। विचार की तरंगें स्थानान्तर भेजने के लिए स्थिर मनन करने की शक्ति प्राप्त करना आवश्यक है। बहुतों की निर्बल और चपलवृत्ति के कारण संकल्पों से केवल अस्थायी कम्पन उत्पन्न होते हैं जो क्षण भर में उत्पन्न होकर पुनः विलीन हो जाते हैं तथा उनका चित्र भी क्षण भंगुर होता है। अतः जब तक मनन शक्ति दृढ़ न होगी, विचारों का कम्पन भी स्थायी नहीं होगा। मनुष्य चाहे कितना पढ़े, उसकी मानसिक उन्नति उसके विचारों की न्यूनाधिकता के अनुपात से होगी। जब तक वह उस विचार को लेकर उस पर कुछ समय तक मनन न करे तब तक उससे क्षणिक लाभ और बहुत थोड़ा लाभ होगा। अभ्यास से ही पूर्णता अथवा सिद्धि प्राप्त होती है। यह कथन मन के लिए उतना ही सत्य है जितना कि देह के लिए। खाने से पेट भरता है, किन्तु जैसे जब तक आहार पचे नहीं तब तक वह शरीर के लिए व्यर्थ होता है। उसी प्रकार मन भी पठन द्वारा भरा जा सकता है किन्तु जब तक उसका मनन न हो तब तक पाठ पचकर मानसिक प्रकृति के साथ एकीभूत नहीं होता। इसी से मन की बुद्धि नहीं होती और सफलता भी नहीं प्राप्त होती। अतः यदि हम चाहते हैं कि हमारा मन उत्कृष्ट हो और हमारी बुद्धि विकसित हो तो हमें पढ़ना कम, और मनन अधिक करने की आवश्यकता है। पाँच मिनट तक पढ़कर दस मिनट तक मनन करना चाहिए।

संकल्प को स्थानान्तर भेजने की दो रीतियाँ हैं। एक तो आधिभौतिक और दूसरी आधिदैविक। पहली का संबंध मन और मस्तिष्क से है और दूसरी का कार्य केवल मन से होता है। संकल्प उत्पन्न होकर प्रथम मानसिक क्षेत्र में, फिर एस्ट्रल (सूक्ष्म) क्षेत्र में कम्पन उत्पन्न करते हैं। इससे ईथर व आकाश तत्व में और फिर स्थूल मस्तिष्क में तरंगें उत्पन्न होती हैं। इन मानसिक कम्पनों से आकाश तत्व प्रभावित होता है और तरंगें आकाश तत्व द्वारा जाती-जाती दूसरे के मस्तिष्क में पहुँच जाती हैं और प्रेषक व्यक्ति के मस्तिष्क से दूसरे व्यक्ति के मस्तिष्क तक पहुँच जाती हैं और उसके स्थूल तथा आकाश तत्व के कणों में कम्पन उत्पन्न करती हैं। मस्तिष्क में एक

छोटी सी इन्द्रिय है जिसको पीनियल ग्लैंड (Pineal Gland) अथवा दिव्य चक्षु कहते हैं। इसको उन्नत करके हम ऐसी अवस्था में ला सकते हैं जिससे यह मनचाहा कार्य हो सकता है। यदि कोई मनुष्य दृढ़ता पूर्वक एक ही विषय पर लगातार सावधानी से गूढ़ विचार करे तो उसे पीनियल ग्लैंड अथवा दिव्य चक्षु में एक प्रकार के मन्द कम्पन का अनुभव होगा जैसे उसके मस्तिष्क के अन्दर उस विशेष स्थान में चींटी चलती हो। यह कम्पन एक हल्की सी चुम्बक धारा उत्पन्न कर देता है जिससे दिव्य चक्षु के स्थूल कणों में कम्पन का अनुभव होता है। यदि विचार इतना तीव्र हो जाय कि उससे चुम्बकीय क्षेत्र बन जाय और साधक को उस कम्पन का अनुभव होने लगे तो साधक जान जाता है कि उसे संकल्प को एकाग्र करने और स्थानान्तर भेजने के योग्य बलवान बनाने में सिद्धि प्राप्त हुई है।

दिव्य चक्षु के आकाश का कम्पन आसपास के आकाश में प्रकाश की तरंगें उत्पन्न करता है। ये तरंगें प्रकाश की तरंगों की अपेक्षा बहुत छोटी, सूक्ष्म और बहुत ही तीव्र गति वाली होती हैं तथा एक साधक के मस्तिष्क से संकल्पों को दूसरे व्यक्ति के मस्तिष्क में जाने के लिए किसी प्रकार से पर्वत अथवा दीवालों द्वारा रुकावट नहीं हो सकती। दिन के समय सूर्य के प्रकाश और गर्मी तथा सांसारिक चहल-पहल के कारण संकल्प के कंपन मार्ग से कुछ विचलित हो जाते हैं परन्तु रात के समय जब अंधकार रहता है और संसार में आकाश शान्त रहता है तब विचार बड़ी तीव्रगति से चलते हैं। चाहे साधक चारों ओर से बन्द गुप्त कमरे के अन्दर से विचार प्रेषण किसी भी दिशा को करे, मार्ग में कोई भी जबरदस्त पदार्थ रुकावट डाले, कुछ असर नहीं पड़ सकता और विचार अवश्य अपने निश्चित स्थान को, जहाँ के लिए उनको प्रेरित किया गया है जायेंगे। यदि दूसरे व्यक्ति का मन इतना उन्नत नहीं है और उसके दिव्य चक्षु में कम्पन का अनुभव नहीं होता तो साधक के मस्तिष्क से निकले हुए संकल्प दूसरे व्यक्ति के पास जाकर वहाँ से वापिस अपने प्रेषक के पास लौट आवेंगे और दूसरे व्यक्ति के मस्तिष्क में प्रेषित संकल्पों का कुछ भी प्रभाव न पड़ेगा जैसे कि प्रकाश की तरंगों का कोई प्रभाव अन्धे मनुष्य के चक्षु पर नहीं पड़ता।

संकल्प को दूसरी रीति से स्थानान्तर में मननकर्ता अपने मानसिक क्षेत्र में दूसरे व्यक्ति का चित्र बनाकर उसके मस्तिष्क तक संकल्प नहीं भेजता किन्तु उसे सीधा दूसरे मननकर्ता की ओर मानसिक क्षेत्र में प्रेरित करता है। इस प्रकार की क्रिया सावधानी से करके सामर्थ्यवान, होने

के लिए प्रथम रीति की अपेक्षा अधिक मानसिक उन्नति और एकाग्रता की आवश्यकता है क्योंकि यह साधन करने के लिए संकल्प प्रेरक को मानसिक क्षेत्र पर आत्मदृष्ट होना आवश्यक है। किन्तु संकल्प की स्थानान्तर प्रेरणा शक्ति को हम सब लोग अप्रत्यक्ष और अज्ञात रीति से काम में लाते रहते हैं क्योंकि हमारे सब विचार मानसिक क्षेत्र में कम्पन उत्पन्न करते हैं और नियमानुसार इन कम्पनों का प्रभाव मानसिक प्रकृति पर अवश्य होता है। प्रायः प्रत्येक व्यक्ति अपनी अलग रीति से विचार करते हैं। उसका अपना प्रभाव अपनी मानसिक उन्नति करने में अन्य मनुष्यों को अपेक्षा अधिक बलवान है। वह अपने मन की साधारण कम्पन गति को आप ही नियत करता है। जो विचार उसके कम्पनों के सजातीय नहीं होते वे आप ही लौट जाते हैं। यदि कोई मनुष्य सत्य का मनन करता है तो उसके मन में झूठ के विचार नहीं आ सकते, आते ही लौट जायेंगे। यदि वह प्रेम पर मनन करता है तो 'घृणा' उसके मन पर प्रभाव नहीं डाल सकती। यदि वह विज्ञान का विचार करता है तो अज्ञानता उसे जड़ीभूत नहीं कर सकती।

केवल इसी नियम में दृढ़ होकर हमें शक्ति प्राप्त होती है। मनोभूमि को ऊसर पृथ्वी समझकर कभी खाली न पड़ी रहने देना चाहिए। उसमें कोई संकल्प बीज पड़कर वह उगकर वृद्धि पा सकता है। यदि कोई सूक्ष्म जगत के इन नियमों का अभ्यास और पालन करे तो उसका मूल्य और महत्व ज्ञात हो जायेगा, जिससे विश्वास हो जायगा कि विचार द्वारा जीवन अधिक शुभ, सुखी और आनन्दमय बनाया जा सकता है।

मन की चमत्कारिक शक्तियाँ

हम अपने विचारों को साधारणतः बोलकर व्यक्त करते हैं। जब हम किसी दूर रहने वाले व्यक्ति को अपने विचार बताना चाहते हैं तो हम उसे पत्र अथवा तार द्वारा सूचित करते हैं। बिना भौतिक साधन के विचार किसी दूर रहने वाले व्यक्ति तक पहुँच सकते हैं, इस बात पर हमारा कदापि विश्वास नहीं होता। किन्तु हम यदि अपने व्यावहारिक जीवन की सूक्ष्मता से देखें तो हम भौतिक साधनों के बिना विचारों को अपने मित्रों तक पहुँचाने के बहुत कुछ प्रमाण पायेंगे। हाल ही की बात है, लेखक अपने एक मित्र के बारे में और उसके प्रेम-सम्बन्ध में कुछ कह रहा था। उस मित्र से कई दिनों से पत्र व्यवहार बन्द हो रहा था। ठीक उसी समय पर उस मित्र ने भी लेखक के विषय में सोचा और उसने लेखक को पत्र लिखा। इसी प्रकार जब लेखक एक दूसरे मित्र के बारे में चिन्ता कर रहा था। लेखक का वह मित्र भी

लेखक के बारे में चिन्ता करने लगा। लेखक उसके घर गया और इस अनुभव की सत्यता ज्ञात की।

हमारे विचार प्रकाशित न होने पर भी जिस व्यक्ति के प्रति जैसे होते हैं वे उसको ज्ञात हो जाते हैं। प्रत्येक व्यक्ति यदि अपने मन को एकाग्र करके किसी व्यक्ति की अपने प्रति धारणा के विषय में यदि जानना चाहे तो वह जान सकता है। यदि वह व्यक्ति आपके सामने है तो उसकी धारणा का जानना सरल ही है, पर दूर रहने पर भी उसकी मुखकृति को कल्पना में लाकर उसके विषय में चिन्तन करें और जो विचार उस समय उसके मन में उठें उन्हें ध्यान में रखें। यह देखना कि विचार उस व्यक्ति की धारणाओं को व्यक्त करते हैं। जो व्यक्ति हमसे वास्तविक प्रेम करता है उसके विषय में चिन्तन करते हैं हमारे हृदय में प्रेमोद्गार उदय होने लगता है और जो व्यक्ति हमें नहीं चाहता उसके विषय में सोचते ही मन में क्षोभ उत्पन्न होने लगता है। इस प्रेमोद्गार और क्षोभ को भली-भाँति समझने से दूसरे व्यक्ति के हृदय की स्थिति तथा उसकी अपने प्रति धारणा का पता चल सकता है।

हम अपने स्थान में रहकर भी दूर रहने वाले व्यक्ति के हृदय की धारणा बदल सकते हैं। दूसरे व्यक्ति के विचारों को बदलना, अपने चित्त की एकाग्रता पर निर्भर रहता है। एक व्यक्ति यदि दूसरे व्यक्ति को कोरे तर्क के बल पर प्रभावित करना चाहे तो वह देखेगा कि उसका प्रयत्न व्यर्थ गया। जब तक तर्क करने वाले व्यक्ति के प्रति किसी व्यक्ति की श्रद्धा नहीं होती, युक्तियों को सुनने वाले के मन पर कोई भी अनकूल असर नहीं होता। तर्क करने से कभी-कभी प्रतिकूल परिणाम होता है। मनुष्य की बुद्धि उसके हृदय की दासी है। जब तक हम मनुष्य के हृदय पर अधिकार नहीं करते, उसकी बुद्धि को भी प्रभावित नहीं कर सकते। दूसरे के हृदय पर अधिकार मन की साधना अर्थात् एकाग्रता से होता है, हृदय के प्रभावित हो जाने से बौद्धिक परिवर्तन सरलता से हो जाता है। हृदय का परिवर्तन अपनी सद्भावना के दर्शनी से होता है। इसके लिए अधिक बकबास करने की भी आवश्यकता नहीं होती। किसी को दो-चार शब्दों से भी प्रभावित करके उसके हृदय को परिवर्तित कर सकते हैं। आवश्यकता यह है कि हम उसके प्रति वास्तविक सद्भावना रखें। सद्भावना के लिए अपने ही स्थान में रहकर उसके शुभ-चिन्तन की आवश्यकता है।

शारीरिक और मानसिक रोगों के उपचार में सद्भावना का महत्व भली-भाँति देखा जाता है। रोगी के प्रति सद्भावना प्रकट करने से रोग नष्ट होता है। शारीरिक रोगों के उपचार में जितनी भौतिक औषधि कार्य

करती है उससे कहीं अधिक डॉक्टर की रोगी के प्रति सद्भावना कार्य करती है। देखा गया है कि पैसे की दृष्टि से रोजगार करने वाले व्यक्ति रोगी की योग्य चिकित्सा नहीं कर सकते। जो वैद्य जितना ही अधिक पैसे का साथी होता है, वह रोगियों की चिकित्सा करने में उतना ही अयोग्य होता है। लोभी वैद्य रोगी को स्वस्थ नहीं करना चाहता क्योंकि इससे उसकी आमदनी का जरिया चला जाता है। वह आन्तरिक मन से रोगी को रोगी ही बनाये रखना चाहता है ताकि वह बार-बार उसे बुलावे और उसे फीस तथा दवा का दाम भी दे। इससे उसकी आन्तरिक भावना उसकी दवाइयों की अपेक्षा अधिक कार्य करती है और रोगी बीमार ही बना रहता है। देखा गया है कि कुछ वैद्य पहले सफल चिकित्सक रहकर भी बाद में अपने रोगियों को आरोग्य प्रदान करने की शक्ति खो बैठते हैं। इस प्रकार के परिवर्तन का कारण उनके विचारों में दोष उत्पन्न हो जाना ही होता है।

चिकित्सक अपने घर रहकर भी रोगी को आरोग्य प्रदान करने में सफल हो सकता है। यदि चिकित्सक निःस्वार्थ भाव से किसी रोगी को चंगा करने की सोचे तो उस रोगी को अवश्य लाभ होगा। यहाँ चित्त की एकाग्रता और चिकित्सक की सद्भावना कार्य करती है। हम चित्त को एकाग्र करके दूर से ही किसी व्यक्ति के विचारों को बदल सकते हैं। जब किसी रोगी के हृदय की तन्त्री किसी आरोग्यवान् व्यक्ति से जुड़ जाती है तो उसे सफलता से आरोग्य लाभ हो जाता है। रोगों के विचार आरोग्यवान् व्यक्ति के विषय में चिन्तन करने से बदल जाते हैं। उसके आत्मभर्त्सना के भाव भी विनष्ट हो जाते हैं और आशा का संचार हो जाता है। मन के आशान्वित होने पर रोग का नष्ट होना अनिवार्य है।

रोगी के विचारों को आशान्वित बनाने में चिकित्सक भारी काम करता है। स्वयं रोगी के विचारों में किसी प्रकार की स्थिरता नहीं रहती। नैराश्रय रहता है और रोग से मुक्त होना चाहता है पर उसे मुक्त हो सकने का विश्वास नहीं होता। स्वयं चिकित्सक को ऐसी अवस्था में प्रयत्न करना पड़ता है, उसे मानो दल-दल से हाथ पकड़कर निकालना पड़ता है। इस कार्य में चिकित्सक का रोगी से बातचीत करना आवश्यक नहीं होता। जितना उसके विषय में चिन्तन करना और उसी सेवा करना लाभदायक होता है। निःस्वार्थ सेवा करने से रोगी के हृदय पर चिकित्सक का अधिकार हो जाता है और फिर उसके विचार बदल देना सरल हो जाता है।

हम जितनी एकाग्रता के साथ दूसरे व्यक्ति के बारे में सोचते हैं। वह उतना ही अधिक हमारे विषय में चिन्तन करता है। मरते समय मनुष्य दूर रहने वाले अपने प्रियजन का बड़ी एकाग्रता से चिन्तन करता है। देखा गया है कि जिस व्यक्ति के बारे में मनुष्य ऐसा सोचता है, वह उद्विग्न मन हो गया है। या तो उसे जाग्रत अवस्था में ही उसका स्मरण आने लगता है अथवा वह उसके विषय में स्वप्न देखने लगता है। इस प्रकार के कितने ही स्वप्न सत्य होते पाये गये हैं। लेखक के एक छात्र ने एक बार अपने पिता की मृत्यु का स्वप्न देखा और दूसरे दिन उसकी मृत्यु का तार आया। सत्य होने वाले और साधारण स्वप्नों में अन्तर यह होता है कि स्वप्नावस्था के पूर्व ही मनुष्य उद्विग्नमन रहता है। यदि एकाग्र चित्त होकर इस उद्विग्नता का पता लगाना चाहे तो वह होने वाली घटना का पता लगा सकेगा।

जो मनुष्य अपने भीतर जितना ही अधिक अपने मन को ले जाता है, वह दूसरों की घटनाओं के जानने की उतनी ही अधिक शक्ति प्राप्त कर लेता है। दूसरे मनुष्यों के विचारों को प्रभावित करने की शक्ति तथा अपने संकल्प को सफल बनाने की शक्ति भी अपने मन को अपने भीतर ले जाने से आती है। कई दिनों के उपवास से इस प्रकार की शक्ति का उदय होता है। संसार के अनेक विद्वान और सभी महात्माओं ने अपने विचारों को प्रभावशाली बनाने के लिए अनेक प्रकार की तपस्याएँ की हैं। जो व्यक्ति जितनी तपस्या करता है उसके विचार उतने ही प्रभावशाली होते हैं। सत्य और शक्ति दोनों को ही प्राप्त करने के लिए तपस्या की आवश्यकता है। हमारा आन्तरिक मन कल्पनातीत शक्तियों का केन्द्र है।

हम जिस प्रकार की शक्ति का साक्षात्कार करना चाहते हैं, मन की एकाग्रता के द्वारा प्राप्त कर सकते हैं। अपने स्वार्थ को त्यागने से शक्ति की असीम वृद्धि हो जाती है। जो व्यक्ति अपनी मानसिक शक्ति को अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिये कामना में नहीं लाता है वह उतना ही अधिक उस शक्ति को भली बना लेता है। हम इस तरह देखते हैं कि तप और निःस्वार्थ भावना के कार्य मनुष्य को अपार शक्ति प्रदान करते हैं। हमारी मानसिक शक्ति हमारे विश्वास पर निर्भर है। जैसा मनुष्य का अपनी शक्ति के विषय में निश्चय होता है, उसके मन में उसी प्रकार की शक्ति का उदय होने लगता है। पर निश्चय की दृढ़ता तप का परिणाम है। तप और योग में मौलिक भेद नहीं, दोनों में ही मन को रोकना पड़ता है। मन की एकाग्रता से ही निश्चय की दृढ़ता

अर्थात् विश्वास आता है। विश्वास सिद्धि का कारण होता है। मनुष्य जितनी ही अधिक तपस्या करता है मानसिक शक्ति को उतना ही अधिक बढ़ा लेता है। पर यह बढ़ी हुई शक्ति अपने ही काम में लाने से नष्ट हो जाती है। इस शक्ति को लोकोपकार में लगा देने से चिरस्थायी हो जाती है। शक्ति का उदय, तप अर्थात् चित्त की एकाग्रता से होता है और उसका स्थायी रहना उसके उपयोग से।

हमारे वैयक्तिक मन के परे समष्टि मन है। यही मन-शक्ति और प्रतिभा का केन्द्र है। चित्त की एकाग्रता से मनुष्य अपने आपको समष्टि मन से मिला देता है। तपस्या का यही परिणाम है। इस मनुष्य का वैयक्तिक मन शक्तिशाली हो जाता है। जब तक मनुष्य के वैयक्तिक मन और समष्टि मन में एकता रहती है। मनुष्य शक्तिशाली बना रहता है, जब मनुष्य अपने आपको समष्टि-मन से अलग कर लेता है तो उसकी शक्ति का ह्रास हो जाता है। शक्ति समष्टि मन अर्थात् विराट पुरुषों से, जो कि हमारा अन्तर्यामी है, आती है। जब हम विराट पुरुष से प्राप्त शक्ति उसी के काम में लाते हैं तो वह नष्ट नहीं होती। जितना ही अधिक हम अपनी शक्ति को लोकोपचार में खर्च करते हैं हमारी शक्ति उतनी ही अधिक बढ़ती है। अपने स्वार्थ की सिद्धि वाले कार्यों में खर्च करने से उसका ह्रास होता है।

मानसिक शक्ति का सम्बन्ध मनुष्य की शारीरिक शक्ति से प्रायः स्थापित किया जाता है। कहा जाता है कि मनुष्य की जैसी शारीरिक शक्ति होती है, उसी अनुसार उसकी मानसिक शक्ति भी होती है इस प्रकार की धारणा भ्रमात्मक है। देखा गया कि मोटे-ताजे मनुष्य का मानसिक बल नहीं के बराबर होता है और दुर्बल मनुष्य के मानसिक बल से संसार डरता है। अपढ़ और पढ़े-लिखे लोगों के मानसिक बल को ही देखें। सुशिक्षित मनुष्य का मानसिक बल सदा अशिक्षित से अधिक होता है। जितना आत्म विश्वास शिक्षित में पाया जाता है उतना अशिक्षित व्यक्ति में नहीं। उसमें न तो उतना विश्वास होता है न मानसिक दृढ़ता ही। इस कारण ही चित्त की एकाग्रता का अभ्यास करना पड़ता है। व्यक्ति किसी विषय को लेकर जितना ही अधिक मानसिक एकाग्रता का अभ्यास करता है उसमें उतना ही अधिक मानसिक दृढ़ता और आत्म-विश्वास उत्पन्न होता है।

मनोमय कोश-मस्तिष्कीय परिष्कार

मनोमय कोश की साधना में एकाग्रता की शक्ति का सम्पादन एवं अभिवर्धन प्रमुख है। सर्वविदित है कि बिखराव से समर्थता भी छिन्न-भिन्न हो जाती है।

असंगठित होने पर समर्थ लोग भी कुछ कर नहीं पाते, जबकि थोड़े से छोटे लोग मिलकर भी बड़े-बड़े कार्य पूरे कर लेते हैं। यही बात मनःशक्ति के सम्बन्ध में भी है, वह बिखरी रहे तो मस्तिष्क यन्त्र के पूर्ण समर्थ होते हुए भी उसकी क्षमता गये-गुजरे स्तर पर पड़ी रहेगी और वह बौद्धिक दुर्बलता के साथ-साथ प्रगति के हर क्षेत्र में पिछड़ा हुआ ही बना रहेगा।

ध्यान-योग में एकाग्रता की शक्ति को ही विकसित किया जाता है। इसके कई लाभ हैं। बिखराव दूर करके यदि चिन्तन एवं संकल्प को एकत्रित करने की कला सीख ली जाय और उसे मनःसंस्थान में अवस्थित विभिन्न क्षमता केन्द्रों पर इकट्ठा कर लिया जाये, तो वे संस्थान जाग्रत होंगे और जो विशेषताएँ अपने भीतर पहले नहीं थीं वे समुन्नत होने लगेंगी। इस आधार पर स्मरण शक्ति जैसी कितनी ही क्षमताएँ विकसित की जा सकती हैं।

आतिशी शीशे के माध्यम से कुछ इन्च के घेरे में फैली हुई सूर्य किरणों को यदि एक बिन्दु पर केन्द्रित किया जा सके तो उतने भर से तत्काल अग्नि प्रज्ज्वलित हो जायेगी। उसका उपयोग करके विकराल दावानल उत्पन्न किया जा सकता है। मनुष्य की शारीरिक श्रम शक्ति और मानसिक चिन्तन शक्ति की अस्त-व्यस्तता ही उसे गई गुजरी स्थिति में डाले रखने के लिए जिम्मेदार है। यदि इन क्षमताओं का सदुपयोग सम्भव हो सके तो उसका सत्परिणाम देखते ही बनेगा। सांसारिक जीवन में अनायास ही आकस्मिक सफलताएँ तो कदाचित ही किसी को मिलती होंगी। सामान्यतया हर प्रगतिशील व्यक्ति को अपनी क्षमताओं को बिखराव से रोककर अभीष्ट लक्ष्य के लिए नियोजित करना पड़ता है। प्रगति की सम्भावना का मार्ग इसी उपाय से प्रशस्त होता है। जो अपने श्रम, समय चिन्तन, मनोयोग दिशा धारा को किसी लक्ष्य विशेष पर नियोजित न कर सके, तो वे सुयोग्य एवं साधन सम्पन्न होने पर भी कुछ कहने लायक सफलता प्राप्त न कर सकेंगे। इसके विपरीत स्वल्प बुद्धि और स्वल्प साधन होते हुए भी कितने ही व्यक्ति उन्नति के उच्च शिखर पर पहुँचते देखे गये हैं। सफलताओं में से अधिकांश का श्रेय कर्ता की तत्परता एवं तन्मयता पर ही निर्भर रहता है। इसी को एकाग्रता भी कहते हैं।

चूल्हे पर पानी गरम करते समय ढेरों भाप ऐसे ही उड़ती रहती है। पर यदि दो छटांक पानी की भाप प्रेशर कुकर में ठीक ढंग से प्रयुक्त की जाय तो उतने भर से कई आदमियों का भोजन तुरंत-फुर्त पक सकता है। यदि उतने पानी में गर्मी बढ़ती रहे और भाप को निकलने का अवसर न मिले तो कुकर फट सकता है और एक छोटा

बम फटने जैसा उपद्रव खड़ा हो सकता है। भाप का बिखराव परिणाम उत्पन्न करता है। रेलगाड़ी के इन्जन में बनने वाली थोड़ी सी भाप कितना बड़ा काम करती है। जबकि जहाँ-तहाँ फैले पानी की ढेरों भाप ऐसे ही हवा में उड़ती और निरर्थक नष्ट होती रहती है।

सेरों बारूद जमीन पर फैलाकर आग लगा दी जाय तो उससे थोड़ी-सी लपट भर उठेगी-जरा-सी रोशनी भर चमकेगी, किन्तु यदि उसमें से तनिक सी मात्रा बन्दूक की नली में बन्द करके चलाई जाय तो वह किसी मोटे आवरण को चीरती हुई पार जा सकती है। बाँध में पानी भरा रहता है, पर उसमें एक छोटा छेद करके उसे नीचे गिराया जाय तो उतने से दबाव के कारण बिजलीघर बनने जैसे बड़े काम हो सकते हैं। ऊपर से गिरने वाले झरनों से पनचक्कियाँ तथा दूसरी मशीनें चल सकती हैं। बिखराव को रोकने और उसे केन्द्रीयकरण की दिशा में मोड़ने से कितने चमत्कारी परिणाम उत्पन्न हो सकते हैं, इसे सहज ही कभी भी देखा जा सकता है। मोटी छड़ दूँसने से उतनी आसानी से गहरा छेद नहीं हो सकता, जितना कि उसमें पैनी नोक निकाल लेने पर हो सकता है। नोक में यही विशेषता है कि एक छोटे से आधार पर दबाव की अधिक शक्ति केन्द्रीभूत होती है। सुई से लेकर छेद करने के बरमे तक इसी सिद्धान्त पर बने हैं कि दबाव को पतली नोक पर केन्द्रित करने से उसकी शक्ति बिखराव की तुलना में अनेक गुनी बढ़ जाती है।

आमतौर से जीवन की असंख्य घटनाएँ विस्मृति के गर्त में चली जाती हैं, पर कभी-कभी कोई मन में चुभने वाले प्रसंग ऐसे होते हैं जो आजीवन स्मरण बने रहते हैं। कारण एक ही कि उस घटना को गम्भीरतापूर्वक लिया गया। उस पर मस्तिष्क का सारा ध्यान केन्द्रित हो गया। भुलक्कड़पन में मस्तिष्क की कमजोरी प्रधान कारण नहीं होती, वरन् उपेक्षापूर्वक पढ़ने की अन्यमनस्कता ही निमित्त होती है। यदि किसी विषय को बारीकी से, दिलचस्पी से, सावधानी के साथ पढ़ा जाय तो वह सहज ही विस्मरण न होगा। स्मरण शक्ति की कमी की शिकायतों पर यदि गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाय तो उसके पीछे उदासीनता-उपेक्षा एवं अन्यमनस्कता का दोष ही उभरा हुआ दिखाई देगा।

कछुए और खरगोश की प्रतिस्पर्धा में कछुए का बाजी जीत लेना इसी कारण सम्भव हुआ कि वह एक निष्ठा भाव से अपनी राह चलता रहा जबकि खरगोश अधिक समर्थ होते हुए भी अस्त-व्यस्त, उछल-कूद करते रहने के कारण लक्ष्य स्थान तक पीछे पहुँचा और बाजी

१.७० • चेतन, अचेतन एवं सुपर चेतन मन

हार गया। नित्य एक घण्टा विदेशी भाषाएँ सीखने में लगाते रहने के कारण विनोबा भावे तेईस भाषाओं के विद्वान बन सके। जबकि हमारा घण्टों का समय अस्त-व्यस्तता में ऐसे ही नष्ट होता रहता है और उसका कुछ भी लाभ मिल सकना सम्भव नहीं होता।

प्रवीणता, पारंगतता, सफलता जैसी अनेकों उत्साहवर्धक विभूतियाँ वस्तुतः एकाग्रता की ही उपलब्धियाँ होती हैं। रुचिपूर्वक, उत्साहपूर्वक, मनोयोगपूर्वक, निष्ठापूर्वक जो भी काम करते रहा जायेगा उसमें स्वभावतः प्रवीणता उत्पन्न होती चली जायगी। योग्यता और क्षमता सभी में लगभग एक जैसे स्तर की होती है। अन्तर थोड़ा सा ही रहता है, उसे प्रयत्नपूर्वक दूर किया जा सकता है। असफलताओं का और कोई कारण उतना नहीं होता जितना कि अनुत्साह। उपेक्षापूर्वक आधे-अधूरे मन से किये गये कामों का परिणाम असफलता के रूप में ही सामने आवेगा।

कभी-कभी किन्हीं विशेष व्यक्तियों में विलक्षण मानसिक विशेषताएँ पाई जाती हैं। किन्हीं की स्मरण शक्ति इतनी विकसित होती है कि सामान्य लोगों के साथ उसकी तुलना करने पर आश्चर्यचकित रह जाना पड़ता है। किन्हीं में कला-कौशल की इतनी पारंगतता आरम्भिक जीवन में ही पाई जाती है जिनके कारण वे एक आश्चर्य की तरह दर्शनीय और ख्याति प्राप्त बनते हैं।

इन अद्भुत घटनाओं के मूल में रहस्य इतना ही होता है कि उनका मानसिक बिखराव संयोगवश एकाग्र बन गया होता है। संयोग भी एक नियम विशेष के आधार पर बनते हैं। पूर्व जन्मों की उपलब्धियाँ ही ऐसे कारणों में प्रधान भूमिका निभा रही होती हैं। मनुष्य पिछले जन्म के असंख्य संस्कार अपने साथ लेकर आता है। उन्हीं में एक मस्तिष्कीय विकास का होना भी एक हो सकता है।

मस्तिष्कीय विकास मात्र उस शिक्षण पर निर्भर नहीं, जो स्कूलों में या समीपवर्ती लोगों से मिलता है। वह जानकारी बढ़ाना मात्र है। बलिष्ठ मस्तिष्क की विद्युत शक्ति का प्रवाह यदि दुर्बल मस्तिष्कों की ओर मुड़ जाय तो उनकी तीक्ष्णता में भारी परिवर्तन हो सकता है और उसका परिचय विशेष प्रोटीनों की मात्रा की वृद्धि के रूप में सहज ही देखा जा सकता है। मस्तिष्कीय पोषण के लिए सुविकसित चेतना सम्पन्न मनस्वी लोगों का सान्निध्य अत्यन्त उपयोगी है, उनकी बढ़ी-चढ़ी प्राण शक्ति दुर्बल मनःचेतना की अभाव पूर्ति कर सकती है। प्रयोगशालाओं में मामूली बिजली को कुछ विशेष कोष्ठों में पहुँचाकर

प्राणियों की प्रकृति कुछ समय के लिए बदलना सम्भव हो सकता है। प्रतिभाशाली लोगों का प्राण-दुर्बल मनःस्थिति को बदलने में स्थायी उपचार का प्रयोजन पूरा कर सकता है।

येल यूनिवर्सिटी के मस्तिष्क विज्ञानी डॉ० जोजे डेलगाडो ने अपने प्रयोगों से यह सिद्ध कर दिया है कि मस्तिष्क में बाहर से बिजली पहुँचाकर उसका कार्य केन्द्रों को उद्दीप्त एवं प्रसुप्त किया जा सकता है। तदनुसार उस प्राणी को इच्छित कार्य कराने और आज्ञा पालन के लिए विवश किया जा सकता है।

डॉ० जोजे ने अपने प्रयोगों की सार्वजनिक प्रदर्शनी करके दर्शकों को आश्चर्यचकित कर दिया। उनके हाथ में एक विद्युत संचालक था और कुछ प्राणियों को खोपड़ी पर अमुक स्थान एवं अमुक संख्या में इलेक्ट्रोड लगा रखे गये थे। इस प्रकार यन्त्र और प्राणी के बीच रेडियो सम्पर्क स्थापित हुआ। प्रेरित सूचनाओं के अनुसार प्राणी ऐसे काम करने लगे जो उनकी सामान्य प्रवृत्ति के विपरीत थे। नम्र प्राणी उद्धत हो उठे और उद्धत प्रकृति वाले पूर्ण शान्त होकर एक कोने में जा बैठे। साँड़, बन्दर, कुत्ते, चूहे, बिल्ली आदि प्राणियों ने इस विद्युत संचार प्रणाली से प्रभावित होकर वे काम किये जिसकी आज्ञा प्रदर्शन में उपस्थित जनता ने कभी भी नहीं की थी।

मनुष्यों पर भी यह प्रयोग किये गये हैं और उनकी इच्छा शक्ति, ज्ञान शक्ति एवं क्रिया शक्ति पर नियन्त्रण करके अमुक प्रकार से सोचने और अमुक प्रकार के काम करने को उन्हें विवश कर दिया गया है।

स्मरण शक्ति की विलक्षणता कई व्यक्तियों में इतनी अधिक मात्रा में विकसित पाई जाती है कि आश्चर्यचकित रह जाना पड़ता है। लिथुयानिया का रैवी एलिजा दो हजार पुस्तकें कण्ठाग्र रखने के लिए प्रसिद्ध था। कितनी ही बार उलट-पुलटकर उसकी परीक्षा की गई और वह सदा खरा उतरा। फ्रांस का राजनेता लियान गैम्बाटा को विक्टर ह्यूगो की रचनाएँ बहुत पसन्द थीं। उनमें से उसने हजारों सन्दर्भ के पृष्ठ याद कर सके थे और उन्हें आवश्यकतानुसार धड़ल्ले के साथ घण्टों दुहराता रहता था। इसमें एक भी शब्द आगे-पीछे नहीं होता था। पृष्ठ संख्या तक वह सही-सही बताता चलता था।

ग्रीक विद्वान रिचार्ड पोरसन को भी पढ़ी हुई पुस्तकें महीनों याद रहती थीं। जो उन्होंने आज पढ़ा है उसे एक महीने तक कभी भी पूछा जा सकता था और वे उसे ऐसे सुनाते थे मानो अभी-अभी रट कर आये हों।

शतरंज का जादूगर नाम से प्रख्यात अमेरिकी नागरिक हैरी नेलसन पिलस्परी एक साथ बीस शतरंज खिलाड़ियों की चाल का स्मरण रखकर उनका मार्ग-दर्शन करता था। यह सब काम पूरी मुस्तएदी और फुर्ती से चलता था, बीसों खिलाड़ी उसका मार्गदर्शन पाते और खेल की तेजी बनाये रखते थे। जर्मनी का लायब्रेरियन मैथुरिन वे सिरे दूसरों के कहे शब्दों की हू-बहू पुनरावृत्ति कर देता था। जिन भाषाओं का उसे ज्ञान नहीं था उनमें वार्तालाप करने वालों की बिना चूक नकल उतार देने की उसे अद्भुत शक्ति थी। एक बार बारह भाषा-भाषी लोगों ने अपनी बोली में साथियों से वार्तालाप किये। मैथुरिन ने क्रमशः बारहों के वार्तालाप को यथावत् दुहरा कर सुना दिया। वरमान्य का आठ वर्षीय बालक जेरा कोलवर्न गणित के अति कठिन प्रश्न को बिना कागज-कलम का सहारा लिए मौखिक रूप से हल कर देता था। लन्दन के गणितज्ञों के सम्मुख उसने अपनी अद्भुत प्रतिभा का प्रदर्शन करके सबको चकित कर दिया था। हम्बर्ग निवासी जान मार्टिन डेस भी अति कठिन गणित प्रश्नों को मौखिक रूप से हल करने में प्रसिद्ध था। उन दिनों उसके दिमाग की गणित क्षमता इतनी बढ़ी-चढ़ी थी कि आज के गणित कम्प्यूटर भी उससे प्रतिस्पर्धा नहीं कर सकते थे।

मस्तिष्क की अनौखी हलचलों का विश्लेषण अणु जैविकी-मोलिक्यूलर बायोलॉजी के आधार पर करते हुए स्वीडन की गोटेन वर्ग युनिवर्सिटी के जीव विज्ञानी होल्गर हाइडेन इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि मस्तिष्क को दक्ष बनाने वाले शिक्षण एवं चिन्तन कार्य कोशिकाओं में महत्वपूर्ण रासायनिक पदार्थों की मात्रा बढ़ा देते हैं और वे अधिक सम्वेदनशील बनकर बुद्धिमत्ता का क्षेत्र विस्तार करते हैं।

इससे सिद्ध होता है कि मस्तिष्कीय क्षमताओं को विकसित करने की प्रक्रिया न केवल अपने ही बौद्धिक संस्थान को परिष्कृत करती है, वरन् उससे दूसरों को भी प्रभावित किया जा सकता है। प्रतिभा इसी का नाम है। बुद्धिमत्ता और प्रतिभा दोनों को मानसिक दक्षता का ही एक अंग कह सकते हैं। यह दक्षता जन्म-जात रूप में-पूर्व संचित सम्पदा के रूप में-अनायास उपलब्ध भी दीख सकती है और उसे साधनात्मक प्रयत्नों द्वारा योजनाबद्ध रूप से बढ़ाया भी जा सकता है। मनोमय कोश के परिष्कार की साधना अपनाकर क्रमशः इसी क्षेत्र में पदार्पण करना सम्भव होता है।

शरीर और मन का संचालन करने वाली जीवसत्ता

नृतत्व विज्ञान अब एक से एक गहरी एवं रहस्यमय ऐसी परतों का उद्घाटन करता जा रहा है जिनसे प्रतीत होता है कि स्थूल शरीर की हरकतें स्वेच्छया संचालित नहीं हैं उनका नियन्त्रण कोई अतीन्द्रिय शक्ति करती है।

कुछ समय पूर्व रक्त-माँस के पिण्ड को आहार-विहार द्वारा संचालित माना जाता था और कहा जाता था कि रुग्णता एवं स्वस्थता का आधार आहार-विहार है। पीछे मालूम पड़ा कि आहार शरीर रूपी इंजन को गरम बनाये रखने के लिए मात्र ईंधन का काम करता है। निर्जीव आहार को सजीव रक्त में परिणत करने की अतिमहत्वपूर्ण रासायनिक प्रक्रियाएँ पाचन यन्त्रों से संचित होने वाले रसों के द्वारा सम्पन्न होती हैं। स्वसंचालित मानव-शरीर भोजन से मात्र ईंधन प्राप्त करता है। यदि ऐसा न होता तो दुम्बामेढा और सुअर के शरीर में इतनी बड़ी मात्रा में चर्बी कैसे जमा हो जाती, जबकि उनके आहार में चिकनाई का अंश नाम मात्र ही होता है। असल में उनके पाचन स्त्राव उन रासायनिक विशेषताओं से परिपूर्ण होते हैं जिनके कारण सामान्य घास को ही चर्बी के रूप में परिणत किया जा सके। यह तथ्य सामने आने पर भोजन विश्लेषण सम्बन्धी अत्यधिक आग्रह में शिथिलता आई और इतना ही पर्याप्त माना जाने लगा कि यदि शरीर पर अनावश्यक दबाव न डालें, अपनी प्रकृति के अनुरूप ही भोजन संतुलित मात्रा में लेते रहें तो स्वास्थ्य रक्षा एवं शरीर पुष्टि का प्रयोजन भली प्रकार पूरा होता रह सकता है।

शरीर संचालन की शोध में आगे बढ़ने पर पाया गया कि पेट, हृदय और फेफड़ों को संचालक तत्व नहीं माना जा सकता। शरीर के समस्त क्रिया-कलापों का संचालन मूलतः चेतन और अचेतन मस्तिष्कों द्वारा होता है, उन्हीं की प्रेरणा से विविध अंग अपना-अपना काम चलाते हैं। अस्तु, स्वास्थ्य बल एवं बुद्धिबल को विकसित करने के लिए मस्तिष्क विद्या के गहरे पतों का अध्ययन आवश्यक समझा गया है और अभीष्ट परिस्थितियाँ उत्पन्न करने के लिए उसी क्षेत्र को प्रधानता दी गई। पिछले दिनों जीवविज्ञानियों ने शरीर शोध अन्वेषण की ओर से विरत होकर अपना मुँह मनःशास्त्र की ऊहापोह पर केन्द्रित किया है।

अब एक और नया रहस्य सामने आ खड़ा हुआ है-हार्मोन ग्रन्थियों का। उनसे अत्यन्त स्वल्प मात्रा में

निकलते रहने वाले स्त्राव ऐसे महत्वपूर्ण हैं जो केवल शारीरिक ही नहीं मानसिक स्थिति को भी प्रभावित करते हैं और उनमें आश्चर्यचकित करने वाले उतार-चढ़ाव उत्पन्न करते हैं। यह हारमोन चेतन या अचेतन मस्तिष्क से भी प्रभावित नहीं होते। इनको घटाने-बढ़ाने में एक शरीर से दूसरे शरीर में पहुँचाने के परम्परागत प्रयास प्रायः असफल ही हो चुके हैं। एक शरीर से निकाल कर दूसरे शरीर में प्रवेश कराने में भी इन हारमोनों में वृद्धि, न्यूनता अथवा नियन्त्रण सन्तुलन प्राप्त नहीं किया जा सकता। लगता है वे शरीर और मस्तिष्क के अतिरिक्त अन्य किसी ऐसे तत्व से प्रभावित होते हैं जिसे अतीन्द्रिय संज्ञा दी जा सके।

मस्तिष्क के निचले भाग में मटर के दाने के बराबर लटकी हुई पीयूष ग्रन्थि से निकलने वाले हारमोन गोनेडोट्रोफिक का ही कमाल है कि वह साधारण किशोरों को नवयुवती के रूप में परिणत करने वाले सारे साधन अनायास ही जुटा देता है।

गोनेडोट्रोफिक रक्त में मिलकर अण्डाशय को जागृत करता है और उस जाग्रति के फलस्वरूप वहाँ एक नये हारमोन 'एस्ट्रोजन' की उत्पत्ति होने लगती है। एक दिन में उसकी मात्रा चीनी के दाने के हजारवें भाग की बराबर नगण्य जितनी होती है पर उतने से ही प्रजनन अवयवों का द्रुतगति से विकास होता है और प्रायः दो वर्ष पूर्व की किशोरी, युवती के सभी चिन्हों से सुसज्जित हो जाती है।

अण्डाशय यों प्रायः ४ लाख कोशिकाओं का बना होता है पर उसमें से ४-५ सौ ही विकसित होकर अण्ड बनता है। ग्यारह से लेकर चौदह वर्ष की आयु में क्रमशः एक-एक अण्ड विकसित होता है। उसके आधार पर प्रायः २८वें दिन रजो धर्म होने लगता है। जो तीन से लेकर आठ दिन तक स्रवित होता रहता है। वाशिंगटन विश्वविद्यालय के डॉ॰ एडगर एलन तथा एडवर्ड ए॰ डौजी ने पीयूष ग्रन्थि के प्रभाव से अण्डाशय में उत्पन्न होने वाली ऐसी अनेक संवेदनाओं का पता लगाया है जो यौन आकांक्षाओं के उतार-चढ़ाव के लिए महत्वपूर्ण भूमिका उत्पन्न करती हैं। उनके प्रभाव से मस्तिष्क और प्रजनन अंगों में ऐसी उत्तेजना उत्पन्न होती है, जिसके कारण यौन आकांक्षा में तीव्रता, मन्दता अथवा मध्यवर्ती स्थिति बनी रहती है। दोष अथवा श्रेय प्रजनन अंगों की संरचना को दिया जाता है पर इन मानसिक संवेदनाओं के पीछे वस्तुतः पीयूष ग्रन्थि का सूत्र संचालन ही काम करता है।

पीयूष ग्रन्थि का एक हारमोन है—पोलेक्टिव, यह स्तनों को प्रभावित करता है, उनका विस्तार करता है एवं दुग्ध उत्पादन प्रणाली को गतिशील बनाता है। इसकी न्यूनता रहे तो न तो स्तनों का विकास होगा और दुग्ध का उत्पादन भी स्वल्प ही होगा।

यदि पीयूष ग्रन्थि में थोड़ी सी खराबी रह जाय और एस्ट्रोन तथा प्रोजेस्टेरोन हारमोन समुचित मात्रा में न बने तो अण्ड का विकास न हो सकेगा और नारी वन्ध्या ही बनी रहेगी। गर्भाशय की स्थानीय खराबी से तो बहुत ही कम संख्या में सन्तान रहित रहती है वे खराबियाँ तो मामूली उपचार से ठीक हो जाती हैं पर पीयूष ग्रन्थि के किसी अंग के अविकसित रहने पर हारमोन उपचार ही सफल हो सकता है। नपुंसकता नर की हो या नारी की प्रधानतया पीयूष ग्रन्थि की खराबी के कारण ही होती है। जननेन्द्रिय की स्थानीय कमी वासना अथवा प्रजनन को अधिक प्रभावित नहीं करती। सन्तान के प्रति माता का प्यार क्यों कम या ज्यादा पाया जाता है, इसका स्रोत भी पीयूष ग्रन्थि से स्त्रावित होने वाले प्रोलेक्टिन हारमोन में पाया गया है।

पिछले दिनों यौन संवेदना को मनःशास्त्रियों ने मनुष्य की प्रेरक शक्ति माना था और कहा था मनुष्य के व्यक्तित्व का उत्थान-पतन इसी केन्द्र से होता है। शूर, साहसी, कायर निराश, प्रसन्न, दुखी, आदर्शवादी, ईश्वर भक्त, अपराधी, अविकसित स्तर का निर्माण इसी केन्द्र से होता है। पर अब नया सिद्धान्त कायम हुआ है कि हारमोन ही यौन संवेदनाओं के लिए उत्तरदायी हैं। अब सबसे जटिल प्रश्न यह उत्पन्न हुआ है कि यह हारमोन किससे नियन्त्रित होते हैं ? उनके स्त्रावों में उतार-चढ़ाव कौन लाता है?

इस अनबूझ पहेली का समाधान शरीर और मस्तिष्क की समस्त संरचना की उलट-पुलट कर डालने पर भी खोजा न जा सकेगा। इसका आधार ढूँढ़ने पर वह जीव चेतना के साथ जुड़े हुए जन्म-जन्मान्तरे के संग्रहीत संस्कारों एवं उसकी प्रबल संकल्प शक्ति में ही मिलेगा। जीव सत्ता का स्वतन्त्र अस्तित्व मानने में अभी जो हिचकिचाहट विज्ञान के क्षेत्र में चल रही है उस पर से अगले दिनों पर्दा उठने ही वाला है। जीव-चेतना का, अपना स्वतन्त्र अस्तित्व और उसकी भावनात्मक, चिन्तनात्मक, अभ्यस्त प्रवृत्तियों की सम्पदा से सुसज्जित होना जब मान लिया जायगा तो इस प्रश्न का समाधान होगा कि हारमोन ग्रन्थियों से निकले वाले अत्यन्त स्वल्प किन्तु अत्यन्त शक्तिशाली स्त्रावों की न्यूनाधिकता जो विभिन्न व्यक्तियों में पाई जाती है उसका कारण क्या

है ? और उनमें कुछ परिवर्तन करना हो तो उसके लिए ताला खोलने की चाबी कहाँ मिलेगी। जीवन का स्वतन्त्र अस्तित्व शरीर में ऊपर भी विद्यमान है और उसकी अपनी उपाजित विभूतियाँ भी रहती हैं यह मान लेने पर हार्मोन अन्वेषण में जो गतिरोध इन दिनों उत्पन्न हो गया है इस प्रश्नवाचक चिन्ह का सहज समाधान निकल आवेगा।

परिस्थितियों पर नहीं मनःस्थिति पर प्रसन्नता निर्भर है

गरम हवा के साथ उड़कर धूलि आसमान में छा जाती है, जाड़े के दिनों में वह धरती पर लुढ़कती है और वर्षा होते ही कीचड़ की तरह दिखाई पड़ती है। ऐसा इसलिए होता है कि वह हल्की, तुच्छ और नगण्य है। भारी चट्टानों की स्थिति धूलि से भिन्न होती है, वे आँधी-तूफानों में भी यथास्थान बनी रहती हैं और वर्षा, गर्मी से उनकी स्थिति में कोई खास अन्तर नहीं आता। चट्टानों का गौरव, उनकी अविचल एवं भारी-भरकम होने के कारण ही है।

मनुष्य की गरिमा उसकी भारी-भरकम काया में नहीं, वरन् उसकी सन्तुलित मनःस्थिति में है। परिस्थितियाँ सदा एक जैसी नहीं रह सकतीं, उनका बदलना और पलटना नितान्त स्वाभाविक है। सृष्टि के नियमानुसार संसार की हर वस्तु और हर परिस्थिति बदलती रहती है। यह परिवर्तन ही संसार में गतिशीलता का चक्र चला रहा है। स्थिरता का अर्थ जड़ता ही हो सकता है। यदि पृथ्वी का घूमना, हवा का चलना और रात-दिन का बदलना बन्द हो जाय तो यहाँ भयंकर निस्तब्धता छा जायगी।

किसी को भी यह आशा नहीं करनी चाहिए कि कोई वस्तु, व्यक्ति तथा परिस्थिति सदा एक स्थिति में बने रह सकते हैं। आज का बच्चा कल किशोर, परसों तरुण, अगले दिन अष्टेड़, फिर बूढ़ा और अन्ततः मृतक बनेगा ही, इस व्यवस्था को बदला नहीं जा सकता। कोई व्यक्ति सदा एक जैसी स्थिति में रहना चाहे, तो उसकी यह इच्छा कभी पूरी नहीं हो सकती। पौधे उगते, बढ़ते, परिपक्व होते और वृक्ष बनकर नष्ट हो जाते हैं। घर में कभी जन्म होता है, कभी मरण। दुकान में किसी दिन घाटा पड़ता है, किसी दिन लाभ होता है। ऋतुएँ बदलती हैं, अपना-अपना प्रभाव दिखाती हैं और फिर नई के आने के लिए स्थान खाली करके स्वयं चली जाती हैं। जो इस काल-चक्र की सुनिश्चितता को समझते हैं वे पहले से ही यह समझ लेते हैं कि इन परिवर्तनों के लिए तैयार रहना चाहिए और जब अनुकूल स्थिति

बदलकर प्रतिकूलता का अवसर सामने आये तो उसे अप्रत्याशित न समझकर सहज स्वाभाविक मानें और अपने चित्त को बेतरह असन्तुलित न करें। धैर्यवानों की, विवेकशीलों की मनःस्थिति ऐसी ही होती है। वे न तो अनुकूलता में हर्षोन्मत्त होते हैं और न प्रतिकूलता में सिर धुन-धुनकर रोते हैं। परिवर्तनों का प्रभाव तो हर किसी पर पड़ता है, पर वह विवेकवानों को उतना ही प्रभावित करते हैं जितना कि ऋतुओं का बदलाव। सर्दी की ऋतु में जो ढर्रा था, गर्मी आने पर अभ्यस्त प्रक्रिया बदलने की अड़चन तो पड़ती है, पर कुसमुस करके ढर्रा भी बदल लिया जाता है। दिनचर्या, कपड़े-लते, सोना-जगाना बहुत कुछ बदलना पड़ता है, पर इसे अनिवार्य मानकर बिना बहुत गड़बड़ाये सहज स्वभाव से सँभाल लिया जाता है।

समझदारी का तकाजा है कि संसार चक्र के बदलते क्रम के अनुरूप अपनी मनःस्थिति को तैयार रखें। लाभ, सुख, सफलता, प्रगति, वैभव, पद आदि मिलने पर अहंकार से ऐंठने की जरूरत नहीं है। कहा नहीं जा सकता वह स्थिति कब तक रहेगी। स्थिति कभी भी बदल और उलट सकती है, ऐसी दशा में रोने, झींकेने, खीजने, निराश होने में शक्ति नष्ट करना व्यर्थ है। परिवर्तन के अनुरूप अपने को ढालने में, विपन्नता को सुधारने में, उपाय सोचने, हल निकालने और ताल-मेल बिठाने में यदि मस्तिष्क को लगाया जाय तो वह प्रयत्न रोने, सिर धुनने की अपेक्षा अधिक श्रेयस्कर होगा।

दूरदर्शी लोग समझते हैं कि हर परिवार का यह स्वाभाविक क्रम है, कि कुछ जन्मते रहेंगे, कुछ मरते रहेंगे। यह अनिवार्य और अपरिहार्य है। राजी से, बिना राजी से इन परिस्थितियों का सामना करना ही पड़ेगा। अस्तु, बुद्धिमत्ता इसी में है कि हर्ष, शोक की प्रतिक्रिया की सीमित रखा जाये, उसे इतना अनियन्त्रित न होने दिया जाय कि मस्तिष्क विक्षिप्त जैसा बन जाय और उल्टे रास्ते अपनाकर हाथ के कामों को भी चौपट बनाते हुए दुहरी हानि खड़ी कर दें। यदि सन्तुलन बनाये रखने का अभ्यास हो तो, जो क्षति हुई उतने से ही बीतेगी। शोकाकुल विक्षिप्तता से रो-रोकर आँखें खराब कर लेना सम्बन्धित लोगों को अपने समझाने-बुझाने में उलझा लेना, आवश्यक कामों को अस्त-व्यस्त करके नई हानि उत्पन्न करना जैसे स्वनिर्मित संकटों से बचा जा सकता है। बुद्धिमान दैवी विपत्ति को ही पर्याप्त मानते हैं, अपनी ओर से नई विपत्तियाँ आमन्त्रित नहीं करते। धैर्यवानों की समझदारी ऐसे ही प्रसंगों पर परखी जाती है।

धन लाभ सदा होता रहे तो कोई भी व्यक्ति लखपति, करोड़पति बन सकता है। एक का लाभ दूसरे का घाटा, दूसरे का लाभ एक का घाटा, यही अनवरत क्रम इस संसार में अनादिकाल से चल रहा है। यह सब बन्द हो जाय तो निर्धन, निर्धन ही बने रहेंगे और धनी, धनपति स्थायी हो जायेंगे। तब धनी को अपनी स्थिति नीरस लगेगी और निर्धनता की आशंका से उसे सतर्क रहने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी। ऐसी स्थिति में वह सोने की शिला जैसा जड़ बन जायेगा। इसके विपरीत निर्धन को प्रगति की आशा ही न रहेगी तो वह भी निराश, निष्क्रिय बनकर बैठ जायेगा। हानि और लाभ का चक्र यों बड़ा अटपटा और बेतुका लगता है, विचार बुद्धि से देखने पर प्रतीत होता है कि सृष्टि में सजीवता बनाये रखने के लिए वह कितना अधिक आवश्यक है। ईश्वर ने अपना यह विधान कितना समझ-सोधकर रखा है। जो वस्तुस्थिति को समझते हैं वे ज्वार-भाटों के साथ उछलते-गिरते नहीं, वरन् समुद्र तट पर बैठकर उस प्रकृति कौशल का विनोद भरा आनन्द लूटते हैं।

संयोग-वियोग, हानि-लाभ, सुख-दुख, जन्म-मरण, सफलता-असफलता जैसे परस्पर विरोधी अवसर दिन और रात की तरह आते और चले जाते हैं। इन्होंने बड़े-बड़ों को प्रभावित किये बिना नहीं छोड़ा। राम का बनवास, सीताहरण, कृष्ण का गोपी विछोह, वंश नाश, व्याध वाण से मरण, पाण्डवों का अज्ञातवास, ईसा को शूली, सुकरात को विषपान, गाँधी को गोली, शंकराचार्य को भगंदर, रामतीर्थ की जल समाधि जैसे घटना-क्रमों को देखते हुए लगता है कि धर्मात्मा और बुद्धिमान भी सदा सुखी ही नहीं बने रहते, उन्हें भी विपत्तियाँ घेरती, झकझोरती हैं। अन्तर इतना ही रहता है कि ओछे स्तर के मनुष्य तुच्छ धूल का अनुकरण करते हैं, गर्मी आते ही आकाश छूते और चक्रवात के साथ घूमते हैं किन्तु वर्षा की बूँदें आते ही कीचड़ की तरह खाई-खड्डों में पड़े दुर्गति का रोना रोते हैं। भारी भरकम चट्टानें इन उतार-चढ़ावों को धैर्यपूर्वक सहती और अपना सन्तुलन बनाये रखती हैं।

उज्ज्वल भविष्य के लिए प्रवल पुरुषार्थ करना उचित है आज की अपेक्षा कल का दिन अधिक सुखद और अधिक साधन सम्पन्न हो, इसके लिए उत्साहपूर्वक पूरा प्रयत्न किया जाना चाहिए अनावश्यक रूप से लम्बी-चौड़ी महत्वाकांक्षाएँ गढ़ना और उनके तत्काल पूरी न होने पर बेतरह दुःखी होना व्यर्थ है। इच्छाओं के अनुरूप सफलताएँ मिल ही जायें यह आवश्यक नहीं, मनुष्य का एकाकी प्रयत्न ही सब कुछ नहीं होता, दूसरों का सहयोग और परिस्थितियों की अनुकूलता मिलकर ही

अमुक सीमा में-अमुक अवधि में अभीष्ट सफलताएँ उत्पन्न होती हैं। इसके लिए धैर्य रखना और अनवरत गति से प्रयत्नरत रहना पड़ता है। जो इतना नहीं कर पाते-मनोरथों की पूर्ति के लिए अधीर आतुरता प्रकट करते हैं, विलम्ब लगने या आंशिक सफलता मिलने पर भाग्य को कोसते, दुःख पाते हैं, उन्हें प्रकृति चक्र से अपरिचित ही कहा जा सकता है।

बुद्धिमानों इसमें है कि जो उपलब्ध है उसका आनन्द लिया जाय और सन्तोष भरा सन्तुलन कायम रखा जाय और आगे प्रगति करने के लिए प्रयास तो जारी रखें पर वह सब कुछ खिलाड़ी की मनोभूमि रखकर किया जाना चाहिए। अच्छे खिलाड़ी रोज हारते-जीतते हैं पर वे न तो सफलता पर उन्मत्त होते हैं और न असफलता पर सिर धुनते हैं। दोनों ही परिस्थितियों में वे खट्टे-मीठे विनोद का आनन्द लेते हैं। यही प्रौढ़ मनोभूमि है। जो ऐसी स्थिरता बनाये रहते हैं वे ही जीवन का आनन्द लेते हैं। महत्वाकांक्षाओं के लिए आतुर उद्विग्नता तो एक प्रकार की मानसिक रुग्णता है, जिससे ग्रसित मनुष्य सदा अशान्त, व्यथित, खिन्न और विक्षुब्ध ही पाये जाते हैं। इस प्रकार की मनोभूमि के लोग पाने का सुख लेने की अपेक्षा अतृप्ति का दुःख अधिक पाते हैं और हर हालत में अपनी ही क्षति करते हैं। इसी स्थिति को तृष्णा कहा गया है और उसे अबुद्धिमत्ता पूर्ण ठहराया गया है।

सम्बद्ध व्यक्ति, साधन पदार्थ एवं परिस्थितियाँ यह सब अनुकूल हों तो मनुष्य अपने आपको सुखी मानता है, पर वास्तविकता इससे सर्वथा भिन्न है। हर मनुष्य की वास्तविक दुनिया उसकी मान्यताओं और कल्पनाओं की बनी हुई है। कल्पनाओं का गठन जिस स्तर का होता है उसी स्तर की अनुभूतियाँ होती रहती हैं और उसी आधार पर चित्त प्रसन्न एवं उद्विग्न बना रहता है। बाहर के पदार्थ बहुत कम मात्रा में ही सुख-दुःख दे पाते हैं। सम्पन्नताएँ एवं विपन्नताएँ सापेक्ष हैं। किसी धनी के साथ तुलना करने पर लगता है हम घोर दरिद्र हैं और निर्धनों के साथ तुलना करने पर लगता है, हमें लाखों, करोड़ों की तुलना में कहीं अधिक मिला हुआ है। तुलना का मापदण्ड ही हमें दरिद्र अथवा धनी होने का निश्चय कराता है और दुःखी रहने अथवा प्रसन्न रहने का अवसर देता है। इच्छित परिस्थिति पाना कठिन है, पर अपना तुलनात्मक मापदण्ड आसानी से बदला जा सकता है और हर स्थिति में जो प्रस्तुत है उसका सौभाग्य मनाते हुए प्रसन्न रहा जा सकता है। यही तरीका सही और सरल है, इस दृष्टिकोण को अपनाकर हर व्यक्ति हर समय हँसता-मुसकाता, सुखी, सन्तुष्ट रह सकता है। जो उपलब्ध है उसकी महत्ता को समझने का प्रयत्न करें तो

ईश्वर को हजार धन्यवाद देने का जी करेगा कि जो लाखों-करोड़ों को नहीं मिल सका वह हमें मिला हुआ है। जो मिला नहीं है उसकी कमी का अन्त नहीं। पर्वत से तुलना करने पर चट्टान अपने आपको सदा दीन-दयनीय ही मानेगी, पर यदि किसी ढेले की तुलना में अपना मूल्यांकन करेगी तो प्रतीत होगा कि जो है उसे नगण्य नहीं समझा जा सकता। छोटी योनियों में जी रहे प्राणियों की तुलना में दृष्टि मनुष्य को भी इतना अधिक मिला है कि वह उनका लेखा-जोखा हर घड़ी अपना सौभाग्य सराहता रह सकता है।

व्यक्तियों और परिस्थितियों के सम्बन्ध में भी यही बात है। साथियों के दोष ढूँढ़े तो लगेगा कि हमारे कुटुम्बी, मित्र, स्वजन सभी घटिया स्तर के हैं। त्रुटियाँ सब में हैं-सब में कुछ न कुछ अपूर्णता है। पूर्ण तो एक परमेश्वर है। यदि दोष दृष्टि अपनाये रहें, छिद्रान्वेषण करते रहे तो हर किसी को दुष्ट मानने और रुष्ट रहने की मनःस्थिति बनी रहेगी। इसके विपरीत यदि गुण देखने, ढूँढ़ने का स्वभाव हो तो हर व्यक्ति में देरों अच्छाइयाँ दिखाई पड़ेंगी। दोष-दर्शन का परिणाम यह है कि जिसे भी ध्यान से देखें वही अनुपयुक्त, हानिकारक और असन्तोषजनक लगेगा। ऐसी दशा में अपना जी जलता ही रहेगा। यदि सोचने का तरीका बदल दिया जाय और उसी व्यक्ति की अच्छाइयों, सहायताओं और समय-समय पर मिली सद्भावनाओं की सूची तैयार की जाय, तो वही बहुत उपयोगी प्रतीत होगा और प्रिय लगने लगेगा। गुण, कर्म, स्वभाव की सभी कसौटियों पर खरे व्यक्ति ढूँढ़े जायें तो निराशा ही हाथ लगेगी और सारा संसार मात्र दोष, दुर्गुणों से पटा मिलेगा। गुण ग्राहकता की नीति से तो अपूर्णताएँ रहते हुए भी श्रेष्ठताओं की मात्रा इतनी मिल जायगी जिस पर सन्तोष किया जा सके और प्रसन्न रहा जा सके। परिस्थितियों की उतनी महत्ता नहीं जितनी मनःस्थिति की। गई-गुजरी परिस्थितियों में भी लोग हैंसते-हँसते जिन्दगी काट लेते हैं, इसके विपरीत हर दृष्टि से साधन सम्पन्न व्यक्ति भी रोते-कलपते, झल्लाते, खीजते पाये जाते हैं। हमें अच्छी परिस्थितियाँ पाने और अच्छे-व्यक्तियों का साथ ढूँढ़ने का तो प्रयत्न करना ही चाहिए, पर यह नहीं भूल जाना चाहिए कि जब तक अपना दृष्टिकोण गुणग्राही न बनाया जायगा तब तक असन्तोष से पीछा छुड़ाना और प्रसन्न रहने का अवसर पाना असम्भव ही बना रहेगा। हमें सबसे अधिक ध्यान अपना मानसिक सन्तुलन एवं स्तर सही बनाने पर देना चाहिए ताकि संसार का परिवर्तन चक्र एवं विविधतापूर्ण निर्माण उद्विग्न बनाने की अपेक्षा प्रसन्न, प्रमुदित रहने का निमित्त बन सके।

मानसिक परिष्कार और सुखी-समुन्नत जीवन

साथियों के साथ अपने आदान-प्रदान, सहयोग समर्थन पर भी प्रसन्नता एवं प्रगति का बहुत कुछ आधार निर्भर रहता है। उस क्षेत्र की प्रतिकूलताओं के लिए आमतौर से दूसरों को दोष दिया जाता है किन्तु गम्भीरतापूर्वक खोजने से प्रतीत होता है कि अपनी ही कुरूपता दर्पण में भयावह होकर प्रतिबिम्बित हो रही है।

इस तथ्य को सिद्ध करने वाले अगणित प्रमाण उदाहरण यह बताते हैं कि सुखी और समुन्नत जीवनयापन के लिए मनःसंस्थान का परिष्कृत होना आवश्यक है। यह कार्य उतना कठिन नहीं जितना कि समझा जाता है। आत्मनिरीक्षण और सुधार परिवर्तन का क्रम चलता रहे तो हर कोई अपने चिन्तन को सुनियोजित एवं प्रभावोत्पादक बना सकता है।

इसके अतिरिक्त ऐसे वैज्ञानिक आध्यात्मिक उपाय उपचार भी हैं जो अपने-अपने ढंग से मानसिक क्षमता को सुविकसित करने में महत्वपूर्ण योगदान कर सकते हैं। हमें दोनों ही क्षेत्रों के सफल प्रयोगों को गम्भीरतापूर्वक समझना चाहिए और उन्हें अपनाने के लिए दुराग्रह त्यागकर उत्साहपूर्वक तत्पर रहना चाहिए।

व्यक्तित्व का साथियों पर किस प्रकार प्रभाव पड़ता है, इसके कुछ उदाहरण दृष्टव्य हैं। पार्मा इटली के पाइट्रो जुवक्री ने अपने बालकों को धर्म सेवी बनाने के लिए आरम्भ से ही प्रयत्न किया। उसकी ७ सन्तानें थीं। इनमें से १ इसाई पादरी, ३ बौद्ध भिक्षु और ३ धर्मोपदेशिका का काम करने लगे। सभी आजीवन ब्रह्मचारी रहे और धर्म सेवा में संलग्न रहे। यह उनके पिता की श्रद्धा और लगन और चेष्टा की ही परिणति थी। विनोबा की माँ मदालसा ने जिस तरह अपनी-अपनी सन्तानों को गढ़ा, उसका आधुनिक संस्करण इसे माना जा सकता है।

फ्रान्स के फ्रेन्कीइस फाडक्वेट ने सन्तानें तो कई जनीं पर साथ ही उसने यह भी निश्चय रखा कि उसके सभी बालक धर्मपरायण जीवन जियेंगे। इसी के लिए उसने आरम्भ से अन्त तक प्रयत्न किया। फलतः २ विशप (बड़े पादरी), १ प्रोष्ट (छोटा पादरी) बने और छहों कन्याओं ने नन्स (भिक्षुणियों) की दीक्षा लेकर धर्म परायण जीवन जिया।

सेन्टपाल अलावर्टा की धर्म सेविका कोराइलजानी ने अपने सम्पर्क में आने वाले प्रत्येक को धर्म सेवक बनाने का आग्रह किया और सफल रही। वह ४

पादरियों की बहिन ४ भिक्षुणियों की माता, ६ पादरियों की नानी और ३ पादरियों की दीदी बनकर संसार से विदा हुई।

हाइना-जर्मनी का एक कलाकार हैनरिच टिचवेन अपने परिवारियों तथा सम्बन्धियों को कलाकारिता का चस्का लगाता रहा। उन्हें सिखाने और सफल बनाने में भी उसने पूरी-पूरी रुचि ली। फलतः उसका निजी परिवार तो जर्मनी के इतिहास में कलाकारों की खदान के नाम से प्रख्यात हुआ ही। उसके पड़ोसी, सम्बन्धी भी पीछे न रहे। हेनरिच ७ प्रख्यात चित्रकारों का पिता, १६ कलाकारों का दादा और ३४ कलाकारों का परदादा था।

वेस्लेस (फ्रांस) का विक्टर चाओ सीनेन्ड एक ऐसे परिवार में जन्मा, पला और जिसमें सभी धर्म परायण लोग थे। उसने अपनी सन्तानों को भी उसी ढाँचे में ढाला। वह ४ पादरियों का भाई, ३ पादरियों का भतीजा और ४ पादरियों का पिता था। लान पम्प सेन्ट वेल्स के एक परिवार में जन्मे पाँचों सगे भाई सन्त बने। उनके नाम पर बना पाँच सन्तों का गिरजा अभी भी प्रख्यात है। उसी गिरजे की भूमि पर वे पाँचों भाई सेन्ट ग्वाइन, सेन्ट सीथो, सेन्ट सेलाइमन, सेन्ट ग्वाइनो, सेन्ट ग्वाइ नीरो की समाधि बनी है। द्यूक्सवटी का प्रसिद्ध चिकित्सक बैजामिन किटुज अपने व्यवसाय के प्रति अत्यन्त निष्ठावान था। उसने अपनी प्रत्येक सन्तान को चिकित्सक बनाने का लक्ष्य रखा, वैसा ही उत्साह बढ़ाया और दातावरण बनाया।

अमेरिकी चित्रकार चार्ल्स पीले अपनी कला में इतना तन्मय एवं सफल था कि उसका समूचा परिवार भी उसी ढाँचे में ढल गया। वह उस देश के प्रख्यात आठ चित्रकारों का पिता तथा दादा था।

एडम मोल्ट (डेनमार्क) का फेडरिक २२ सन्तानों का पिता था। उसने हर सन्तान के प्रति अपना कर्तव्य निवाहा और उन्हें गुणवान, चरित्रवान, प्रतिभावान, बनाने में कोई कसर न रहने दी, फलतः उसकी सन्तानों में से ४ राजदूत, २ सेनाध्यक्ष, ५ राज्य मन्त्री तथा ११ महापौर, राज्यपाल जैसे उच्च पदों पर आसीन हुए।

शरीर अपना है। उसकी सचेतन और अचेतन गतिविधियों पर नियन्त्रण रख सकने की क्षमता यदि उपलब्ध कर ली जाय तो आत्म नियन्त्रण के आधार पर अपनी समूची क्षमता को अभीष्ट प्रयोजनों में प्रयुक्त किया जा सकता है। जबकि सामान्यतः ७० प्रतिशत चिन्तन और क्रिया-कलाप व्यर्थ निरर्थक ही नहीं जाता, अनर्थ सँजोने में भी लगा रहता है। साधने से मन सघ जाता है। मन सघ जाने से शरीर में ऐसी एक भी अस्त

व्यस्तता शेष नहीं रहती जो प्रकारान्तर से अनेकानेक कष्ट संकटों का निमित्त कारण बनी रहे।

प्रगति की दिशा में पुरुषार्थ मात्र परिश्रम एवं साधन संचय का भी नहीं समझना चाहिए। उसका एक कारगर उपाय अचेतन मन के सहारे शरीर की विभिन्न क्षमताओं को समृद्ध बनाना भी है। इमें इस क्षेत्र का भी महत्त्व समझना चाहिए कि समय उत्कर्ष के लिए इन सम्भावनाओं को समझने, कार्यान्वित करने की ओर जुड़ना चाहिए।

विश्व प्रसिद्ध अमेरिकी डॉ० पेनफील्ड ने मस्तिष्क के अग्रभाग में लगभग ढाई वर्ग इंच और १/१० इंच मोटे एक ऐसे क्षेत्र का पता लगाया था, जहाँ दो काली पट्टियाँ हैं- जिन्हें टेम्पोरल कारटेक्स कहा जाता है। ये कनपटी के नीचे मस्तिष्क को चारों ओर छल्लानुमा घेरे हुए हैं। यही वे पट्टियाँ हैं जहाँ मानसिक विद्युत का प्रवेश होते ही अच्छी-बुरी स्मृतियाँ उभरती हैं। इसी में स्मृतियों के भण्डार भरे पड़े हैं। यदि इनमें विद्युत आवेश प्रवाहित किया जाये तो इतनी-सी पट्टी ही उस व्यक्ति के ज्ञात-अज्ञात सारे रहस्यों को उगल सकती है। जिसे भयवश, लोक-लाज अथवा संकोचवश मनुष्य व्यक्त नहीं कर पाता। जो जन्म-जन्मान्तरों से संस्कार रूप में मनुष्य के साथ संचित बने रहते हैं।

वैज्ञानिकों का कथन है कि मस्तिष्क की ये पट्टियाँ किसी केन्द्रक तत्व (न्यूक्लिक एलीमेन्ट) से बनी हैं। जब इनमें लहरें उठती हैं तो इनसे प्रभावित नलिकाविहीन नसों (डक्टलेस ग्लैण्ड्स) से एक प्रकार के हारमोन्स निकलते हैं। जो क्रोध, घृणा, काम-वासना भय, ईर्ष्या, द्वेष, प्रेम, दया, करुणा, उदारता, सहिष्णुता आदि भावों के जनक कह जाते हैं। हारमोन्स के कारण ही मनुष्य स्वस्थ या रोगी बनता है। यदि अच्छे गुण होते हैं तो अच्छे हारमोन्स और बुरे गुण तो बुरे हारमोन्स के द्योतक हैं। अच्छे हारमोन्स का सीक्रिशन स्निग्धता, हल्कापन, प्रसन्नता, प्रफुल्लता, अच्छे विचार उत्पन्न करता है। बुरे हारमोन्स ठीक इसके विपरीत प्रभाव दिखाते हैं।

उदाहरण के लिए डॉ० पेनफील्ड ने एक व्यक्ति की इस काली पट्टी में विद्युत प्रवाहित की तो वह एक गीत गुनगुनाने लगा जो न तो वह अमेरिकन था न जर्मनी, उपस्थित कोई भी व्यक्ति उसे समझ न सका उस गीत को टेप कर लिया गया और भाषा शास्त्रियों की मदद ली गई तो पता चला कि वह भाषा किसी आदिवासी क्षेत्र की थी और वह गाना सचमुच ही उस क्षेत्र के लोग गाया करते हैं।

शिक्षा के क्षेत्र में इन प्रयोगों को अधिक उत्साह के साथ अपनाने की बात सोची जा रही है। इसमें कम समय में, कम परिश्रम में अधिक मात्रा में उच्चस्तरीय लाभ प्राप्त करने की सम्भावना नये रूप से सामने आती जा रही है।

मनोविज्ञान ने अब यह सिद्ध कर दिया है कि भावनाओं द्वारा कई प्रकार के रोग उत्पन्न हो जाते हैं। साथ ही मस्तिष्क के ठीक ढंग से प्रशिक्षण एवं विचारणा और भावनाओं के नियन्त्रण द्वारा शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य लाभ भी प्राप्त किया जा सकता है।

विगत कुछ वर्षों में हुई स्नायु विज्ञान सम्बन्धी खोजों से विदित हुआ है कि भावनाएँ मानवीय मस्तिष्क को अनेक प्रकार से प्रभावित करती हैं। इनसे मस्तिष्क में विष तुल्य एवं जीवनरस जैसे दोनों ही प्रकार के रसायन उत्पन्न होते हैं। इसके आधार पर जब ऐसे प्रयास भी किये जा रहे हैं कि भावनाओं और रसायनों का सम्बन्ध खोजकर, विशिष्ट रसायन को मस्तिष्क के अमुक भाग में पहुँचाकर मनोरोगों, दर्द, आदि की चिकित्सा की जा सके और मस्तिष्कीय क्षमता को प्रखर बनाया जा सके।

यह अब पता लगाया जा चुका है कि एक स्वस्थ और सुविकसित मस्तिष्क में प्रायः एक करोड़ ग्रन्थों में लिखी जा सकने जितनी सामग्री संग्रह करके रखी जा सकती है। आवश्यकता पड़ने पर इस क्षमता में सहज ही दूनी अभिवृद्धि भी की जा सकती है। किसी कारणवश आधा मस्तिष्क नष्ट हो जाय तो शेष आधे से भी पूरे का काम चल सकता है।

फ्रान्सीसी वैज्ञानिक देलागो के अनुसार मस्तिष्क के विभिन्न केन्द्रों को बिजली का झटका देकर आदतों एवं अभ्यासों को बदला जा सकता है और स्मृति केन्द्रों की क्षमता को जाग्रत किया जाना शक्य है।

मैकगिल विश्वविद्यालय माण्ड्रियल (कनाडा) के डॉ० विल्डर पेनफील्ड ने दृश्य ध्वनि और विचार का सम्बन्ध स्थापित करते हुए यह सम्भावना व्यक्त की है कि लोगों के मस्तिष्कों को इच्छानुसार चिन्तन करने के लिए प्रशिक्षित किया जा सकता है।

कैलीफोर्निया इन्स्टीट्यूट ऑफ टेक्नोलोजी के डॉ० रोगरस्पेरी ने चिरसंचित आदतों को भुला देने और अनायास ही नये अभ्यास के आदी बना देने में सफलता प्राप्त की है।

मस्तिष्क के लिए उपयोगी रासायनिक पदार्थ उपलब्ध करने के लिए आहार में आवश्यकता के अनुरूप परिवर्तन किया जाय। इस प्रयोजन को साधने में समर्थ

दिव्यौषधियों का प्रयोग किया जाय। जैसा कि इन दिनों शान्तिकुंज की 'कल्प साधना' प्रक्रिया में समाविष्ट किया जाता है।

दिव्य ऊर्जा को मस्तिष्क तक पहुँचाने के लिए प्राणवान व्यक्तियों के सान्निध्य एवं अनुदान का सुयोग बिठाना चाहिए। आवश्यक नहीं कि इसके लिए इलेक्ट्रोड ही प्रयुक्त करने पड़ें या बिजली के झटके लगाने पड़ें। यह कार्य कोई प्राण प्रत्यावर्तन का अभ्यासी आध्यात्मिक क्षेत्र का प्रयोक्ता भी अपनी सामर्थ्य का एक अंश देकर कर सकता है।

उत्थान और पतन स्वयं साध्य

अपने आप को उठाना और गिराना मनुष्य के अपने हाथ की बात है। साहस, उत्साह, पराक्रम और विश्वास के आधार पर मनुष्य ऊँचा उठता है। यह उसका उत्कर्षजन्य प्रयास है। इसके विपरीत यदि कोई हीनता की भावनाओं से ग्रसित हो। ध्वय, निराश, उद्विग्नता, अविश्वास, आशंका से घिरा रहे तो उसका भौतिक एवं आत्मिक पतन होता चलता है। साधन और अवसर सामने होने पर भी उसे अधोगामी मार्ग ही पकड़ना पड़ता है।

आन्तरिक उल्लास का, शान्ति का अक्षय स्रोत मनुष्य के अपने अन्तस्तल में सदा विद्यमान होने पर भी प्रायः देखा जाता है कि लोग अपनी चिन्तन चेतना को गड़बड़ाते और अनेकानेक मानसिक बीमारियों के शिकार बनते हैं। इसका दुष्प्रभाव न केवल मनुष्य की कार्यक्षमता पर पड़ता है वरन् वह शारीरिक अक्षमता-रुग्णता को भी जन्म देता है। सुप्रसिद्ध चिकित्सा विज्ञानी डॉ० डेविड बर्न्स के अनुसार मानसिक अवसाद के कारण प्रतिवर्ष लाखों व्यक्तियों को तदजन्य बीमारियों का शिकार होते देखा गया है। उसके शमन के लिए लोग ट्रैक्युलाइजर जैसी नशीली दवाइयों का सेवन करते और अपनी शारीरिक मानसिक क्षमता गँवाते रहते हैं। अपनी पुस्तक "फीलिंग गुड" में उन्होंने मानसिक अवसाद का प्रमुख कारण भ्रांतिपूर्ण चिन्तन का माना है। उनका कहना है कि व्यक्ति अपने दोषपूर्ण चिन्तन और विकृत मनःस्थिति के कारण इसे स्वयं उत्पन्न करता है क्योंकि अंतर्मन की आत्म घृणा और अशुभ चिन्तन से ही इसका स्वरूप बनता है। इससे न केवल जीवनी शक्ति का क्षरण होता है वरन् प्रतिभा एवं सृजनात्मक गुणों के विकास का मार्ग भी अवरुद्ध हो जाता है और व्यक्तित्व हेय बनकर रह जाता है।

“हाऊ टू बी हैपी टू बि ह्यूमन” नामक अपनी प्रसिद्ध पुस्तक में मनोविज्ञानी अल्फ्रेड ने कहा है कि “अवसाद मात्र एक धुँएँ का पर्दा है और कुछ नहीं। इस अभिवृत्ति से ग्रस्त व्यक्ति स्वकेन्द्रित हो जाता है। ऐसे व्यक्ति न तो कोई महत्वपूर्ण काम कर पाते हैं और न ही जटिल समस्याओं का सामना कर पाते हैं। ईमानदारी और जिम्मेदारी भी उनसे नहीं निभ पाती क्योंकि वे स्वयं के बारे में सोचते हैं कि वह एक निरर्थक व्यक्ति है इसे अधिक स्पष्ट करते हुए वियना के मूर्धन्य मनःचिकित्सा विशेषज्ञ डॉ० विक्टर ई० फेंक्ले ने लिखा है ‘जो मनुष्य यह अनुभव करेगा कि उसका जीवन निरर्थक है, उसका मन और शरीर कभी स्वस्थ न रहेगा। सार्थकता की अनुभूति न होने पर मनुष्य जिन्दगी को लाश की तरह ढोता है और उस नीरस निरानन्द स्थिति में सचमुच ही जीवन बहुत भारी पड़ता है। उस दबाव से इतनी थकान आती है कि कुछ करते-धरते नहीं बनता। हाथ-थका आदमी धीरे-धीरे गिरता घुलता जाता है और मरण के निकट बुलाने वाली बीमारियों को निमन्त्रण देकर स्वेच्छा संकल्प के आधार पर कष्ट ग्रसित रहने लगता है।

“अवसाद से उन्मुक्त व्यक्तित्व की ओर” जैसा मार्ग निर्देशन करने वाले प्रख्यात मनोविज्ञानी एडलर ने उदासीनता को मानवी मन की एक बड़ी दुर्बलता माना है। प्रगति-पथ का यह एक बहुत बड़ा रोड़ा है। जिसे मनुष्य स्वयं अपने चिन्तन-मनन से उत्पन्न करता है। इसका समाधान प्रस्तुत करते हुए उन्होंने कहा है कि ऐसे व्यक्ति उन कार्यों का पता लगाकर प्रयास करने पर स्वयमेव इस स्थिति से छुटकारा पा सकते हैं। विचारों को विचारों से काटा जाता है। उदासीनता के स्थान पर शान्ति और समस्वरता उत्पन्न करने वाले सृजनात्मक विचारों को आमंत्रित करना चाहिए तथा ऐसी रीति-नीति अपनानी चाहिए, जो ध्यान बैठा सके, उत्साह बढ़ा सके। जीवन लक्ष्य सामने होने एवं सतत उसके उज्ज्वल पक्ष की ओर दृष्टिपात करते रहने से क्रियाएँ भी तदनु रूप चल पड़ती हैं। सामाजिक प्राणी होने के कारण मनुष्य को समाज के अधिक समीप होना चाहिए अर्थात् उसे सामाजिक उत्तरदायित्वों जिम्मेदारियों को अधिक सजगतापूर्वक वहन करना चाहिए। इससे जहाँ विचारों को उत्कृष्टता का पक्षधर बनाने का अवसर मिलता है वहीं व्यस्तता के कारण नकारात्मक चिन्तन से भी छुटकारा मिलता है। एडलर के अनुसार, विषेयात्मक चिन्तन से मानव मन की समस्त दुर्बलताएँ क्रमशः दूर होती जाती हैं और वह नूतन ज्ञान से जुड़ जाता है। इसी तरह के विचार मनोविज्ञानी जुंग ने भी प्रकट किये हैं। उनका कथन है कि हीन भावना के शोधन और परिष्कार के लिए विवेकशीलता को जाग्रत

करना अनिवार्य है। सकारात्मक विचार एवं दृढ़ संकल्प शक्ति ही इन परिस्थितियों से मनुष्य को उबारते हैं।

इस संदर्भ में मनोविज्ञानी वेरन वुल्फ का कहना है कि जीवन की असम्बद्ध रीति-नीति, एकांगी जीवन और स्वार्थपरता ही मानसिक अवसाद के प्रमुख कारण हैं। हीन भावना का शारीरिक एवं मानसिक दुर्बलता से घनिष्ठ सम्बन्ध है। इससे छुटकारा पाने के लिए आवश्यक है कि जीवन की रीति-नीति बदली जाय। अपना स्वाभिमान बनाये रखते हुए दूसरों के गुणों की प्रशंसा की जाय। निःस्वार्थ भाव से सामाजिक उत्थान के लिए किये गये कार्यों से जीवन में श्रेष्ठता के तत्वों का समावेश होता है। यूनिवर्सिटी ऑफ पेन्सिलवानिया के प्रसिद्ध चिकित्साशास्त्री डॉ० एरोन बैक ने अवसादग्रस्त रोगियों के उपचार हेतु एक मनःचिकित्सा पद्धति का आविष्कार किया है। जिसका नाम है “कान्नीटिव थैरेपी।” उनकी यह चिकित्सा प्रणाली पूर्णतः मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों पर आधारित है। विभिन्न परीक्षणों के आधार पर उन्होंने निष्कर्ष निकाला है कि भौतिक मृग मरीचिका के चंगुल में फँसा हुआ व्यक्ति अपनी मनोदशा को असंतुलित कर बैठता है जिसके कारण उसे उदासी अथवा अवसाद का शिकार बनना पड़ता है। उपचार के समय उन्होंने पाया है कि ऐसे व्यक्ति एक ओर तो किसी की भर्त्सना करते, बड़बड़ाते रहते हैं तो दूसरी तरफ वह स्वयं की समीक्षा भी करते जाते हैं। रोगियों द्वारा किये गये समीक्षात्मक विचारों का गहन विश्लेषण करने के पश्चात् वह इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि निषेधात्मक विचारधाराओं की बहुलता के कारण ही यह मनोविकार उत्पन्न होता है और इससे आत्मचिन्तन की मौलिकता नष्ट होती चली जाती है। “कान्नीटिव थैरेपी एण्ड दि इमोशनल डिसऑर्डर” नामक अपनी पुस्तक में डॉ० बैक ने बताया है कि चिन्तन की विकृति के कारण ही मानसिक अवसाद उत्पन्न होता है। उनके अनुसार मनोवृत्तियाँ विचार जगत को प्रभावित करती हैं। उस पर संव्याप्त निषेधात्मक चिन्तन मनुष्य के पतन-पराभव का कारण बनता है। विचार परिवर्तन के द्वारा ही उस पर विजय पाई जाती है। चिकित्सकों ने संयुक्त प्रयासों के आधार पर कुछ और तथ्यों पर प्रकाश डाला है। उसके अनुसार व्यक्ति की मनोदशा विचारों का नियन्त्रण नहीं कर सकती वरन् विचारों द्वारा मनोदशा का निर्धारण होता है।

वस्तुतः मानवी मस्तिष्क एक यंत्र की तरह कार्य करता है। उसमें उत्पन्न हुई कोई भी योजना कार्य रूप में परिणत होना चाहती है। यह विवेक बुद्धि का काम है कि वह किन विचारों को रोकती है और किन्हे कार्य रूप में परिणत होने का दिशा निर्देश देती है।

अतः आरंभ से ही इस सम्बन्ध में सतर्कता बरतनी चाहिए कि मस्तिष्क में उत्कृष्ट विचारों का ही उद्भव हो। निषेधात्मक चिन्तन से सदैव बचे रहना ही श्रेयष्कर है।

जिन विचारों के कारण आशंका, निराशा, भीति या उदासीनता उत्पन्न हुई हो, ठीक उसके प्रतिकूल विचारों को उत्पन्न करना चाहिए। सोचना चाहिए कि विपत्ति टल गई या टलने जा रही है। बादल साफ होने पर जिस प्रकार आकाश स्वच्छ होता है, समझना चाहिए कि उसी प्रकार अपने को दबोची हुई हीनता, विपन्नता का वातावरण बदल जायेगा। सृजनात्मक, सुखद, उज्ज्वल भविष्य के अनुकूलता से भरे मानस चित्र बनाना एक ऐसी कला है जिसका अभ्यास होने पर वास्तविक कठिनाइयों के बीच भी मनुष्य अपना शौर्य-साहस बनाये रह सकता है। वह उपाय ढूँढ़ सकता है जो ऐसी दशा में प्रगति दिशा में बढ़ने में सहायक सिद्ध हो सके।

अपना अस्तित्व और भविष्य ईश्वर के हाथों सुरक्षित मानने की भावना ऐसी है जिसे अपनाये रहने और बढ़ते चलने में हर कोई निश्चिन्तता प्राप्त कर सकता है। उल्लसित होने की कला ऐसी है जो बहुमूल्य औषधियों की तुलना में अधिक सन्तोषप्रद परिणाम प्रस्तुत कर सकती है। अवसादग्रस्त व्यक्तियों के मित्रों, सम्बन्धियों का भी कर्तव्य है कि वे ऐसे लोगों में जीवन के प्रति सरसता उत्पन्न करें। ऐसे लोगों का सच्चा मित्र एवं सहायक वही हो सकता है जो उत्साह भरे, आशा दिखाये और साहस जगाकर हँसते-हँसाते जीने की मनःस्थिति उत्पन्न करे।

प्रसन्नता सम्पन्नता पर निर्भर नहीं

सम्पन्नता के साथ प्रसन्न रहने की बात एक सीमा तक ही सच है। प्रसन्न का अर्थ, सामयिक, शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति हो तो उसके साथ कुछ क्षण के लिए प्रसन्नता मिलने की बात समझ में भी आती है, पर यदि उसे आन्तरिक सन्तोष एवं उल्लास आनन्द के साथ जोड़ा जायेगा तो उत्तर नहीं में ही देना पड़ेगा। शरीर की आवश्यकताएँ कृत्रिम भी हो सकती हैं और वास्तविक भी कृत्रिम वे हैं-जिनमें पेट भरा होने पर भी स्वादिष्ट वस्तुओं की ललक उठती रहती है। वास्तविक वे जिनमें भूख लगने पर खाली पेट को भरने की आवश्यकता पड़ती है। कृत्रिम की पूर्ति चखते ही हो जाती है क्योंकि पेट भरा होने पर गले से नीचे कुछ उतरता ही नहीं। वास्तविक की पूर्ति में कुछ मिनट लगते हैं। जैसे-जैसे पेट भरता जाता है वैसे-वैसे आहार से तृप्ति नहीं, अरुचि भी उत्पन्न होने लगती है और फिर बहुत आग्रह होने पर भी स्पष्ट

इन्कार करना पड़ता है। यही बात अन्य इन्द्रियों के सम्बन्ध में भी है। उनमें से प्रत्येक की तृप्ति में तनिक सा समय लगता है और वस्तु प्राप्त होने पर उस प्रसन्नता का भी अन्त हो जाता है जो कुछ समय पहले उद्दिग्ध कर रही थी। फिर यह प्रसन्नता वस्तुओं के स्तर से भी सम्बन्धित है। घटिया मिलने पर कम और बढ़िया मिलने पर कुछ अधिक होती है। पर हैं दोनों ही सामयिक क्षणिक। कुछ ही समय में थकान, ऊब आने लगती है और फिर हट जाने या हटा देने को जी करता है।

यह इन्द्रियजन्य वासना का विषय हुआ। मन भी ग्यारहवीं इन्द्री है, उसका स्तर कुछ ऊँचा है। उसे अहंता की पूर्ति में रस आता है। वस्तुओं का संग्रह, व्यक्तियों पर आधिपत्य अन्यायों की तुलना में वरिष्ठता जैसे प्रसंग मन को बहुत सुहाते हैं। ठाट-बाट, प्रदर्शन, प्रशंसा आदि के द्वारा दूसरों पर धाक जमाने की ललक मन में छिपी रहती है। ऐसे अवसर जब भी आते हैं तब प्रसन्नता होती है। किन्तु है वह भी क्षणिक ही। जब तक इच्छित वस्तु नहीं मिली तभी तक उत्कण्ठा रहती है। मिलने पर सुखा, ईर्ष्या जैसी कितनी ही नई समस्याएँ उत्पन्न होती हैं और दुरुपयोग चल पड़ने पर तो उनकी बड़ी भयावह प्रतिक्रिया होती है। दुर्व्यसनों से प्रायः समय और धन फालतू होने पर ही मनुष्य घिरता है। दुर्व्यसनी किस प्रकार स्वयं डूबते और साथियों को डुबाते हैं, यह आये दिन की घटनाएँ हर किसी के सामने घटती रहती हैं। यह तथाकथित सम्पन्नता-अहंता-का ही प्रतिफल है जो मन में तृष्णा बनकर निरन्तर कोलाहल मचाये रहती है।

तृष्णा को न बुझने वाली आग कहा गया है। एक की पूर्ति होते-होते ही उससे भी बड़ी-नयी आवश्यकता बनकर सामने आ खड़ी होती है। जो मिला, उसकी सुखानुभूति में कुछ ही क्षण व्यतीत होते हैं कि वह नगण्य लगने लगता है और दूसरे सुसम्पन्नों की तुलना में अपना भी वैभव बढ़ाने की उत्कण्ठा उभरती है। स्थिति ज्यों की त्यों, जो मिला था वह एक प्रकार से बेकार चला गया। न मिलने से पूर्व जो अभिलाषा थी उसी ने नये रूप में फिर उसी स्थान पर आकर अड्डा जमा लिया।

वासना-तृष्णा का कुचक्र ही आमतौर से आँख-मिचौनी खेलता रहता है। सम्पन्नता कितनी ही क्यों न बढ़ती रहे, अतृप्ति से छुटकारा मिलने वाला नहीं। जब जो मिला वह या तो कम पड़ा या फिर अरुचिकर ही हो गया। इसके अतिरिक्त एक और बात भी है कि अभाव-ग्रस्त स्थिति में मनुष्य जो नितान्त आवश्यक है

उसी के उपार्जन में व्यस्त रहता है और समयव श्रम खाली न रहने पर उन बुराइयों से बच जाता है जो खाली दिमाग को 'शैतान की दुकान' सिद्ध करती है और ठुलुआ लोगों को आवागमन के कुसंग से दुर्व्यसनों के गर्त में गिराकर वर्तमान को बदनाम और भविष्य को अन्धकारमय बनाती है। इस दृष्टि से अभावग्रस्तों को सुसम्पन्नों की तुलना में अधिक भाग्यवान कहा जा सकता है। जबकि दूसरों की आँखें चौधियाने की दृष्टि से धन वालों का ही पलड़ा भारी रहता है।

बात प्रसन्नता की चल रही थी। गम्भीर पर्यवेक्षण करने पर वह एक विशेष प्रकार की मनःस्थिति ही समझी जा सकती है ऐसी मनःस्थिति जिसे शालीन, सभ्य, सुसंस्कृत एवं उदात्त भी कहा जा सके। वह जिसे जितनी मात्रा में उपलब्ध है वह अपने दृष्टिकोण को परिष्कृत करता है और वस्तुओं तथा व्यक्तियों के साथ तालमेल बिठाने का प्रयत्न करता है। अमुक वस्तु मिलने की उपयोगिता हो सकती है। अमुक व्यक्ति का अनुग्रह, सहयोग लाभदायक माना जा सकता है पर ऐसा कुछ नहीं कि यदि वे उपलब्ध न हों तो काम चले ही नहीं या प्रसन्नता से सर्वथा वंचित रहना पड़े। यदि ऐसा होता तो निर्धनों में ये अधिकांश दुःखी पाये जाते और धनवानों को प्रसन्नता से भरी-पूरी स्थिति में रहते देखा जाता। पर वैसा होता नहीं सच तो यह है कि वस्तुस्थिति ठीक इसके विपरीत पाई जाती है। अनुपात की दृष्टि से सम्पन्नों को चिन्ताग्रस्त, असन्तुष्ट, रुग्ण एवं विपन्न पाया जाता है। दबाव और तनाव के बीच घिसते हुए वे वेमौत मरते हैं जबकि अभावों में दिन गुजारने वाले सन्तोष की साँस लेते और गहरी नींद सोते देखे गये हैं। जितनी गहराई में उतरा जाय, उतना ही यह तथ्य स्पष्ट होता जाता है कि सम्पन्नता और प्रसन्नता में घनिष्ठता दीखती भर है। वस्तुतः वे हैं एक दूसरे से सर्वथा भिन्न। प्रसन्न रहने के लिए सम्पन्नता अनिवार्य नहीं। इसी प्रकार यह भी नहीं माना जा सकता कि जिसके पास सम्पन्नता होगी, वह प्रसन्न रहेगा ही। इतने पर भी सुविधा-साधनों की उपयोगिता से इन्कार नहीं किया जा सकता वे जहाँ होंगे अपनी अहिंसा का परिचय देंगे ही।

मनोविज्ञानी जेम्स ऐरिक ने प्रसन्नता की व्याख्या करते हुए लिखा है- 'खुशी में खुशहाली एक सीमा तक ही सहायता कर सकती है। दोनों को एक-दूसरे के साथ जोड़ा नहीं जा सकता। खुशी एक मनोदशा है जो तथ्यानुयायी चिन्तन एवं परिपक्व व्यक्तित्व के आधार पर स्वयं उपार्जित करनी पड़ती है। इसका जीने की कला के साथ अविच्छिन्न सम्बन्ध है। जो यह जानता है कि जीना किसे कहते हैं और उसके लिए किस स्तर का दृष्टिकोण

तथा व्यवहार अपनाया जाना चाहिए, वही अपने भीतर प्रसन्नता उगा सकता है और उसके सुगन्ध भरे सौन्दर्य से समीपवर्ती वातावरण में अनुकूलता तथा सहानुभूति भरा आकर्षण उत्पन्न कर सकता है।'

श्रीमती नोरा जानसन ने अपने ग्रन्थ 'प्रसन्नता का मनोविज्ञान' में लिखा है-दूसरे लोग एक सीमा तक की हमें सुख या दुःख दे सकते हैं। इसी प्रकार सुविधा-साधनों का बाहुल्य या अभाव भी इस सम्बन्ध में तनिक सा ही सहयोग देने या व्यवधान उत्पन्न कर सकने में समर्थ हो सकते हैं। मानसिक दृष्टि से पराधीन व्यक्ति ही यह सोचते हैं कि अनुकूलता होने पर प्रसन्न रहा जा सकेगा। जबकि आत्म-निर्भरों की मान्यता यह होती है कि हर स्थिति के साथ तालमेल बिठाकर सन्तोष एवं उल्लास का मार्ग खोज निकाला जा सकता है।

हर्बर्ट स्पेन्सर कहते थे "मनुष्य अपनी गरिमा समझे और उभारे तो उसे इस बात का अनुभव होने लगेगा कि परिस्थिति नहीं, मनःस्थिति ही किसी की प्रसन्नता-अप्रसन्नता का आधारभूत कारण होती है। जो अपने को महत्वपूर्ण मानता है, अपने क्रिया-कलाप में रस लेता है और दूसरों से सीमित आशा-अपेक्षा रखता है उसे किसी भी परिस्थिति में उत्साह बनाये रहने का अवसर मिलता रहेगा। जो उपलब्ध है उसमें मोद मनाने और भविष्य के लिए आशान्वित रहने की आदत डाली जा सके तो फिर अपनी प्रसन्नता मुट्ठी में रहेगी और उसे कोई अन्य छीन नहीं सकेगा।"

अरस्तु अपने शिष्यों से कहा करते थे—प्रसन्नता एक आदत है, जिसे सुरुचि सम्पन्न दैनिक अभ्यास में प्रयुक्त करते रहने पर निरन्तर आगे बढ़ाते रह सकते हैं। अपने भीतर और बाहर इतना कुछ भरा पड़ा है कि उसकी शोभा निरखते और अनुकूलता का अनुमान लगाया जाय तो हर व्यक्ति अपने वर्तमान को सुख-सुविधाओं से भरा-पूरा अनुभव कर सकता है। कठिनाइयाँ होती तो हैं, पर उन्हें जागरूकता और तत्परता उभारने वाली चुनौती भी तो समझा जा सकता है। चुनौतियाँ स्वीकार करने और उस बहाने प्रबल पुरुषार्थ करने से मनुष्य घाटे में नहीं रहता। इस प्रकार कठिनाइयों को दुःख में नहीं, सुयोग में गिना जा सकता है।"

दार्शनिक नीत्से कहते हैं- "व्यक्तित्व की प्रखरता ही किसी में उत्साह भरे रह सकती है। मनोबल गिरा रहे तो मनुष्य आशंका और असफलता की कल्पना करता रहेगा। जिस-तिस पर दोषारोपण करके अपने को असहाय, निर्दोष सिद्ध करने की प्रवृत्ति से कोई मन हल्का भले ही कर ले, पर उससे कुछ बनता नहीं। जिन्दगी खिलाड़ी

की तरह जीनी चाहिए। हर प्रतिकूलता से दूने उत्साह के साथ जूझना चाहिए और विश्वास करके चलना चाहिए कि मन से हार न मानने वाला अन्ततः जीत कर ही रहता है। असफलताएँ तो अधिक तत्परता अपनाने का उद्बोधन मात्र हैं उनमें ऐसा कुछ नहीं जिससे निराश होना या अप्रसन्न रहना पड़े।”

फ्रायड ने लिखा है- ‘दैनिक जीवन में कितनी ही छोटी-छोटी सफलताएँ आती रहती हैं। उपलब्धियाँ हस्तगत होती रहती हैं। प्रसन्नतादायक घड़ियाँ आती रहती हैं। यदि इन सब पर गौर किया जाय तो प्रतीत होगा कि अपने सौभाग्य में कोई कमी नहीं। बड़ी सफलताओं की योजना बनाने में हर्ज नहीं, पर आरम्भ से ही यह मानकर चलना चाहिए कि अपने हाथ में मात्र पुरुषार्थ है। जो चाहा गया है उसका मिलना बहुत कुछ उन परिस्थितियों पर निर्भर है जिन पर अपना काबू नहीं। इसलिए हर महत्वाकांक्षी को जहाँ आशावादी होना चाहिए वहाँ प्रतिकूलता और असफलता की सम्भावना को भी स्वीकारना चाहिए। इन उतार-चढ़ावों में जो अपना मनोबल बनाये रहते हैं उनकी प्रसन्नता कभी हाथ में जाती नहीं है।”

अभावों से किसी को छुटकारा नहीं। अपने से अधिक सम्पत्तियों के साथ तुलना करने पर हर कोई अपने को अभावग्रस्त समझेगा। इसके विपरीत यदि अधिक कठिनाइयों से घिरे हुए लोगों के साथ तुलना की जाय तो प्रतीत होगा कि जो मिला हुआ है वह भी कम नहीं, उसके लिए भी असंख्यों तरसते हैं। ऐसी दशा में क्यों अपने को अभावग्रस्त माना जाय ? क्यों न अपने सौभाग्य को सराहा जाय।

हर उत्तरदायित्व को महत्व दिया जाय और उसे यथासंभव पूरी समझदारी एवं ईमानदारी के साथ निभाया जाय। किन्तु साथ ही यह भी ध्यान रखा जाय कि परिस्थितियों के उतार-चढ़ाव तो धूप-छाँव की तरह हैं। उनका कौतूहल भर देखा जाय, पर यह मानकर न चला जाय कि उन्हीं पर अपनी प्रसन्नता-अप्रसन्नता निर्भर है। अधिक साधन, सुविधाओं के उपार्जन, सदुपयोग का प्रयत्न तो किया जाय, पर साथ ही यह भी गिरह बाँधकर रखा जाय कि सीमित या स्वल्प साधनों में भी सन्तुलन बिठाया और हँसता-हँसाता जीवन क्रम चलाया जा सकता है।

अपनी अनुभूतियों के सृष्टा-हम स्वयं

ज्ञान का अस्तित्व ज्ञाता की सत्ता के भीतर ही होता है। हम जो कुछ जितनी दूर तक देख-सुन सकते हैं या कल्पना कर सकते हैं, वह सब आत्म-सत्ता का ही

क्षेत्र होता है। आत्मेतर का अनुभव असम्भव है। अतः सम्पूर्ण अनुभव आत्म-तत्त्व की ही बहुरंगी झाँकियाँ हैं। आत्म चेतना का जैसा स्तर एवं स्वरूप होता है, उसके ही अनुसार दृश्य, श्रव्य, स्पर्श जगत का अनुभव होता रहता है।

इसका यह अर्थ नहीं कि जगत की स्वप्न में कोई सत्ता नहीं। वह निश्चित ही है। जो लोग यह कहते हैं कि जगत की कोई सत्ता ही नहीं है, उन्हें फिर आत्मसत्ता को भी अस्वीकार करना चाहिए, क्योंकि आत्मसत्ता ही तो जगत का अनुभव करती है। जगत की सत्ता को अस्वीकार करना ऐसा ही है जैसे नित्य रात्रि को स्वप्न देखने वाला व्यक्ति यह कहे कि स्वप्न की कहीं कोई सत्ता ही नहीं है। बिना सत्ता के अनुभूति असम्भव है। हाँ, यह जरूर है कि आत्म चेतना के स्तर के अनुसार, अनुभूति का स्वरूप परिवर्तित होता रहता है। एक बच्चे के लिए स्वप्न भी उतना ही यथार्थ है, जितना जाग्रति के अनुभव। सामान्य वयस्क व्यक्ति स्वप्न के यथार्थ से दिन के या जाग्रति-काल के यथार्थ को अधिक महत्वपूर्ण मानते हैं। मनोवैज्ञानिक स्वप्नों को भी यथार्थ का ही अंग मानते हैं। हाँ, उनका यथार्थ जाग्रत दशा के यथार्थ से भिन्न होता है, यह वे अवश्य मानते हैं। इस अन्तर को समझते हुए वे स्वप्न की अनुभूतियों का इस प्रकार लाभ उठा लेते हैं कि वह जाग्रति काल के यथार्थ को सँवारने, सन्तुलित बनाने में सहायक बन जाती है। स्वप्न-प्रतीकों, स्वप्न-संकेतों की भाषा एवं अर्थ समझकर वे उस प्रकाश में अपने जाग्रत सत्य के आवरण में वांछित हेर-फेर कर लेते हैं। इसी प्रकार जाग्रति-काल की दिनचर्या में संशोधन-परिवर्धन करने पर स्वप्नों के स्वरूप में भी परिवर्तन आ सकता है, यह भी वे जानते हैं और ऐसा ही करते हैं। एक गंभीर मनोवैज्ञानिक के लिए जाग्रति एवं स्वप्न, दोनों की ही अनुभूतियाँ अपने-अपने ढंग से यथार्थ ही हैं।

आत्म-वैज्ञानिक, तत्वज्ञ, दार्शनिक इस यथार्थ जगत को भी स्वप्न ही मानते हैं। क्योंकि वे जानते हैं कि यथार्थ जगत की जो अनुभूति, व्यष्टि चेतना की सामान्य स्थिति में होती है, वह दृष्टा की चेतना के स्वरूप पर ही आधारित है उससे भिन्न नहीं। अपने निरपेक्ष स्वरूप में जगत मात्र ‘सत्’ का विराट् सत्ता का अंग है। किन्तु प्रत्येक प्राणी को उसकी सापेक्ष अनुभूति ही होती है और यह सापेक्ष अनुभूति वस्तुतः स्वप्न तुल्य यथार्थ ही होती है। आधुनिकतम वैज्ञानिक अन्वेषण भी इसी निष्कर्ष तक आ पहुँचे हैं। आधुनिक वैज्ञानिकों का यह सर्वमान्य निष्कर्ष है कि आकर्षक रंगों की, सम्मोहक सौन्दर्य की चिन्तार्थक ध्वनियों की, परिव्याप्त प्रकाश की, तापमयी

ऊष्मा की, सुहाने संगीत की कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, वे तरंगों और गतियों के भिन्न-भिन्न क्रमों के समुच्चय मात्र हैं। ऊष्मा क्या है? वातावरण की तरंगों का संघात। प्रकाश एवं वर्ण ? ये इलेक्ट्रोमैग्नेटिक स्पेक्ट्रम में विभिन्न फ्रीक्वेन्सीज की 'वेवलेन्थ' के अलग-अलग 'सेट' ही तो हैं, और क्या ? प्रत्येक रंग प्रकाश खंड में कुछ निश्चित 'फ्रीक्वेन्सी' तथा 'वेवलेन्थ' की तरंगों का परिणाम है। प्रख्यात वैज्ञानिक एडिंगटन के अनुसार- "तरंग है पदार्थ और जो रंग हम देखते हैं, वह हमारी दिमागी बनावट है।" इस प्रकार जगत का यथार्थ निरपेक्ष रूप में माप है (अस्ति); किन्तु वस्तु सत्य के रूप में हम जो भी अनुभव करते हैं, वह हमारा ही "आत्मपरक सृजन" है हमारी जो अनुभूति क्षमताएँ हैं, उनके अपने ढाँचे और स्तर के ही अनुसार हमें वस्तु सत्य का अनुभव होता है।

तनिक हम कल्पना करें कि यदि विश्व का कोई भी चेतन प्राणी पाँच ज्ञानेन्द्रियों में से एक की भी शक्ति से समर्थ न होता यानी किसी में भी देखने, सुनने, सूँघने, स्पर्शानुभव करने और स्वाद ले सकने की ऐन्द्रिक क्षमताएँ नहीं होती, तब यह शेष संसार रहता तो ऐसा ही किन्तु इसकी विविध रूपाकृतियों, विविध गंधों का, नाना स्वादों का, ध्वनियों एवं संगीत का क्या अनुभव होता और क्या प्रमाण होता ? वस्तु-सत्ता तो तब भी होती; किन्तु अनुभूतियों का वर्तमान स्वरूप तब कदापि कहीं होता ही नहीं।

हम वस्तु-सत्य को जब भी देखते या उसका अनुभव करते हैं उसमें हमारे अपने संस्कार अपने पूर्व संचित संवेदन और उनकी क्षमता-विशेष झुकाव-विशेष का भी प्रभाव घुला-मिला रहता है। क्योंकि हम चेतन दर्शक, चेतन भोक्ता हैं।

कैमरे की देखने की क्रिया और चेतन प्राणी के देखने की क्रिया में भेद चेतना की उपस्थिति से ही होता है। नेत्र से भी किसी प्रकाशित वस्तु को उस वस्तु से विकीर्ण प्रकाश की किरणों के द्वारा ही देखा जाता है। वे ही प्रकाश-किरणें पुतलियों में प्रविष्ट होती हैं और नेत्रवीक्ष उसके द्वारा नेत्र पटल पर उल्टा प्रतिबिम्ब बनता है। किन्तु इससे आगे की क्रिया कैमरे की क्रिया से बिल्कुल भिन्न है। नेत्र पटल पर उभरे प्रतिबिम्बों का प्रभाव संवेदन-नाड़ियाँ मस्तिष्क तक ले जाती हैं; वहाँ संचित बोध अनुभवों के आधार पर वस्तु के स्वरूप के अनुभव के साथ ही, उसके प्रति संवेदनात्मक प्रतिक्रिया भी उत्पन्न होती है। सुन्दर प्रीतिकर दृश्यों से प्रसन्नता-उल्लास की; अरुणिकर दृश्यों से

जुगुप्सा-अप्रसन्नता, कष्ट की; सामान्य अनुभव से सर्वथा भिन्न दृश्यों से विस्मय की और आत्म सत्ता के द्वारा अपने लिए अनुकूल मानी गई परिस्थितियों को क्षति पहुँचा सकने का संकेत देने वाले या उनकी स्मृति उभारने वाले दृश्यों से भय की अनुभूतियाँ होती हैं। इन अनुभूतियों के समय मस्तिष्क की कोशिकाओं में या मज्जागत पदार्थ में किस तरह के कम्पन होते हैं इसका यदि भौतिकी या रसायनशास्त्र की दृष्टि से अध्ययन-विश्लेषण कर भी लिया जाय तो भी उस विश्लेषणात्मक अध्ययन की तुलना उस समय की वास्तविक मानसिक अनुभूति से पूरी तरह नहीं की जा सकती। भौतिक-रसायनिक परिवर्तनों के अध्ययन से यथार्थ मानसिक अनुभूतियों का संकेत मात्र ही हो सकता है। यह अध्ययन वास्तविक अनुभूति के समतुल्य कभी भी नहीं हो सकता। इस प्रकार स्पष्ट है कि वस्तु की जो अनुभूति है वह मूलतः व्यक्ति-चेतना की, स्वतः की क्रिया विशेष है। वस्तु सत्ता की निरपेक्ष अनुभूति चेतन व्यक्ति को नहीं हो पाती।

आज इस तथ्य को वैज्ञानिक भी स्वीकार कर रहे हैं। पदार्थ की सत्ता की खोज में आगे बढ़ते-बढ़ते वैज्ञानिक सृष्टि के मूलकणों से भी आगे बढ़कर इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि वे प्राथमिक कण भी विद्युत तरंगों के संघात मात्र हैं और आगे बढ़ने पर नतीजा यह निकला कि ये विद्युत तरंगें भी अज्ञात, अवर्ण्य, अविवेच्य तरंग समूहों का अंश मात्र हैं और उनका मूल रूप जानना भौतिक उपकरणों से सम्भव नहीं। क्योंकि उन उपकरणों और उनके संचालक नियमों की हम जो भी गणना एवं विधि-व्यवस्था बनाते हैं, वह अंततः हमारी ही मानसिक संरचना का परिणाम है। जिसे हम प्रकृति की कार्यविधि समझते हैं, वह प्रकृति के क्रिया-कलापों की हमारी अपनी मानसिक संकल्पनाओं के आधार पर व्याख्या भर है। हमारा सम्पूर्ण अवलोकन-विश्लेषण और परीक्षण हमारी अवधारणाओं पर आधारित रहता है। उसमें स्वप्नवत् ही सत्य माना जा सकता है।

सामान्य दिनचर्या के अनुभवों-संवेदनों से मन पर जो प्रभाव पड़ते रहते हैं, उनके संस्कार एवं तज्जन्य वासनाएँ संचित होती रहती हैं। उसी आधार पर सुषुप्तावस्था में मन-मस्तिष्क स्वप्न की सृष्टि करता है। चेतन और अचेतन मस्तिष्क के अनुभवों से भिन्न स्वप्न-सृष्टि असंभव है। उसी प्रकार जन्म-जन्मांतरों से संचित संस्कारों, एवं तदनु रूप आत्म-चेतना के स्वरूप के अनुसार ही इस जगत का बोध प्राणी को होता रहता है। इसलिए इस जागतिक बोध की, उसके विविध नाम वर्ण, दृश्य, स्पर्श, स्वाद, गंध, शब्द आदि के अनुभव-संघातों

की स्वप्न से तुलना पूर्णतः वास्तविक है। सुषुप्ति काल में उदित वासना के अनुसार स्वप्न होता है। भिन्न-भिन्न वासनाएँ भिन्न-भिन्न स्वप्नों का बोध कराती हैं। उसी प्रकार, भिन्न-भिन्न वासनाओं की उदितवास्था में इस नाम रूपात्मक सृष्टि की भिन्न-भिन्न अनुभूतियों का स्वरूप बनता-बिगड़ता रहता है। एक मनःअवस्था में जो दृश्य मधुर, शीतल आकर्षक, संगति योग्य, हितावह, सुन्दर प्रतीत होते हैं, दूसरी मनःअवस्था में वे ही दोषपूर्ण, विकृत, परित्यज्य, हानिकर प्रतीत होते देखे जाते हैं। कभी जो अनुभव नितान्त सत्य प्रतीत होता है, बाद में कभी वही पूरी तरह भ्रान्त ज्ञात होता है।

वैज्ञानिक प्रक्रियाएँ भी हमारे अपने अनुभव संघातों के सहारे ही निर्धारित की जाती हैं। वैज्ञानिक विश्लेषण और प्रयोग की पद्धतियाँ एवं नियम-सूत्र वैज्ञानिकों के चेतन-अचेतन मस्तिष्क के अनुभवों द्वारा ही निर्धारित होते हैं। इसीलिए वे परिवर्तित भी होते रहते हैं। आज जो वैज्ञानिक निष्पत्ति, निभान्त सिद्ध होती है, कल वही भ्रान्त सिद्ध हो जाती है।

ज्ञान चाहे भौतिक वस्तुओं का हो, चाहे देह का, चाहे मन का वह सदैव ज्ञाता की चेतना के स्वरूप एवं स्तर पर निर्भर करता है। ज्ञाता की सत्ता से बाहर ज्ञान का अस्तित्व नहीं होता। वस्तु-सत्ता के बाहर ज्ञान का अस्तित्व नहीं होता। वस्तु-सत्ता भले ही ज्ञात की सत्ता से बाहर हो, किन्तु उसका जो ज्ञान होगा, वह ज्ञाता की सत्ता के ही भीतर उत्पन्न प्रतिक्रिया होगा। इसी प्रकार स्वयं की देह का अनुभव ही दृष्टा के अनुभव से स्वरूप पर आधारित होता है। प्रयोगशाला में सूक्ष्मदर्शी यन्त्रों-उपकरणों से सज्जित-सक्रिय एक वैज्ञानिक जब देह को देखने-जानने को उद्यत होता है तो उसे देह असंख्य जीवाणुओं से भरी जीव-कोशिकाओं का संघात और प्राणविद्युत तथा शरीर-विद्युत की त्वरित हलचलों का विचित्र क्रीडांगन प्रतीत होगा।

जबकि अपने या दूसरे की चमड़ी के सौन्दर्य पर मुग्ध रागी को उस देह में जाने कितना माधु उसकी चेष्टाओं में सम्मोहन भाव और रहस्यमय आकर्षण भरा दीखता है। वैज्ञानिक के लिए प्रयोगशाला का सत्य जितना वास्तविक है, मुग्ध व्यक्ति के लिए अपना मुग्धता भाव भी उतना ही वास्तविक है। मूर्ति-पूजा से विरक्त व्यक्ति के लिए प्रतिमा वस्तुतः निष्पाण पाषाण खंड मात्र है तो किसी सच्चे भक्त के लिए वही प्रतिमा वस्तुतः दिव्य प्रेरणाओं और गहन अनुभूतियों का जीवन्त स्रोत है। इस प्रकार स्पष्ट है कि व्यक्ति-चेतना के स्तर एवं स्वरूप के अनुसार ही इस दृश्य जगत (जो स्पर्श जगत एवं श्रव्य

जगत भी है) के अनुभव होते हैं। आत्म-सत्ता ही अनुभूति का आधारभूत तत्त्व है।

इस तथ्य को समझ लेने पर श्रेष्ठ जीवन-दर्शन की, उत्कृष्ट दृष्टिकोण की महत्ता स्पष्ट हो जाती है। निकृष्ट दृष्टिकोण अपनाने पर, अन्तःकरण में घटियापन भर लेने पर चारों तरफ घटिया स्वरूप ही दृष्टिगत होगा। वस्तुतः यह संसार आत्म सत्ता का ही प्रतिबिम्ब है। आत्मसत्ता का स्तर ही चारों ओर प्रतिबिम्ब होता है, वस्तु-जगत में हर व्यक्ति आत्म-सत्ता को आरोपित करता रहता है। घटिया दृष्टिकोण वाला इसी आरोपण के कारण चारों ओर घटियापन का ही अनुभव करता है। संत कबीर ने इसलिए इस संसार को दर्पणों की गुफा कहा था; अर्थात् ऐसी गुफा, जिसमें चारों ओर दर्पण ही दर्पण हों और उसमें हर व्यक्ति को सभी तरफ अपना ही प्रतिबिम्ब दिखाई पड़े। इसी तथ्य को प्रस्तुत करते हुए उन्होंने कहा था-

“दर्पण केरा गुफा में, श्वनहा पड़ठा बाया।

देखि के प्रतिमा आपनी, भूँकि-भूँकि मरि जाया।”

अर्थात्- मनुष्य उस कुत्ते के समान है, जो दर्पण गुफा में सहसा दौड़कर घुस जाय और चतुर्दिक अपनी ही प्रतिमाएँ देख-देखकर भौंक-भौंककर दम तोड़ दे।

यह मनुष्य की यथार्थ स्थिति है। अपनी ही आत्मसत्ता के प्रतिबिम्ब को देख-देखकर मनुष्य विचलित, विक्षुब्ध-व्यग्र होता रहता है और जीवन में क्षण भर को भी सच्ची शान्ति, संतोष एवं तृप्ति का अनुभव नहीं कर पाता। अध्यात्म दर्शन का प्रयोजन इस तथ्य को सामने लाकर प्रत्येक मनुष्य को अपना स्वयं का स्तर उत्कृष्ट बनाने की अपना दृष्टिकोण उन्नत, श्रेष्ठ बनाने की प्रेरणा देना है। उसी के द्वारा मनुष्य की उत्कृष्टता, पवित्रता और प्रकाश के अनुभव एवं दर्शन हो सकते हैं तथा आनन्द-उल्लास की स्थायी अनुभूति हो सकती है।

इच्छाशक्ति का सुनियोजन कैसे करें ?

आधुनिक प्रगतिशीलता का प्रतिपादन है कि मनुष्य की उत्कंठा, अभिलाषा, इच्छा जिस दिशा में जितनी प्रबल होगी, उसे उतना ही उस क्षेत्र में आगे बढ़ने का अवसर मिलेगा। बुद्धि काम करेगी। योजना बनेगी। साधन जुटेंगे और सहयोगी मिलेंगे। फलतः जो चाहा गया है उसके अनुरूप बानिक बनता चला जायगा। प्रवाह चल पड़ने पर मंजिल तक पहुँचने में सुविधा होती है। सफलता प्राप्त होने की परिस्थितियाँ निकट आती जाती हैं।

ऐसी ढेरों पुस्तकें इन दिनों छपी हैं, जिसमें इच्छा शक्ति का महत्व और माहात्म्य उदाहरणों समेत विस्तारपूर्वक बताया गया है। भौतिक क्षेत्र में जिनने भी जिस प्रकार की भी, उन्नति की है, उनके पास आरम्भ से इच्छित प्रसंग की जानकारी तथा सुविधा भले ही न रही हो पर उत्कंठा ने कदम उठाये तो प्रतिकूलताएँ अनुकूलता में बदलती चली गई। अपने स्वभाव के अन्य सहचर भी मिल जाते हैं। उन्हें भी मिले और मिलजुलकर खोजने तथा करने में मार्ग और भी अधिक सरल हो गया।

आवश्यक नहीं कि सभी महत्वाकांक्षी अपनी कामनाएँ पूरी कर ही लेते हों, पर इतना आवश्यक है कि अन्तर की अकुलाहट रास्ता वहाँ भी बना लेती है जहाँ वह आरम्भ में रुका हुआ प्रतीत होता था। इच्छा शक्ति को मानवी अन्तराल की ऊर्जा माना गया है। उसके कारण शक्ति मिलती है। गरमी आती है और हलचल मचती है। यह उत्तेजना निरर्थक नहीं जाती। कुछ न कुछ कर ही गुजरती है। इस प्रतिपादन के पक्ष में अनेक प्रमाण प्रस्तुत किये जाते हैं। ढूँढ़ने पर वे अपने इर्द-गिर्द ही ढेरों मिल जाते हैं। अस्तु कथन, प्रतिपादन और प्रोत्साहन में अभिलाषी लोगों को इसकी स्वीकृति में आपत्ति भी नहीं होती।

यहाँ एक नया प्रश्न उत्पन्न होता है कि महत्वाकांक्षा की दिशाधारा क्या हो ? आमतौर से लोग विलास, वैभव और बड़प्पन प्रदर्शन के आकांक्षी पाये जाते हैं। मन की जैसी बनावट है और बहुजनों को जैसा करते देखा जाता है उसी का अनुकरण करने की अपनी भी इच्छा होती है। दूसरों को समृद्ध, सम्पन्न देखकर अपना भी मन चलता है कि ऐसा ही सुयोग अपने को भी क्यों न मिले ? परामर्श दाता मिल जाने पर भी अधिकांश ऐसे होते हैं जो सरल शुभेच्छा से प्रेरित होकर ऐसे ही परामर्श देते हैं। जिनसे सुखी-समृद्ध होने तथा बड़ा आदमी कहलाने का श्रेय मिले।

आवेश धीमी गति से चलता है, तब तक तो न्याय, विवेक और औचित्य का अंकुश बना रहता है और उसी सीमा तक उत्कर्ष की इच्छा की जाती है, जहाँ तक अन्याय अपनाने और अपराध करने का अवसर न आये। पर बाँध महत्वाकांक्षाओं के प्रबल होते ही दरारें देने, रिसने लगता है। एक स्थिति वैसी भी आती है कि मर्यादाओं और वर्जनाओं का बाँध पूरी तरह टूट जाता है और दुष्टता-भ्रष्टता अपनाने में कोई संकोच नहीं लगता। बड़प्पन मिलता रहे, किन्तु साथ ही बदनामी होती रहे। घृणा, तिरस्कार की वर्षा होती रहे तो जो आनन्द

प्रतिभाशीलता में सोचा गया था वह घटने और मिटने लगता है। बड़प्पन की अनुभूति बदनामी से हल्की नहीं होती, भारी ही पड़ती है।

आमतौर से कामना, धन, वैभव, बड़प्पन और प्रदर्शन की होती है। इन्हें उपाजित करके मनुष्य सोचता है कि वह असंख्यों से ऊँचा हो गया। लोग इसे प्रबल पुरुषार्थ और चातुर्य-कौशल का प्रतिफल मानेंगे और सौभाग्यशाली भी कहेंगे। पर देखा गया है कि वैसा होता नहीं। मित्र, पड़ोसियों और सम्बन्धियों में से हर एक के सामने अपनी-अपनी समस्याएँ हैं। उनका मन पूरी तरह उन्हीं के सुलझाने में रहता है। दूसरों की ओर रास्ता चलते नजर ही डाली जाती रहती है। किसी को बड़प्पन का इतिहास पढ़ने और धन कमाने की सफलता को सराहने के लिए किसके पास फलतू समय खाली होता है। दुनिया में एक से एक बढ़कर सुसम्पन्न और प्रगतिशील पड़े हैं। इनकी विरदावली गाने में कौन समय निकाले ?

फिर यह समय ईर्ष्या प्रधान भी हो गया है। किसी की बढ़ोतरी देखकर लोग प्रसन्न नहीं होते वरन् जलते हैं। ईर्ष्या करते हैं। चोर, बेईमान बतलाकर भर्त्सना करते हैं और अवसर मिलता है तो नीचा दिखाने में भी नहीं चूकते। एक-दूसरे की प्रशंसा स्वार्थवश ही की जाती है। अन्यथा निन्दा, उपहास, छिद्रान्वेषण करना ही इन दिनों का आम रिवाज है। धन के अनावश्यक संग्रह से उसे झपटने वाले, अपने को उत्तराधिकारी समझने वाले, चापलूसी की कीमत चाहने वाले इस फिकर में भी रहते हैं कि इस भण्डार में से जितनी जल्दी जितना ले भागा जाय, उसके लिए कोई पक्ष या विपक्ष का कौतुक खड़ा किया जाय। जो प्रशंसा से काबू में न आये, उनके सामने भय, आतंक का कोई ऐसा खेल खड़ा किया जाय, जिससे डरकर वह कुछ उगले और संपदा का एक भाग उसे भी दे। ऐसे लोगों के षडयंत्र कई बार बड़े दुरूह होते हैं और उनकी चोट कई बार बड़ी करारी बैठती है।

सम्पन्नता, बड़प्पन और वाहवाही लूटने की ललक में एक खराबी यह है कि वह जितना परिश्रम कराती, जितना कुचक्र रचाती है, उसका एक छोटा अंश भी अपने निज के काम नहीं आता। जमाखोरी का अधिकांश अपव्यय में उड़ जाता है। चमचे, चापलूस बे बिना मूल्य से नहीं खरीदे जाते। वे हर घड़ी कुछ चाहते हैं। आड़े वक्त पर तो अपनी तथाकथित वफादारी की पूरी कीमत वसूल लेते हैं। इस प्रकार की समस्याओं में से कुछ तो उनकी बुनी हुई या खड़ी की हुई ही होती हैं।

जो पैसा पूरी ईमानदारी और मेहनत से कमाया जाता है, उसी का सदुपयोग भी बन पड़ता है। अन्यथा उसमें से अधिकांश अपव्यय में चला जाता है। ठाट-बाट खड़ा करना कम खर्चीला नहीं है। बातूनी मित्रों को साथ रखना हो और उनके मुँह प्रशंसाएँ सुननी हों तो इसकी कीमत चुकाने में भी निरन्तर उनका मुँह मीठा करना पड़ता है। बड़प्पन लूटने के लिए अपव्यय आवश्यक है। यह अपव्यय दुर्व्यसनों और कुकर्मों में ही होता है। मुक्त हस्त से लूटने वालों को असंयमजन्य अनेकों आधि व्याधियाँ होती हैं। पेट खराब होने से लेकर अनिद्रा जैसे अनेकों रोग घेरते हैं और दवा दारू में, महँगी परिचर्या में ढेरों खर्च हो जाता है। नशेबाजी, व्यभिचार, यारबासी, आवागर्दी जैसे दुर्व्यसन उस फलतू कमाई का अधिकांश अपव्यय करा देते हैं जो भड़काई गई महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति के लिए छल-बलपूर्वक इकट्ठा किया गया था।

महत्वाकांक्षाओं का चालू अर्थ अधिकाधिक मात्रा में धन, वैभव समेटना और लोगों पर अमीरी की, चतुरता की छाप डालना है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए समय, श्रम, बुद्धिबल, मनोबल को दाँव पर लगाना पड़ता है। इतना ही नहीं नीति मर्यादा तक को तिलांजलि देनी पड़ती है। इतना कर गुजरने में जिन्दगी खपा देने पर भी लेखा-जोखा लेने पर प्रतीत होता है कि पल्ले कुछ नहीं पड़ा। जो कमाया गया था उसे मसखरे उड़ा ले गये।

महत्वाकांक्षाओं की सही दिशा वह है जिसमें आत्म-गौरव बढ़ाने और लोक मंगल के लिए कुछ कर गुजरने की उमंग उठती है। संसार में अगणित ऐसे महापुरुष हुए हैं जिनकी चरित्र-निष्ठा और सेवा भावना चिरकाल तक असंख्यों के लिए अभिनन्दनीय और अनुकरणीय बनी रही है। सेवा और सुधार के लिए सदा ही माँग रहती है। पिछड़ों को उठाने और भटकों को राह पर लाने की आवश्यकता हर समय हर क्षेत्र में अनुभव की जाती है। इस संदर्भ में अवांछनीयताओं से जूझना और सदाशयता के लिए पथ प्रशस्त करना पड़ता है। यह सब तो करना ही होता है, दूसरों को भी उसी राह पर चलने के लिए ऐड़ी-चोटी का पसीना एक करना पड़ता है। यह उसी से बन पड़ेगा जो अपनी व्यक्तिगत आकांक्षाएँ एवं आवश्यकताएँ कम रखे। स्वल्प संतोषी बनकर 'सादा जीवन उच्च विचार' की कार्य पद्धति अपनाये।

आदर्शवादी व्यक्ति भूखे-नंगे नहीं रहते। वे हरामखोरी नहीं करते। इसलिए यह भी ध्यान रखना पड़ता है कि अपनी आवश्यकता कम रखें। वस्तुतः इतनी कम हों कि यदि उन्हें काम चलाऊ कसौटी पर कसकर जमा

संग्रहीत किया जाय तो उन्हें कुछ ही घण्टे के परिश्रम से कमाया जा सकता है। यदि उत्तराधिकारियों के लिए मुफ्त का ब्याज उपहार में देना नहीं है तो वह भी काम चलाऊ मात्रा में सरलतापूर्वक संग्रह किया जा सकता है। संतोषी वृत्ति धारण करने पर साधारण गुजारा भी निर्वाह तथा सम्मान के लिए पर्याप्त हो सकता है। इसके उपरान्त जो समय, श्रम, चिन्तन एवं कौशल बच जाता है, उन्हें उन कार्यों में लगाया जा सकता है, जिनसे जीवन की सफलता का आधार बन सके।

शरीर को विलास चाहिए। मन को वैभव से प्रसन्नता होती है। पर अपनी आत्म-सत्ता तो शरीर से भिन्न है साथ ही काया का यह ठिकाना भी नहीं कि वह कितने समय साथ देगी। शरीर छूट जाने के उपरान्त तो बड़प्पन और गरीबी का गुणगान या उपेक्षा का कोई महत्व नहीं रह जाता। जो व्यक्ति इस जन्म में राजा है, वही कर्मवश गधा या कुम्हार बन जाता है जो इस परिवर्तन के बाद पूर्व जन्म के राजा की ख्याति उसके लिए किस काम आई। आत्मा की अमरता का सिद्धान्त यदि स्वीकारा जाय और शरीरों को वस्त्र बदलने की तरह आये दिन का झंझट माना जाय तो फिर ख्याति की महत्वाकांक्षा बहुत ही छोटी घटिया और अस्थायी वस्तु रह जाती है। वह सामयिक भी है, अस्थिर और क्षणिक भी। जब पूर्व जन्मों के यश, अपयश इन दिनों हमारे किसी क्रम नहीं आते उस निन्दा, प्रशंसा का आज कोई प्रभाव नहीं रहा तो इस जन्म में हो रही निन्दा, प्रशंसा का शरीर बदल जाने पर कोई प्रभाव न रहेगा। जब आज हमें पूर्वजन्मों की ख्याति, कुख्याति का कोई असर अपने ऊपर नहीं है तो भविष्य में उसके बने रहने की क्या आशा की जाय ?

बदलते क्षणों की तरह शरीरों के धारण करने और उतारने का सिलसिला भी चलता ही रहता है। यश-अपयश शरीरों तक सीमित है। यह सोचते हुए वाहवाही लूटने, शान बघारने, शेखी दिखाने, प्रशंसा सुनने के लिए ओछे हथकंडे अपनाना दूरदर्शिता नहीं है। मिथ्या प्रदर्शन तो रंग-मंचों के नट-नटनियाँ भी कर लेते हैं, वे क्षण भर के लिए राजा, मंत्री, तपस्वी, भिखारी कुछ भी बन जाते हैं। पर प्रदर्शन समाप्त होते ही अपने सादे कपड़े पहन लेते हैं और सादे कर्मचारी की तरह रहते हैं।

इच्छा शक्ति का नियोजन और प्रगति का मूल्यांकन भौतिक वैभव के संपादन या लोगों को बीच बड़े कहलाने के लिए नहीं करना चाहिए। वरन् यदि विवेक जागे तो विचारणा और साहसिकता और ऐसे उद्देश्य के लिए किया जाना चाहिए, जिन्हें तुच्छ अस्थायी एवं बचकानी बुद्धि का चुनाव न कहा जाय।

उत्थान-पतन की कुंजियाँ अपने हाथ में

मनुष्य के कायिक और मानसिक संयंत्र में अद्भुत क्षमताओं के एक से एक भण्डार भरे पड़े हैं। उनका सुव्यवस्थित सदुपयोग बन पड़े तो सामान्य समझा जाने वाला व्यक्ति भी ऐसी सफलताएँ प्राप्त कर सकता है, जिन्हें चमत्कारी देव वरदानों की तरह गिना जाने लगे। दुर्भाग्य इसी बात का है कि मनुष्य बाहर की वस्तुओं का मूल्य और उपयोग तो जानता है, पर अपनी सामर्थ्य को उभारने तथा उसका सदुपयोग करने की जानकारी से प्रायः वंचित ही रहता है। पिछड़ी हुई दीन-दयनीय परिस्थिति में पड़े रहने का प्रायः यही प्रधान कारण होता है।

अभीष्ट प्रगति के लिए साधन, परिस्थिति एवं सहयोग की भी आवश्यकता पड़ती है, पर उनका जुटाया जाना तथा जो उपलब्ध है, उसे ठीक से काम में लाया जाना उन्हीं से बन पड़ता है जो अपने व्यक्तित्व को व्यवस्थित बनाने और अपनी क्षमताओं को परिष्कृत करने में सफल होते हैं। इतनी बात बने बिना सभी अनुकूलताएँ निरर्थक चली जाती हैं। कई बार तो सुविधा-साधनों का दुरुपयोग ही होता रहता है और उत्थान की अपेक्षा पतन का ही पथ-प्रशस्त होता है।

जितना ध्यान धन-उपार्जन और वैभव प्रदर्शन का ताना-बाना बुनने पर दिया जाता है, उतना ही यदि आत्म-चिन्तन, आत्म-सुधार, आत्म-निर्माण और आत्म-परिष्कार की प्रक्रिया पर दिया जा सके तो निश्चय ही आत्म-विश्वास की मात्रा अनेकों गुनी बढ़ सकती है। प्रसुप्त शक्तियों को जगाने और बढ़ाने पर ध्यान केन्द्रित हो सके, अपने से लड़-झगड़कर शरीर और मन को आलस्य, प्रमाद त्यागने के लिए सहमत किया जा सके तो प्रतीत होगा कि किसी नये देव-दानव की सामर्थ्य अपने साथ जुड़ गई। बिखराव की बाल चंचलता यदि छोड़ी जा सके और निर्धारित लक्ष्य पर एकग्र भाव से चला जा सके तो कठिन से कठिन कार्य भी सरल हो सकते हैं।

आत्म-ज्ञान की सामान्य भूमिका में जागृत होने वाले सामान्य मनुष्य आत्म-विश्वासी, स्वावलम्बी और स्वाभिमानी पाये जाते हैं। अहंकारी होना एक बात है और आत्म-विश्वासी होना बिल्कुल दूसरी। अहंकारी उद्धत होता है, दूसरों को अपने से तुच्छ समझता है, आत्म-प्रशंसा के लिए आतुर होने के कारण चापलूसों द्वारा ठगा जाता रहता है, मतभेद अथवा असहमति को सहन कर सकना

उसके लिए संभव नहीं होता उसे बात-बात में आग-बबूला होते और दूसरों के साथ उद्धत व्यवहार करते देखा जा सकता है। आत्म-विश्वासी में इस प्रकार की एक भी विकृति नहीं होती। उसका आत्मबोध सिखाता है कि ईश्वर की तरह ही उसके पुत्र मनुष्य को भी शालीनता, सज्जनता, पवित्रता, सरलता, नम्रता, सहिष्णुता जैसी सत्प्रवृत्तियों का उत्तराधिकारी होना चाहिए। इतना ही नहीं आत्म-विश्वासी सोचता है कि किसी भी दिशा में बढ़ चलने को प्रचण्ड सामर्थ्य मानवी सत्ता में भरी पड़ी है, उसका उपयोग ठीक से न बन पड़ना ही पिछड़ापन है। मनोयोग और एकाग्र पुरुषार्थ का समन्वय हो सका तो फिर हाथ में लिए हुए कार्य उत्कृष्ट स्तर के बनते चले जायेंगे और क्रम का चलते रहना एक दिन उच्चस्तरीय सफलता प्रस्तुत किये बिना रहेगा नहीं। अहंकारी केवल उन्हीं कार्यों में रस लेता है जो सस्ती वाहवाही दिला सके। आत्म-विश्वासी, आत्म-गौरव को ध्यान में रखकर उन आदर्शवादी प्रयत्नों को अपनाता है जिनसे आत्मा-परमात्मा और विश्वात्मा को सन्तोष मिल सके। इसी अन्तर को देखते हुए अहंकारी की निन्दा और आत्म-विश्वासी की प्रशंसा होती है। यों अन्तर बारीकी से ही पकड़ में आता है अन्यथा कई बार मोटी दृष्टि से देखने वालों को अहंकारी एवं आत्म-विश्वासी एक जैसे दीखने लगते हैं।

उच्चस्तरीय आत्मबोध में मनुष्य अपने आपको ईश्वर का तेजस्वी अंश-विश्वात्मा का एक घटक समझता है और सुर-दुर्लभ मानव जन्म का लक्ष्य पूरा करने वाले व्यक्तित्व को उत्कृष्ट बनाने वाले-लोक-मंगल का प्रयोजन पूरा करने वाले कार्यों में ही हाथ डालता है। अन्य किसी भटकाव में उसका मन नहीं फिसलता। सामान्य स्तर का आत्म-विश्वास भी इस आत्मबोध का प्रथम चरण है। इस प्रवेश द्वार में पैर रखते ही मनुष्य उत्थान और पतन के उत्तरदायित्वों को अपने कंधे पर ओढ़ता है। दूसरों को दोष देने अथवा दूसरों से याचना करने की ओछी दृष्टि उसके पास नहीं फटकती। वह सोचता है, संसार में शुभ-अशुभ सभी कुछ है, उसमें अपना चुम्बकत्व अनुकूल स्तर के व्यक्तियों तथा साधनों को एकत्रित करेगा। यदि अपना स्तर सुधार लिया जाय तो दूसरों के दोषों से अपनी हानि न्यूनतम मात्रा में ही होगी। इसी प्रकार अन्यो का सहकार तभी मिलेगा जब वे पात्रता की परख कर लेंगे। कुपात्रों और अप्रामाणिक व्यक्तियों को न तो कहने लायक संसार का सहयोग मिलता है और न दैवी अनुग्रह। इस तथ्य को समझते हुए वह अपने में वे विशेषताएँ उत्पन्न करने में संलग्न होता है, जिनके कारण सफलता खिंचती चली आती है, उन दुर्बलताओं

से जूझता है जो अवरोधों और संकटों का प्रधान कारण बनी होती है।

आत्म-हीनता की ग्रन्थि से ग्रसित व्यक्ति अपनी दुर्बलताओं को समझने और उन्हें निरस्त करने का साहस नहीं जुटा पाते। गहराई में प्रवेश करके आत्म-निरीक्षण करना उनसे बन नहीं पड़ता, अस्तु सामने प्रस्तुत प्रतिकूलताओं का सारा दोष किन्हीं अन्य व्यक्तियों या परिस्थितियों पर थोपकर जी हल्का करते हैं। कोई और नहीं दीखता तो बेचारे ग्रह-नक्षत्रों को, भाग्य को, दैवी प्रकोप को, समय की विपरीतता को कोसने की आत्म-प्रवचना अपनाने लगते हैं। दूसरा काम उनका यह होता है कि अभीष्ट सफलताओं के लिए जिस-तिस की कृपा प्राप्त करने के लिए उसके सामने दीनता भरी याचना करते फिरें। अपने पौरुष पर जिन्हें विश्वास नहीं उन्हीं को प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में भिक्षावृत्ति का अप्रत्यक्ष लेते पाया जाता है। रोटी, पैसा आदि माँगने वाले समर्थ भिक्षुओं की निन्दा होती है यह जानते हुए भी कितने ही लोग सम्पन्न लोगों की चापलूसी अथवा देव-दानवों की पूजा-पत्री में कई प्रकार के अनुदान-वरदान पाने की अपेक्षा करते रहते हैं। ऐसे लोगों का कितना मनोरथ पूरा होता है यह कहना कठिन है, पर यह निश्चित है कि इससे आत्म-गौरव और आत्म-विश्वास को भारी क्षति पहुँचती है। दीनताग्रस्त व्यक्ति यदि कहीं से कुछ प्राप्त कर भी ले तो परावलम्बन अपनाने के कारण अन्ततः घाटे में ही रहता है। प्रगति की अगणित सम्भावनाएँ, आत्म-विश्वास के साथ जुड़ी होती हैं, यदि उस गरिमा को दुर्बल बना दिया गया तो फिर छुट-पुट उपलब्धियों का क्या मूल्य रह गया? सुविधाएँ आती और चली जाती हैं, पर जो भावनात्मक क्षति पहुँचती है उसकी तुलना में अनुदान, वरदान का लाभ तुच्छ ही बैठता है।

संसार में आदान-प्रदान का नियम तर्क संगत, नैतिक और व्यावहारिक है। पात्रता के अनुरूप सफलताएँ और उपलब्धियाँ मिलने का शाश्वत नियम अनादिकाल से चलता आ रहा है, हमें उतने से ही सन्तुष्ट रहना चाहिए। किसी से कुछ पाना हो तो उसका मूल्य चुकाने के लिए तत्पर रहना चाहिए। सेवा के बदले में यश पाया जाय तो हर्ज नहीं। ऐसे ही धक्केशाही के बल पर नेता बन बैठना अनुचित है। अपनी योग्यता, कुशलता और श्रमशीलता का स्तर बढ़ाते हुए धन उपार्जन का औचित्य है, पर यदि जेबकटी का धन्धा अपनाया जा रहा हो तो उसे उपार्जन नहीं कह सकते। इसी प्रकार व्यक्तित्व के परिष्कार एवं लोक-मंगल में निरत रहने की ऋषि भूमिका निवाहने वाले दैवी अनुग्रह के अधिकारी हो सकते हैं, पर मन्त्र-तन्त्र की तरकीबें भिड़ाकर जो दैवी शक्तियों की

अनुकम्पा चाहते हैं, वे यथार्थता को समझते नहीं और सस्ते जादुई लाभ का सपना देखते हैं। यही बात सिद्ध पुरुषों का अनुग्रह, आशीर्वाद प्राप्त करने के सम्बन्ध में भी है। रामकृष्ण परमहंस ने विवेकानन्द को, समर्थ गुरु रामदास ने शिवाजी को, चाणक्य ने चन्द्रगुप्त को, गाँधी ने जवाहरलाल को अपना सच्चा आशीर्वाद दिया था, पर देने से पहले उन्होंने यह विश्वास भली प्रकार कर लिया था कि उनके अनुदान का उपयोग किसी कुपात्र द्वारा व्यक्तिगत स्वार्थ साधन के लिए तो नहीं किया जायेगा। कहना न होगा कि परिष्कृत व्यक्तित्व से कम कीमत पर कभी किसी समर्थ सिद्ध पुरुष की वास्तविक अनुकम्पा मिल नहीं सकती।

इन तथ्यों पर जितना अधिक विचार किया जाय उतना ही यह निष्कर्ष निकलेगा कि अपनी भावनात्मक, बौद्धिक एवं क्रियापरक स्थिति को जितना प्रखर बनाया जा सकेगा उसी अनुपात से जन-साधारण का अथवा दैव शक्तियों का सहयोग मिलता चला जायेगा। संसार में जितने भी ऐतिहासिक महामानव हुए हैं उनमें से प्रत्येक की प्रगति एवं महानता का विश्लेषण करने पर इसी एक निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि उनमें अपने गुण, कर्म, स्वभाव में असाधारण उत्कृष्टताएँ उत्पन्न कीं और साधियों की तुलना में अपने को अधिक सत्पात्र सिद्ध करके विशिष्ट जन सहयोग एवं सम्मान प्राप्त कर सके। यही है उन सब की प्रगति का प्रधान रहस्य।

अपनी क्षमताओं का दुरुपयोग करके दुष्प्रवृत्तियों से ग्रसित होकर ही हम अनेकानेक कठिनाइयों के शिकार बनते हैं। चटोरेपन, असंयम और अस्त-व्यस्त रहन-सहन अपनाने पर ही पाचन तन्त्र और रक्त शुद्धि का सन्तुलन बिगड़ता है। यहीं से अनेकानेक शरीरगत रोगों का सिलसिला चल पड़ता है। सृष्टि के प्रकृति अनुगामी जीव-जन्तुओं की मृत्यु तो समयानुसार होती है, पर उन्हें बीमारियों की व्यथा नहीं भोगनी पड़ती। असंयम की कीमत पर रुग्णता खरीदी जाती है। यदि आहार-विहार की अस्त-व्यस्तता सुधार ली जाय तो खोया हुआ स्वास्थ्य पुनः वापस लौटाया जा सकता है। इस मोटी बात को मानने के लिए लोग तैयार नहीं होते, असंयम नहीं छोड़ते मात्र दवादारू के जादुई प्रयोगों से स्वस्थ रहने की अपेक्षा करते हैं। राजमार्ग को छोड़कर सस्ते में बड़े लाभ पाने के इच्छुक पगडंडियों में भटकते तो रहते हैं पर पाते कुछ नहीं।

चिन्तन का सही तरीका मालूम न होने से लोग जीवन समस्याओं पर उथले, ओछे और गलत ढंग से विचार करते हैं, फलतः कठिनाइयों के समाधान तो मिलते

नहीं, उल्टे चिन्तन की विकृति से ऐसी गतिविधियाँ बन पड़ती हैं जो विपत्ति को और अधिक बढ़ा देती हैं। चिन्ता, निराशा, उद्वेग, आवेश, भय, आशंका, सनक जैसे विकृत चिन्तन एवं काम-क्रोध, लोभ-मोह, मद-मत्सर जैसे दुर्गुण मिलकर किसी का भी मस्तिष्क अर्ध विक्षिप्त जैसा बना सकते हैं, ऐसे व्यक्तियों का सोचना और करना प्रायः अनुपयुक्त ही होता है। फलतः उनके व्यवहार एवं प्रयासों की उल्टी प्रतिक्रिया होती है। खीज और झल्लाहट से ग्रसित व्यक्ति प्रायः इसी प्रकार के गड़बड़ाये मानसिक स्तर से होते हैं।

अच्छी मोटर भी अनाड़ी ड्राइवर के हाथ में जाकर दुर्घटना ग्रसित हो जाती है और उसमें बैठे सवार को यात्रा जल्दी और सुविधापूर्वक पूरी करने के स्थान पर उल्टे चोट खाने का संकट सहना पड़ता है। शारीरिक, मानसिक, आर्थिक, पारिवारिक, सामाजिक स्तर पर आये दिन जो संकट सामने खड़े रहते हैं, उनमें से संयोगवश तो कुछ अपवाद स्वरूप ही आते हैं। अधिकांश ऐसे होते हैं, जिन्हें दुर्बुद्धि जन्य ही पाया जायेगा। यदि पारस्परिक सद्व्यवहार निर्वाह के सूत्र अभ्यास में रह सके होते तो प्रत्येक गृहस्थ में पारस्परिक स्नेह सद्भाव का स्वर्गीय वातावरण बना हुआ होता और सब लोग स्वल्प साधनों में भी प्रचुर आनन्द, उल्लास का लाभ ले रहे होते। यदि दोनों पक्ष सज्जन हों तब तो कहना ही क्या, पर यदि एक समझदार हो तो दूसरे नासमझ को निभा सकता है। पारिवारिक स्नेह, सौजन्य के निर्वाह में प्रायः शालीन सज्जनता का अभाव ही कलह बन कर खड़ा रहता है और उस आग में घर के हर सदस्य को जलना पड़ता है। गरीबी या दूसरे कारण उतने विक्षोभकारी नहीं होते जितना कि उच्चस्तरीय दृष्टिकोण एवं व्यक्तित्व का अभाव।

सन्तानों के सम्बन्ध में आमतौर से लोगों को यही शिकायत रहती है कि उनके बालक कुसंस्कारी सिद्ध हो रहे हैं उनके कारण समस्याएँ उत्पन्न हो रही हैं। आयु-वृद्धि के साथ बच्चे घरवालों की सहायता करने के स्थान पर उल्टे संकट खड़े करते हैं। इसमें अन्य कारण कम और घरेलू वातावरण में भ्रष्ट परम्पराओं का घुसे होना मुख्य होता है। बच्चे उपदेश नहीं सुनते, अनुकरण करते हैं। उनमें वातावरण के भीतर काम कर रही विचारणाओं और भावनाओं को पकड़ने की अद्भुत क्षमता होती है। परिवार के लिए कितने ही सुविधा-साधन एकत्रित कर दिये जायें पर यदि कुसंस्कारी वातावरण भरा पड़ा है तो दुष्टता ही पनपेगी और उससे अन्ततः कौटुम्बिक विनाश के दृश्य ही सामने आवेंगे।

यही बात अर्थ सन्तुलन के सम्बन्ध में है। आलसी एवं अयोग्य व्यक्ति थोड़ा सा ही कमा पाते हैं जो कमाते हैं उसे भी अनुपयुक्त ढंग से खर्च करते हैं, फलतः दरिद्रता सदा ही घेरे रहती है। अधिक उपार्जन करने वाले भी दुर्बुद्धिग्रस्त होने के कारण प्राप्त धन का अपव्यय एवं दुरुपयोग करते हैं और सम्पत्ति का सुख पाने की अपेक्षा उल्टे उससे विपत्ति खरीदते हैं।

कुशलता, कला, प्रतिभा, उच्चपद आदि पाने पर भी दुष्प्रवृत्तिग्रस्त व्यक्ति उन विभूतियों का समुचित लाभ नहीं ले सकता वरन् अपना और दूसरों का विनाश ही अधिक करता है। स्पष्ट है कि आन्तरिक स्थिति गई-गुजरी हो तो साधन-सुविधाओं की प्रचुरता भी सुख-शान्ति नहीं दे सकती, इसके विपरीत सदगुणी व्यक्ति स्वल्प साधन होने पर भी उनके सदुपयोग से प्रगति का पथ-प्रशस्त करते चलते हैं।

शारीरिक असमर्थता के कारण व्यक्ति उतने दुःखी नहीं रहते जितने कि आन्तरिक दुर्बलताओं से ग्रस्त होने पर। कितने ही दुर्बल, रुग्ण एवं अपंग व्यक्ति आन्तरिक प्रखरता के कारण उतना कार्य कर सके, जितना सशक्त शरीर वालों के लिए भी सम्भव नहीं। वस्तुतः अन्धे वे हैं जिन्हें अज्ञान अविवेक ने घेर रखा है। अहंकारी और दीर्घसूत्री ही बहरे हैं जो अन्तःकरण की पुकार और इतिहास के निष्कर्षों पर कान नहीं धरते। गूँगे वे हैं जो कुण्ठाग्रस्त हैं, जो आन्तरिक अभिव्यक्तियों को व्यक्त नहीं कर सकते। दूसरों के सहारे जीने वाले परावलम्बी व्यक्ति मृतक कहे जा सकते हैं। जीवित तो अपने पैरों खड़े होते-अपने सहारे चलते हैं तथा दूसरों का बोझ भी अपने कंधों पर उठाकर चलते हैं, जो अपने बोझ को आप न उठा सके दूसरों का सहारा तर्क उन्हें तात्त्विक दृष्टि से मृतक समझा जा सकता है। शरीरों का अन्तर कोई अन्तर नहीं, साधनों के न्यूनाधिक होने से भी कुछ बनता बिगड़ता नहीं। वास्तविक अन्तर तो मनःस्थिति का है। तुच्छता और महानता उसी पर अवलंबित रहती है।

कस्तूरी का हिरन सुगन्ध की तलाश में चारों ओर दौड़ता है, पर समाधान तभी होता है जब उसका केन्द्र अपनी ही नाभि में होने की बात समझ में आ जाती है। संसार में सौन्दर्य और देखने योग्य बहुत कुछ है, पर अपनी आँख की पुतली सही होने पर ही यह सारे दृश्य देखे जा सकते हैं। संसार में प्रेरक और आकर्षक शब्दों की कमी नहीं, पर वे सुने तभी जा सकते हैं जब अपने कानों की झिल्ली सही हो। अपना मस्तिष्क खराब हो जाय तो फिर संसार में सब कुछ बेतुका और अट-पटा ही लगेगा। यह तथ्य बताते हैं कि बाहर बहुत कुछ होते

हुए भी उसका लाभ उसी को मिल सकता है, जिसकी अपनी गृहण शक्ति ठीक हो।

संसार में कौन व्यक्ति या पदार्थ प्रिय हैं ? इसका कोई निर्णय नहीं हो सकता। अपनी आत्मीयता एवं रुचि जिस पर भी आरोपित हो जायेगी वही प्रिय लगने लगेगा। टार्च की रोशनी जिस पर भी फेंकी जाती है, वही चमकने लगती है। अपनापन जिस पर भी आरोपित कर दिया जाय, वही प्रिय लगने लगेगा। इसे समेट लेने पर वही सब कुछ उपेक्षणीय लगने लगेगा।

घास खाकर गाय दूध बनाती है, घोड़ा लीद बनाता है, सुअर चर्बी उत्पन्न करता है। एक ही वस्तु कई तरह के परिणाम उत्पन्न करती है, यह उन प्राणियों की पाचन तन्त्र की स्थिति में भिन्नता के कारण ही होता है। बीमारियों के बारे में सोचा जाता है कि वे बाहर से आती हैं, पर वास्तविकता यह है कि वे भीतरी सड़न एवं गतिरोध के कारण ही पैदा होती और पनपती हैं। जीवनी-शक्ति से भरे पूरे लोग छूत वाले विषाणुओं के सम्पर्क में रहते हुए भी निरोग बने रहते हैं।

परमात्मा अपनी विशाल दुनिया का मालिक है, पर आत्मा को भी अपने सत्ता क्षेत्र में पूर्ण आधिपत्य प्राप्त है। मनुष्य अपने भाग्य का निर्माता स्वयं है अपनी दुर्बुद्धि से उसे बिगाड़ सकता है और सत्त्ववृत्तियाँ अपनाकर बना भी सकता है। अपने कमरे में सूर्य की धूप एवं पवन देव अपनी मर्जी के बिना प्रवेश नहीं कर सकते। यदि दरवाजे, खिड़कियाँ बन्द कर दिये जायें तो प्रचण्ड धूप एवं तेज हवा का प्रवेश भी भीतर न हो सकेगा। केवल वही स्टेशन अपने रेडियो पर सुना जाता है जिस पर हम सुई लगाते हैं। अन्य स्टेशनों के ब्राडकास्ट हमारे कानों तक नहीं आ सकते भले ही वे कितने ही जोरदार प्रसारण चला रहे हों।

इतिहास के पृष्ठ ऐसे उदाहरणों से भरे पड़े हैं, जिनसे सिद्ध होता है कि आन्तरिक प्रखरता के बल पर लोगों ने अभावग्रस्त एवं विपरीत परिस्थितियों को चीरते हुए प्रगति के पथ-प्रशस्त किये हैं और अनेकानेक अवरोधों को चीरते हुए उन्नति के उच्च शिखर तक पहुँचे हैं। इसके विपरीत हर प्रकार की सुविधाएँ होते हुए भी ऊपर उठने की बात तो दूर उल्टे नीचे ही गिरते चले गये हैं।

एक साधक अपनी श्रद्धा के बल पर धातु और पत्थर से बनी प्रतिमाओं से चमत्कारी प्रतिक्रिया उत्पन्न कर लेता है, दूसरा अपनी अनास्था के कारण जीवन्त देव मानवों के अति समीप रहने पर भी कोई लाभ नहीं ले पाता। एकलव्य ने मिट्टी से बनी द्रोणाचार्य प्रतिमा से वह

अनुदान प्राप्त कर लिया था जो पाण्डव सचमुच के द्रोणाचार्य से भी प्राप्त नहीं कर सके थे। मीरा के 'गिरधर गोपाल' और राम कृष्ण परमहंस की 'काली' में जो चमत्कारी शक्ति थी वह उनके श्रद्धारोपण से ही उत्पन्न हुई थी और उन्हीं के लिए फलप्रद सिद्ध होती रही। उन्हीं प्रतिमाओं से अन्य वैसा लाभ नहीं उठा सकते। यन्त्र-तन्त्रों की सिद्धि में विधि-विधानों की इतनी भूमिका नहीं होती, जितनी साधक के श्रद्धा, विश्वास की। भूतप्रेतों से लेकर देवी-देवताओं तक के जो परिचय सामने आते हैं उनमें व्यक्ति के अपने विश्वास ही फलित हुए पाये जाते हैं। अमुक चिकित्सा से लाभ होना अथवा अमुक चिकित्सक का सफल होना बहुत करके रोगी के विश्वास पर निर्भर रहता है।

विपुल वर्षा होने पर भी पत्थर की चट्टानें एक बूँद पानी भी नहीं सोख पाती। इसके विपरीत रेगिस्तानी गर्मी में हरे रहने वाले पेड़-पौधे कहीं से भी अपने निर्वाह के लिए आवश्यक नमी उसी उष्ण वातावरण में से उपलब्ध करते रहते हैं। सर्वाँति की वर्षा से केवल वे ही सीपें लाभ उठा पाते हैं जिनके मुँह खुले होते हैं। सरकारी छात्र-वृत्ति उन्हीं को मिलती है जो पश्चिमपूर्वक पढ़ते और अच्छे नम्बरों से उत्तीर्ण होते हैं। बाहरी सहायता उपलब्ध होना न होना उतना महत्वपूर्ण नहीं जितना कि व्यक्ति की निजी पात्रता एवं प्रखरता का होना।

आत्मबोध का तात्पर्य है, अपने में सन्निहित शक्ति एवं सम्भावना से परिचित होना। आत्मिक प्रगति का अर्थ है, आन्तरिक दोष, दुर्गुणों को निरस्त करके सद्भावनाओं और सत्त्ववृत्तियों को समुन्नत बनाने के उपक्रम में निरन्तर निरत रहना। इन सत्त्वयत्नों से मानवी और दैवी दोनों प्रकार की सहायताएँ अनायास ही उपलब्ध होती रहती है।

ब्रह्म-विद्या का सबसे महत्वपूर्ण निर्देश यह है कि अपने आपको जानो, अपने को समझो और अपने को सुधारो। 'आत्मा वारे श्रोतव्य ज्ञातव्य, निदिध्यासितव्य' की उक्ति में यही उद्बोधन भरा पड़ा है। गीता कहती है- "अपना उद्धार आप करो" अपने आपको गिराओ मत। 'उद्धरेत् आत्मनात्मनः-नात्मानं अवसादयेत्' की सूक्ति में यही ब्रह्म वाक्य गूँजता है। मित्रों को ढूँढ़ने और शत्रुओं को भगाने के लिए अन्यत्र कहीं जाने की आवश्यकता नहीं है वे अपने ही भीतर डेरा डाले बैठे हैं—“आत्मैव आत्मन बन्धु आत्मैव रिपुरात्मन” का गीता कथन अक्षरशः सत्य है। अपने पौरुष पुरुषार्थ से, अपनी विवेकशीलता और दूरदर्शिता से ही प्रगति के द्वार खुलते हैं। अपनी ही अकर्मण्यता, अदूरदर्शिता और अनास्था ही हमें ले डूबती है। अपने उत्थान परिष्कार की

१.१० चेतन, अचेतन एवं सुपर चेतन मन

तथा पतन पराभव की कुंजियाँ अपने ही हाथों में हैं, दोनों में से चाहें जिसका द्वार स्वेच्छापूर्वक खोला जा सकता है। यह तथ्य समझ में आ सके तो प्रतीत होगा कि अपना आपा ही कल्प-वृक्ष है जिसकी जिस कामना से उपासना की जाय, उसी के अनुरूप वरदान मिलते चले जायेंगे। अन्य किसी देवता की उपासना भले ही निष्फल चली जाय पर जीवन देवता की, आत्म-निर्माण साधना निश्चित रूप से अभीष्ट सिद्धि देकर ही रहती है।

चेतना के तीन चरण

मनुष्य शरीर अनेक प्रकार के क्रिया-कलाप करता दीखता है। पर शरीर भी जड़ पदार्थों का बना है। उसमें निजी क्षमता नगण्य है। वह भी तभी तक बनी रहती है जब तक कि उसमें प्राण विद्यमान है। प्राण के विलग होते ही शरीर न केवल निःचेष्ट हो जाता है वरन् सड़ने भी लगता है। इससे स्पष्ट है कि शरीर का आधार प्राण पर अवलम्बित है। प्राण की शक्ति शरीर के स्वसंचालित क्रिया-कलापों को गतिशील रखती है। रक्ताभिसरण, श्वास प्रश्वस, चयापचय, निमेष-उन्मेष आदि का क्रम प्राण ही चलाता है। प्राण जीव चेतना का वह भाग है जिसे सचेतन विद्युत की संज्ञा दी जा सकती है।

इसके अतिरिक्त चेतना के दो और भाग हैं—एक विचार और दूसरा भाव। जब तक शरीर प्राण शक्ति से सिंचित रहता है तब तक वे दोनों अपना काम करते रहते हैं। एक स्थिति ऐसी भी आती है जब शरीर को मूर्छा घेर लेती है। रात को सोते समय शरीर तो जीवित रहता है, पर मस्तिष्क निद्राग्रस्त होने से स्थिति अर्धमृत जैसी हो जाती है। शल्य चिकित्सा औषधियों द्वारा भी ऐसी स्थिति उत्पन्न कर देते हैं। इन मूर्च्छित परिस्थितियों को छोड़कर सजग स्थिति में चेतना के महत्वपूर्ण पक्ष काम करते रहते हैं, जिन्हें विचार और भाव के नाम से जाना जाता है। चेतना का प्रमुख पक्ष यही है।

भावनाएँ असाधारण स्थिति की परिस्थितियों के आधार पर उत्पन्न हुए उभार हैं। प्रेम, मिलन, विछोह, क्रोध, भय जैसी असाधारण स्थिति सामने आने पर भी मनुष्य भाव-विभोर होता है और दूसरों को संकटग्रस्त देखकर भी दया-करुणा जैसी भावनाएँ उठती और सेवा सहायता के लिए प्रेरित करती हैं। प्रत्यक्ष दृश्य देखने वाली घटना स्थिति में तो संवेदनाएँ उठती ही हैं। ऐसा भी होता है कि उनकी भाव स्मृति तीव्रतापूर्वक उभरने पर भी विह्वलता की स्थिति आ जाती है। ऐसा संवेदनशील भावुक जनों में ही प्रायः बहुलता से होता है। कुछ निष्ठुर प्रकृति के परमहंस प्रकृति के ऐसे भी होते हैं जो

भावशून्य मनःस्थिति के होते हैं उन्हें केवल अपनी निजी कठिनाई ही दुःखी करती है। दूसरों के ऊपर क्या बीतती है ? इससे उनका कोई लगाव नहीं होता। भावुकता एक शक्ति है, जिसमें सहृदय व्यक्ति असाधारण वेदना अनुभव करता है। उसके आवेश में कभी-कभी स्वयं उद्विग्न हो उठता है। कभी दूसरों की सहायता के लिए अपना बहुत कुछ निछावर कर देता है। इसी को अध्यात्म संवेदनाओं में भक्ति नाम से जाना जाता है। भक्ति की महत्ता बताने वालों ने यहाँ तक कहा है कि उससे भगवान मिलते हैं। वस्तुतः भावुकता की शक्ति असाधारण है। आदर्शवादियों को महान त्याग-बलिदान कर गुजरने की प्रेरणा इसी से मिलती है। निष्ठुर प्रकृति के स्वार्थी एवं संकीर्ण स्तर के होते हैं उन्हें अपने सिवाय और किसी से लगाव नहीं होता।

भावनाओं का उभार शरीर और मन को भाव विभोर कर देता है। यह संवेदनशीलता चरित्रनिष्ठा की रीढ़ है। जिसे दूसरे का कष्ट अपने कष्ट के समान लगता है। वह परपीड़न वाला कोई काम नहीं कर सकता। 'आत्मवत् सर्व भूतेषु' की मनःस्थिति जिनकी भी होती है उन्हें सेवा, सहायता, करुणा, दया को संवेदनाएँ सहज उमंग जाती हैं, उन्हें परपीड़ा अपनी जितनी पीड़ा के समतुल्य लगने लगती है। इस स्तर के लोगों को सन्त कहा गया है। सन्त की व्याखा करते हुए उन्हें नवनीत से भी बढ़कर बताया गया। मक्खन अपने ऊपर ताप का प्रभाव पड़ने से पिघलता है, पर सन्त हृदय व्यक्ति दूसरों का दुःख भी सहन नहीं कर सकते, वे ऐसे अवसरों पर रुदन करते चुप नहीं बैठ जाते वरन् बढ़-चढ़कर सहायता भी करते हैं। सेवा उनका धर्म बन जाता है। वे अपनी चिन्ता कम और दूसरों की अधिक करते हैं। दूसरों की सहायता करते हुए उन्हें अपने निजी लाभ से बढ़कर प्रसन्नता होती है।

प्राण सजीवता का ही नहीं, यह साहसिकता का भी चिह्न है। यह सचेतन विद्युत शक्ति है। इसे जीवट, शौर्य, पराक्रम, स्फूर्ति आदि के रूप में भी देखा जाता है। इससे समूचा व्यक्तित्व प्रभावित होता है। प्रतिभा इसी की बहुलता से निखरती है। यह शरीर और मन को कार्य करने योग्य क्षमता प्रदान करती है। सूक्ष्म साधनों से इन्हें शरीर के इर्द-गिर्द विशेषतया चेहरे और हाथों के आस-पास तेजोवलय के रूप में देखा जा सकता है। प्राणवान व्यक्ति दूसरों को अपने प्रभाव से आच्छादित कर लेते हैं। दुर्बल प्राण दूसरे सामर्थ्यवानों के प्रभाव में आसानी से आ जाते हैं। यह शरीर की जड़ता और आत्मा की चेतना का संयुक्त सम्मिश्रण है। इसी के आधार पर जीवन की गाड़ी गतिशील रहती है। उसके

दुर्बल पड़ जाने से मनुष्य दुर्बल, रुग्ण, निस्तेज, कातर स्तर का हो जाता है। आत्म विश्वास गवाँ बैठता है। परावलम्बी स्वभाव अपना लेता है। इसका दुर्बल शरीर से पलायन होने लगता है। जीर्णता छा जाती है और उसका अभाव हो जाने पर मृत्यु आ धमकती है। प्राण के कारण उमंगें उठती रहती हैं। प्रतिस्पर्धा में उतरने को मन करता है। ऊँचा उठने, आगे बढ़ने की इच्छा शक्ति सजीव हो उठती है। यह प्राण आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, व्रत, संकल्प आदि उपायों से बढ़ाया भी जा सकता है। शरीर की तरह इसकी अभिवृद्धि भी संभव है।

भावना, प्राण प्रतिभा के अतिरिक्त चेतना की तीसरी धारा है—विचारणा। वह आरम्भ में अभिरुचि के क्षेत्र में कल्पना रूप में उभरती है। मन की चंचलता प्रसिद्ध है। मस्तिष्क तंत्र की संरचना ही ऐसी है कि उसमें से निरन्तर तरंगें उठती रहती हैं। इन तरंगों के साथ कोई भूतकालीन स्मृति अथवा भविष्य की सम्भावना का मानसिक चित्र जुड़ जाता है। यदि वह अनायास ही अनिच्छापूर्वक उभरा है तो देर तक न टिकेगा। जल्दी ही समाप्त हो जायगा। पर यदि आकांक्षा, अभिलाषा के आधार पर कल्पना उठी है तो उसके साथ कड़ियाँ जुड़ती जाती हैं और एक कथा कहानी जैसी बन जाती है। मन इसी कल्पना लोक में रमण करता रहता है। यह बच्चों की खिलवाड़ जैसा दृश्य है।

मन के ऊपर अंकुश है—बुद्धि का। बुद्धि यह निरीक्षण-परीक्षण करती रहती है कि कल्पनाओं में से कौन-सी कार्य में आने योग्य है और कौन अव्यावहारिक ? मन की चेतनाओं में से उन्हें कार्यरूप में परिणत किया जा सकता है ? कौन साधनों के, परिस्थितियों के, योग्यताओं के विपरीत है ? असंबद्ध कल्पनाओं को बुद्धि रोकती टोकती रहती है जिन्हें बुद्धि का समर्थन नहीं मिलता वे कल्पनाएँ धुँधली पड़ती जाती हैं और समाप्त हो जाती हैं। जिन्हें बुद्धि की मान्यता मिलती है जो उत्साहवर्धक प्रतीत होती है उनका ताना-बाना बुना जाना आरम्भ हो जाता है। योजनाएँ बनती हैं और सोचा जाता है कि इच्छा पूर्ति के लिए किन-किन विकल्पों को प्रयुक्त किया जा सकता है। बात आगे बढ़ती जाती है और वह समय समीप आ जाता है जब मनोकामनाओं की पूर्ति के लिए बुद्धि संगत प्रयास चल पड़ते हैं और वह व्यवधानों से टकराता हुआ अभीष्ट निर्धारण तक जा पहुँचने के लिए पग-पग पर कल्पना और बुद्धिमत्ता का मिला-जुला योगदान लेना पड़ता है।

विचारों का एक भाग वह है जो अपनी इच्छापूर्ति के लिए निरत रहता है, पर वह एक मात्र मन है। इससे

आगे भी मन तंत्र के कई विभाग हैं। एक ऐसा है, जो सम्पर्क क्षेत्र की दूरी तक विचार करता रहता है। देश की, समाज की, समुदाय की परिस्थितियों के सम्बन्ध में जानकारीयाँ प्राप्त करता है। यह कार्य पत्र-पत्रिकाओं, रेडियो, दूरदर्शन, गोष्ठी-कथन आदि द्वारा विदित होता है। साथ ही उसके कारण-निराकरण, औचित्य-समाधान आदि का स्वरूप भी जानने को मिलता है। विश्वकोष जैसी पुस्तकें भी वैसी जानकारीयाँ उपलब्ध कराती हैं। स्कूली कक्षाओं में भी विभिन्न विषयों के ज्ञान कराये जाते हैं। पुस्तकालयों से भी वह लाभ मिलता है विचारशील, विद्वान, बहुश्रुत बनने का लाभ इन्हीं आधारों के सहारे मिलता है। हर विषय पर निजी कल्पनाएँ करने से भी उसकी गहराई में पहुँचने का अवसर निजी मेधा बुद्धि के सहारे मिलता है। जिसके पास विचार सम्पदा जितनी अधिक है उसे उसी स्तर का मनीषी माना जाता है।

विचारों में एक शक्ति सामर्थ्य भी है। वह दूसरों को कथन, श्रवण, पठन के माध्यम से जानकारीयाँ का विस्तार तो करती ही है। साथ ही सम्पर्क में आने वालों को अपने व्यक्तित्व से प्रभावित भी करती है। हर स्तर के व्यक्ति की अपनी-अपनी विशेषताओं से भरी हुई विद्युत चुम्बक शक्ति होती है जो समीपवर्ती लोगों पर अपना प्रभाव डालती है। सत्संग से किसी को विचारों द्वारा अवगत और प्रभावित किया जाता है। किन्तु ऐसा भी होता है कि प्रतिभावानों की प्रभाव शक्ति अनायास ही दूसरों पर अपनी छाप छोड़ती है। जिन्हें जिस प्रकार के लोगों के साथ रहना पड़ता है वे वैसे ही साँचे में ढलने लगते हैं। बुरे लोगों का जहाँ बहुमत या प्रभाव होता है वहाँ भी यही प्रतिक्रिया होती देखी गई है। यह विचारों का ही चमत्कार है, जिनमें जितनी प्रतिभा होती है वे उतने ही अधिक प्रभावशाली होते हैं। यह प्रभाव उत्तम स्तर का भी हो सकता है और निकृष्ट स्तर का भी। सामान्य लोग उस प्रवाह में बहने लगते हैं। किन्तु साथ ही यह भी देखा गया है कि जिनका व्यक्तित्व सामर्थ्यवान है वे दूसरों के प्रभाव को अस्वीकार कर देते हैं। उन्हें कोई समझा नहीं सकता है। उन्हें बदला भी नहीं जा सकता है। आग्रही हठवादी इसी प्रकार के होते हैं। वे अपने को सबसे बड़ा मानते हैं। अहंकार से उनका स्वभाव भरा होता है। ऐसे लोग अपनी मान्यता को सर्वोपरि ठहराते हैं और दूसरों के अभिमत पर विचार करने तक को तैयार नहीं होते। ऐसे लोगों को मूढ़-मति की संज्ञा दी जाती है। ऐसे जिद्दी पढ़े लिखे लोगों में भी हो सकते हैं और बिना पढ़े में भी। जिनके स्वभाव में लोच होता है वे दूसरों के द्वारा दी गई जानकारीयाँ पर विचार करते हैं और उसमें जितना अंश औचित्यपूर्ण लगता है, उतना ग्रहण कर लेते हैं। कुछ अधिक भावुक या कोमल अथवा सहज विश्वासी

प्रकृति के होते हैं। उन्हें कोई भी बहका सकता है। तर्क और संदेह का अभाव होने से वे किसी के भी फुसलाने से उसी ओर लुढ़क जाते हैं। ठग और प्रपंची ऐसे ही लोगों को अपना शिकार बनाते और उल्टे उल्टे से हजामत बनाते हैं।

विचारों में परिपक्वता काफी चिन्तन, मनन के बाद आती है। इसके लिए पक्ष-विपक्ष के तर्क तथा प्रमाण, उदाहरण ढूँढ़े जाते हैं और उनका तुलनात्मक विवेचन करते हुए इस निष्कर्ष पर पहुँचा जाता है कि कौन-सा पक्ष अधिक वजनदार है। न्यायाधीशों को यही करना पड़ता है। वे वादी और प्रतिवादी के कथनों और प्रस्तुत किये गये प्रमाणों की वास्तविकता, अवास्तविकता का विचार करते हैं और जिस ओर से प्रतिपादन अधिक वजनदार प्रतीत होता है उसी पक्ष में फैसला देते हैं। सामान्य जीवन में भी ऐसी स्थिति बार-बार आती है। जब एक ही प्रसंग पर दो प्रकार के या कई प्रकार के मतभेद होते हैं, विचारक को किसी निष्कर्ष पर पहुँचने से पूर्व उन सभी तथ्यों की गहराई में उतरना पड़ता है जो सामने प्रस्तुत हैं। उनमें जिसमें जितना विश्वस्त और जितना अविश्वस्त होता है उसी के आधार पर अपना मत बनाया और निर्णय किया जाता है। तर्क का आश्रय लिये बिना प्रमाणों की अपेक्षा किये बिना किसी के भी कथन पर जो भरोसा कर लेते हैं वे अक्सर धोखा खाते हैं।

कभी-कभी कुछ अपवाद ऐसे भी देखे जाते हैं जिनमें मानस तंत्र अविकसित रहने पर मूढ़ता छाई रहती है। इसके विपरीत कुछ लोग आरम्भ से ही तीक्ष्ण बुद्धि होते हैं। इन अपवादों को छोड़कर सामान्य जनों में मध्यम स्तर की विचारशीलता होती है। पर उसका विकास किस सीमा तक हो सका, यह इस बात पर निर्भर है कि बुद्धि का उपयोग किस सीमा तक किया गया। यदि कल्पना ही अपनी उड़ानें उड़ती रही तो उसे बचकानापन कहा जायगा। ऐसे लोग वास्तविकता तक नहीं पहुँच पाते और बेपर की उड़ानें उड़ते रहते हैं। यही बात अतिवादियों के सम्बन्ध में भी है। अतिभावुक या अति आदर्शवादी भी व्यावहारिकता की कसौटी पर खरे नहीं उतरते और पग-पग पर चूक करते रहते हैं। व्यावहारिकता ही विचारशीलता की कसौटी है। किसी कथन या उल्लेख को ही सब कुछ नहीं मान बैठना चाहिए वरन् देखना चाहिए कि न्याय औचित्य कहाँ है ? परिस्थितियों के साथ किस प्रतिपादन का ताल-मेल खाता है। इस प्रकार विचार करते रहने पर समयानुसार हर व्यक्ति बुद्धिमान, विचारवान बन सकता है।

चेतना को अन्तर्मुखी बनायें

व्यक्तित्व गठन का तात्पर्य है, अपने समूचे जीवन क्रम को सँवारना। यह तभी सम्भव है जब जिन्दगी के प्रत्येक हिस्से को ध्यान से देखा जाय। कहाँ पर कौन कमी है। इस पर गौर किया जाय। तभी इन कमियों को दूर कर पाना सम्भव बन पड़ेगा।

सामान्यतः हमें अपने दोष दिखाई नहीं पड़ते। हमें अपने चिन्तन के सामने मार्क्स, गाँधी फीके लगते हैं। स्वयं की चरित्र निष्ठा विवेकानन्द, दयानन्द से बढ़कर आँकी जाती है। व्यावहारिक क्रिया-कलापों के सामने राममोहन राय, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर बौने लगते हैं। अपने में कहीं कोई दोष दिखाई नहीं पड़ता। भूले-भटके कोई-कोई कमियाँ दिखाने का प्रयास भी करे तो उसे ईर्ष्या या शत्रु की संज्ञा प्रदान की जाती है। परिणाम यह होता है कि हमारा समूचा व्यक्तित्व भौड़ा बनकर रह जाता है।

अपने दोष देखने की जगह दूसरों की कमियाँ देखने में रस मिलता है। अच्छी से अच्छी चीज में कोई न कोई कमी खटकती है। यहाँ तक कि परमात्मा में दोष निकाल लिया जाता है। अपने शक्ति व समय की खपत इसी में होती रहती है।

परछिद्रान्वेषण की प्रवृत्ति संसार में कहीं सुन्दरता नहीं देखने देती। महापुरुषों, समाज सेवियों, लोकनायकों आदि के दर्शन कराकर उनकी महानता की चर्चा करने पर चित्त खिन्न हो जाता है। यही नहीं मौका पाकर उनके दोष गिनाने शुरू कर देते हैं। उन्हें भी अहंकारी, स्वार्थी आदि अवगुणों से ग्रसित कहकर दोषी सिद्ध कर दिया जाता है।

सृष्टि में गुण हैं और दोष भी। हर स्थान, हर पदार्थ हर व्यक्ति में किसी न किसी मात्रा में ये दोनों रहते हैं। सही कहा जाय तो दोनों की ही अपने-अपने स्थान पर उपयोगिता भी है। जो एक स्थान पर गुण है वही दूसरे स्थान पर दोष हो सकता है। संसार में दुग्ध, फल, मेवा, जैसी पोषक चीजें हैं तो जहर जैसी मारक भी। प्रत्यक्ष में पोषक वस्तुएँ गुणवान लगती हैं जहर जैसी चीजों में दोष ही दोष दिखाई पड़ते हैं। किन्तु वास्तविकता इससे अलग है। अधिक खा लेने पर पोषक मारक में बदल जाती है और संखिया आदि जहरीली चीजों को औषधि के रूप में प्रयुक्त कर किसी की जान भी बचाई जा सकती है। पर यह काम तभी सम्भव है जब उपयोग करने वाला उनको विवेक सम्मत ढंग से प्रयोग में लाये।

संसार में शायद ही ऐसा कोई प्रमाण मिले कि किसी व्यक्ति ने दूषित दृष्टिकोण और पर-निन्दा की वृत्ति को पाले रखकर जीवन में कोई सफलता पाई हो। विश्व का इतिहास इस बात की अनेक गवाहियों से भरा पड़ा है कि घोर निन्दा, आलोचना और विरोध होने पर भी जिन सत्पुरुषों ने किसी की निन्दा नहीं की और गुणग्राहिका वृत्ति में विश्वास बनाये रखा, उन्होंने अपने साथ दूसरों का भी कल्याण किया।

आवश्यकता बाहर के दोषों को न देखकर अपने में निहित कमियों-बुराइयों को निहारने की है। मनोविज्ञान ने इस प्रक्रिया को आत्म-निरीक्षण का नाम दिया है। दर्शन की भाषा में यह महत्वपूर्ण विशेषता है जो केवल मानव को मिली है मनुष्य आत्म चेतन है, जबकि पशु सिर्फ चेतन। इसका मतलब है कि आदमी के पास वह सामर्थ्य है, जिसके द्वारा अपने को जान सकता है। स्वयं अपने दोष-दुर्गुणों को जानकर उन्हें दूर कर सकता है। जबकि पशु इन्द्रिय संवेदनों द्वारा बाहरी चीजों के बारे में तो जान सकते हैं पर स्वयं को जानना उनके बस की बात नहीं है।

इस विशिष्ट सामर्थ्य की गरिमा तभी है, जब उसका उपयोग कर स्वयं को निहारा जाय। दोष-दुर्गुणों, विकृतियों को देख समझकर उन्हें उखाड़ फेंका जाय।

मनोवैज्ञानिक जे० एस० लैशले ने अपने शोध निबन्ध “द विहैविअरिस्टिक इण्टरप्रिटेशन ऑफ कांशसनेस” में इस आत्म-निरीक्षण की प्रक्रिया को दो चरणों में समझा है। पहला अपने व्यावहारिक क्रियाकलापों का अध्ययन। इसको पहले नम्बर पर रखने का कारण यह है कि हमारी दृष्टि स्वाभाविक बहिर्मुखी है। शुरू-शुरू में यह सम्भव नहीं कि अन्दर गोता लगाकर कमियाँ टटोली जायँ। यदि नित्यप्रति व्यावहारिक गतिविधियों का बारीकी से अध्ययन किया जाय तो मालूम होगा कि स्वयं द्वारा किये गये क्रियाकलापों में लगभग ३०-४० प्रतिशत ऐसे बचकाने हैं। जो स्वयं की गरिमा के अनुकूल नहीं हैं।

इनको सम्हालने के लिए स्वयं के चिन्तन को निहारना होगा। यह प्रक्रिया का दूसरा चरण है। कठिन होने के बावजूद इसकी जरूरत है। बिना इसके काम नहीं चलता। व्यवहार के बीज चिन्तन में मौजूद रहते हैं। अपने सोच-विचार के तौर-तरीके पर ध्यान देना होगा। जैसे-जैसे दृष्टि अन्तर्मुखी होगी, पता चलेगा कि हमारा बहुत सारा

समय निरुपयोगी चीजों को सोचने में चला जाता है। कभी किसी की बुराई सोचते हैं। कभी बिना मतलब की कल्पनाएँ करते हैं। इनमें कोई तारतम्य नहीं। मानसिक उर्जा की यों ही बरबादी होती रहती है। दूसरों की बुराइयाँ उन्हें परेशान करने के तौर-तरीके सोचने की जगह चिन्तन को सुसम्बद्ध करना होगा।

मनःशास्त्री आर० अनहिल का “द क्रिएटिव प्रॉसेस” में मानना है कि आत्मनिरीक्षण का क्रम तब तक अधूरा है, जब तक इसके साथ आत्मसुधार की विधि न जुड़ी हो। इसका मतलब है ईर्ष्या, डाह, द्वेष आदि तमाम दोषों को हटाकर इसमें सत्त्ववृत्तियों की पूरी फसल उगाना। यह काम ठीक किसान जैसा है। वह खेत में बुवाई के पहले से खरपतवार निकालना शुरू करता है और फसल उग जाने के बाद भी अपना यह निराई का कार्यक्रम नहीं छोड़ता। प्रक्रिया के इस पहलू में लगभग ऐसा ही करना होता है। व्यावहारिक जीवनक्रम में दया, करुणा, सेवा, सहृदयता का किस स्तर पर कैसे समावेश हो। इसके लिए चिन्तन के स्तर पर पूरी योजना तैयार करनी होगी। प्रयत्नपूर्वक इन्हें व्यवहार में उतारने के प्रयास करने होंगे।

जैसे-जैसे इनका अभ्यास क्रम शुरू होगा अपने दोष साफ-साफ दिखाई पड़ने लगेंगे। स्थिति बिल्कुल बदल जायेगी। जहाँ पहले दूसरों के दोष दिखाई देते थे और अपने गुण। वहाँ अब दूसरों में गुण दिखाई देने लगेंगे और अपने में दोष।

मन चतुर किसान की तरह इसी में व्यस्त रहेगा कि अपने अवगुण निकालकर कैसे बाहर करें और दूसरों में जो गुण झलक रहे हैं, उन्हें अपने में किस तरह आरोपित किया जाय। महर्षि दत्तात्रेय ने यही क्रम अपनाया था। उन्होंने जब अपनी दोष दृष्टि त्यागकर श्रेष्ठता ढूँढ़कर अपने में रोपित करने की वृत्ति जगाई तो तब उन्हें चील, कुत्ते, मकड़ी, मछली, भृंग जैसे तुच्छ प्राणी भी गुणों के भण्डार दीखने लगे। यही नहीं उन्होंने इन्हें गुरु के स्थान पर सुशोभित किया। उनसे शिक्षा ग्रहण करते गये। हम चाहें तो चोरों से भी सावधानी, सतर्कता आदि अनेक गुणों को सीख सकते हैं। अपने दोष और दूसरों के गुण तलाशने को यदि हम ठीक-ठीक अपना लें तो न केवल अपना व्यक्तित्व सँवरेगा बल्कि सारी दुनिया हमारे लिए उपकार, सद्भावना का उपहार लिये खड़ी दिखाई देगी। उपयुक्त यही है कि अपनी सारी चेतना को आत्मसुधार की प्रक्रिया में केन्द्रित किया जाय।

चेतना का विकास संवेदना के स्तर पर निर्भर

चेतना का क्रमिक विकास हलचल, इच्छा एवं भावना के रूप में होता है। जीवन की स्वल्प मात्रा तो जड़ कहे जाने वाले पदार्थों में भी होती है। प्रकृति के दबाव से कुछ न कुछ हलचल तो वे भी करते रहते हैं। उत्पादन, अभिवर्धन और विघटन की दिशा में उनके क्रिया-कलाप भी चलते रहते हैं। इतने पर भी उन्हें जड़ तथा पिछड़ी स्थिति का कहा-समझा जाता है। यह जीव चेतना की प्रारम्भिक अथवा अनगढ़ स्थिति है।

इससे आगे इच्छा शक्ति उभरती है। वह अधिक विकसित होने अधिक सुविधाजनक स्थिति में पहुँचने की ललक से प्रेरित होती है। इसी आधार पर जीवधारियों का क्रमिक विकास भी बन पड़ा है। कृमि-कीटकों की गई-गुजरी स्थिति से आगे बढ़ते-बढ़ते जीव पशु स्तर का बन पड़ा है और डार्विन के कथनानुसार मनुष्य बन्दर का ही विकसित रूप है। इसी उपक्रम को मनुष्य की स्थिति के साथ जोड़ा जाय तो उसे भी नर-कीटक-नर-पशु कह सकते हैं जिसे भूख, वासना, ऋतु प्रभाव जैसे दबावों से प्रेरित होने पर ही कुछ अतिरिक्त करना और अतिरिक्त सोचना पड़ता है। आकांक्षाओं की पूर्ति ही उसे कुछ सोचने करने के लिए बाधित करती है, किन्तु सीमित उतनी ही परिधि में रहती है जिसमें कि संकीर्ण स्वार्थपरता का साधन जुटता रहे।

अनगढ़ों को शैशव स्तर का कहा जा सकता है जो अधिकांश समय सोते, उनींदे पड़े रहने में ही बिताते हैं। आलसी-प्रमादी प्रायः इसी स्थिति में रहते हैं। चिन्तन का विकास न होने के कारण वे मात्र उसका अनुकरण भर कर पाते हैं, जो सामने दृष्टिगोचर होती है। उचित-अनुचित का भेद और मर्यादा-वर्जना का अन्तर भी वे नहीं कर पाते, इसलिए उनके सामने प्रचलन ही प्रमुख होता है। विवेक की अविकसित स्थिति में उन्हें चतुर लोग आसानी से बहकाने, फुसलाने और दबाने-दबोचने में भी सफल होते रहते हैं। वे अपने को नियति के बन्धनों से जकड़े हुए ही मानते हैं। यथास्थिति बनाये रहने में ही उन्हें संतोष करना पड़ता है। अन्धी भेड़ें एक के पीछे एक चलती ही जाती हैं। भले ही आगे चलकर उन्हें किसी खाई-खन्दक में ही क्यों न गिरना पड़े।

बचपन के बाद किशोरवस्था आती है। बच्चे अबोध रहते और शरीरगत आवश्यकताओं के लिए ही हाथ-पैर पीटते हैं। किशोरावस्था की स्थिति इससे भिन्न है।

उसमें जोश तो बहुत रहता है पर होश की कमी ही पाई जाती है। इस स्तर की मानसिकता वाले व्यक्ति महत्वाकांक्षाएँ तो सँजोये रहते हैं पर यह नहीं समझ पाते कि उनकी पूर्ति का सही मार्ग क्या हो सकता है ? आवेग कई बार उन्हें भटका भी देता है, कुमार्य तक अपनाने तक के लिए भड़का देता है। यही कारण है कि बच्चों के पालन-पोषण की अपेक्षा किशोरों को नियंत्रित करना और सुसंस्कृत बनाना काफी कठिन पड़ता है।

इसके आगे की स्थिति तरुण्य है, जिसमें प्रौढ़ता-परिपक्वता का समावेश होता चलता है साथ ही समझदारी का इतना अभिवर्धन भी होता है कि भले-बुरे का अन्तर होता रह सके। अनुभव के आधार पर यह अनुमान लग सके कि किये जा रहे कृत्यों का भावी परिणाम क्या हो सकता है। उसी आधार पर वे अपना नियमन भी करते हैं और ऐसे कदम भी उठाते हैं जो आरंभ में भले ही कष्टसाध्य लगें, पर भविष्य में सुखद-संभावनाएँ विनिर्मित कर सकें। किसान, विद्यार्थी, व्यवसायी, कलाकार जैसे समुन्नत बनने वाले लोग इसी रीति-नीति को अपनाते हैं। वे विश्वास करते हैं कि बोने-सींचने के उपरान्त ही वैभव काटा-बटोरा जा सकता है।

नासमझी से लेकर समझदार बनने तक की प्रगति में प्रायः यही मंजिलें पार करनी पड़ती हैं। शिशु स्तर के वे हैं, जिन्हें शरीर पर पड़ने वाली प्रकृति एवं परिस्थितियों के दबाव ही कुछ करने के लिए उकसाते हैं, अन्यथा उन्हें अपनी मर्जी से किसी प्रकार समय गुजारने के अतिरिक्त और कुछ सोचते-करते बन ही नहीं पड़ता। इसे आदिम परम्परा भी कह सकते हैं, जिसे इस सभ्यताभिमान युग में भी असंख्यों पर छाया हुआ देखा जा सकता है।

आज का किशोर समुदाय वह है जिसे सुख-सुविधाओं को हस्तगत करने की ललक असाधारण रूप से आकुल-व्याकुल करती है। वे यह तो सोच नहीं पाते कि उसके लिए योग्यता, क्षमता, पात्रता और पुरुषार्थ-परायणता अपनाते हुए क्रमिक विकास का क्रम धैर्यपूर्वक अपनाना चाहिए। उद्यान लगाकर माली की तरह धैर्य रखते हुए समयानुसार सुस्थिर प्रगति का प्रतिफल उपलब्ध करना चाहिए। किन्तु बहुधा वे दूरदर्शिता और प्रगति परम्परा के अनुशासन को तोड़-फोड़ करके ऊँची छलाँगें लगाते हैं। तात्कालिक लाभ के लिए इतने अधीर हो जाते हैं कि उन्हें अनाचार अपनाने में भी कोई हिचक-झिझक नहीं लगती।

परिपक्वता का लक्षण है-भाव संवेदनाओं का उभार। आत्म-संयम और दूसरों को अनुदान प्रस्तुत करने का संतजनों जैसा अभीष्ट उत्साह। पेड़ पर फल जब पक जाते हैं तो वे नीचे अनायास ही टपक पड़ते हैं ताकि बालक और दुर्बल भी उनका लाभ सरलतापूर्वक उठा सकें। बादलों के पास जब प्रचुर जल सम्पदा जुट जाती है तो वे उसकी सार्थकता इसी में समझते हैं कि बरस कर प्यास बुझाने और हरीतिमा उगाने की रीति-नीति अपनाई जाय। मोर अपने लम्बे पंखों को समय-समय पर झाड़ते रहते हैं ताकि उनसे शोभा-सज्जा के कई प्रयोजन पूरे किये जा सकें। मनुष्य समुदाय में भी साधु-ब्राह्मण, वानप्रस्थ, परिव्राजक अपनी क्षमता का अधिकांश भाग लोकमंगल के लिए समर्पित करने में ही अपने को कृत कृत्य हुआ अनुभव करते हैं। उनके कार्यक्रमों में बाल विकास और किशोरों के प्रशिक्षण की प्रक्रिया की प्रखरता रहती है। इसी के लिए वे गुरुकुल चलाने और तीर्थ यात्रा जैसे धर्म प्रचार के परिभ्रमण के लिए निकलते हैं।

विक्रमसक्रम, हलचलें, समझदारी की मंजिलें पार करते हुए भाव संवेदना के उच्च शिखर पर पहुँचाता है। यही चेतना के परिष्कार का स्वाभाविक क्रम और सगहनीय सदुपयोग है। संवेदनशीलों को ही महामानव कहते हैं क्योंकि विकसित करुणा का उपयोग गिरों को उठाने और उठों को शालीनता अपनाने के लिए बाधित करने पर ही संभव होता है।

कहाँ उगे योग का वट वृक्ष ?

जिन्दगी अनुभूतियों का पिटारा है। कड़वे-कसैले, मुदु-सुस्वादु सभी तरह की अनुभूतियों से भरे क्षण हरेक की जिन्दगी में आते हैं अथवा यों कहें कि जीवन इन मनोरम और डरावनी पगडंडियों से गुजरता है या उसे गुजरने के लिए मजबूर होना पड़ता है। एक की हमें अभिलाषा रहती है, दूसरे से हम कतराना चाहते हैं। एक प्रिय लगता है दूसरा अप्रिय। एक को बिना देखें हम चुनना चाहते हैं, दूसरे को देखकर भी आँखें मीच ली जाती हैं। सुख की राहों पर चलते हुए सोचते हैं जीवन ठहर जाय। विषाद के क्षण भी युगों का भारी-भरकम बोझ लगते हैं। लाख तिरस्कार-अनपेक्षा, उपेक्षा के बावजूद ये क्षण हम में से प्रत्येक की नियति बनकर आ ही जाते हैं। क्यों ? क्या इनकी भी कुछ उपयोगिता है ? या सृष्टि के कुशल सृजेता से यह अकुशल भूल रह गई।

सवाल बड़ा अहम् है और कौतुकपूर्ण भी। विषाद के क्षणों की उपयोगिता सुनने से पहले जी चाहेगा,

कान बन्द कर लें, पाँव उधर बढ़ने से स्वतः इन्कार कर बैठेंगे। कहीं यह मानसिकता हमारी अपनी भ्रान्ति तो नहीं ! अन्यथा जिसके द्वारा ऐसी अनुपमेय सृष्टि गढ़ी गई, जहाँ प्रत्येक वस्तु-घटना अपने उचित स्थान पर ठीक और उपयोगी है, वहाँ विषाद के बारे में बिना सोचे-समझे निर्णय ले डालना ठीक नहीं मालूम पड़ता है।

प्रीतिकर क्षणों में हमारा अपना जीविक्रम बँधे-बँधाए ढर्रे में चलता रहता है। बहुत कुछ अर्थों में हम बेहोशी जैसा समय गुजारते हैं। क्रियाशीलता और बेहोशी में विरोधाभास लगता जरूर है पर बेहोश आदमी भी क्रियाशील रहता है। दिल की घड़कन, फेफड़ों की साँय-साँय, रगों में खून की भाग-दौड़ यह क्रियाशीलता नहीं तो और क्या है ? क्रिया के घेरे के उठने-बैठने, खाने-पीने, सोने तक तो सीमित नहीं किया जा सकता। मनोवैज्ञानिकों ने अपनी नई-नई प्रायोगिक छान-बीन के द्वारा यह सूचित किया है कि इन्सान की क्रियाएँ दो तरह की मानसिकता की उपज हैं। एक जिसे अचेतन मन कहते हैं, अर्थात् संस्कार, आदतों, यादों, पूर्वाभ्यासों के जखीरे के संकेतों द्वारा। दूसरा सचेतन मन, जो सोचने-समझने, विवेकपूर्ण निर्णय लेकर काम करने में भलाई समझता है।

पहले के द्वारा संचालित क्रियाओं में हमें सोचने की जरूरत नहीं पड़ती। उठने-बैठने, खाने-सोने में भला सोचने की क्या जरूरत, आदत पड़ गई है, सब निभ जाता है। दिल-गुर्दे, फेफड़े भी तो इस तरह आदत के मुताबिक ज़िम्मेदारी निभाते रहते हैं। सोच-विचार का क्या काम ? जहाँ सोच-विचार न हो, उचित-अनुचित का विवेक न रह जाय, उस दशा का नाम बेहोशी ही तो है। बेहोश आदमी कैसे बैठा है, पड़ा है, अर्धनग्न अथवा निर्वसन, उसे इसकी कोई चिन्ता नहीं। आखिर वह बेहोश जो ठहरा।

मनोवेत्ता एच० जी० अर्नहोम ने किताब लिखी है “कंशस लिविंग”। इस पुस्तक में उसने लम्बे-चौड़े सर्वेक्षण के बाद सांख्यिकीय आकलन प्रस्तुत किए हैं। उसके अनुसार बहुसंख्यक समुदाय ऐसा है जो सचेतन मन कम से कम इस्तेमाल करता है। जिन में जीवन के प्रति स्वयं की जागरूकता है उनकी संख्या गिनी-चुनी है। अपनी आदतों के मुताबिक एक ढर्रे जैसे जीवन-जीने वाले इस बहुसंख्यक समुदाय को नाम दिया है—बेहोश दुनिया। जब कभी यह बेहोशी अपनी सीमा को तोड़ती हुई ज्यादा गहरी होने लगती है तब आते हैं, विषाद के क्षण। इनका आगमन हमारी चेतना को झकझोरता है। हमारे आन्तरिक पौरुष को चैतन्य करने की कोशिश करता है। इस

कोशिश से हम कितना फायदा उठाते हैं। यह हमारी अपनी स्थिति पर निर्भर है। घर-परिवार में मित्रों के साथ बैठकर आमोद मनाया जा रहा हो तो अपना तक ध्यान नहीं रहता। सब कुछ अनजाने में यन्त्र की तरह चलता रहता है। किन्तु वहीं यदि हिंस्र पशुओं से भरे जंगल से गुजरना पड़े तो अनजाने भय से मन संतप्त रहता है। यह विषाद-पूर्ण संतप्तता निरन्तर चौकन्ना बनाए रखती है। सब ओर जाँच-परखकर एक-एक कदम सोच समझकर रखे जाते हैं।

विषाद की स्थिति आरम्भिक विचारशीलता की उपज है। जहाँ बिल्कुल विचार न हो अथवा सँवरे हुए परिपक्व विचार हों, वहाँ विषाद नहीं होगा। पशु-विषाद ग्रस्त नहीं होता क्योंकि वहाँ विचार नहीं है। मनुष्य राह है, पशु और देवता के बीच की। यहाँ विचार है, विषाद है और विषाद को पार करने की तकनीकें भी। पश्चिम में एक विचारक हुआ है जे बर्टलेट। उसने एक पुस्तक लिखी है। “डायमेशन ऑफ मैन”। बर्टलेट अपने इस चिन्तन कोश में कहता है—मनुष्य सेतु है, पशु और देवता के बीच का। इस सेतु को पार करने का शुल्क है विषाद। इससे जूझकर इससे उबरा जा सकता है। पलायन करने वाले फिर पशुता के कुएँ में जा गिरेगें। आज का आदमी विषादग्रस्तता से उबरने की तकनीक भुलाकर पशुता की ओर मुड़ चला है। वह नशे का सहारा लेकर, कामुकता में डूबकर पशु की तरफ जाने को आतुर है। पशु की गहरी जड़ता में उसे विषाद की कोई अनुभूति नहीं। विषाद और पीड़ा को प्रायः एक समझने की भूल की जाती है। किन्तु इन दोनों में उतना ही अन्तर है जितना शरीर और मन में। पीड़ा पशु भी अनुभव करते हैं। पर विषाद का अनुभव उन्हीं को होता है जिनका मन सक्रिय और सचेतन है। जिनमें परिस्थितियों का विश्लेषण करने की क्षमता है। पीड़ा इसका कारण हो सकती है, पर इसके अलावा ऐसे अनेकों कारण हैं जब हमें किसी तरह के शारीरिक कष्ट के बिना शोक-विह्वल होना पड़े। संवेदनाजन्य विचारशीलता की शुरुआत इस अनुभूति को उपजाती है।

मानव मन के जानकारों ने इस स्थिति का विवेचन किया है। मनोवैज्ञानिक आर० हाइमन ने “क्रिएटिविटी एण्ड प्रिपेयर्ड माइन्ड” में बताया है, यद्यपि प्रारम्भिक विचारशील मानसिकता विषादग्रस्त होगी किन्तु विचारों को उद्बलित करने वाली परिस्थितियों में अनश्चिन्तात्मकता तथा स्वयं के ऊपर अविश्वास को वे प्रधान कारण मानते हैं। जिस किसी परिस्थिति का सामना होने पर ये दो कारण सामने आते हैं, इस मनोदशा का बोझ उठाना पड़ता है।

समाज के वर्तमान स्वरूप को परखने पर बहुसंख्यक व्यक्तियों की मनोदशा इस चहारदीवारी में कैद देखी जा सकती है यहाँ तक कि चिन्तकों में अस्तित्ववादियों का पूरा कुनबा ही विषादग्रस्त है। सार्त्र अनामुनो-जेस्पर, हाइडेगर पश्चिम के जो भी अस्तित्ववादी विचारक हैं इसी मनःस्थिति में हैं। यहाँ सवाल उपजता है कि लगातार ये विषाद के अवसर क्यों ? यदि यह हमारी चेतना को झकझोरता है, उसकी बेहोशी तोड़कर सोचने-समझने के लिए मजबूर करता है, तो हमारी यात्रा यहाँ से चलकर एक नव जीवन की शुरुआत तक होनी चाहिए, घटित होनी चाहिए—एक आत्म क्रान्ति। यदि यह आत्मक्रान्ति घटित होते नहीं दीख रही, तब हमारी विचार प्रणाली में कहीं-कहीं जरूर भारी भरकम भूल है। अवश्य कहीं-कहीं हमारा विचारतन्त्र दोष ग्रस्त है।

यूनानी कथाकारों ने अपनी कथाओं में इस दोषग्रस्त को स्पष्ट किया है। ऐसी ही एक कथा पर कामू ने एक ग्रन्थ लिखा है “द मिथ ऑफ सिसिफस”। सिसिफस को सजा दी है, देवताओं ने कि वह पत्थर को पहाड़ तक खींच ले जाए और सजा का दूसरा हिस्सा यह है कि जैसे ही वह शिखर पर पहुँचेगा, वैसे ही पत्थर उसके हाथ से लुढ़क जाएगा। फिर से वह नीचे जाए और पत्थर खींचे और चोटी तक जाए फिर यही होगा, फिर-फिर यही होता रहेगा। कथा का उल्लेख करते हुए कामू कहता है। हम सिसिफस हैं, जो अपने विचारों के दोष से विषादग्रस्त हैं। कहानी अलग-अलग हो सकती है। पहाड़ अलग-अलग हो सकते हैं, लेकिन सिसिफस हम सब हैं, जो मुनष्यता के सेतु को पार कर देवत्व की ओर नहीं बढ़ रहे। अनेकानेक परिस्थितियों की छान-बीन करने वाले हम सब उनका स्वयं की मनःस्थिति के सापेक्ष विश्लेषण करने में असमर्थ रहते हैं। कामू के अनुसार परिवर्तनशील परिस्थितियों का निर्माण इसीलिए हुआ कि हमारी मनःस्थिति का प्रत्येक पहलू-तराश कर, खराद कर चमकदार बनाया जा सके।

पर दोषपूर्ण विचार प्रणाली ऐसा करने कहाँ देती है ? यही कारण है विषाद की उपयोगिता हमारे अपने जीवन में सिद्ध नहीं हो पाती। अनेकों अवसर आ चुकने के बावजूद आज भी हमें पहले की दशा में, पहले की तरह पछताने, हाथ मलने, सिर घुमने के अलावा और क्या मिला है ? हमारी विचार प्रणाली का प्रधान दोष यह है कि हम प्रत्येक अनुभूति का कारण बाहर तलाशते हैं। इस दूँढ़-खोज के बाद उसमें फेर-बदल करने की कोशिश करते हैं। वह प्रक्रिया पूरी तरह गलत तो नहीं पर त्रुटिपूर्ण जरूर है। अनुभूति सिर्फ बाह्य दशा पर निर्भर नहीं होती। यह कैसी और कितनी क्यों न

हो ? पदार्थ का अस्तित्व होते हुए भी इन्द्रिय संवेदना के बिना उसका अनुभव नहीं हो सकता और मन के बिना अनुभव पर विचार कर सकना सम्भव नहीं। मन की वकीली जिरह का तब तक कोई समाधान नहीं जब तक बुद्धि कुशल न्यायाधीश की तरह निर्णय न करे। यानि कि बात गहरी है पदार्थ तक सीमित नहीं और भी अनेकों चीजें हैं जो छान-बीन के योग्य हैं।

यह छान-बीन यदि की जा सके तो आश्चर्यजनक तथ्य हाथ लगेंगे। तब पता चल सकेगा दोषी बेचारे पदार्थ, परिस्थिति नहीं हम स्वयं हैं। इनमें यदि कहीं कोई दोष है, भी तो बहुत मामूली क्योंकि ये तो लम्बी शृंखला की एक कड़ी भर हैं। एक सुदीर्घ प्रक्रिया के घटक मात्र हैं और सर्वविदित तथ्य है कि मात्र एक घटक से प्रक्रिया की समग्र छान-बीन नहीं होती है। जहाँ इस छान-बीन की समग्रता हमारे जीवन में शुरू होती है, घटित होने लगती है एक आत्मक्रान्ति। विषाद के क्षण-सीखने के अवसर बनने लगते हैं।

गीताकार के अनुसार अर्जुन की जीवनव्यापी क्रान्ति की शुरूआत ऐसे ही अलभ्य अवसर से हुई। इसी कारण प्रथम अध्याय का नामकरण ही विषादयोग कर दिया। प्रकारान्तर से अन्य योग इसी से निकले। विषाद गीता की ज्ञान गंगा का गोमुख सिद्ध हुआ। स्थिति पर मनन करने से पता चलता है कि अर्जुन को कोई शरीर कष्ट न था। कष्ट था मानसिक कारण से बनी सामने आयी परिस्थिति। उसने भी पहले बाह्य परिस्थिति का विवेचन करके निर्णय लिया भाग चलो। पलायन वाद का जामा सिर्फ इसलिए ओढ़ा गया क्योंकि विचारप्रणाली दोषपूर्ण थी। भगवान गुरु ने इसे सुधारा "आत्मनं विद्धि" उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्" अर्थात् विचार न कर पाने के दोष स्वयं की सत्ता को निरन्तर अवसाद में मत डालो। तथ्य समझ में आने पर घटित हुई एक आत्मक्रान्ति। जिसके हाथ गांडीव का बोझ नहीं सँभाल पर रहे थे। जो खड़े होने में असमर्थ हो रहा था। उसी की वीरतापूर्ण हुँकार ने युगक्रान्ति कर डाली। धरती पर स्वर्गिकता मुसकराने लगी।

इस आत्मक्रान्ति के अनेक अवसर हमने भी पाए हैं, पा रहे हैं, पाएँगे। यदि इन महत्वपूर्ण अवसरों को पहचानना सीख जाएँ। स्वयं के मन को, दोषों को समझ सकें, इनका निवारण कर सकें। मनःस्थिति बदले तो परिस्थिति बदले का सूत्र धारण कर पाएँ तो हमारे जीवन में भी विषाद योग हो जाएगा। विषाद से संतप्त मनोभूमि से उगा योग का यह वट वृक्ष स्वयं के साथ अनेकों को अपनी शीतलता से त्राण दिलाएगा। अनुभूतियों का पिटारा बनी जिन्दगी में यह एक ऐसी चिरस्थायी अनुभूति डाल

जाएगा, जिसको पाकर न केवल जीवन मुसकरायेगा बल्कि पार्थ की तरह भगवान के यन्त्र बनकर अनेकों को खोई मुसकान दे सकेंगे।

व्यक्तित्व परिष्कार का मूलभूत आधार

शारीरिक एवं मानसिक दृष्टि से संयमित एवं सन्तुलित व्यक्तित्व ही सुखी एवम् सफल जीवन का आधार बनता है। कार्ल गुस्तेव, जुंग आदि आधुनिक मनोवैज्ञानिक इसी को "मैच्योर पर्सनालिटी" कहते हैं। इसको परिभाषित करते हुए इन मनःशास्त्रियों का मानना है कि चिन्तन की दृष्टि से प्रौढ़ और स्वस्थ व्यक्तित्व उसी को माना जाना चाहिए जो समस्त परिस्थितियों में शान्त होकर कार्य करे। इस तरह ऐसा व्यक्ति भली प्रकार समंजित होता है और उसमें भावात्मक तथा सामाजिक परिपक्वता होती है।

व्यक्तित्व का गठन विचारों पर निर्भर है। चिन्तन मन को ही नहीं शरीर को भी प्रभावित करता है। मनोकायिक गड़बड़ियाँ चिन्तन की गिरावट का ही परिणाम हैं। इस बात को प्रायः सभी मनोवैज्ञानिक एकमत से स्वीकार करते हैं। चिन्तन की उत्कृष्टता को अपनाने तथा उसे व्यावहारिक जगत में उतारने से ही भावात्मक तथा सामाजिक समंजन प्राप्त हो सकना सम्भव है।

इस प्रकार के समंजन की सरल किन्तु सक्षम प्रक्रिया बता पाने में आधुनिक मनःशास्त्री असमर्थ पाये जाते हैं। इस विषय पर वे आपसी खींचतान के अतिरिक्त कुछ उपादेय दे पाने में अक्षम ही दिखाई देते हैं। मनोविज्ञान की जाह्नवी का गोमुख सदृश उद्गम स्थल उपनिषद् है। इनमें विशेषतया श्वेताश्वर उपनिषद् में ऋषियों ने इस प्रकार के भावात्मक एवम् सामाजिक समंजन स्थापित करने राग-द्वेष आदि विरोधी भावों से ऊपर उठने हेतु एक पूर्णतया सक्षम सशक्त प्रक्रिया उद्घृत की है जिसे 'उपासना' कहते हैं।

निःसन्देह उपासना श्रेष्ठ चिन्तन एवं उत्कृष्ट व्यक्तित्व के निर्माण का सशक्त माध्यम है। मन की बनावट कुछ ऐसी है, वह चिन्तन के लिए आधार दृढ़ता है। जैसा माध्यम होगा उसी स्तर का चिन्तन चल पड़ेगा। तदनुरूप क्रिया-कलाप होंगे। निम्न स्तरीय चिन्तन वाले व्यक्ति के क्रिया-कलाप भी घटिया होना स्वाभाविक है। ऐसा व्यक्ति अपने जैसे दुर्गचारी-अनाचारी व्यक्ति विनिर्मित करने में ही सहायक सिद्ध होगा, जबकि उच्चस्तरीय चिन्तन करने वाले सन्त-मनीषी महात्माओं के चिन्तन के अनुरूप उनके क्रिया-कलाप भी उत्कृष्ट कोटि के होते हैं। तदनुरूप उनके सान्निध्य में रहने वाले व्यक्तियों का

१.९८ चेतन, अचेतन एवं सुपर चेतन मन

व्यक्तित्व भी उसी सौंचे में ढलकर सुघड़ स्वरूप प्राप्त करता है।

वर्तमान समय में श्रेष्ठ व्यक्तित्व सम्पन्न व्यक्तियों का अभाव है। बहुलता हेय, गण-गुजरों की है। इनसे सामाजिक समंजन की उपेक्षा करना एक विडम्बना है। इन परिस्थितियों में समस्या यह खड़ी होती है कि मानवी व्यक्तित्व को श्रेष्ठ कैसे बनाया जाय ? विचार करने पर एक ही रास्ता दिखाई पड़ता है 'उपासना का अवलम्बन'।

उपासना से जुड़ी आदर्शवादी मान्यताएँ एवं प्रेरणाएँ ही चिन्तन को श्रेष्ठ एवं व्यक्तित्व को उत्कृष्ट बना सकने में समर्थ हो सकती हैं। उपासना की समग्रता एवं उसके मनोवैज्ञानिक प्रभावों को भली-भाँति समझा जा सके तो व्यक्तित्व निर्माण का सबल आधार मिल सकता है। उपासना का लक्ष्य है, व्यक्तित्व का परिष्कार। इसके निर्धारण से उससे जुड़े आदर्शों एवम् उच्चस्तरीय सिद्धान्तों द्वारा उपासक को श्रेष्ठ मार्ग पर चलने की प्रेरणा मिलती है। उपास्य में तन्मय होने का अभिप्राय है, उच्चस्तरीय आदर्शों एवं सिद्धान्तों में लीन हो जाना और उनके अनुरूप आचरण करना। उपासना द्वारा निर्माण की यह मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया चलती रहती है। इसमें तन्मयता की पराकाष्ठा उपास्य और उपासक के बीच विभेद को समाप्त कर देती है। द्वैत से उठकर अद्वैत की स्थिति हो जाती है। परमहंस रामकृष्ण देव का सर्वत्र काली का दर्शन करना, महाप्रभु चैतन्य का कृष्ण से एकाकार हो जाना, स्वामी रामतीर्थ का ब्रह्मभाव में प्रतिष्ठित हो अपने अस्तित्व को भूल जाना, उपासना की तन्मयता एवम् उसकी प्रतिक्रियाओं का प्रभाव है। यह असामान्य स्थिति न भी हो तो भी उपासक के विचारों का परिशोधन, परिष्कृतीकरण होता जाता है। भाव-संवदेनाओं में आदर्शवादिता जुड़ने लगती है।

उपासना निराकार की करें या साकार की। इष्ट निर्धारण क्या है ? यह व्यक्तिगत अभिरुचि एवम् मनःस्थिति के ऊपर निर्भर करता है। चिन्तन को लक्ष्य की ओर नियोजित किए रखने के लिए साकार अथवा निराकार कोई भी अवलम्बन लिया जा सकता है। यह आवश्यक है और उपयोगी भी। इस प्रक्रिया के साथ जुड़े चिन्तन-प्रवाह में आदर्शवादिता का जितना अधिक पुट होगा, उसी स्तर की सफलता प्राप्त होगी। इष्ट से तादात्म्य और उससे मिलने वाले दिव्य अनुदानों से वह आधार बन जाता है। जिससे उपासक अपने चिन्तन एवं गतिविधियों को श्रेष्ठता की ओर मोड़ सकें।

आधुनिक मनोविज्ञान ने जिन नये तथ्यों का उद्घाटन किया है, वे आध्यात्मिक मूल्यों की पुष्टि करते

हैं। चिन्तन को व्यक्तित्व का मूल आधार माना जाने लगा है। इस संदर्भ में हुए शोध प्रयास यह स्पष्ट करते हैं कि मनुष्य का जैसा आदर्श होगा उसी के अनुरूप उसका व्यक्तित्व विनिर्मित होगा। आदर्श यदि श्रेष्ठ एवं उत्कृष्ट है तो चिन्तन एवं गतिविधियों में श्रेष्ठता एवं उत्कृष्टता समायेगी। इसके विपरीत निकृष्ट आदर्श, निम्नगामी प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन देंगे, हेय व्यक्तित्व गढ़ेंगे। उपासना में इष्ट निर्धारण परोक्ष रूप से श्रेष्ठ आदर्शों की प्रतिष्ठापना है, जिसके निकट आने, तादात्म्य स्थापित करने वाला भी उसी के अनुरूप ढलता-बनता चला जाता है।

एरिक फ्रॉम, हैरी स्टैक, सुलीवान एवम् डॉ० हेनरी लिडलहर का मानना है कि हम शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य को किसी दिव्य सत्ता, देवदूत अथवा सर्वव्यापी चेतना से एकत्व स्थापित करके निश्चयपूर्वक सुधार सकते हैं। उनका कहना है कि हम जिस प्रकार की सत्ता का चिन्तन करते हैं उससे हमारा सम्पर्क उसी प्रकार स्थापित हो जाता है, जिस प्रकार माइक्रोवेव्स द्वारा संसार के विविध रेडियो स्टेशनों से सम्पर्क हो जाता है। दिव्य सत्ताओं से सम्पर्क एवं उनसे मिलने वाली प्रेरणाओं से आध्यात्मिक ही नहीं शारीरिक, मानसिक लाभ भी प्राप्त किए जा सकते हैं। प्रत्येक मनुष्य का मस्तिष्क वायरलेस के रिसीवर की तरह ही है जो हर समय भले-बुरे विचारों को ग्रहण करता रहता है। मन में किस प्रकार के विचार उत्पन्न होंगे, यह इस बात पर निर्भर करता है कि हम किससे अपना सम्पर्क जोड़ रहे हैं ?

परिष्कृत एवं परिपक्व विचार आस-पास के वातावरण को भी तदनुरूप बनाने में सहायक होते हैं। प्रख्यात विचारक अपर्टोन सिक्लेयर अपनी पुस्तक 'मेन्टल रेडियो' में स्पष्ट करते हैं कि उपासना व्यक्तित्व निर्माण की एक समग्र प्रक्रिया है, जिसका अवलम्बन लेने वाला स्वयं श्रेष्ठ बनता तथा अन्यो को भी प्रभावित करता है। वह अपने विचारों का प्रसारण अभौतिक माध्यमों से अन्य लोगों तक कर सकता है। इसमें व्यक्ति एवं वातावरण को अनुवर्ती बनाने के सभी तत्व विद्यमान हैं।

प्रसिद्ध मनःशास्त्री 'जुंग'-उपासना को जीवन की अनिवार्य आवश्यकता के रूप में स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार "सभी धर्मों में प्रचलित उपासनाएँ मानव के स्वास्थ्य एवम् सर्वांगीण विकास के लिए आवश्यक हैं।" उनकी मान्यता के अनुसार "संसार के सभी मानसिक चिकित्सक मिलकर भी जितने रोगियों को आरोग्य नहीं प्रदान कर पाते जितना कि छोटी से छोटी धार्मिक उपासनाएँ कर देती हैं।"

व्यक्तित्व के अधःपतन एवं चिन्तन-चरित्र व्यवहार की त्रिवेणी में बढ़ते जा रहे प्रदूषण को रोकने तथा इसको परिशोधन कर निर्मल-परिष्कृत एवं उर्ध्वगामी बनाने में उपासना की आवश्यकता ही नहीं अनिवार्यता भी है। पुरातन काल के ऋषियों तथा आधुनिक काल में सन्तों ने इसका अवलम्बन कर स्वयं के व्यक्तित्व को सुधड़ बनाने के साथ ही समूची मानव जाति के समक्ष प्रकाश संकेतक के रूप में स्वयं को उभारा। आज भी भावनात्मक एवं सामाजिक समंजन सर्वतोमुखी परिष्कार एवं समग्र प्रगति के सभी आधार इसमें विद्यमान हैं। समस्याओं की जटिलता से उबरने तथा अपने व्यक्तित्व को गढ़ने के लिए यह राजमार्ग ही सर्वाधिक उपयुक्त है।

व्यक्तित्व के विकास का उद्गम केन्द्र

व्यक्तित्व के विकास के मूल में जिन तथ्यों को समाहित माना जाता है, उनमें से एक है—शरीर में जीवनी शक्ति का प्रकटीकरण, प्राण ऊर्जा का उभार। व्यक्तित्व का मूल्यांकन सामान्यतया शरीर की सुडौलता, सुन्दर चेहरे से किया जाता है, पर यह मान्यता भ्रांति युक्त है। यदि मनुष्य काला व कुरूप भी है किन्तु आहार-विहार का संतुलन कर आरोग्य रक्षा में निरत रहता है तो ऐसा नीरोग मनुष्य भी प्रभावोत्पादक व्यक्तित्व का स्वामी होता देखा जाता है। जबकि चेहर-मुहरे से सुन्दर व्यक्ति रोगग्रस्त, उदास, निस्तेज, आलसी होने पर मर-गिरा-सा, टूटा हुआ प्रतीत होता है।

आशा और उमंग से मन भरा हो, उत्साह और साहस स्वभाव का अंग हो, हँसने-मुस्कुराने की आदत हो, तो व्यक्ति की आकृति-प्रकृति आकर्षक हो जाती है। ऐसे व्यक्ति की बनावट भले ही कुरूप हो, वह सहज ही सबको अपनी ओर आकर्षित कर लेता है एवं जहाँ जाता है, अपनी उपस्थिति से वातावरण प्रभावशाली बना देता है। अब्राहम लिंकन, सुकरत, महात्मा गाँधी आदि का बाह्य स्वरूप सुन्दर नहीं कहा जा सकता, किन्तु उनके प्रभावशाली व्यक्तित्व को, मनस्विता को, अंग-अंग से फूटने वाले तेजस् को कोई नकार नहीं सकता।

वस्तुतः हमारा चेहरा मनःस्थिति का प्रतिबिम्ब है। आँखों की खिड़की से भीतर की स्थिति झाँकती व उस क्षेत्र का भला-बुरा विवरण दर्शकों को बिना बोले ही बताती रहती है। प्रकृति ने कुछ ऐसी व्यवस्था की है जिससे व्यक्ति की भाव भंगिमा, शिष्टता, कार्य पद्धति को देखते ही यह पता लग सके कि वह कितने पानी में है। शरीर बाह्य परिकर प्रभावोत्पादक हो इसके लिए शरीर और मन को इस प्रकार ढाला जाना चाहिए कि वह

सौन्दर्य, सज्जा, शिक्षा आदि के अभाव में भी अपनी विशिष्टता का परिचय दे सके।

शालीनता वह दूसरी शर्त है, जो व्यक्तित्व को वजनदार बनाती है। इसी सत्त्ववृत्ति की सज्जनता, शिष्टता, सुसंस्कारिता आदि नामों से पुकारा जाता है। गुण, कर्म, स्वभाव से गहराई तक घुली यह विशिष्टता पास बैठने वाले को थोड़ी ही देर में बता देती है कि सामने वाले का बचकानापन किस्स मात्रा में घट गया और वजनदार व्यक्तित्वों में पायी जाने वाली विशेषताओं का कितना उद्भव समावेश हो गया।

प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक कार्ल गुस्ताव जुंग ने अन्तःकरण की ऊर्जा-“लिबिडो” को अपने शब्दों में प्रतिपादित करते हुए कहा है कि “न जाने क्यों यह तथ्य बुद्धिमानों के गले नहीं उतरता कि वे मस्तिष्कीय चमत्कारों की तुलना में कहीं अधिक विभूतियाँ अपनी अन्तःचेतना को विकसित करते हुए हस्तगत कर सकते हैं। “स्व” को यदि उच्चस्तरीय बनाया जा सके तो फिर “पर” के प्रति न कोई शिकायत रहेगी, न कोई आशा-अपेक्षा ही रखनी होगी”।

यह कथन व्यक्ति के व्यापक सर्वांगपूर्ण विकास की चर्चा करते समय काफ़ी महत्त्व रखता है। यहाँ उनका संकेत है कि हमें एक विशेष बात का ध्यान रखना होगा कि आत्मिक क्षेत्र की सबसे बड़ी प्यास घनिष्ठ आत्मीयता की है, जिसे व्यवहार में सद्भाव सम्पन्न मैत्री कहते हैं। पुरातन भाषा में इसी को अमृत कहते थे। मैत्री परिकर भी बढ़ना चाहिए व वातावरण भी बनना चाहिए। किन्तु वैसी न हो जैसी कि आजकल मित्र बनकर शत्रुता का आचरण करने की विभीषिका बनकर उस पुनीत शब्द को बदनाम कर रही है।

इन दिनों वैभव को सर्वोपरि मान्यता मिली है। फलतः सम्पदा का संचय और प्रदर्शन जनसाधारण की आकांक्षा व तत्परता का केन्द्र बन गया है। इसी की ललक-लिप्सा में आपा-धापी और छीना-झपटी की दुष्प्रवृत्तियाँ पनपी हैं। फलतः विपिन्ताएँ बढ़ती चली गईं। अगले दिनों यह प्रवाह उलटना होगा तथा लोकचेतना को यह सोचने पर सहमत करना होगा कि वह आदर्शों की ओर चले, उसके लिये अन्तःकरण टटोले और अन्तःप्रेरणा से ही मार्गदर्शन प्राप्त करे।

आरम्भिक जीवन की ग्रहण संवेदनशीलता के अतिरिक्त व्यक्तित्व निर्माण का एक बड़ा कारण यह भी होता है कि बालक को माता के शरीर का रस मात्र ही नहीं मिलता, वरन् उसकी मानसिक संरचना भी उस नवनिर्मित प्राणी को उपलब्ध होती और ढाँचे का अंग

बनती है। यहाँ एक बात विशेष रूप से स्मरण रखने योग्य है कि एक के द्वारा दूसरे को प्रभावित करने में भावनात्मक घनिष्ठता सर्वोपरि भूमिका निभाती है। माता की बच्चे के प्रति जो संवेदनात्मक घनिष्ठता होती है, वह आदान-प्रदान का समर्थ माध्यम बनती है। माता के द्वारा वह न केवल पोषक पदार्थ प्राप्त करता है न केवल सुविधा, सुरक्षा के अनुदान उपलब्ध करता है, वरन् इन सबसे बड़ी वस्तु स्नेह-दुलार का वह रसायन भी प्राप्त करता है, जिसके सहारे गहन स्तर के आदान-प्रदान बन पड़ते हैं। माता-पिता तथा अन्य अभिभावक जो बालक के साथ जितनी भावनात्मक घनिष्ठता एवं सहानुभूति जोड़े रहते हैं। उसे बिना माँगे ही बहुत कुछ गले उतारते रहते हैं।

बालकों का यह उदाहरण यहाँ इसलिए दिया जा रहा है कि घनिष्ठता, समीपता एवं भावनात्मक आत्मीयता के उस दुहरे प्रभाव को समझा जा सके, जिसमें न केवल सान्निध्य, सुख एवं सहयोग मिलता है वरन् अन्तरंग विशेषताओं के आदान-प्रदान का भी द्वार खुलता है। यहाँ मैत्री की ओर संकेत किया गया है। मैत्री किसी भी कारण बनी या बढ़ी क्यों न हो, यदि वह गहराई तक पहुँची एवं आत्मीयता तक विकसित हुई है तो फिर उसका ऐसा प्रभाव भी होना ही चाहिए कि एक पक्ष दूसरे को, विशेषतया सबल-दुर्बल को प्रभावित कर सके।

यह तथ्य इस निष्कर्ष पर पहुँचाते हैं कि व्यक्ति को यदि उत्कृष्टता की ओर अग्रसर करना अभीष्ट हो तो उसके लिये शिक्षण के साथ-साथ आत्मीयता का गहरा सम्पुट लगाने की भी व्यवस्था होनी चाहिए। विकृत व्यक्तित्वों को संतुलित एवं समुन्नत बनाने में स्नेह-दुलार की उपलब्धि इतनी बड़ी औषधि है, जिसकी तुलना में अन्य कोई उपाय, उपचार कारगर नहीं होते देखा गया। प्यार की प्यास हर किसी को रहती है और वह समुचित परिमाण में किसी भाग्यवान को मिल सके तो समझना चाहिए कि व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास हेतु एक प्रभावशाली साधन जुट गया।

प्रतिभा की विलक्षणताएँ अनेकों सफलताओं का निमित्त साधन बनती हैं किन्तु यह ध्यान रखा जाना चाहिए कि वह मात्र वंशानुक्रम, सान्निध्य, साधन-शिक्षण आदि बाहरी प्रभाव अनुदानों से ही पूर्णरूपेण हस्तगत नहीं होती। ऐसी बात होती तो मनुष्य को सचेतन कहते हुए भी परिस्थितियों का दास कहना पड़ता। यह तो भाग्य-प्रारब्ध से भी बुरी बात होती। यदि परिस्थितियाँ ही किसी के भले-बुरे बनने का आधार रही होतीं तो किसी

को श्रेय या दोष न देकर उन साधनों को ही सराहा या कोसा जाता जिन्होंने उत्थान या पतन में भूमिका निभाई।

चरित्र मनुष्य की मौलिक विशेषता एवं उसका निजी उत्पादन है। इसमें इसके निजी दृष्टिकोण, निश्चय, संकल्प एवं साहस का पुट अधिक होता है। इसमें बाह्य परिस्थितियों का यत्किंचित योगदान ही रहता है। असंख्यों ऐसे उदाहरण मौजूद हैं, जिनमें लंका जैसे विषाक्त वातावरण में विभीषण जैसे संत अपने बलबूते समूची प्रतिकूलताओं को चुनौती देते हुए अपने स्थान पर अटल बने रहे। ऐसे भी कम नहीं, जिनमें पुलस्त्य ऋषि के देवपरिकर में रावण जैसे अनाचारी का प्रादुर्भाव हुआ और उसने वातावरण को एक ताक पर उठाकर रख दिया।

यह व्यक्तित्व चरित्र ही है जो व्यक्ति अपने बलबूते विनिर्मित करता है। परिस्थितियाँ सामान्य स्तर के लोगों पर ही हावी होती हैं। जिनमें मौलिक विशेषता है, वे नदी के प्रवाह से ठीक उल्टी दिशा में मछली की तरह अपनी पूँछ के बल पर छर-छराते चल सकते हैं। निजी पुरुषार्थ एवं अन्तःशक्ति को प्रसुप्त से उभारते हुए साहसी व्यक्ति अपने को प्रभावशाली बनाते व व्यक्तित्व के बल पर जनसम्मान जीतते देखे गए हैं। यह उनके चिंतन की उत्कृष्टता, चरित्र की श्रेष्ठता एवं अन्तराल की विशालता के रूप में विकसित व्यक्तित्व की ही परिणति है। जिसे भी इस दिशा में आगे बढ़ना हो, इसके लिए यही एक मात्र राजमार्ग है। इसके लिये किसी शॉर्टकट का किसी रूप में प्रावधान नहीं है। वह एक शाश्वत निर्धारित सिद्धान्त है, जिसे हर स्थिति में स्वीकार किया जाना चाहिए।

आकर्षण और आभा का स्रोत

वर्तमान को देखकर भविष्य का अनुमान लगाया जा सकता है। वर्तमान फूल है और भविष्य उसके परिपक्व होने पर बनने वाला फल। यह सिद्धान्त सभी क्रिया-कलापों पर लागू होता है। मन पर अनुत्साह छाया हुआ हो, भविष्य की कुछ महत्वपूर्ण कल्पनाएँ न उठ रही हों, भविष्य की कोई महत्वपूर्ण योजना न बन रही हों, तो फिर समझना चाहिए कि ऐसे व्यक्ति का भविष्य अंधकारमय है।

शरीर दीखता तो बढ़ा-चढ़ा है, पर उसकी शक्ति मन-क्षेत्र में सन्निहित रहती है। मन खिन्न-विपन्न हो तो समझना चाहिए कि शरीर स्वस्थ होते हुए भी ऐसा कुछ काम न कर सकेगा, जिसकी प्रशंसा की जा सके। इसके विपरीत संसार में ऐसे मनुष्य हुए हैं, जिन्होंने बीमारियों से ग्रसित रहते हुए भी अस्पताल में पड़े रहने पर भी

अपने मनोबल, उत्साह और सूझ-बूझ के सहारे इतने बड़े काम कर दिखाये जिस पर सौ पहलवानों को भी निछावर किया जा सकता है। इसके ठीक विपरीत ऐसी घटनाएँ भी घटती रही हैं, जिनमें दुर्बल शरीर के रहते हुए भी मनोबल का इतना प्रचंड परिचय दिया गया कि लोग उन्हें शक्तिपुंज मानने लगे।

शारीरिक सौन्दर्य सभी की आँखों को सुहाता है। देखने वाले का आकर्षण भी उसकी ओर अधिक पाया जाता है। इस मान्यता के कारण कितने ही व्यक्ति सज-धज के खर्चीले समय साध्य शृंगार करने में लगे रहते हैं। पर यह भूल जाते हैं कि यह आँखों का छलावा और भूल-भुलैया मात्र है। यदि यही वास्तविकता रही होती तो नट-नटिनियों ने समूचे संसार को विमोहित कर लिया होता और उनके पीछे चापलूसी करता हुआ हर कोई मारा-मारा फिरता।

इसी प्रकार का एक भ्रम यह भी है कि स्वर-संगीत का विशेष आकर्षण का केन्द्र है। नर्तक, गायक अनेकों का मन मोह लेते हैं। कई बार तो शरीरगत सौन्दर्य और कंठगत मार्भुयजन साधारण में इतना महत्व बना लेते हैं, कि लोग उनके पीछे मुग्ध हो फिरते देखे जाते हैं।

पर यह भ्रम जंजाल मात्र है। इसके पीछे वास्तविकता का अंश नगण्य होता है। यदि बात ऐसी ही रही होती तो संसार में मूर्धन्य नहीं रहे होते जो रंग, रूप, कंठ की कलाकारिता होने पर भी औरों को अपनी ओर आकर्षित करते देखे जाते हैं। अष्टावक्र की आकृति कुरूप स्तर की गिनी जाती थी, पर उनकी विद्वता ने बड़े-बड़ों को चकित करके रख दिया। गाँधी जी पाँच फुट दो इंच लम्बाई के थे। शरीर का वजन भी ९६ पौण्ड था। व्यक्तित्व का दर्शनीय स्वरूप देख कोई यह नहीं कह सकता था कि इनमें कोई विशेषता होनी चाहिए। पर चरित्र बल और आत्मबल के धनी होने के कारण उन्हें उच्चस्तर का महामानव माना गया। उनके प्रभाव का स्तर असाधारण देखा गया। जो कार्य उनसे कर दिखाये, उनका आँकलन करने वाले उन्हें किसी सिद्ध पुरुष से कम नहीं मान सकते।

शरीर अथवा स्वर का आकर्षण तो सामायिक है। कुछ ही समय उनकी चमक-दमक रहती है। अपने समय की मानी हुई नर्तकियाँ, अभिनेत्रियाँ आयु ढलते ही बुढ़िया जैसी लगने लगती हैं। उनके चित्र देखने के लिए जो लोग लालायित रहते हैं, वे भी समय ढलते ही उपेक्षा करने लगते हैं और मुँह फेर लेते हैं, कंठ भी एक आयु तक ही मिठास और आकर्षण धारण किये

रहता है। आयु का ढलान आते ही न वह स्वर का आकर्षण रहता है और न रंग रूप ही। समय के साथ चमड़ी का आकर्षण न जाने कहाँ से कहाँ चला जाता है और समय बदलते ही लोग समझ जाते हैं कि आँखें जिस व्यामोह के कारण धोखा खाती रही हैं, कान जिनका शब्द सुनकर अपने आपको भूल जाते रहे हैं, यह सब मात्र छलावा था।

व्यक्तित्व मनुष्य के चिन्तन व चरित्र पर अवलम्बित है। सेवा और परमार्थ ही मनुष्य का वह आकर्षण बनाये रहता है जो जन्म जन्मान्तरों तक आभा रहित नहीं होता। आदर्शवादी व्यक्तित्व और सेवा संलग्न कर्तव्य ही वह निधि है, जिसके क्षरण होने की कभी कोई आशंका ही नहीं की जानी चाहिए।

मनस्वी-तेजस्वी

बल्ब, पंखा, हीटर, कूलर आदि उपकरणों के साथ जुड़ जाने पर बिजली के गुण भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं। इसमें उपकरणों का जितना महत्व है, उससे अधिक उस बिजली का है, जो शक्ति संचार करती है और उपकरण को वैसी ही क्रिया करने के लिए विवश करती है, जिसके लिए उसे बनाया गया है।

मनुष्य में उच्चस्तरीय चेतन बिजली तो वह है जिसे प्राण कहते हैं। उसके साथ बने रहने पर शरीर के सभी अंग-अवयव अपने-अपने काम करते रहते हैं। शक्ति भी बनी रहती है और वे सभी लक्षण विद्यमान रहते हैं, जिनको देखते हुए किसी को जीवित या मृतक कहा जाता है। यह दिव्य चेतना ही पंच तत्त्वों के साथ जुड़े हुए शरीर के माध्यम से विविध प्रकार के क्रिया-कलापों का संचालन करती है। प्राणी में जीवन ही उसका सार तत्व है। यदि वह न रहे तो मृत शरीर को ऐसा कूड़ा-करकट माना जाता है जिसे थोड़ी ही देर रखे रहने पर सड़न, दुर्गन्ध और विषाक्तता फैलनी आरम्भ हो जाती है।

दूसरी एक और भी चेतना जीवन में काम करती है जिसे उत्साह कहते हैं। उसकी जितनी मात्रा जिस किसी में होती है, वह उतने ही बढ़-चढ़कर पुरुषार्थ कर सकने में समर्थ होता है। किन्तु यदि उत्साह शिथिल पड़ गया हो, उसकी गतिशीलता घट गई हो, तो समझना चाहिए कि जीवित होते हुए भी मनुष्य लगभग मरे हुए के समान है। अनुत्साही को आलस्य-प्रमाद जैसे अनेकों दुर्गुण घेरे रहते हैं, जिनके कारण उपयुक्त सामर्थ्य रहते हुए भी आधी-अधूरी मात्रा में बहुत धीमी गति से काम हो पाता है और जो होता है वह भी लगता है मानो शक्ति

सामर्थ्य का भण्डार ही चुक गया हो। जो बन पड़ता है वह अस्त-व्यस्त, कुरूप और घटिया स्तर का होता है। इससे कर्म और कर्ता दोनों की हानियाँ होती हैं। जिस प्रकार यंत्र उपकरणों में बिजली काम करती है उसी प्रकार मनुष्य के समस्त शारीरिक-मानसिक अंग-अवयवों को उत्साह के आधार पर शक्ति और प्रेरणा मिलती है।

निराशा, उदासी, चिन्ता लगभग एक-दूसरे पर आश्रित हैं, जहाँ एक रहेगी, वहाँ दूसरी भी जा पहुँचेगी। यदि तीनों का समावेश हो गया तो समझना चाहिए कि मनुष्य मानसिक दृष्टि से अशक्त हो गया, भले ही वह शारीरिक दृष्टि से समर्थ ही क्यों न दिखाई पड़े ? ऐसे लोग कुछ काम करना ही नहीं चाहते। चाहते भी हों तो वह बन नहीं पड़ता। पड़ता भी है तो आधा-अधूरा बनकर रह जाता है। अस्त-व्यस्त और काना-कुबड़ा बनकर रह जाता है। जितने समय और श्रम में उसे होना चाहिए, उसकी तुलना में वह कोई अधिक बिलम्ब लगा लेता है और जो कुछ बन पड़ता है, वह कुरूप, अव्यवस्थित स्तर का बनकर रह जाता है।

शक्ति वस्तुतः साहस पर केन्द्रित रहती है। साहस न हो तो फिर हाथों से जो करते बन पड़ता है वह निस्तेज, निरर्थक बनकर रह जाता है। बिजली का करेन्ट कम होने पर कोई उपकरण पूरी तरह काम नहीं करता, मात्र टिमटिमाता भर रहता है। उसके द्वारा जो काम होते दीखते हैं, उसे चिन्ह-पूजा स्तर का ही गिना जा सकता है। साहस की कमी का परिणाम भी यही होता है। उत्साह के अभाव में उदास मन से किये गये काम भी ऐसे ही होते हैं। मन की उदासी किये गये कामों की कुरूपता, अधूरेपन के रूप में दीख पड़ती है।

मनस्विता, तेजस्विता अपने हाथ की बात है। मन की उदासी कहीं बाहर से नहीं आती। किसी घटना से भी संबंधित नहीं होती। वह मनुष्य के अपने स्वभाव पर निर्भर है जिसे इच्छानुसार घटाया या बढ़ाया जा सकता है। यह एक प्रकार का आत्मविश्वास है। आत्मनिर्भर मनुष्य उज्ज्वल भविष्य के सपने देखते हैं। उन्हें हाथ में लिए काम की सफलता पर विश्वास होता है।

इन्द्रियों को शक्तितंत्र माना जाता है। पैनी दृष्टि सूझबूझ से काम लेने पर यह वरदान जैसी प्रतीत होती है और उनके द्वारा बन पड़े कामों को सौभाग्य स्तर का गिना जाता है, पर वस्तुतः बात ऐसी है नहीं। आत्मविश्वासी मनुष्य की एक ही पहचान है—उसका उत्साह। उत्साह रहने पर साहस बढ़ता है और उसी उत्साह के सहारे शरीर के अंग-प्रत्यंग बढ़-चढ़कर काम करने लगते हैं। उनसे सफलता का बोध होता है। जो

मनस्वी ही नहीं हैं उन्हें एक प्रकार से अशक्त, निस्तेज और असंयमी भी कहा जा सकता है।

व्यक्तित्व की रहस्यमय परतें

मार्टिन प्रिंस मनोवैज्ञानिक जगत के प्रसिद्ध विद्वान हैं। उन्होंने मानवी व्यक्तित्व का गहन अध्ययन एवं विश्लेषण किया है। व्यक्तित्व सम्बन्धी अपनी खोजों में मार्टिन ने अनेकों रहस्यमय और महत्वपूर्ण तथ्य प्रकट किए हैं। उनका कहना है कि ‘‘मनुष्य के भीतर एक साथ कई प्रकार के व्यक्तित्व कार्य करते हैं। उनमें आपस में यदि सामंजस्य और सहयोग है, तो मनुष्य के विकास में असाधारण योगदान मिलता है। परस्पर असहयोग होने से विकासक्रम अवरुद्ध हो जाता है। मानसिक एवं शारीरिक रोग भी मनुष्य के भीतर दो व्यक्तित्वों के आपसी संघर्ष के प्रतिफल होते हैं।

व्यक्तित्वों की भिन्नता और आपसी संघर्ष कैसी-कैसी समस्याओं को जन्म देते हैं, इसका एक रोचक उदाहरण ‘प्रिंस’ ने अपनी पुस्तक में ‘मैकनवारो’ नामक महिला का प्रस्तुत किया है। वे लिखते हैं कि इस मैकनवारो के भीतर एक साथ तीन व्यक्तित्व रहते थे। एक सामान्य स्वभाव का था, दूसरा संत और तीसरा शैतान प्रकृति का। इन तीनों में एकरूपता न रहने से उक्त महिला का जीवन पागलों जैसा बन गया है। साधारण व्यक्तित्व को अन्य दो व्यक्तित्वों का ज्ञान न था जबकि ‘शैतान’ व्यक्तित्व को अन्य दो व्यक्तित्वों की क्रियाओं का ज्ञान रहता था। फलस्वरूप शैतान व्यक्तित्व अन्य दो के कार्यों में निरन्तर बाधा पहुँचाता था। उदाहरणार्थ, यदि सामान्य ‘व्यक्तित्व’ कोई वस्तु आलमारी में एक निश्चित स्थान पर रख देता तो शैतान उसे वहाँ से हटाकर कहीं अन्यत्र छिपा देता था। अपनी ही रखी हुई वस्तु को ढूँढ़ने में उस महिला को विशेष कठिनाई होती थी। उसकी इच्छा के विरुद्ध भी कितनी ही बार शैतान व्यक्तित्व अनेकों काम करा देता था जो नैतिक दृष्टि से उचित न होते थे। अपनी गलतियों का भान बाद में होने पर वह महिला पश्चात्ताप करती रहती थी। मानसिक द्वन्द्वों के कारण उसकी स्थिति विक्षिप्तों जैसी बन गई।

मार्टिन द्वारा प्रस्तुत किया गया उदाहरण अचरज भर लगता है किन्तु बारीकी से अध्ययन किया जाय तो पता चलेगा कि अधिकांश व्यक्तियों की यही स्थिति होती है। मनुष्य के भीतर दो व्यक्तित्वों का संघर्ष चलता रहता है। पौराणिक भाषा में जिसे देवासुर संग्राम कहा जा सकता है। अमुक स्थान में देवता निवास करते हैं और

अमुक में असुर तथा उनके बीच युद्ध होते रहते हैं, का वर्णन भारतीय धर्म पुराणों में ही नहीं विश्व के अन्यान्य धर्म ग्रंथों में भी आता है। यह व्यक्तित्व के दो भिन्न स्वरूप का अलंकारिक वर्णन-चित्रण है जो यह दर्शाता है कि देव और असुर के बीच अर्थात् मनुष्य के भीतर काम करने वाले दो व्यक्तित्वों के बीच परस्पर मतभेद एक संघर्ष होने पर व्यक्तित्व छिन्न-भिन्न हो जाता है। विकास अवरुद्ध हो जाता है तथा अनेकों प्रकार के शारीरिक, मानसिक विक्षोभ उत्पन्न होते हैं। पुराणों में वर्णन आता है कि देवता और असुर जब एक-दूसरे से अलग रहे, असहयोग करते तथा लड़ते रहे। परिस्थितियाँ विपन्न और प्रतिकूल बनी रहीं। सर्वत्र अव्यवस्था फैली, दोनों ने जब परस्पर सहयोग करना स्वीकारा तो समुद्र मन्थन जैसे दुस्तर एवं कठिन काम का सिलसिला चल पड़ा, जिसकी परिणति चौदह दिव्य रत्नों की उपलब्धियों के रूप में सामने आयी। जिसे प्राप्त कर विश्व-वसुधा धन्य हो गई।

मनुष्य के मानसिक जगत में चलने वाले संग्राम का यह अलंकारिक चित्रण है। संघर्ष रुकने, देव और असुर रूपी दो व्यक्तित्वों के बीच सहयोग का क्रम चलते ही मनुष्य के सर्वांगीण विकास का दौर द्रुतगति से चल पड़ता है।

आधुनिक मनोविज्ञान की खोजों द्वारा एक सर्वथा नवीन तथ्य उजागर हुआ है कि विभिन्न प्रकार के शारीरिक एवं मानसिक रोग मन के द्वन्द्वों से पैदा होते और द्वन्द्वों की उत्पत्ति दो प्रकार के व्यक्तित्वों के परस्पर टकराहट से होती है। संघर्ष की प्रतिक्रिया की अनुभूति अनेकों प्रकार के शारीरिक एवं मानसिक असन्तुलनों के रूप में तो होती है किन्तु इसका बोध नहीं रहता कि अपनी ही सत्ता दो भिन्न घटकों में बँटकर टकराव उत्पन्न कर रही है। जो अशान्ति, असन्तोष, व्यग्रता विक्षोभ, भय, चिन्ता जैसे असन्तुलनों से आरम्भ होकर अनेकों प्रकार के मानसिक रोगों का कारण बनते हैं।

क्रिया, विचारणा एवं भावना इन तीनों ही क्षेत्रों में एकरूपता हो तो मनुष्य असामान्य शक्ति का स्वामी बन सकता है। इसके विपरीत इन तीनों में एकता न होने पर विकास क्रम अवरुद्ध हो जाता है। सामान्यतया इन तीनों में एकता कम ही स्थापित हो पाती है। प्रायः युग्म दो का बन जाता है। प्रत्यक्ष दिखायी पड़ने वाला व्यक्तित्व उन्हीं के समन्वय से बनता है, जिसे ज्ञात व्यक्तित्व कहते हैं। अपने इस व्यक्तित्व का बोध अधिकांश व्यक्तियों को होता है। सम्भव है मनुष्य अपने ज्ञात स्वत्व में चरित्रवान आदर्शवादी एवं सिद्धान्तनिष्ठ हो किन्तु

अज्ञात व्यक्तित्व में अनुदार, अनैतिक, क्रूर एवं व्यभिचारी हो सकता है। इसका प्रमाण कितने ही व्यक्तियों में मिलता रहता है। नीति, सदाचार, आदर्श एवं सिद्धान्त की बातें करते कितने ही व्यक्ति देखे जाते हैं किन्तु लोभ-मोह के, वासना, तृष्णा के अवसर आते ही वे उस प्रवाह में बह जाते हैं। इसका कारण यह होता है कि भीतरी अज्ञात व्यक्तित्व में निकृष्ट प्रवृत्तियों के संस्कार जड़ जमाये रहते हैं और अवसर उपस्थित होते ही प्रबल हो उठते तथा बाह्य-प्रत्यक्ष व्यक्तित्व पर हावी हो जाते हैं। न चाहते हुए भी कितनी ही बार मनुष्य कितने ही ऐसे कार्य कर जाते हैं, जो सामाजिक एवं नैतिक दृष्टि से अनुचित होते हैं और जिसके लिए वे बाद में भारी पश्चात्ताप करते हैं। यह अचेतन व्यक्तित्व का ही प्रभाव है कि मनुष्य अपने को अशक्त एवं असमर्थ पाता है। मनोवैज्ञानिकों का मत है कि बाह्य-भीतरी सामन्वय न होने से द्विमुखी व्यक्तित्व का निर्माण होता है। “डबल परसनाल्टी” को मनोवैज्ञानिक क्षेत्र में सभी प्रकार के मनोरोगों का कारण माना गया है।

द्विमुखी व्यक्तित्व के निर्माण में बाह्य परिस्थितियाँ कारण हैं अथवा मनुष्य स्वयं ? क्या उनमें एकता स्थापित कर व्यक्तित्व को श्रेष्ठ, शालीन बनाया जा सकता है। जैसे प्रश्नों के सम्बन्ध में मनोवैज्ञानिक क्षेत्र में लम्बे समय से खोज-बीन चल रही है। मनोवैज्ञानिकों एवं मनोचिकित्सकों का कहना है कि अपने व्यक्तित्व को छिन्न-भिन्न करने का जिम्मेदार स्वयं मनुष्य है। उसकी चिन्तन एवं क्रिया-प्रणाली के सूक्ष्म संस्कार जमा होते रहते हैं और अचेतन पक्ष का निर्माण करते हैं। यदि उनका स्तर निकृष्ट हुआ तो भारी विक्षोभ पैदा करेंगे। प्रणयड जैसे मनोवैज्ञानिक का कहना है कि “मनुष्य चिन्तन कुछ और करता है तथा उसकी प्रत्यक्ष भूमिका भिन्न प्रकार की होती है। चिन्तन में यदि वासना, तृष्णा एवं लोभ के तत्व विद्यमान हैं तथा वाणी से वह आदर्शों की बात करता है, तो व्यक्तित्व में विघटन यहीं से आरम्भ हो जाता है और द्विमुखी व्यक्तित्व का निर्माण होता है।”

इससे स्पष्ट है कि व्यक्तित्व को समग्र एवं एकरूप बनाये रखने के लिए चिन्तन, वाणी एवं क्रिया-कलाप तीनों में एकरूपता स्थापित करनी होगी। प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष व्यक्तित्वों में जिसकी भूमिका मनुष्य के विकास में सहायक हो सकती है, इसका निर्धारण कैसे हो ? क्योंकि कभी-कभी स्थिति उल्टी भी हो सकती है। अप्रत्यक्ष व्यक्तित्व सुसंस्कारी हो सकता है और प्रत्यक्ष कुसंस्कारी। इस विषम स्थिति में किसकी बात मानी जाय और चिन्तन एवं अभ्यास द्वारा किसे सशक्त बनाया जाय, उसका उत्तर प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक कार्ल जुंग ने दिया है।

जो प्रकारान्तर से भारतीय अध्यात्म का ही समर्थन करता है। वे कहते हैं कि "प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष से परे मनुष्य की मूल सत्ता" दी अनडिसकवर्ड सेल्फ है। जो अपनी प्रेरणाएँ उदात्त भावनाओं के रूप में सतत् संप्रेषित करता रहता है। अपने चिन्तन एवं गतिविधियों को उसकी प्रेरणा के अनुरूप ही ढाला जाय। व्यक्तित्व को पूर्ण तभी बनाया जा सकता है।

समस्त सम्भावनाओं से परिपूर्ण मानवीय व्यक्तित्व

परमात्मा ने मनुष्य को सभी सामर्थ्यों और सर्वतोमुखी प्रगति की सम्भावनाओं से विभूषित कर इस पृथ्वी पर भेजा है। यदि अपने ही भीतर सन्निहित इन शक्तियों और सम्भावनाओं के स्रोतों को पहचान लिया जाये तथा उन्हें विकसित करने के लिए कटिबद्ध हुआ जाये तो कोई कारण नहीं कि परमात्मा का सबसे बड़ा पुत्र, ईश्वरीय अंश, राजकुमार आत्मा इसी दीन-हीन अवस्था में पड़ा रहे, इसके विपरीत जो लोग प्रगति और उन्नति के आधार बाहर तलाशते हैं, आगे बढ़ने और उन्नति करने के लिए दूसरों पर निर्भर करते हैं उन्हें यथा स्थिति में ही पड़े रहना पड़ता है। किसी की सहायता और अनुदान उसका थोड़ा बहुत भला कर दे सामयिक लाभ भले ही पहुँचा दें, परन्तु उससे बात बनती नहीं है। वह सहायता अनुदान तो सामयिक उपचार ही सिद्ध होते हैं। इसीलिए कहा गया है कि ईश्वर उन्हीं की सहायता करता है, जो अपनी सहायता आप करते हैं। इस कथन का आशय यही है कि जो परमात्मा के दिये हुए अनुदानों, मानवी व्यक्तित्व में सन्निहित विशेषताओं को पहचानने में समर्थ होते हैं, उन्हें जग्रात कर पाते हैं वही किसी दिशा में कोई उल्लेखनीय गति प्रगति कर पाते हैं क्योंकि परमात्मा ने उन्नति और प्रगति की समस्त सम्भावनाएँ प्रत्येक व्यक्ति को उसे निज के उपयोग हेतु ही दे रखी हैं, उसे इतना सामर्थ्यवान भी बनाया है कि वह प्रगति क्रम में आने वाले अवरोधों से जूझते हुए निरन्तर उन्नति करता रह सके।

उदाहरण के लिए परमात्मा ने मनुष्य की इस नश्वर और मिट्टी का पुतला कही जाने वाली काया को ही इतना सशक्त और मजबूत बनाया है कि वह बुरी से बुरी परिस्थितियों में भी अपना सन्तुलन बनाये रह सकती है और दीर्घकाल तक कार्य करती रह सकती है। आये दिनों इस तरह की घटनाएँ सामने आती रहती हैं, जिनसे यह तथ्य सिद्ध होता है। पिछले दिनों अमेरिका का एक हवाई जहाज समुद्र पर उड़ते हुए दुर्घटनाग्रस्त हो गया। किसी मशीनी खराबी के कारण विमान में आग

लग गई और वह समुद्र में गिर पड़ा। किसी प्रकार प्राण रक्षा न होते देखकर उसका पाइलट जहाज के समुद्र में गिरने से पहले ही कूद पड़ा और जिस जगह जहाज का मलवा गिर रहा था, वहाँ से दूर हटकर पानी में कूदा। दुर्घटनाग्रस्त जलते हुए वायुयान से कूदने के कारण उसे चोट तो बहुत आई फिर भी वह तैरता रहा और लगातार ६० घण्टे तक तैरता हुआ बहुत बुरी तरह थकने के बाद किनारे पर पहुँचा। बुखार, निमोनिया, भूख, थकान, दर्द, चोट और बदहवासी के कारण उसकी बड़ी बुरी हालत हो गई थी और इसी हालत में उसे अस्पताल पहुँचाया गया। पायलट की स्थिति इतनी गम्भीर थी कि डॉक्टर उसके अब तक बचे रहने पर आश्चर्य करते रहे। बचने की कोई सम्भावनाएँ न रहने के बावजूद भी वह पाइलट अपनी जीवनी शक्ति के सहारे धीरे-धीरे अच्छा होता चला गया।

पोर्टलैण्ड में एक आठ वर्षीय बालक के साथ इस प्रकार की दुर्घटना घटी कि उसका बच पाना असम्भव ही लग रहा था। हुआ यह कि किसी प्रकार एक सड़क कूटने वाले तीन टन भारी इंजिन के नीचे आ गया। उसकी कमर से नीचे का भाग बुरी तरह पिस गया। किसी को उसके बचने की आशा नहीं थी, पर उसकी जीवनी शक्ति ने काम किया और वह एक वर्ष अस्पताल में रहकर अच्छा हो गया। उसके पैर भले ही चलने लायक न हो सके पर उसकी जीवन रक्षा तो हो ही गई। न्यूयार्क की पन्द्रह मील ऊँची इमारत से एक बार दो वर्ष का बालक गिर पड़ा। इतनी ऊँचाई से गिरने के कारण हड्डियाँ बुरी तरह टूट जाने के बाद भी वह जीवित बचा रहा।

इस प्रकार की ढेरों दुर्घटनाएँ जिनके शिकार होने वालों का जीवन बच पाना किसी भी स्थिति में असम्भव लग रहा था किन्तु मानवी काया में विद्यमान जीवनी शक्ति ने जोर मारा और लोग देखते ही देखते मृत्यु के जाल में से निकलकर बाहर आ गये। परमात्मा ने जीवन को निश्चित ही इस योग्य बनाया है कि वह कठिन से कठिन और प्रतिकूल से प्रतिकूल परिस्थितियों में भी आत्म-रक्षा कर सके। परमात्मा ने मनुष्य की क्राया को यों ही नहीं बनाया है। उसने मानवीय व्यक्तित्व में तो प्रगति और उन्नति की तमाम सम्भावनाएँ भर ही दी हैं, उसके शरीर को भी इतनी विशेषताओं से परिपूरित बनाया है कि उसके समान विशेषताओं से भर-पूर कोई यन्त्र अभी तक नहीं बनाया जा सका है, जो सभी परिस्थितियों में अपने आपको अनुकूल बना सके।

कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय में भौतिक विभाग के प्राध्यापक डा० क्रेग टेलर ने स्वयं अपने ऊपर प्रयोग करके यह सिद्ध किया कि है कि संसार के सबसे अधिक गरम क्षेत्र में रहकर भी औसत स्वास्थ्य वाला व्यक्ति हफ्तों तक आसानी से जीवित रह सकता है। यदि स्नायु-संस्थान अपेक्षाकृत अधिक समर्थ हो तो यह अवधि महीनों तक ही हो सकती है। उल्लेखनीय है कि साधारणतया अत्यधिक गर्मी वाले क्षेत्रों में अधिक से अधिक चौबीस घण्टे तक जीवित रह सकने की मान्यता प्रचलित है। डा० टेलर ने अपने प्रयोगों द्वारा २२० डिग्री तक की गर्मी देर तक सहन करके दिखाई और वे २५० डिग्री का तापमान भी १५ मिनट तक सहन करने में सफल रहे। स्मरणीय है कि १०० डिग्री में पानी भाप बनकर गायब होने लगता है।

मनुष्य कितनी गर्मी सह सकता है ? इसके साथ ही यह प्रश्न भी उठता है कि वह अधिक से अधिक कितना शीत सह सकता है ? मेजर डोनमल्ट ने इस सम्बन्ध में कई परीक्षण किये और बताया कि शरीर में शीत सहने की कोई अन्तिम सीमा नहीं है। उन्होंने बर्फीले पानी को शीत को घण्टों तक सहन करके दिखाया और यह भी प्रमाणित किया कि यदि किसी व्यक्ति ने शीत रक्षक सूट पहन रखा हो तो शीत से मृत्यु नहीं हो सकती। कहा जा सकता है मेजर डोनमल्ट ने पहले से ही इस तरह की व्यवस्था कर रखी होगी और यह अतिरंजित प्रतिपादन किया हो। किन्तु किसी आकास्मिक दुर्घटना में भी मनुष्य के बच जाने की सम्भावना को क्या कहेंगे ? द्वितीय महायुद्ध के दौरान ऐसी ही एक घटना घटी। इंग्लैण्ड का एक विमान चालक इस युद्ध के दौरान विपत्ति में फँस गया। उसके साथ दो और साथी भी थे। इन तीनों को भयंकर शीत वाले बर्फीले प्रदेश में भूखे-प्यासे दस दिन गुजारने पड़े। इन लोगों के पास कपड़े भी गरम नहीं थे। बर्फीली हवाओं, तूफानों और आँधियों का सामना करते हुए ये तीनों व्यक्ति करीब दो सप्ताह की प्राणान्तक यात्रा करते हुए उस प्रदेश की सीमा से बाहर बच सकने की स्थिति में पहुँचे।

बुखार के समय शरीर का तापमान अधिक बढ़ने लगता है तो डॉक्टर लोग सिर पर बर्फ रखने की सलाह देते हैं ताकि बढ़ा हुआ तापमान कम हो सके। किन्तु इस प्रतिपादन को पिछले दिनों बुकलिस (अमेरिका) की एक नर्स ने झुठला दिया जिसने ११० डिग्री बुखार को कई दिनों तक रखा। न केवल सहन किया वरन् बुखार से लड़ाई भी लड़ी और आखिर वह अच्छी हो गई। डॉक्टर कह चुके थे कि इसका बचना सम्भव नहीं है। जब उसका बुखार ठीक होने लगा तो डॉक्टर कहने लगे कि

इतनी अधिक गर्मी सहने के कारण उसका दिमाग जरूर विक्षिप्त हो जाएगा। पर नर्स ने न तो मृत्यु को ही पास फटकने दिया और न ही अपना मानसिक सन्तुलन खोया।

आहार मनुष्य को जीवित रखने वाला प्रमुख साधन माना जाता है। दस-बारह दिनों तक कोई व्यक्ति निराहार रह भी सकता है, पर इससे अधिक समय तक भूखे रहने पर स्वास्थ्य लड़खड़ाने-सा लगता है। ज्यों-ज्यों अधिक दिन तक भूख का सामना करना पड़ता है, त्यों-त्यों स्वास्थ्य लड़खड़ाने लगता है और कुछ ही समय में जीवन संकट उत्पन्न हो जाता है। किन्तु आयरिश स्वाधीनता युद्ध के उद्घाता टेनेन्स मेकस्विनी ने जेल में अनशन किया और १२८ दिन तक निराहार रहकर मौत से जूझते रहे तथा अन्ततः विजयी हुए। भारतीय स्वाधीनता संग्राम के सेनानी यतीन्द्रनाथ दास बिना भोजन किये ६९ दिन तक निराहार रहकर मौत से लड़ते रहे।

आपरेशन के समय कितने ही लोगों का एक-एक फेफड़ा, एक गुर्दा, जिगर का एक भाग और आँतों का एक हिस्सा काटकर अलग कर दिया जाता है। इतने पर भी उनका जीवन क्रम आसानी से चलता रहता है। सामान्य स्थिति में मनुष्य शरीर का तापक्रम ३६.६ डिग्री सेंटीग्रेड होता है। खून में शक्कर की मात्रा ०.१ होती है। रक्तचाप साधारण स्थिति में १०० से १४० मिलीमीटर मर्क्युरी कीलम होता है। यह तापमान शरीर के भीतरी अवयवों का ही होता है। ठण्ड के दिनों हाथ-पैरों का ताप तो ३३ डिग्री से भी कम रहता है। फिर भी सारा कार्य यथावत् चलता रहता है, पर इससे अधिक भीतरी गर्मी नहीं गिरनी चाहिए और वह ४५ से आगे भी नहीं बढ़नी चाहिए अन्यथा जीवन संकट उत्पन्न हो जाएगा। इस संकट से सुरक्षा के लिए शरीर के भीतर ही हीटर और कूलर जैसी व्यवस्था है। शरीर का सचेतन नाड़ी-संस्थान तापमान को सन्तुलित रखने के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहता है। माँसपेशियाँ इसमें ऊष्मा उत्पन्न करने का कार्य करती हैं। उन्हीं से ऊष्मा बनती, पकती, और बढ़ती है। इनके अतिरिक्त हृदय, फुफ्फुस, वृक्क, यकृत आँत आदि अंग भी एक प्रकार से भट्टी की तरह जलते और गर्मी पैदा करते हैं।

शरीर दिन-रात में १६० से १८० लाख कैलोरी ऊष्मा नित्य बाहर फेंकने का क्रम चलाता है। बिजली के हीटर भी प्रायः इतना ही ताप उत्पन्न करते हैं। जब कभी गर्मी कम पड़ती है, तो ठण्ड लगने लगती है। दाँत किट-किटाते हैं, अंग काँपते हैं। यह अतिरिक्त क्रियाकलाप प्रकृति द्वारा अतिरिक्त गर्मी उत्पन्न करने के लिए

घर्षणात्मक हलचल उत्पन्न करने के लिए आरम्भ किए जाते हैं।

रक्त भी शरीर में एक अच्छे ऊष्मा वाहक का काम करता है। ताप को एक स्थान से दूसरे स्थान तक भेजने के लिए रक्त-संचार पद्धति की द्रुतगतिता ही अभीष्ट प्रयोजन पूरा करती है। यह रक्त यदि दौड़ता न हो तो गर्मी जहाँ बनती है वहीं बनी रहती है। ताप उत्पन्न करने वाले अवयव जलने लगते हैं और शेष को शीत निवारण कठिन पड़ता है। रक्त दौड़ने का ही काम नहीं करता वरन् वह स्वयं गर्मी भी पैदा करता और गरम तो रहता है। उसकी यह विशेषता हीटर और कूलर दोनों के प्रयोजन पूरे करती है। जब देह को गर्मी लगती है तो रक्त की दौड़ शरीर से गर्मी को बाहर फेंकने लगती है और जब ठण्ड प्रतीत होती है तो यह गर्मी शरीर के भीतर संचित रहकर अंगों को गरम करती है। इस प्रकार शीत ऋतु में ताप संचय का क्रम चलता है और अपना रक्त ही आवश्यक गर्मी की व्यवस्था बना देता है।

शरीर को भले ही मिट्टी का पुतला या नश्वर खिलौना कहा जाय पर वस्तुतः वह परमात्मा की या प्रकृति की ऐसी अनुपम कलाकृति है, जिसकी तुलना में सृष्टि की और कोई वस्तु नहीं ठहरती। उसकी रचना ऐसी है कि साधारण बीमारियाँ अथवा दुर्घटनाएँ कोई विशेष अनर्थ नहीं कर सकती। शरीर की यह तितिक्षा शक्ति अपने भीतर इतनी अधिक मात्रा में सँजोकर रखी हुई है कि मृत्यु जैसा संकट उपस्थिति होने पर भी जीवन की आशा की जा सकती है कहा जा सकता है कि मनुष्य को विपत्तियों और संकटों से कोई विशेष हानि नहीं पहुँचती है तो अपने ही मन के द्वारा बुने हुए जाल-जंजालों, बुजदिली और साहस की दुर्बलताओं से। इसीलिए कहा गया है कि परमात्मा ने मनुष्य को अमित सामर्थ्य और अद्भुत संभावनाओं से भरपूर बनाया है। इस तथ्य को समझने वाले विचारशील लोग प्रगति के साधन बाहर नहीं ढूँढ़ते वरन् भीतर खोजते हैं। अपने दोष-दुर्गुण सुधारते हैं, अस्त-व्यस्त स्वभाव एवं कार्यक्रम क्रिया पद्धति को ठीक करते हैं तथा अभीष्ट दिशा में बढ़ चलने का पथ सहज ही प्रशस्त करते चलते हैं। अभ्युदय, अभ्युत्थान की समस्त सम्भावनाएँ मनुष्य के अपने भीतर ही विद्यमान हैं, जिसने इस तथ्य की वास्तविकता समझ ली, स्वीकार कर ली वह अपने को सम्भाल सुधार कर अबोध गति से आगे बढ़ता चलता है।

वास्तविक प्रगति व्यक्तित्व की

उत्कृष्टता

नीतिशास्त्री मैकडूगल का कथन है—“आत्म-विकास का अर्थ है—चरित्र का विकास। भीतर क्या है, इसे अपने के सिवाय कोई दूसरा नहीं जानता। बाहरी क्षेत्र में किसी के सम्बन्ध में धारणा बनाने का अवसर कैसे मिले? इसका एक ही आधार है—उसके चरित्र की परख। उत्कृष्ट सिद्धान्तों को समझ लेने भर से न अपना काम चलता है और न दूसरों पर प्रभाव पड़ता है। प्रतिक्रिया उस आचरण की होती है जो क्रियान्वित होता रहता है। इसी का नाम चरित्र है। प्रमाणभूत इसी को माना गया है। किसी की सच्चरित्रता परखने के लिए उसके आचरणों को ही साथी माना जाता है न कि उसके एकान्त चिन्तन को।”

“एकान्त चिन्तन यदि कल्पनाओं की उड़ान का जाल-जंजाल हो तो बात दूसरी है अन्यथा जिन विचारों का मनःक्षेत्र पर आधिपत्य होगा वे व्यवहार में परिणति हुए बिना रहेंगे ही नहीं, विचार यदि विश्वास युक्त हों तो वे मनःक्षेत्र तक सीमित न रहकर व्यवहार में उतरते और सत्प्रवृत्तियों को अपनाने के रूप में दृष्टिगोचर होते हैं। अस्तु, अन्तःक्षेत्र के चिन्तन की यथार्थता को जाँचने के लिए चरित्र एवं व्यवहार की ही जाँच-परख करनी पड़ती है।”

चरित्र ही व्यक्तित्व के स्तर का यथार्थ है। उस पर प्रवंचनाओं का आडम्बर चढ़ाने और मुखौटा लगाकर कुरूप को सुन्दर बनाने के प्रयत्न तो अनेकों चलते हैं, पर उनकी कलाई उखड़ते देर नहीं लगती। पाखण्ड से आत्म-प्रवंचना ही हो सकती है। कुछ लोगों को कुछ समय तक धोखे में भी रखा जा सकता है, पर सत्य का कोई विकल्प नहीं। विशेषतया व्यक्तित्व की परख के सम्बन्ध में उत्कृष्टता की वह परख ही निर्णायक होती है जो किसी घटना विशेष से नहीं वरन् अनवरत जीवन-प्रवाह की दिशाधारा को देखते हुए सुस्थिर मान्यता के रूप में विकसित होती है।”

आग और गर्मी का अन्योन्यप्रय सम्बन्ध है। व्यक्तित्व और चरित्र एक ही तथ्य को प्रमाणित करने वाले दो रूप हैं। चरित्र व्यवहार की शालीनता एवं निजी जीवनचर्या में प्रकट होता है। इसी आधार पर जो आत्म-विश्वास जमता और लोक श्रद्धा का स्वरूप बनता है उसी को चरित्र कहते हैं। चरित्र और व्यक्तित्व एक ही तथ्य के दो नाम रूप हैं।

देखने में तो असफलताओं के कारणों में परिस्थितियों की प्रतिकूलता, साधनों का अभाव सम्बद्ध लोगों का असहयोग जैसी कुछेक विशेषताएँ ही गिनाई जाती हैं। कुछ भाग्यदोष, या दैव प्रकोप कहकर भी मन समझाते रहते हैं। किन्तु वास्तविकता खोजने पर कुछ दूसरे ही तथ्य उभरकर सामने आते हैं। अपवाद रूप में तो श्रेष्ठ जन भी मात खाते देखे गये हैं या सामान्यतया तथ्य एक ही होता है कि उनकी वैयक्तिक दुर्बलताएँ, सफलता के मार्ग में प्रमुख अवरोध बनकर अड़ी रहीं। चिन्तन तथा प्रयास उस स्तर का नहीं बनने दिया जिसकी गर्मी से अभीष्ट की उपलब्धि पकती, फलती और उत्साहवर्धक उपलब्धि के रूप में हाथ आती।

शारीरिक ढाँचा, मन्द बुद्धि, स्वल्प शिक्षा, सुसंस्कारिता की अनुपलब्धि, दक्षिणता, जन्मजात अपंगता आदि कुछ ऐसी कमियाँ हैं जिन्हें प्रारब्धजन्य या परिस्थितिजन्य कहकर एक सीमा तक मनुष्य को दोष मुक्त किया जा सकता है। एक सीमा तक इसलिए कि इसी के रहते हुए भी असंख्यों ने इतनी प्रगति की और सफलता पाई है कि सर्व समर्थों को भी दौतों तले उँगली दबानी पड़ी है। साथ ही मानना पड़ता है कि कोई भी सांसारिक अभाव अवरोध ऐसा नहीं जो मनस्वी का प्रगति पथ अवरुद्ध कर सके।

कुछ व्यवधान ऐसे हैं, जो मनुष्य के स्व उपाजित हैं। अभ्यास में उतरते, रहन-सहन करते रहने से स्वभाव के अंग बन जाते हैं और निर्दोष तक प्रतीत होने लगते हैं। आलस्य, प्रमाद, असंयम, आवेश, अस्थिरमति, अदूरदर्शिता, उद्वण्डता, हठवादिता, आत्महीनता जैसे दुर्गुण स्वविनिर्मित होते हैं। इन्हें अनगढ़, अविकसित व्यक्तित्व कहा जा सकता है। जिस प्रकार बालकों का मानसिक स्तर अपरिपक्व सामाजिक नीति-नियमों से अनभिज्ञ जीवनयापन की विधि-व्यवस्था से अपरिचित होता है, उसी प्रकार की स्थिति कई मनुष्यों बड़ी आयु हो जाने पर भी बनी रहती है। वे खाने-कमाने भर की मोटी जानकारी भर प्राप्त करके अपना काम चलाते और समय गुजारते रहते हैं, पर ऐसा कुछ उनके पल्ले नहीं बैधा होता जिसके आधार पर उन्हें सुसंस्कारी एवं सभ्य समाज का सदस्य कहा जा सके।

शेखीखोर, बन-ठनकर रहने वाले, रौब गाँठने वाले ठग और प्रपंची लोग मन में ऐसा सोचते हैं, इन हथकण्डों से उन्हें अधिक चतुर प्रवीण समझा जायेगा और लोग प्रभावित होते, प्रशंसा करते दिखाई पड़ेंगे किन्तु वैसा होता कुछ नहीं। शारीरिक बचपन चेहरा देखते ही प्रकट हो जाता है ठीक उसी प्रकार मानसिक बचपन

आत्मप्रकटीकरण और आचरण, व्यवहार पर सामान्य-सी नजर डालते-डालते अपनी बात अपने मुँह कहने लगता है।

अनेकें हानिकारक दुर्गुणों की नामावली लोगों को विदित है। उनमें कुछ व्यक्तिगत दोष होते हैं और पिछड़ेपन से जकड़े दबोचे रहते हैं। कुछ उच्छ्वलता और आक्रामकता के रूप में प्रकट होते हैं, इनमें स्तर भर का अन्तर है। दोनों ही अविकसित और विकृत व्यक्तित्व का परिचय देते हैं और प्रकट करते हैं कि उस शालीनता का विकास अभी नहीं हुआ जिसे सभ्यता कहा और प्रगति के लिए आवश्यक माना जाता है।

‘ए मैनुएल ऑफ एथिक्स’ ग्रन्थ में एम मैकेन्जी लिखते हैं—‘दुराचारी मनुष्य के हाथ से कोई भला काम नहीं बन पड़ेगा। उसके हाथ से भले काम सौंपे जायें तो भी वह उनमें अपने चरित्र की छाप छोड़ेगा और कहीं न कहीं ऐसी गड़बड़ी उत्पन्न कर देगा जिसमें भला दीखने वाला काम भी उलझन में फँसे और विग्रह उत्पन्न करे।’

वे कहते हैं—‘काम करने की कुशलता कैसी भी क्यों न हो, उसके सहारे इतना भर हो सकता है कि प्रयोजन को कम समय और कम लागत से खूबसूरती के साथ निपटा दिया जाय। इस विशेषता और सफलता के होते हुए भी एक कमी बनी ही रहेगी कि इस कार्य में लगे हुए सहयोगी अपने मार्गदर्शक से ऐसी परोक्ष बुराईयों भी अपना लें, जो उन्हें उपलब्ध पारिश्रमिक की तुलना में अधिक घाटे की सिद्ध हों। इसी प्रकार जो काम हाथ में लिया गया है उसके कितने ही भागों में ऐसी खामियाँ जान-बूझकर या अनजाने रह सकती हैं जो अन्ततः उपभोक्ता को मर्हंगी पड़े और निर्माता को बदनामी का कारण बनकर उसके व्यवसाय को बेतरह गिरा दें।’

यही बात हर क्षेत्र के बारे में है। बुरे आदमी भी परिश्रम करने और चतुरता का परिचय देने में खरे भी सिद्ध हो सकते हैं। इतने पर भी इस कार्य का स्तर सदा गया-गुजरा ही बना रहेगा। लोक सेवा के कार्यों में संलग्न व्यक्ति प्रत्यक्षः देशभक्त होते और समाज कल्याण के काम करते पाये जाते हैं। इतने पर भी यदि वे चरित्र की दृष्टि से बुरे आदमी हैं तो अपने कार्यों के सम्बन्ध में भी जन-साधारण को आश्वस्त न कर सकेंगे और चरित्र की तरह उद्देश्य के सम्बन्ध में भी सन्देह उत्पन्न करते रहेंगे।

आदमी काम जो भी करे, प्रक्रिया कोई भी अपनाये पर उस पर कर्त्ता के वास्तविक व्यक्तित्व की छाप रहेगी ही। ऐसा हो ही नहीं सकता कि कर्त्ता किसी भी स्तर

का क्यों न बना रहे उसकी कृतियाँ सत्परिणाम ही उत्पन्न करती रहें। काम को खूबसूरती से निपटा देना कुशलता के ऊपर निर्भर है किन्तु उनकी अन्तिम परिणति तो उस चरित्र एवं उद्देश्य के अनुरूप ही होगी जो कर्ता के अन्तराल या व्यक्तित्व में सन्निहित है।

कुशलता और सफलता को सदाशयता से अधिक मूल्यांकन नहीं किया जा सकता। यह मान्यता सही नहीं है कि मनुष्य निजी जीवन में कुछ भी क्यों न बना रहे, उसका परिश्रम लोकोपयोगी होना चाहिए। व्यक्ति मशीन नहीं है जो अपने निर्माण में एक सपना बनाये रह सके। वह अपने चिन्तन, चरित्र और व्यक्तित्व की छाप भी किये हुए कामों पर छोड़ता है और यह छाप इतनी विलक्षण होती है कि कामों का स्तर बनाने तथा परिणाम उत्पन्न करने में आश्चर्यजनक भूमिका निभाती है।

इस संसार के बाजार में एक से एक आकर्षक वस्तुएँ बिकने के लिस सजी-सजाई रखी हैं। बच्चे जिधर से भी निकलते हैं उधर की ही चमकीली वस्तुओं को देखकर ललचाने—और पाने के लिए मचलने लगते हैं। उन्हें इस बात का ज्ञान नहीं होता कि जिनके लिए इतनी आतुरता है वे उनके उपयोग की भी हैं या नहीं।

अनुकरण की प्रवृत्ति होती तो है, पर देखना यह भी होता कि किनका अनुगमन किया जाय ? चाहे जिसके पीछे चल पड़ने, चाहे जिसकी नकल बनाने, चाहे जिसका कहना मानने और चाहे जिस जैसा बनने का उपक्रम सपना है, जिसे देखकर यही कहा जा सकता है कि मेले के आकर्षण में बौखलाये बच्चे की तरह अनुपयोगी और जेब से अधिक कीमत की वस्तुएँ प्राप्त करने की बाल-बुद्धि अनियन्त्रित हो रही है।

दुनिया में क्या नहीं ? यहाँ हर प्रयोजन की हर चीज, मौजूद है, पर उसका मतलब यह तो नहीं कि वे सब अपने लिए ही हैं। ललचाता मन देते समय भगवान ने मनुष्य को ऐसा विवेक भी दिया है जिसके सहारे यह जाना जा सके कि अपने लिए क्या उपयोगी और क्या अनुपयोगी है ? क्या अपनी सामर्थ्य के भीतर और क्या बाहर है ? परामर्श देने वालों की जो मनःस्थिति, योग्यता, साधन, परिकर, वातावरण है वह अपने पास भी हो यह आवश्यक नहीं। उन्हें जो रुचता या पचता है वही अपने लिए भी फिट बैठेगा इसका कोई निश्चय नहीं। ऐसी दशा में हर विचारशील ही अपनी स्वतन्त्र बुद्धि का ही उपयोग करना चाहिए कि उन्हें किस मार्ग पर चलना या क्या बनना है ?

लक्ष्य निर्धारण करते समय एक बात का ध्यान रखा ही जाना चाहिए कि उत्कृष्टता का परित्याग न किया

जाय। सराहनीय समझदारी यह है, जो जीवन प्रवाह को आदर्शवादी दिशाधारा में गतिशील होने की प्रेरणा देती है। मार्ग कुछ लम्बा भी है, कठिन भी उस पर चलने वाले उतनी ऊँचाई तक चढ़ सके हैं जिसे सामान्य लोग जीवित रहते स्वर्ग तक जा पहुँचने के समतुल्य मानें और आश्चर्यचकित होकर देखें। आवश्यक नहीं है कि विलासिता, संग्रह और वाहवाही समेटने को ही बुद्धिमता माना जाये। ऐसी जीवनचर्या अपनाना, ऐसा रास्ता अपनाना भी घाटे का सौदा नहीं जिसमें वैभव तो सामान्य ही रहता है पर आत्म-गौरव और श्रद्धा सहयोग अर्जित करने में कमी नहीं रहती।

व्यक्तित्व का स्तर गिरायें नहीं,

ऊँचा रखें

अस्थिरता, आतुरता, अव्यवस्था और आशंका की चाण्डाल चौकड़ी मनुष्य की उस क्षमता का बुरी तरह शोषण, अपहरण करती रहती है जिसके सहारे कोई भी अभीष्ट प्रगति के उच्च शिखर पर पहुँच सकता है।

अधीरता ओछेपन का चिह्न है। अपना कुछ निश्चय ही न हो। हवा के साथ उड़ने वाले तिनके की तरह जिस-तिस के प्रभाव या प्रवाह में बहते रहा जाय तो बात कुछ बनेगी नहीं। मनुष्य का अपना व्यक्तित्व होना चाहिए और अपना निश्चय सन्तुलन हर दृष्टि से आवश्यक है। उसके बिना न संकटों से उबरना सम्भव हो सकता है और न प्रगति का मार्ग मिलता है। यहाँ तक कि भीतर का खोखलापन सामान्य जीवन को भी कठिन बना देता है। अवास्तविक आशंकाएँ सिर पर छाई रहती हैं और उन्हीं के दबाव से आदमी का कचूमर निकलता रहता है।

परीक्षा काल में छात्रों की मानसिक शक्ति का व्यय किस क्रम से होता है उसका सर्वेक्षण अमेरिका की मिशिगन युनिवर्सिटी में किया गया, उसमें पाया गया कि प्रश्न-पत्र पाने पर उसकी कठिनाई, चिन्ता, आतुरता, आशंका आदि के कारण आरम्भ में वे अधिक उत्तेजित रहे और उतने समय तक अधिक मानसिक शक्ति गँवाते रहे। जब उनमें प्रश्न पत्र हल करना आरम्भ कर दिया, तो उत्तेजना सन्तुलन में बदल गई और उत्तर लिखने में जो मानसिक श्रम करना पड़ा वह उत्तेजित स्थिति की तुलना में कहीं कम था।

अधिक और सही काम कर सकने का मूड लाइमेक्स वस्तुतः सन्तुलित, प्रसन्न और आशान्वित मनःस्थिति का ही उत्पादन है। लोग उसे अनायास बरसने वाला दैवी अनुदान जैसा मानते हैं और उसकी प्रतीक्षा में

आशा लगाये बैठे रहते हैं। वर्षा होने पर बीज बोने की बात सोचकर जो हाथ पर हाथ रखे बैठे रहते हैं, उनसे वे अधिक बुद्धिमान हैं जो कुएँ से सिंचाई करके समय पर खेत में बीजारोपण कर लेते हैं। मूड़ बन जाय या बनाया जाय दोनों ही स्थितियों में मानसिक सन्तुलन और रचनात्मक उभार आवश्यक है। यह उत्पादन, निश्चित रूप से अपने प्रयत्न द्वारा भी किया जा सकता है।

कितने ही लोग बातें करने में बहुत कुशल होते हैं। उनके तर्क, लहजे, प्रमाण और उदाहरण ऐसे होते हैं जिनसे सुनने वाले सहज ही प्रभावित हो जाते हैं। कुछ को तो बोलने की ऐसी आदत होती है कि जीभ रोके नहीं रुकती और कैची की तरह चलती ही रहती है। कई बार तो ऐसे लोगों से सुनने वाले ऊबने लगते हैं और किसी प्रकार जान छुड़ाने की बात सोचते हैं। दूसरों को कुछ कहने का वे अवसर ही नहीं आने देते। अधिक बक-झक कुल मिलाकर मनुष्य के स्तर को घटाती और व्यक्तित्व को गिराती है। बकवास सभ्य आचरण में नहीं गिनी जाती। उससे छछोरापन टपकता है। कम और सारगर्भित बोलने वाले बुद्धिमान भी समझे जाते और उनकी बात का प्रभाव भी पड़ता है। वातालाप का यह कौशल यदि बहिर्मुखी न रहने देकर अन्तर्मुखी बना लिया जाय तो बुद्धिमत्ता की मात्रा में सहज ही आशाजनक अभिवृद्धि हो सकती है।

मन की दो परतें हैं—एक बाजारू बचकाना—दूसरा सम्मानित उपाध्याय। अध्यापक के प्रशिक्षण में छात्र की योग्यता बढ़ती है। बचकाने मन का समुचित प्रशिक्षण करना यदि उपाध्याय को रुचिकर लगे तो यह क्रम हर घड़ी चलता रह सकता है। सोचने का सही तरीका भर यह छात्र यदि ठीक से सीख सके तो उतने भर से मनःसंस्थान की गरिमा अत्यधिक बढ़ सकती है। अस्त-व्यस्त चिन्तन से मानसिक शक्तियों का अपव्यय ही नहीं होता, वरन् हानिकारक गतिविधियाँ अपना लेने और पग-पग पर ठोकरें खाने का भी खतरा रहता है। जिस प्रकार बच्चों को शिष्टाचार सिखाया जाता है और बछड़ों को कृषि कार्य के लिए सघाया जाता है उसी प्रकार मन को भी सही सोचने और सही करने के लिए प्रशिक्षित किया जाना चाहिए। यह कार्य अपना ही उच्चस्तरीय मन कर सकता है। वह मन जिसे अध्यापक, उपाध्याय की योग्यता अनायास ही प्राप्त है।

कई परिवारों में संकोचशीलता की कुछ विलक्षण प्रथा चल पड़ती है। एक दूसरे से बहुत कम बोलते हैं और आमने-सामने आने से कतराते रहते हैं। कहने को तो इसे शील-संकोच भी कह लिया जाता रहा है, पर

वस्तुतः इसे दम्बूपन जैसा ही कुछ नाम दिया जाना चाहिए। परस्पर घुल-मिलकर बातें करने से मन हल्का ही नहीं होता, घनिष्ठता बढ़ती है, गुणियाँ खुलती हैं और कई उपयोगी निष्कर्ष निकलते हैं। यही बात मन के सम्बन्ध में भी है। मन से मन को समझाने की परस्पर शंका-समाधान, विचार-विनिमय और आदान-प्रदान करने की आदतें ऐसी अच्छी हैं कि दृष्टिकोण में आशाजनक सुधार होता है। दुष्प्रवृत्तियाँ छूटती हैं और सर्वतोमुखी प्रगति के कितने ही अप्रत्याशित द्वार खुलते हैं।

परिस्थितियों को सुधारने की बात सभी सोचते हैं किन्तु यह भूल जाते हैं कि मनःस्थिति पर ध्यान देना और भी अधिक आवश्यक है। यदि अपने चिन्तन को परिष्कृत और क्रिया-कलाप को व्यवस्थित बना लिया जाय तो परिस्थितियों की प्रतिकूलता बहुत हद तक स्वतः ही सरल हो जायेगी। जो बच रहेगी उससे सूझ-बूझ और साहस के सहारे निपट लेना कुछ अधिक कठिन न रहेगा। प्रतिकूलताओं से डरने की अपेक्षा यह अधिक उपयुक्त है कि उनसे निपटने के कौशल को उभारा और परिपक्व किया जाय।

शेक कहते थे—“आपत्तिकाल का सबसे बड़ा लाभ यह है कि वह हमें संसार की कड़ुई सच्चाइयों से परिचित कराता है। मित्रों और शत्रुओं के वास्तविक रूप को नंगा करके सामने खड़ा कर देता है।” लुकमान ने कहा—‘आपत्तिकाल से पार होने का सबसे बड़ा सहारा है, उज्ज्वल भविष्य की आशा।’ अँधेरी रात प्रातःकाल की प्रतीक्षा में सहज की कट सकती है। आपत्ति में डूबता वह है जिसने अन्धेरे भविष्य का अन्धकार अपने चारों ओर सँजोकर रख लिया है।

हर स्थिति में हल्के-फुल्के बने रहने की आदत उत्पन्न कर लेना जीवन को सरस बनाने की दृष्टि से अति महत्वपूर्ण कला कौशल है। खिलाड़ी की दृष्टि रखें तो हार-जीत में सन्तुलन बिगड़ने न पायेगा। नाटक के पात्र अपने अभिनय में चूक नहीं करते, किन्तु प्रदर्शन के घटना-क्रम में इतने प्रभावित भी नहीं होते कि आवेशग्रस्त होकर अपनी नींद ही हराम कर बैठें। यही मध्यवर्ती मनःस्थिति हमारी होनी चाहिए।

मेसाचुसेट्स इलाके के ग्रेटवरीग्टन है, उपनगर का निवासी परसी एच व्हाइटिंग नामक एक हंसोड़ ने अपना जीवन वृत्तान्त लिखते हुए बताया है कि उसने जवानी के बीस वर्ष ऐसी बीमारियों से लड़ते हुए बिताये जिन्हें मौत की सहेली माना जाता है। डॉक्टर उसे असाध्य बताया करते थे। इलाज करके बदनामी लेने के लिए बड़े चिकित्सक तो तैयार ही न होते थे। बाप दवाओं की

दुःखन करते थे। उनकी जान-पहचान बहुत से डाक्टरों से थी सो चित्र-विविध बीमारियों के इलाज और नित नये उपचार पर प्रायः चर्चा होती ही रहती थी। दवाओं पर खर्च भी बहुत हुआ था। पर उससे नतीजा कुछ नहीं निकला।

अन्ततः उसने अपना इलाज अपने हाथ में लिया। आहार-विहार को सुसंयत करने के अतिरिक्त उसने एक अच्छी आदत सीखी—वह थी, मुसकराते रहने और अवसर मिलते ही जी खोलकर हँसने की कला। इस उपचार ने उसका कया-कल्प ही कर दिया। वह बीमारियों से अपने आप छूटा और औसत मनुष्यों की तुलना में अधिक अच्छी तन्दुरुस्ती का जीवनयापन करने लगा। सोम उसके इस आश्चर्यजनक परिवर्तन की बात पूछते तो वह एक ही उत्तर देता—मैंने मरना बन्द कर दिया, फलतः जिन्दगी वापिस लौट आई। वह विषाद को मौत और मुस्कान को जिन्दगी की संज्ञा दिया करता था।

आदमी काम से नहीं थकता 'ऊब' से मरता है। काम में रस लेने लगे तो वह थक न रहकर विनोद बन जाता है। और उसे छोड़ने को मन नहीं करता जबकि थकान समझकर करने वाले तनिक से थ्रम और समय में बेतरह थकान अनुभव करते और छूटने के लिए आतुर रहते देखे गये हैं।

अलेग्जेन्द्रिया-वर्जिनिया के एण्टनी नामक अध्यापक ने एक कालेज में पूरे ४८ वर्ष तक काम किया। इस बीच उसने एक दिन के लिए भी स्कूल जाना बन्द नहीं किया। रविवार तथा अन्य छुट्टी के दिनों में भी वे स्कूल जाते थे तथा सफाई व्यवस्था आदि के कामों को अपने हाथों निपटाते थे। बीमारी तथा आकस्मिक कर्षों के लिए भी कभी उन्हें एक भी छुट्टी नहीं लेनी पड़ी।

किसी विषय में गहरी दिलचस्पी और अभिरुचि का होना सामान्य क्षमता को असामान्य बनाने की दृष्टि से बहुत ही कारगर सिद्ध होता है। साधनहीन और पिछड़ी स्थिति के लोग भी अपने विषय में गहरी दिलचस्पी उत्पन्न करके उस प्रयास में पारंगत होते देखे गये हैं।

स्कॉटलेण्ड का प्रख्यात कवि मैकडन्तायर सन् १७२४ में जन्मा और १८१२ में मरा। इन ८८ वर्ष के लम्बे जीवन में उसने हजारों कविताएँ गढ़ी और वे इस देश के साहित्यिक इतिहास में अनुपम मानी जाती हैं। यह कवि निरक्षर था। उसे न तो पढ़ना आता था और न लिखना। इसके लिए उसने प्रयत्न भी नहीं किया। वह कहता था स्मरण शक्ति ठीक काम दे तो पढ़ना और लिखना, सीखने में क्यों समय नष्ट किया जाय ?

हमारे जीवन शिथिल और अनियन्त्रित होते चले जा रहे हैं। भरी जवानी में ही बुढ़ापे की संख्या आ घेरती है। समय से पहले इस प्रकार बुढ़ापे का आगमन चिन्ताजनक है। जिसमें बच्चे और युवक भी जवानी का आनन्द न ले पायें। औंधी-तूफान की गति से अपने समाज पर बुढ़ापे का असर बढ़ता जा रहा है। यह शारीरिक नहीं मानसिक दुर्गति है। जो अपने को जवान मानता रहेगा उसकी जवानी बुढ़ापे में भी बनी रहेगी।

अनीति से समझौता कर लेना और उसके प्रतिरोध के लिए साहस न कर सकना यह बताता है कि आन्तरिक शौर्य गँवा दिया गया। किसी भी कीमत पर स्वार्थ सिद्ध करने की जहाँ उतावली हो, वहाँ इस बात की परवाह कौन करेगा कि इस प्रकार की उपलब्धियों में अनीति का आश्रय तो नहीं लिया गया है।

कुटिलता मनुष्य का गुण नहीं है। उसे शैतान का षड्यन्त्र कहा गया है, जहाँ कुचक्र रचे जाते हैं, षड्यन्त्रों का आश्रय लिया जाता है। दुरभिसंधियाँ रची जाती हैं, वहाँ मानवी गरिमा का दिवाला ही पिट गया समझा जाना चाहिए। ऐसे मनुष्य क्या कमाते, क्या पाते और क्या खाते हैं ? प्रश्न इस बात का नहीं है। देखना यह है कि जिन धिनैने तरीकों से इन उपलब्धियों को पाया गया क्या वे मानवी गरिमा के अनुकूल थीं ? यदि नहीं, तो उन सुविधाओं को अत्यधिक महँगे मूल्य पर खरीदा गया समझा जाना चाहिए।

बालकों जैसा सरल, सौम्य यह निश्छल जीवन एक दैवी वरदान है, जिसके ईर्द-गिर्द सुखद सम्भावनाएँ निरन्तर मेंडराती रहती हैं। न महत्वाकांक्षाओं की आग में जलें और न आशंकाओं से मन को भयभीत बनाये रहने की भूल करें। जो सामने है, उसका सदुपयोग करना और आनन्द लेना ही सच्चा कर्म कौशल है। इसे अपनाकर हर परिस्थिति का व्यक्ति सुखी और सरस जीवन जी सकता है।

आइन्स्टाइन जब मरने को हुए तो किसी ने उनसे पूछा—“आपको मरने से डर तो नहीं लगता ? उनसे शांत भाव से उत्तर दिया—सर्वत्र संव्याप्त चेतना के साथ मैंने इतनी आत्मीयता जोड़ ली है कि मुझे अपनों से अलग होने जैसा आभास ही नहीं हो सकता। साथ ही उनसे यह भी कहा था—“परिवर्तन प्रकृति की अनवरत खिलवाड़ है इस सामूहिक क्रीड़ा-विनोद से हम अलग कैसे रह सकते हैं। परिवर्तन की स्वाभाविकता में डरावनापन नहीं, सहज प्रवाह है, जो सरस भी है और सुगम भी।”

जीवन को हल्का-फुल्का रखने के लिए आवश्यक यह है कि व्यक्तित्व का मूल्य समझा जाय और उसे प्रखर परिष्कृत बनाने की लिए चिन्तन और चरित्र का स्तर गिरने न दिया जाय।

व्यक्तित्व का सर्वांगपूर्ण जादुई

कायाकल्प

मनुष्य की समूची अन्तर्निहित क्षमताएँ एक-एक करके जीवनक्रम का अंग बनें, इस हेतु जरूरी है कि अनुपयोग के कारण धूल-गर्द में पड़ी जंग खारही मानसिक चेतना सही ढंग से सन्तुलित रूप से क्रियाशील हो। उपयोग की कुशलता न मालूम होने पर अनाड़ी चालक नई से नई मोटर को खड्ड में गिरता तथा अपने साथ औरों की भी जान गँवाता है। करतूस और रइफल में शेर और हाथी मारने की सामर्थ्य होते हुए भी बेवकूफ निशानेबाज से चिड़िया मारना भी नहीं बन पड़ता। इतना ही नहीं रइफल के धक्के से खुद ही लुढ़ककर गिर पड़ता है। मन की जादुई ताकत उपयोग के कौशल के अभाव में निष्क्रिय पड़ी रहती अथवा आधे-अधूरे ढंग से अभिव्यक्ति हो पाती है।

यों मन का वैभव अपार है। विचारक गुह्यवेत्ता, मनोविज्ञान के आचार्य सभी अपने शोध अनुभवों के आधार पर एक मत से इस सत्य को स्वीकार करते हैं। इसके बाद भी तथ्य यही है कि आज का आदमी अपने को संकटों से घिरा, परेशानी में फँसा असहाय सा अनुभव कर रहा है। उसे न तो निकल भागने की कोई राह सुझ रही है और न ही उलझनों को सुलझाने के कोई समाधान।

कारण कि मानसिक चेतना अपने सुधरे-सँवरे रूप में ही अपने रत्न उछालती है। ऐसी ही दशा में ये विभूतियाँ चरित्र के गलियारे से चलकर व्यवहार के दरवाजे से बाहर निकलती हैं और बरबस सभी का मन मोह लेती हैं। इसमें सफल जन व्यक्तित्व सम्पन्न कहलाते हैं और प्रतिभावानों की श्रेणी में गिने जाते हैं। सभी के पास मन होते हुए भी ऐसों की गिनती उँगलियों पर गिने जाने लायक भर है। 'होल ब्रेन थिंकिंग' के रचनाकार मनःशास्त्री 'जैक्यूलिन वन्डर व प्रिंसिपला दोनोवान' ने अपनी इसी पुस्तक में कारण को समझाने की चेष्टा की है। उनके अनुसार बेतरतीब और अस्त-व्यस्त होने के कारण हमारे मन का मात्र एक छोटा-सा भाग सही ढंग से क्रियाशील रहता है। बाकी की प्रभाविकता अल्प या न्यून होती है।

मनोवैज्ञानिक स्पेरी ने समूचे मन में निहित विभूतियों को दो वर्गों में बाँटा है—आदर्श प्रधान और यथार्थ प्रधान। आदर्श प्रधान वर्ग में कल्पना, रचना, संवेदना, अनुभूति, बहुआयामी चिन्तन, दूरगामी योजना बनाना, चेहरे, आकार के माध्यम से व्यक्तित्व की गहरी परतों में प्रवेश, दर्शन, विविध कलाओं में कुशलता, साहित्य में विशेषज्ञता आदि की गणना की जाती है। जबकि यथार्थोन्मुख वर्ग में विविध भाषाओं के ज्ञान, तार्किक और विश्लेषक चिन्तन, तंत्र व संगठन गणित करने, सन्तुलन बिठाने, द्विआयामीय चिन्तन, गणितीय आँकलन तथा सामान्य बौद्धिक क्षमताएँ आती हैं।

इस सबके बाद भी मन में बिखराव तथा सन्तुलन के अभाव के कारण व्यक्ति मूढ़ता के चंगुल में फँसा बुद्ध बना रहता है। इतना ही रहे—तब भी ठीक है। असन्तुलन की बढ़ती दर अनेकों समस्याओं को जन्म देती और विघटन के नए-नए स्वाँग खड़े करती है। अमेरिकन मनोवेत्ता व्ही० एच० मार्क एवं एफ० आर० इरविन ने "वायलेन्स एण्ड ब्रेन" में इस असन्तुलन से दो स्थितियों का पनपना स्वीकारा है। पहली स्थिति में क्षमताओं के कपाट बंद होते हैं और मनुष्य अपने को निस्तेज व शक्तिहीन पाता है। दूसरी दशा शक्तियों के अनियंत्रित बहाव की है। ऐसे में इनका सुनियोजित उपयोग कर पाना असम्भव होता है। आक्रामकता और उन्माद इसी दशा में जन्म लेते और बढ़ते हैं।

पिछले दिनों फिलीपाइन्स के मनीला स्थित "एशियन इन्स्टीट्यूट ऑफ मैनेजमेण्ट" ने इस सम्बन्ध में एक विस्तृत सर्वेक्षण किया था। जिसकी रिपोर्ट 'टाइम' पत्रिका में प्रकाशित हुई। प्रकाशित विवरण के अनुसार समाज में अधिकांशतया दो तरह के लोग हैं। पहले उपरोक्त असन्तुलित, दूसरे वे जो मन के यथार्थोन्मुख हिस्से का थोड़ा बहुत उपयोग करते, बाकी भाग को निठल्ला छोड़ देते हैं। बढ़ती जा रही यथार्थवादी प्रवृत्ति, पनपता बुद्धिवाद, धन-शक्ति के पीछे भाग-दौड़ का यही कारण है। उपर्युक्त पत्रिका का यह मानना है कि पश्चिमी जन-जीवन पर यथार्थवादी चिन्तन हावी हो गया है, जबकि पूर्व विशेषतया भारत के सांस्कृतिक चिन्तन से ऐसे संकेत मिलते हैं कि यहाँ की सभ्यता ने आदर्शवादी जीवन प्रणाली पर बल दिया है। यही नहीं यहाँ के निवासियों ने चिन्तन में यथार्थ और आदर्श के सन्तुलन को अपनाया होगा। अन्यथा एक व्यक्ति से एक साथ आध्यात्मिक और वैज्ञानिक गवेषणाएँ सम्भव न बन पड़तीं।

आज भी ऐसा ही सन्तुलन जरूरी हो गया है। पश्चिमी के ख्यातिनामा भविष्यवेत्ता जॉन नेयाविट

“मेगाच्चाइसेज” में लिखते हैं धरती की सभ्यता एक बार पुनः पुराने ऋषि नेतृत्व का अनुगमन करेगी। ऐसा अनुगमन जिसमें मानवी मन चिन्तन के स्तर यथार्थ व आदर्श के मध्य सामंजस्य बिठाने और व्यवहार में उसे लागू कर पाने में समर्थ होगा। स्वाभाविक है ऐसे युग में वही टिक सकेगा जो इसे कर्तव्य के रूप में पहचान कर निर्वाह कर सके।

एशियन इन्टीट्यूट ऑफ मैनेजमेन्ट मनीला ने इस ओर “पहला किन्तु प्रभावी कदम उठाया है। उसने प्रबन्धकों को प्रशिक्षण देते समय इस बात का पूरा ध्यान रखा है कि उन्हें समूचे मन का सन्तुलित रीति से उपयोग करना आये। ताकि वे भावी समय में अधिक उपयोगी साबित हो सकें। भावी समय में उपयोगिता के आधार पर कार्यक्रम बनाने के कारण इस योजना का नाम ही “भावी समय के प्रबन्धकों का प्रशिक्षण” रखा गया है।

हमारी अपनी उपयोगिता भी भावी युग में असंदिग्ध हो इसके लिए उपर्युक्त नीति ही उचित रहेगी। मानसिक क्षमता को जगाने और सन्तुलित उपयोग करने का कौशल बताते हुए एफ० टी० मिखेलोव का “द रिडिल ऑफ सेल्फ” में मानना है कि सर्वप्रथम हम अपनी चेतना में समाई शक्तियों के प्रति जागरूक हों। इनके प्रति विश्वास जमाएँ। साथ ही यह समझें कि प्रत्यक्ष-यथार्थ का उपयोग आदर्श के लिए है। आदर्श को व्यवहार में उतार लाना ही सार्थक है।

इसके लिए काम बदलने अथवा दोनों ही प्रकार के कामों का दैनिक जीवन में समावेश करने को मनोविज्ञान में प्रभावी माना है। उदाहरण के लिए, दैनिक कामों में सेवा, सत्साहित्य अध्ययन का भी समावेश किया जाय। इससे यथार्थ परायण जीवन में बढ़ती जा रही तार्किकता, विश्लेषक चिन्तन के साथ सोई पड़ी आदर्शवादी संवेदना, कल्पना जगेगी। इतना ही नहीं अनुभूति का भी विस्तार होगा। यथार्थवादी चिन्तन और जीवन में आदर्शों का समावेश सूखे पड़े पतझड़ वाले वन में बसन्त की तरह नव जीवन में बहार लाने वाला सिद्ध होगा।

मानसिक चेतना के दोनों पक्षों को उभारें। यह उभर सकें ऐसी जीवन प्रणाली गठित करें। इस तरह उपजे सन्तुलन से चेतना के क्षेत्र में समाई रहस्यमयी शक्तियाँ पूर्ण प्रखरता के साथ जीवन में उतरेगी और समूचे व्यक्तित्व का जादुई रीति से कायाकल्प होता दाँख पड़ेगा। प्रतिभावानों के भावी युग में स्वयं अपना भी विशिष्ट स्थान होगा।

सर्वांगीण विकास का साधन

व्यावहारिक वेदान्त

भारतीय दर्शनों में वेदान्त का अपना विशिष्ट स्थान है। प्रायः सभी तत्ववेत्ताओं ने चिन्तन के क्षेत्र में इसे शीर्ष स्थानीय माना है। विचारकों की यह मान्यता अकारण हो, ऐसा नहीं है। सहस्राब्दियों पूर्व ऋषि कहे जाने वाले विचारकों ने विचारों के विशाल क्षीरसागर का मन्यन करके जो नवनीत निस्सृत किया, वही वेदान्त का रूप संकलित है। इन मनीषियों द्वारा प्रतिपादित सूत्र सिद्धान्त काल की दृष्टि से भले ही चिर-पुरातन हो गए हैं, पर उपादेयता की दृष्टि से सर्वथा नवीन हैं। जीवन के विकास हेतु आरोहण का पथ आज भी उसी तरह प्रशस्त करते हैं, जैसा पूर्व में किया था।

इन विचारों ने पूर्व व पश्चिम के अनेकानेक विचारकों, मनीषियों, दार्शनिकों, सन्तों को समान रूप से प्रभावित किया है। यह प्रभाव मात्र विचारणा के स्तर पर रहा हो, ऐसा नहीं है। जीवन की दिशा, कार्यपद्धति सहित आमूल-चूल परिवर्तन अभिनवरूप से उनका जीवन गठित हो सका। पूर्वी विचारकों में बोधायन, उपवर्ष, गुहदेव, कपर्दी, भारुचि, भर्तृमित्र, टंक, ब्रह्मदत्त, सुन्दर पाण्ड्य, गौड़पाद आदि आचार्य शंकर के पूर्ववर्ती चिन्तकों से लेकर सुरेश्वराचार्य, पद्मपादाचार्य, वाचस्पति मिश्र, सर्वज्ञात्म मुनि, अद्वैतानन्द, बोधेन्द्र, विद्यारण्य, धर्मराजाध्वरीन्द्र आदि पश्चाद्वर्ती आचार्यों तक सभी ने अपने-अपने ग्रन्थों में इसके स्वरूप व महत्त्व को स्वीकारा तथा मानव व मानवता का पथ-प्रशस्त करने हेतु इसकी उपयोगिता-आवश्यकता पर बल दिया है।

वेदान्तरूपी सूर्य की किरणों से मात्र पूर्वी जगत आलोकित हुआ हो, ऐसा नहीं। इसकी प्रखरता व आलोक से पश्चिमी विचारकों के मन-मानस आलोकित हुए और उनसे दिशा ग्रहण की। प्रख्यात विचारक टॉमलिन ने अपने ग्रन्थ “द ग्रेट फिलासफर्स” के पृष्ठ २१८ पर वेदान्त के पश्चिमी जगत पर प्रभाव का उल्लेख करते हुए बताया है कि शांकर दर्शन की दिशा लगभग वही थी, जिसको उत्तरकाल में जाकर जर्मन दार्शनिक काण्ट ने अपनाया।

उपर्युक्त कथन के आधार पर यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि पाश्चात्य आलोचक विद्वान इसके प्रभाव को सहर्ष स्वीकारते हैं। वैसे तो अनेकों विचारक इसके ऋणी हैं। फिर भी देकार्त, स्पिनोजा, लाइब्निज, बर्कले, काण्ट, फिकते, शेलिंग, हेगल व शोपेनहार के दार्शनिक सिद्धान्तों में वेदान्त के स्वर की गूँज स्पष्ट सुनाई देती है।

फ्रांसीसी दार्शनिक व गणितज्ञ रेनेदेकार्त ने भारतीय चिन्तन के अनुरूप ही ईश्वर को सृष्टि का नियामक, उद्भवकर्ता समष्टि में उसकी उपस्थिति को स्वीकार किया है। श्री बलदेव उपाध्याय ने अपने ग्रन्थ “भारतीय दर्शन” में इसकी तुलना वाचस्पति मिश्र से की है। हालैण्ड के समृद्ध परिवार में जन्मे बारुच दे स्पिनोजा ने वेदान्त के ब्रह्म को सबस्टेंशिया के रूप में स्वीकारा है। अन्तर मात्र शब्दों का है न कि भावों का। वेदान्त की ही तरह इसने भी इस सत्ता को In setest and perse Concipitur अर्थात् स्वतंत्र तथा स्वतः सिद्ध माना है। शांकर वेदान्त के सदृश उक्त तत्व असीम, अविभाज्य, अद्वैत, स्वतंत्र तथा आनन्द रूप है। इसी कारण मैक्समुलर ने “श्री लेक्वर्स इन वेदान्त फिलासफी” के पृष्ठ १२३ पर दोनों के तुलनात्मक अध्ययन तथा गहन चिन्तन के उपरान्त घोषित किया कि उपनिषदों और शंकराचार्य ने जिस ब्रह्म का प्रतिपादन किया है, वह स्पष्ट रूप से वैसा ही है, जैसा कि स्पिनोजा का सबस्टेंशिया।

गोट फ्रीड, विल्हेम लाइब्निज के प्रधान दार्शनिक सिद्धान्त मोनेडिज्म पर भी वेदान्तिक द्वैतवाद का प्रभाव है। उसके ग्रन्थ “दमोनेडालाजी” तथा “प्रिन्सीपल ऑफ नेचर एण्ड ग्रेस” का अध्ययन करने पर इसकी स्पष्टता और भी अधिक हो जाती है।

वेदान्तिक प्रतिपादन “माया” की मान्यता को इसने भी “मैटेरियाप्राइमा” के रूप में स्वीकारा है। उसके अनुसार यह मैटेरियाप्राइमा ही है जो आत्म कणों का ऐक्य ईश्वर से नहीं होने देती। लाइब्निज की ही तरह आयरलैण्ड के प्रख्यात दार्शनिक जार्ज बर्कले के अध्यात्मवादी सिद्धान्त पर वेदान्त का प्रभाव स्पष्ट गोचर होता है। उनके अनुसार विज्ञान के अतिरिक्त जगत की बाह्य वस्तुओं की सत्ता नहीं है। इसका यह कथन प्रश्नोपनिषद का भाष्य करते आचार्य शंकर के उस कथन की प्रतिध्वनि ही है, जिसमें उन्होंने कहा है “जैसा-जैसा जो पदार्थ जाना जाता है। वैसा-वैसा ही जाना हुआ होने के कारण उस पदार्थ का स्वरूप होता है।” इस प्रकार दोनों ही ज्ञान की सत्यता पर बल देते हैं। बर्कले का उक्त मत वेदान्त के दृष्टि सृष्टिवाद वेदान्त सिद्धान्त मुक्तावलीकार प्रकाशानन्द ने भी किया है। जिसमें उन्होंने स्पष्ट किया है कि सकल जगत की सत्ता आत्मा में ही है।

सुविख्यात जर्मन दार्शनिक काण्ट के प्रतिपादनो में भी वेदान्तिक सिद्धान्तों की स्वर लहरियां गुंजायमान होती हैं। उनसे परम सत्ता को “दिंगएनसिश्” के रूप में माना

है, जिसकी व्याख्या उनके तीन प्रधान ग्रन्थों-क्रिटिक ऑफ प्योर रीजन, क्रिटिक ऑफ प्रेक्टीकल रीजन एवं क्रिटिक ऑफ जजमेण्ट में है। काण्ट शांकर मत की तरह ईश्वर को जगत का आधार मानते हैं। आत्मा के शुद्ध-आत्मस्वरूप ज्ञान की स्थिति के बारे में भी इनका मत शांकर के समान ही है। ई केथर्ड ने “द फिलॉसफी ऑफ काण्ट” में स्पष्ट किया है कि काण्ट ने दो प्रकार की सत्ताएँ मानी हैं। एक व्यावहारिक सत्ता और दूसरी वस्तु सारात्मक सत्ता। यह दो की सत्ताएँ मानने में भी आचार्य शंकर के स्वर की गूँज सुनाई देती है। प्रो० रानाडे ने विशद् अध्ययन के उपरान्त अपने विश्व प्रसिद्ध अद्वितीय ग्रन्थ “क्रिस्क्विटव सर्वे ऑफ उपनिषदिक फिलासफी” में स्पष्ट किया है कि काण्ट द्वारा स्वीकृत उक्त दोनों सत्ताएँ भाव विचार की दृष्टि से आचार्य शंकर द्वारा उपदिष्ट व्यावहारिक एवम् परमार्थिक सत्ताएँ हैं।

वेदान्तिक चिन्तन का प्रभाव मात्र विचारणा के स्तर ही हो, ऐसा नहीं है। इसकी शोभा ग्रन्थालयों मनीषियों के तर्क-वितर्क वाद-विवाद तक ही सीमित न होकर जन सामान्य तक है। इसी सुरभि सर्वत्र समान रूप से फैली हुई है। यह व्यक्ति, जाति, देश, धर्म, सम्प्रदाय आदि किसी भी तरह की अर्गलाओं, शृंखलाओं से आबद्ध नहीं है। इसमें प्रतिपादित तत्व सर्वथा सार्वभौम व सर्वग्राही हैं। स्वामी रामतीर्थ के अनुसार “वेदान्त के तथ्यों को ग्रहण कर आत्मसात् कर लो, इन्हें स्वरूप में ढाल लो, फिर तुम कोई भी हो, किसी भी धर्म के हो, विकास के उत्कर्ष की ओर बढ़ते जाओगे”। वेदान्त व्यक्ति केन्द्रित नहीं अपितु व्यक्ति और समाज दोनों की ही उन्नति का साधन है। यही नहीं महात्मा गांधी ने इसके साधन पक्ष के तत्व सत्य, अहिंसा का आश्रय लेकर देश को दासता से मुक्ति दिलाई।

विश्व के प्रमुख विचारकों के अनुसार मानव समाज की विविध समस्याओं का समाधान चाहे वे आर्थिक हों या रंगभेद की अथवा साम्प्रदायिक कट्टरता की, वेदान्त के व्यवहारिक प्रयोग द्वारा ही सम्भव है। वेदान्त काल और देश के सीमाओं को तोड़कर मानव मात्र में ही नहीं, प्राणि-मात्र समत्व और एकत्व की बुद्धि जाग्रत करता है। इस दृष्टि से वेदान्त जीवित और व्यावहारिक है। मानव और मानवता के शाश्वत कल्याण यही सुगम व सरल राजमार्ग है, जिस पर चल पड़ने के लिए ऋषियों की गुरु गंभीर वाणी “उत्तिष्ठजागृत” का सन्देश सुनाकर चल पड़ने को प्रेरित कर रही है। इस पथ पर आरूढ़ होकर स्वयं का सर्वांगीण विकास करने के साथ-साथ मानव जाति के समक्ष एक ऐसे प्रकाश संकेतक-मार्ग दर्शक के रूप में प्रतिष्ठित हुआ जा सकता है, जैसे कि

स्वामी विवेकानन्द, रामतीर्थ हुए थे। बिना एक पल की देर लगाए—इस ओर बढ़ चलने का उत्साह सभी को जगात करना चाहिए।

तनकर खड़े रहो जीत तुम्हारी है

मनोवैज्ञानिक डा० नारमन विन्सेण्ट पीले के अनुसार मनुष्य के व्यक्तित्व का विकास उसके चिन्तन और चरित्र पर निर्भर करता है। निषेधात्मक या विधेयात्मक चिन्तन मनुष्य को हेय नर-पशु अथवा उठा हुआ देव मानव बना देता है। विधेयात्मक चिन्तन एक प्रकार की विचार शैली है, जिसमें व्यक्ति विषय या प्रतिकूल परिस्थितियों में भी अपना मनोबल ऊँचा बनाये रहता है और अच्छे परिणामों की आशा रखता है। विपन्न परिस्थितियाँ, प्रतिकूलताएँ एक नया स्वर्णिम सुअवसर लेकर आती हैं, जिनसे वह सबक सीखना और अपने व्यक्तित्व को निखारना, प्रखर बनाना अनिवार्य समझता है। विधेयात्मक पक्ष की ओर देखना, सोचना, संकल्पयुक्त विवेकशील मन की एक प्रक्रिया है, जो व्यक्ति के चयन पर निर्भर करती है।

अच्छाइयों में आस्था रखने वाले आत्मविश्वासी उत्साही व्यक्ति के मन-मस्तिष्क में यह बात सदैव जीवन्त बनी रहती है कि 'प्रगति एक दरवाजा रास्ता बन्द हो जाने पर सुनिश्चित रूप से दूसरे अनेक रास्ते खुलेंगे ही। विधेयात्मक दृष्टिकोण अपनाने वाले सदैव बुराइयों से अपना पीछा छुड़ाने और अच्छाइयों को अपनाने का प्रयत्न करते हैं। फलतः अच्छाइयाँ उनके जीवन और दृष्टिकोण का अंग बन जाती हैं। ऐसे व्यक्ति उज्ज्वल भविष्य की ओर देखते हैं और अन्धकारमय क्षणों—प्रतिकूल परिस्थितियों में अधिक प्रफुल्ल, उत्पादक और रचनात्मक दिशाधारा अपनाते हैं। यह मनोदशा ही उन्हें द्रुतगति से सफलता की ओर ले जाती है। उत्साही व्यक्ति ही विघ्न-बाधाओं से लोहा लेते और उन्हें निरस्त करते हुए प्रगति पथ पर आगे बढ़ते हैं।

प्रख्यात विचारक एवं मनीषी विलियम जेम्स के अनुसार संसार में दो तरह के व्यक्ति पाये जाते हैं। पहले हैं—टफ माइण्डेड (सख्त स्वभाव वाले) तथा दूसरे हैं—टेण्डर माइण्डेड (नरम स्वभाव वाले संवेदनशील) व्यक्ति। नरम स्वभाव वाले व्यक्ति कठिनाइयों विघ्न-बाधाओं के उपस्थित हो जाने पर विचलित हो उठते हैं। आलोचना किये जाने पर तो उनका दिल ही बैठ जाता है। वे ऐसे व्यक्ति होते हैं जो रिरियाते, चीखते-चिल्लाते भर हैं और कुछ न कर पाने के कारण असफलता ही उनके हाथ लगती है। सख्त मिजाज वालों की स्थिति इनसे भिन्न होती है। जीवन के हर क्षेत्र में वे

सक्रिय और सफल होते देखे गये हैं। कैसी ही विषम कठिनाई या प्रतिकूलता क्यों न हो उससे वे हार नहीं मानते। प्रतिकूलता को ईश्वर का वरदान समझकर नई सूझ-बूझ के साथ उसका सामना करते हैं। विश्व प्रख्यात लेखक स्काट निवासी थामस कार्लाइल में ऐसे ही व्यक्ति थे, जिन्हें अपनी सारी जिन्दगी पाकामस्ती में काटनी पड़ी थी फिर अध्यवसाय के बलबूते वे सफलता की चरम सीमा तक पहुँचे थे। उनकी समाधि पर बने चबूतरे से एक ओर खुदी उनकी कुछ प्रेरक पंक्तियाँ आज भी स्काटवासियों के लिए ही नहीं वरन् समस्त विश्वविद्यालयों के लिए प्रेरणा का स्रोत बनी हुई हैं। प्रेरक पंक्तियों से निष्कर्ष है 'न तो कभी निराश हो और न कभी हार मानो—उठो, खड़े हो जाओ और संघर्ष करो जब तक विजयी न हो जाओ। ईश्वर तुम्हारी सहायता करेगा।' कार्लाइल कहते हैं—'जीवन हममें से प्रत्येक से यही पूछता है कि क्या तुम बहादुर बनोगे ? अथवा कायर बनना पसन्द करोगे? निश्चय ही हमें मजबूत निर्भय और उत्साही बनना होगा।' विधेयात्मक चिन्तन करने वाला व्यक्ति कायर नहीं हो सकता। वह स्वयं के जीवन में मानवता और ईश्वर में विश्वास रखता है, अपनी योग्यता और क्षमता को पहचानता है। वह निर्भीक और अपराजेय होता है। जो कुछ सामने आता है उसी से अपने उपयोग की अच्छाइयाँ छूँट लेता है।

भली-बुरी परिस्थितियों का निर्माण करना, बहादुर या कायर बनना व्यक्ति के अपने दृष्टिकोण पर निर्भर करता है। विधेयात्मक पक्ष अपनाने पर कायर व्यक्ति भी धीरे-धीरे निडर और हिम्मत वाला बन जाता है, उसकी सारी परिस्थितियाँ पलट जाती हैं। अपनी त्रुटियों को पहचाना, उन्हें सुधारना, किये पर पश्चाताप करना, दण्ड पाना और भविष्य में वैसा न होने देने को कृत-संकल्पित होना अनिवार्य है। मन में सद्विचारों, सत्कर्मों और दृढ़-संकल्पों की त्रिवेणी जहाँ सदैव हिलोरे मारती रहती है, वहाँ प्रगति का रुका हुआ अवरुद्ध मार्ग अपने आप ढह जाता है। सद्विचारों में असीम शक्ति होती है। विचार गत्यात्मक, जीवन्त और रचनात्मक हो तो व्यक्ति परिस्थितियों को बदल सकता है, उन पर नियन्त्रण कर सकता है और अपना भविष्य सुखमय बना लेता है। लेकिन यदि विचार हेय स्तर के घृणा, बेईमानी और असफलता से भरे हुए हैं तो वे व्यक्ति तथा समाज के लिए विनाशकारी परिस्थितियाँ उत्पन्न करते हैं।

डिजराइली कहा करते थे हमें अपने मस्तिष्क को महान विचारों से भर लेना चाहिए, तभी हम महान कार्य सम्पादित कर सकते हैं। लोग क्षुद्र विचारों अपने बारे में, अपने बीबी बच्चों, परिवार व्यापार आदि के सम्बन्ध में

ही संदेव सोचते और मरते खपते रहते हैं। परिणामतः उसी स्तर के प्रतिफल भी उन्हें हाथ लगते हैं। यह एक तथ्य है कि जितना महान दृष्टिकोण और ऊँचे विचार होंगे, उसी अनुपात में हमारे व्यक्तित्व का निर्माण होता जायेगा। मनोवैज्ञानिकों की अवधारणा है कि मन-मस्तिष्क या अन्तःकरण में उठने वाली वैचारिक तरंगें, कम्पन या भावनाएँ हमारे व्यक्तित्व को प्रकाशित करती हैं।

प्रख्यात मनःचिकित्सक मनोवैज्ञानिक एवं लेखक डा० नार्मन विन्सेण्ट पीले का कहना है कि जीवन के हर क्षेत्र में सफलता प्राप्त करने के लिए ध्यान देने योग्य प्रमुख बात है—ध्येय उद्देश्य का सुनिश्चित होना। आर्थिक, सामाजिक, बौद्धिक, भौतिक अथवा आध्यात्मिक उन्नति में से कुछ भी उद्देश्य हो सकता है। परन्तु मनुष्य का वास्तविक उद्देश्य आध्यात्मिक उन्नति करना है। बाकी अन्य सुविधाएँ तो उसके इस उद्देश्य की प्रगति में मात्र सहायक भर हैं।

विलियम जेम्स की मान्यता है कि महान प्रयासों को प्रयोजनों को सफलतम् बिन्दु तक पहुँचने में प्रमुख बाधा 'थकावट' का आना, उमंगों का ठण्डा पड़ जाना है। यह एक प्रकार की ऊब या उचाट है, जो थोड़े से असामान्य प्रयास करने पर उत्पन्न होती है। थोड़े प्रयत्न के बाद ही व्यक्ति थक जाता है और हाथ में लिए कार्य को बीच में ही छोड़ देता है। यद्यपि ईश्वर ने मनुष्य के अन्दर विपुल शक्ति का भाण्डागार छिपा रखा है जिसे थोड़ी-सी कोशिश करने पर जाग्रत किया जा सकता है।

मनमस्तिष्क से निषेधात्मक चिन्तन को निकालने के लिए बोस्टन के प्रख्यात चिकित्सक डा० सारा जार्डन का सुझाया गया मार्ग सर्वमान्य है। डा० जार्डन का कहना है कि प्रत्येक दिन सुबह अपने मस्तिष्क को विचारों से रिक्त कर उसे शैम्पू से धोइये। समस्त वैचारिक गन्दगी युक्त धूल, निषेधात्मक चिन्तन को बुहार बाहर करें और उस रिक्त स्थान की पूर्ति सद्विचारों को मन में धारण कर करें। दिन भर उनकी सद्विचारों से अपने को ओत-प्रोत रखें। प्रतिदिन नये विचारों को अपनाने और अपनाये हुए विचारों को स्मृति-पटल पर दुहरति रहने से मनःसंस्थान इतना शक्तिशाली हो जाता है कि बुरे विचार पास तक नहीं आ पाते। प्रकारान्तर से यह आत्म-शोधन का संकेत है। समाज में अगणित व्यक्तियों की तरह विचार और चरित्र भी भरे पड़े हैं। उनका प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है पर हमें ग्रहण वही करने चाहिए जो हिम्मत बढ़ाते और भटकाव के क्षणों में भी मार्गदर्शन करते हैं।

स्वस्थ मनोरंजन-मनुष्य की एक नैसर्गिक आवश्यकता

मन को विश्राम देने की कला का नाम मनोरंजन है। इसी को आह्लाद, खुशी अथवा हल्कापन लाने वाली विद्या भी कहा जाता है। शरीर को आराम देने के साथ मन के आराम की भी जरूरत है। विश्राम काल में शरीर को ढीला छोड़ना पड़ता है और मनोरंजन के समय मन ढीला हो जाता है। यद्यपि बिना मनोरंजन के भी मन की थकान मिटाना सम्भव है। पर वह उच्चस्तरीय योग साधनाओं में लगे लोगों के लिए ही सम्भव है। जन सामान्य के लिए थके मन को राहत दिलाने का काम मनोरंजन के द्वारा ही बन पड़ता है। इसी कारण थक जाने के बाद लोग सिनेमा, टी.वी. देखने, गीत-संगीत सुनने, कहानी, चुटकले पढ़ने में खाली समय लगाकर मन को बहलाते हैं।

इस थकान मिटाने की जरूरत सभी को है। चौबीस घण्टे काम में जुटे रहने की सामर्थ्य साधारणतया किसी में नहीं होती। परिस्थिति विशेष में जब कभी भले ही सामान्य से अधिक काम किया जा सके। किन्तु इस ढर्रे को रोज अपनाने की चेष्टा करने पर रोग, अशक्तता, दुर्बलता का बिना बुलाए आ धमकना गैर-वाजिब नहीं है। अतएव जरूरी है शक्ति के अनुसार काम करने के बाद थकान को मिटाया जाय।

विश्राम के समय शरीर तो अपनी खर्च की हुई ताकत को पुनः अर्जित कर लेता है। पर इसके साथ मन की सक्रियता भी जुड़ी रहती है। मानसिक शक्तियों का खर्च होना भी स्वाभाविक है। मन तो सोते समय भी निष्क्रिय नहीं रहता। दिन भर जिन क्रिया-कलापों में व्यस्त रहा गया है। रात को सोते समय इसकी क्रियाशीलता उसी धारा में बनी रहती है। यदि ऐसा न हो तो भी मन न जाने कितनी इच्छाएँ, संकल्प, विकल्प सँजोने में जुटा रहता है क्योंकि सोते समय शरीर को तो विश्रामवस्था में छोड़ देते हैं, पर मन को भुला दिया जाता है, वह बेचारा उस समय भी काम में जुटा रहता है। इसे आराम मिले यह फिर से अपनी क्षमता का अर्जन कर सके, इसके लिए मनोरंजन निहायत जरूरी है।

पर यह प्रक्रिया मन से जुड़ी रहने के कारण केवल उथले स्तर तक सीमित नहीं है। इसका प्रभाव बहुत गहरा है। व्यक्तित्व की अनेक परतें इससे अछूती नहीं रहतीं। यही कारण है कि मनोवैज्ञानिकों ने इसकी शुद्धता और स्वस्थता अनिवार्य बताई है। स्वस्थ मनोरंजन जहाँ व्यक्ति को नई ताजगी देता, जीवन में रस घोलता

और मनोभूमि में नूतन शक्ति का संचार करता है, वहीं इसका अशुद्ध और अपरिष्कृत रूप उसे नीरस, कुण्ठित और पथ-भ्रष्ट बनाता है। जिस तरह स्वस्थ शरीर वाले व्यक्ति अनुपयुक्त आहार का क्रम अपनाकर अपने शरीर स्वास्थ्य को चौपट कर लेते हैं, उसी तरह स्वस्थ मानसिकता का विनष्टीकरण अस्वस्थ मनोरंजन द्वारा सम्पन्न होता है। इसका अवलम्बन मनुष्य को कुमार्गगामी और दुर्व्यसनी बना देता है। जहाँ स्वस्थ भाव में इससे व्यक्ति को आगे बढ़ने की प्रतिकूलताओं से डटकर लोहा लेने की, कठिनाइयों से संघर्ष करने की प्रेरणा मिलती है।

यह भी सही है कि दुनिया के महापुरुषों से सामान्य जनों तक जिनकी प्रवृत्तियाँ विचार और कार्यक्षेत्र अलग-अलग रहते हैं और कोई भी चीज एक-दूसरे से नहीं मिलती, इसके प्रति समान रूप से सजग रहते हैं, सभी व्यक्तियों में हास्य विनोद और आमोद-प्रमोद की प्रवृत्ति समान रूप से विद्यमान रहती है।

इसकी आवश्यकता और महत्ता इतनी है कि इसे जीवन का अभिन्न अंग कहा जाना कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। पर इसे दुर्भाग्य ही कहा जायेगा कि उसके स्तर की ओर हमारा कोई ध्यान नहीं रहता। गरीबी, अशिक्षा, संकीर्णता अथवा कुछ अन्य जो भी कारण हों, अधिकांश लोग इसकी जरूरत तो महसूस करते हैं, पर इसके महत्व और प्रभाव को नहीं समझते अथवा यह कहा जाय कि उसे हेय स्तर का बनाए रखने में ही मन के किसी कोने को प्रसन्नता मिलती है।

एटकिन्सन ने अपने उपरोक्त ग्रन्थ में इसके अच्छे और बुरे स्तर के बारे में स्पष्ट धारणा व्यक्त की है। उनके अनुसार जो पशु-प्रवृत्तियाँ भड़काए, दोष-दुर्गुणों को उभारे वह हेय तथा जो मानवीय गुणों के प्रति आस्था जाग्रत करे, वह उत्कृष्ट। इस मापदण्ड के आधार पर सभी उपलब्ध मनोरंजन साधनों का विश्लेषण किया जा सकता है।

आजकल उपयोग में लाए जा रहे साधनों में फिल्म व साहित्य की प्रमुखता है। किन्तु खेद है, इस कसौटी पर कसने में निराशा ही हाथ लगती है। फिल्में देखकर पशु-प्रवृत्तियों के शिकार हुए लोगों की कितनी ही घटनाएँ नित्य प्रकाश में आती हैं। गीत-संगीत के नाम पर अधिकतर फिल्मी गानों का ही उपयोग किया जाता है। प्रचलित साहित्य की भी यही हालत है। मानवीय गुणों के प्रति आस्था जाग्रत करने वाले उपन्यास, कहानियाँ, कविताएँ, कम ही दिखाई पड़ती हैं और सस्ती रोमांटिक पुस्तकों की बाढ़ दिखाई देती है।

लोग इनका उपयोग इस कारण करते हैं कि उन्हें मनोरंजन की आवश्यक खुराक मिलती रहे। परन्तु प्रभाव की बारीक बातों का चयन करने की क्षमता जनसाधारण में नहीं होती। यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि व्यस्तता की अपेक्षा खाली समय में मन बड़ी गहराई से प्रभावित होता है। हम जब निश्चित मुद्रा में अवकाश के समय कोई बात सुनते हैं तो देर तक वह स्मरण में बनी रहती है और बड़ी जल्दी में कहीं जा रहे हों तो कोई बात सुनकर भी वह जल्दी भूल जाती है। व्यस्त लोगों को अपने आस-पास क्या हो रहा है ? इस बात का भी ध्यान नहीं रहता।

अमेरिकन मनोवैज्ञानिक जे० एच० फ्लेमिंग ने “द स्टडी ऑफ ह्यूमन साइक” में मनोरंजन की प्रक्रिया की तुलना सम्मोहन से की है। उनके अनुसार सामान्यतया मनोरंजन हम उसी समय करते हैं, जब हमारा मन खाली हो। उधेड़-बुन में फँसा मन प्रायः मनोरंजन नहीं पसंद करता। सम्मोहन भी खाली मन में डाले गए कुछ संकेत ही हैं। विशेष उपचारों एवं तकनीकों के कारण भले ही उसकी शक्ति में कुछ बढ़ोत्तरी हो जाती हो, लेकिन मूल में एक ही तथ्य है—खाली मन में डाले गए संकेत और निर्देश। मनोरंजन प्रभावशाली होने की भी यही रीति-नीति है। वह तथ्य को प्रेरणाएँ बनाकर प्रस्तुत करता है।

इसका प्रभाव संस्कारों के रूप में भी पड़ता है। यदि वे तत्काल कोई प्रभाव नहीं भी दर्शाते तो कालान्तर में जब संस्कार दृढ़ हो जाते हैं, तब अपना घातक असर पैदा करते हैं। अतः मनोरंजन को केवल थकान मिटाने का साधन ही नहीं बल्कि मन को प्रभावित करने वाली एक कला के रूप में देखा जाना चाहिए और जो चीज कुरुचि जगाए, विकृतियाँ बढ़ाए, उनसे दूर रहना चाहिए।

एक परिष्कृत एवं स्वस्थ रूप वह भी है, जो मन के साथ-साथ शरीर को भी लाभ पहुँचाए। इस दृष्टि से खेल-कूद, कबड्डी आदि क्रीड़ा अभ्यासों को भी शामिल किया जा सकता है। इसका इतना ही मतलब है कि मन के खिंचे हुए तार थोड़े ढीले करें और जीवन वीणा को इस योग्य रहने दें कि पुनः जब उसका साज बजाना हो तो, वह पहले की भाँति सक्रिय, सतेज और समधुर हो। हमें मनोरंजन के महत्व और स्तर को समझकर उसे अस्वास्थ्यकर और हानिप्रद ढंग से प्रयोग में नहीं लेना चाहिए।

कलात्मक अभिरुचि भी अनिवार्य है

कविता, कला, साहित्य, गायन-वादन, संगीत, नृत्य जैसी भावाभिव्यजनाएँ स्वस्थ मनोरंजन तथा मानसिक विकास की सर्वोत्तम साधन हैं। शारीरिक एवं बौद्धिक कार्यों से एक प्रकार की ऐसी ऊब पैदा होती है जो मानसिक सरसता के अभाव में दूरी नहीं होती है, उसके बने रहने से जीवन का आनन्द मारा जाता है। ऊब-खीज को जन्म देती है जो मनःअसन्तुलन का सबसे प्रमुख कारण है। खीज से भरे व्यक्ति अपनी ही क्रमियों के कारण घुटते हैं। उसकी प्रतिक्रियाएँ पारिवारिक जीवन में गृह-कलह हो, मन-मुटावों के रूप में सामने आती हैं तथा सामाजिक जीवन में विग्रहों एवं संघर्षों के रूप में खीजे व्यक्ति छोटी-मोटी बात को भी बतंगड़ बना देते तथा उत्तेजित रहते देखे जाते हैं। प्रकृति में शुमार होकर वह कितने ही अन्य प्रकार की समस्याओं को जन्म देती है।

इससे कैसे बचा जाय ? मनःशस्त्रियों ने इस सम्बन्ध में विस्तृत खोजबीन की है। उनमें से मूर्धन्यों का निष्कर्ष यह है कि यदि ऊब तथा उसकी प्रतिक्रियाओं से बचना है तो हर क्रियाशील व्यक्ति को अपने ढर्रे के कार्यों के अतिरिक्त किसी कलात्मक हावी का विकास करना चाहिए जो सही अर्थों में मन को सरसता प्रदान करे, उसे परितृप्त करे। वह कुत्सा को भड़काने वाला नहीं जीवन के प्रति विधेय दृष्टि पैदा करने वाला हो। साथ ही उसका स्वरूप कुछ ऐसा हो जिससे मन को कल्पना करने तथा शरीर को बिना किसी दबाव के व्यस्त रहने का सुअवसर मिलता हो।

इस दृष्टि से कलात्मक अभिरुचियाँ सर्वोत्तम माध्यम हैं। हर व्यक्ति में कलाकारिता के बीज विद्यमान हैं। न्यूनाधिक रूप से किसी न किसी रूप में कोई न कोई अतिरिक्त विशेषता हर व्यक्ति को प्राप्त है। उसे उभारा और विकसित किया जा सकता है। अपनी अभिरुचियों का विश्लेषण करके यह मालूम किया जा सकता है कि गति किस दिशा में उपयुक्त रहेगी। गायन, वादन, पेंटिंग, डांसिंग, मूर्ति-कला, कविता, वास्तुकला, सुसज्जा बागवानी जैसे किसी क्षेत्र में अपनी अभिरुचि विकसित की जा सकती है। खेलकूद भी स्वस्थ मनोरंजन के समर्थ साधन हैं। उनमें व्यायाम का अतिरिक्त लाभ अनायास ही मिल जाता है।

यूनिवर्सिटी ऑफ मैन ओरोनो के शोधकर्मी वैज्ञानिकों डोनाल्ड हेस, ब्रूस केमेल्स्की तथा मेल्विन पावर ने प्रयोगों की एक नयी शृंखला शुरू की है। उनका

शोध विषय है, कलात्मक अभिरुचियों के मानव मस्तिष्क तथा मनःसंस्थान पर पड़ने वाले प्रभावों की जाँच-पड़ताल करना बच्चों पर किये गये अध्ययन के दौरान उन्होंने निष्कर्ष निकाला कि कलात्मक हावियों से मस्तिष्क की प्रखरता बढ़ती है। ऐसे बच्चे जो स्मृति दोष से पीड़ित थे, उन पर उन्होंने प्रयोग किये। उनमें गायन, वादन कविता, पेंटिंग, डांसिंग आदि की भिन्न-भिन्न रुचियाँ पैदा की गयीं। साथ ही साथ उनका अध्ययन भी चलता रहा। जो बच्चे इन प्रयोगों में शामिल थे, उनकी स्मरण शक्ति बढ़ गयी, स्मृति दोष दूर हो गया।

एक अन्य प्रयोग में समान बौद्धिक स्तर वाले बच्चों की दो टोलियाँ बनायी गयीं। दोनों के शिक्षण तथा साधनों की व्यवस्था एक-सी की गयी। अन्तर मात्र इतना रखा गया कि ग्रुप को कला विषय में अतिरिक्त रूप से थोड़े-समय के लिए व्यस्त रखा जाता। मात्र इतने अन्तर का परिणाम आश्चर्यजनक निकला। जिस ग्रुप के बच्चों में गायन-वादन, कला आदि की अभिरुचि पैदा करके उन्हें थोड़े-थोड़े समय के लिए व्यस्त रखा गया, उनकी मेधाशक्ति दूसरे ग्रुप की अपेक्षा बढ़ गयी। मानसिक दृष्टि से भी दूसरे ग्रुप के बच्चों से वे अधिक हँसोड़ पाये गये।

ढर्रे के कार्यों से पैदा होने वाली ऊब को मिटाने के लिए सर्व सुलभ स्वस्थ तरीका यही है कि कोई न कोई रचनात्मक हावी का विकास अपने भीतर किया जाय। ऐसी हावी जिसमें मात्र सिनेमा देखने की तरह अकर्मण्य बैठा न रहना पड़ता हो वरन् शरीर एवं मन को विधेयात्मक दिशा में कुछ करने का अवसर मिलता हो।

स्फूर्ति व मस्ती पाने की सही विधि

आन्तरिक क्षेत्र की दो कामनायें प्रमुख हैं—एक स्फूर्ति दूसरी मस्ती। उन्हें पाने के लिए हर किसी में लालसा बनी रहती है। जिस प्रकार शरीर को अपनी शारीरिक और मानसिक भूखें बुझाने के लिए प्रयत्न करने के लिए जी करता है, मन चलता है, उसी प्रकार आत्मा भी अपने स्वाभाविक गुण, स्फूर्ति और मस्ती के अवसर प्राप्त करने के लिए लालयित रहती है। भले ही व्यावहारिक जीवन में वैसे अवसर न मिलें और अन्तरात्मा को उस अभाव के कारण उदास, असन्तुष्ट रहना पड़े। आलस्य और प्रमाद से बचकर सामने प्रस्तुत कर्तव्यकर्मी को ईश्वर की पूजा मानकर उनमें तत्परता एवं तन्मयता के साथ लगने पर स्फूर्ति की स्थिति सदा बनी रह सकती है। ऐसा लगता रहता है कि किसी महत्वपूर्ण कार्य में लगने और उसमें सफलता मिलने जैसा उत्साह मिल

रहा है। यदि दिनचर्या को पुण्य-परमार्थ में, सेवा-साधना में नियोजित रखा जा सके तो उसके बदले उत्साह में अनायास ही स्फूर्ति बनी रह सकती है। आलस्य, प्रमाद का बोझिल अभिशाप सिर से उतरते ही बहते प्रवाह में तैरने वाली लकड़ी की तरह अपने आप को प्रगतिशीलता के पथ पर चलने की अनुभूति होती है।

इन सदगुणों की मात्रा बढ़ने पर स्फूर्ति ही मस्ती के रूप में विकसित होने लगती है। स्फूर्ति शारीरिक समझी जाती है पर उसके पीछे भी मानसिक प्रसन्नता छिपी रहती है। मात्र शारीरिक स्फूर्ति तो खिलाड़ियों को खेल के मैदान में भी मिल जाती है पर जब वह सफलता के समीप पहुँचने पर बढ़े हुए उत्साह के रूप में विकसित होती है तो उसमें मन उछलने लगता है और गतिशीलता के साथ घुली हुई प्रसन्नता की भी अभिवृद्धि होती है। स्फूर्ति का विकसित स्वरूप यही है।

मस्ती तब आती है जब मनुष्य भ्रम-जंजाल से निकलकर श्रेय पथ पर सुनिश्चित संकल्पों के साथ आगे बढ़ता है। सदाशीलता की तुलना सोमरस से की जाती रही है उसे “अमृत” नाम भी दिया जाता है। विवेक की आँख खुलने पर अपना स्वरूप लक्ष्य और कर्तव्य स्पष्ट रूप से परिलक्षित होने लगता है। शंका-कुशंकाओं से निवृत्त होने पर जब भ्रान्तियों से छुटकारा पाकर जीवन मुक्ति जैसी स्थिति मिलती है तो विचारणा ही नहीं क्रियाशीलता भी सत्वयोजनों में निरत रहने लगती है। इच्छा के अनुरूप अवसर मिलने पर जो गहरी प्रसन्नता मिलती है, पुलकन और सिहरन उठती है उसे मस्ती कहते हैं। मस्ती यों असाधारण लाभ, यश एवं वासनात्मक तृप्ति के अवसर मिलने पर भी आती है पर वह टिकती नहीं। समय क्रम के अनुसार स्थिति में निरन्तर परिवर्तन होता रहता है। ऐसी दशा में शरीरगत सफलताओं के मिलने पर जो मस्ती आती है, वह भी निवृत्ति के अगले ही क्षणों में समाप्त हो जाती है। सुखद स्मृतियों की घटनायें जब आँखों के आगे से गुजरती हैं और उन के फिर से पा सकने का अवसर चला गया होता है तो कसक भरा पश्चाताप ही शेष रह जाता है किन्तु आत्मिक मस्ती का भी कभी अन्त नहीं होता। वह सुनिश्चित संकल्पों के साथ आदर्शवाद की ऐसी दिशा में बढ़ती है, जिसमें अनन्त काल तक प्रगति ही प्रगति है। जब तक सदाशयता की दिशा में भाव उमड़ते रहेंगे और प्रयत्न चलते रहेंगे तब तक मस्ती में कभी कमी नहीं पड़ने वाली है। निर्धारण अपना है, संकल्प अपना है, प्रयास अपना है इसलिए मस्ती का आनन्द भी अपना है। न उसके घटने की आशंका है और न व्यवधान पड़ने की। यही है जीवन का आनन्द, जो शरीर क्षेत्र में स्फूर्ति

के रूप में और मनःक्षेत्र में मस्ती के रूप में सतत अनुभव किया जा सकता है। उस सरसता का निरन्तर रसास्वादन किया जा सकता है। जीवन को कृतकृत्य हुआ प्रत्यक्ष अनुभव किया जा सकता है। असल की नकल बनाने में मनुष्य बहुत चतुर है। मिट्टी के हाथी, घोड़े, शेर, रीछ जैसी अनुकृतियाँ बनाने में उसे देर नहीं लगती। रेल, मोटर भी वह रद्दी टीन को तोड़-मरोड़कर तनिक-सा रंग लगने भर से बनाकर तैयार कर लेता है। बच्चे के खिलौनों से एक से एक बड़ी-चढ़ी चीजों के नमूने होते हैं चिड़िया से लेकर मछली, तितली इत्यादि संभवतः उसने मनोविनोद के लिए ही बनाये। मस्ती पाना ही उसका मूल प्रयोजन था। लगता है किसी मनचले ने इसी नकल प्रयोजन के लिए नशेबाजी का तरीका खोज निकाला होगा। नशों में तात्कालिक रूप से ऐसी ही क्षणिक अनुभूति करा देने की विशेषता होती है। हल्के, सस्ते नशे उस प्रयोजन को थोड़ी मात्रा में पूरा करते हैं और जो उनसे महँगे, गहरे हैं वे बढ़-चढ़कर अपना कौतुक, कौतुहल दिखाते हैं। उन सब से किसी न किसी मात्रा में फुर्ती और मस्ती का अनुभव होता है।

इसी लालच में लोग नशेबाजी के शिकार बनते हैं और फिर उस कुचक्र में मछली के जाल में फँसने की तरह जकड़ जाते हैं कि आरम्भिक कौतुक अन्ततः जानलेवा बनता है, मछली और चिड़ियाँ आरम्भ में देखने वाले चारे को ही बड़ा लाभ समझती हैं पर कुछ ही देर में उनको यथार्थता विदित हो जाती है। जब प्राणों पर आ बनती है तब पछताने से भी कुछ काम नहीं चलता।

आरम्भिक प्रलोभन को देखकर ही लोग पापकर्मी में प्रवृत्त होते हैं। इसमें उन्हें पहला हाथ छोड़ते ही नफा प्रतीत होता है पर वस्तुस्थिति प्रकट होते ही उस ओर कदम बढ़ाने वाले का विश्वास चला जाता है। अपयश फैलता है। सहयोग, स्नेह और सम्मान मिलना समाप्त हो जाता है। तब प्रतीत होता है कि आरम्भिक उतावली में जो लाभ कमाया गया था वह बहुत महँगा पड़ा। नशेबाजी के सम्बन्ध में भी यही घटना घटित होती है।

बाल बुद्धि की अदूरदर्शिता और समझदारी की दूरदर्शिता का अन्तर समझा जाना चाहिए और जिनका मानसिक विकास उस स्तर का हो चुका है, उन्हें समझ-बूझकर ही कदम उठाने चाहिए। छोटे बच्चे साँप को, बिच्छू को, आग, को खिलौना समझकर पकड़ सकते हैं। कील, सिक्का या दूसरी चीज लुभावनी देखकर उसे निगल सकते हैं। उन्हें इस बात का ज्ञान नहीं होता है कि इस नासमझी का परिणाम उन्हें जान गँवाने जैसा भी भुगतान पड़ता है। चूहेदान में लगी रोटी का टुकड़ा

देखकर वे नादान जीव भी आतुर होकर पिंजड़े में दौड़ पड़ते हैं और अन्ततः उसका दुष्परिणाम ही भोगते हैं। नशेबाजी भी जान-बूझकर बुलाई गई प्राणघातक बीमारी है, जो आदत में सम्मिलित हो जाती है। पर पीछे उससे पीछा छुड़ाना कदाचित ही किसी साहसी से संभव हो पाता है।

नशे जीवनी शक्ति को चूसते हैं। आयु को घटाते हैं। दुर्बलता और रुग्णता का अभ्यस्त को शिकार बनाते हैं। सर्वेक्षण से जाना गया है कि नशे मनुष्य की आधी आयु का हरण कर लेते हैं और व्यक्ति की शारीरिक, मानसिक क्षमता को बुरी तरह बरबाद करते हैं। आर्थिक दृष्टि से सामाजिक सम्मान की दृष्टि से भी वह बुरी तरह पिछड़ जाता है।

नशेबाजी की बुराइयों को समझते हुए भी उसकी ओर प्रवृत्ति का भावनात्मक कारण है—फुर्ती और मस्ती की अभिलाषा। इसकी पूर्ति उचित रीति से ही की जानी चाहिए। चूँकि आकांक्षा आध्यात्मिक है, उसकी पूर्ति भी उसी क्षेत्र में ही हो सकती है। नशे के सहारे नहीं। जीवन में उन तत्वों का समावेश किया जाना चाहिए, जिसके आधार पर कि स्थायी आनन्द मिले और प्रगति की संभावना बढ़े।

प्रिय और अप्रिय का मनोविज्ञान

यह मानवी स्वभाव है कि जो वस्तुएँ उसके इर्द-गिर्द होतीं, उनमें से कुछ अच्छी लगती हैं कुछ बुरी प्रतीत होती हैं, जब कड़ियों की ओर ध्यान भी नहीं जाता। जो अच्छी लगती हैं, उनसे प्यार करते हैं, जो अच्छी लगती हैं, उनसे घृणा करते हैं, जो उपेक्षित हैं, उनकी ओर आँख उठाकर भी नहीं देखते। हम चाहते हैं कि प्रिय वस्तुएँ सदा अधिकाधिक परिमाण में पास रहें। उनकी समीपता सुखदायक होती है। सुखदायक वस्तुएँ सभी को सुहाती हैं।

यहाँ तनिक उस मनोविज्ञान की चर्चा कर लेना अनुचित न होगा, जिसके कारण वस्तुएँ प्रिय-अप्रिय लगती और प्रेम-घृणा की पात्र साबित होती हैं। कंगले को अपना कुरूप पुत्र भी राजकुमारों की भाँति-प्रिय होता है, जबकि धनी पड़ोसी का रूपवान पुत्र सामान्य जैसा प्रतीत होता है। अपने लाड़ले को तनिक जुकाम हो जाय, तो ऐसी भाग-दौड़ मचने लगती है, जैसे कोई सांघातिक छूत लंग गई हो, पर पड़ोस का सुन्दर, सलोना बच्चा बुखार में तप रहा हो, तो कोई चिन्ता नहीं। क्लर्क अपनी टूटी

साइकिल से संतुष्ट और प्रसन्न रहता है, उसका कोई छोटा तार टूट जाय, तो चित्त भारी व उदास हो जाता है, जबकि अपने अधिकारी की महँगी रोयल्स रायफ कर क्षतिग्रस्त हो जाय, तो कोई परवाह नहीं। किसान को अपनी लहलहाती फसल देखकर जितना आनन्द होता है, शायद उतना हर्ष गाँव के जमींदार के अन्न से भरे कोठार देखकर नहीं होता। जमींदार के गोदाम को आग लग जाय, फिर भी वह चैन की नींद सोता रहता है, किन्तु उसके अन्न से भरे खेत को पशु चर जायें, तो नींद गायब हो जाती है।

इससे ऐसा लगता है कि सदा गुणवान और रूपवान वस्तुएँ ही मन को भाती हैं—सो बात नहीं है। यदि बात ऐसी रही होती, तो कंगले, किसान व क्लर्क को भी दूसरों की हानि पर उतना ही दुःख होता जितना अपनी चीज के बिगड़ने या बरबाद होने पर, किन्तु व्यवहार में ऐसा होता कहाँ देखा जाता है ? तो क्या यह मान लिया जाय कि सदा सुन्दर वस्तुओं से घोर वितृष्णा ही उपजती है ? नहीं उक्त मान्यता भी ठीक नहीं। यह अधूरी व्याख्या है। सच तो यह है कि जिस चीज में जितनी मात्रा में अपनापन, आत्मभाव, स्वार्थभाव है, वह उसी परिमाण में प्रिय लगती है, गुण रहित हो, तो भी अच्छी लगती है। इसी मनोविज्ञान के कारण अपनी बुरी से बुरी वस्तु भी चित्ताकर्षक लगती है, जबकि दूसरों का अच्छा और आकर्षक सामान भी कोई विशेष आनन्द उत्पन्न नहीं कर पाता। अपनी बात में कोई दम न हो, तो भी कहने का अन्दाज ऐसा होता है, जैसे स्वयं अफलातून से कोई कम न हों, पर दूसरे की तर्क संगत, सारगर्भित बात भी नीरस प्रतीत होती है। अपना व्यक्तित्व कौड़ी जितने मोल का न हो, फिर भी गर्व से सीना ऐसा फूला रहता है, मानो महामानवों-महापुरुषों की तो उनके सामने कोई औकात ही नहीं। वे बौने जैसे लगते हैं और खुद का बौनापन हिमालय जैसा विराट् और विस्तृत ऊँचाई वाला जान पड़ता है। यह सब आत्मसत्ता की प्रमुखता के कारण है।

व्यभिचारियों के लिए भौड़ी नयन-नकश वाली वेश्या ही रूप की रानी होती है। उसके सम्मुख विश्व सुन्दरी का रूप-लावण्य भी फीका होता है। आये दिन समाचार पत्रों में यह खबरे छपती ही रहती हैं कि अमुक प्रेमी अथवा प्रेमिका ने प्रेम-विवाह न हो पाने के कारण आत्महत्या कर ली। यहाँ आत्मघात का कारण यह नहीं कि एक से विवाह न हो पाया, तो शादी की संभावना सदा-सदा के लिए सर्वथा समाप्त हो गई हो अथवा संसार में लड़के-लड़कियों का अभाव पड़ गया हो। सच्चाई तो यह है कि प्रेमी-प्रेमिका का एक-दूसरे के प्रति

अपनापन इतना घनीभूत हो जाता है कि सारी दुनिया उस घनिष्ठ सम्बन्ध के आगे उबाऊ जान पड़ती है, सरस और सुन्दर सामीप्य तो मात्र परस्पर का ही लगता है।

मकान और दुकान अच्छे अपने ही लगते हैं। उनकी साज-सज्जा और बनावट की प्रशंसा करते नहीं थकते। टूट-फूट, मरम्मत का खूब ध्यान रखते हैं। संयोगवश वह बिककर दूसरों के हाथ में चले जायँ, तो एक प्रकार से निश्चिन्ता आ जाती है। फिर वह हजारों वर्ष खड़े रहें या कल ही गिर पड़ें, इससे कोई मतलब नहीं। कल तक जो इतने प्रिय थे, जिनके टूटने-लुटने से दारुण दुःख पहुँचता था, वह एक झटके में ही समाप्त हो गया। इसका कारण क्या है ? विरक्ति इतनी जल्दी इतनी अधिक कैसे पैदा हो गई ? उत्तर होगा हस्तान्तरण से उत्पन्न हुई अनासक्ति के कारण। कल तक जो उसकी संपदा थी, जिनके साथ उसका आत्मभाव चिपका था, वह आज नहीं रहा। कल जिन रुपयों से भरी थैली को अत्यन्त उत्साह से छाती से चिपटाये फिरते थे, वह आज दूसरे व्यापारी के पास चली गई। यदि वे रुपये अब चोरी चले जायँ, तो उसके पहले के मालिक को कोई कष्ट नहीं होगा। उन रुपयों के बदले जो माल खरीदा है, अब वह प्यारा लगने लगा है। कल वह माल भी पड़ोस में पड़ा था, पर तब उसकी ओर आँख उठा कर भी न देखते थे, आज उसकी सुरक्षा के लिए चोटी का पसीना एड़ी तक बहा रहे हैं। माल वही कल था, वह आज है। अन्तर केवल इतना हुआ कि कल वह पराया था, आज अपना हो गया। अपनापन ही तो अच्छा लगने का कारण है।

आये दिन मौतें होतीं व चिताएँ जलती रहती हैं। उनके अग्नि-संस्कार में भी हिस्सा कहाँ ले पाते हैं ? मरघट के बगल से निकलते हुए उन शव-संस्कारों पर एक उपेक्षापूर्ण दृष्टि डालकर पुनः अपने में खो जाते हैं। न उनके पता पूछने की फुरसत ! न संवेदना जताने की औपचारिकता ! सब कुछ सामान्य-सा प्रतीत होता है, पर जब अपना कोई प्रियजन मरता है, जब फूट-फूट कर रोते हैं, आँसुओं की झड़ी लगा देते हैं, दुनिया सूनी दीखती है, भूख-प्यास उड़ जाती है, दुःख-शोक की व्याकुलता में चारों ओर अँधेरा छा जाता है। पड़ोसी का भाई न रहा, तब चेहरे पर जरा-सी शिकन भी न आयी थी, पर आज इतनी व्याकुलता क्यों ? मरते तो सभी एक समान हैं, किन्तु एक की मृत्यु का जरा भी शोक नहीं, दूसरे के लिए इतनी वेदना क्यों ? इतनी व्यथा क्यों कि सब कुछ लुटा दीखने लगे ? निमित्त यह है कि जिस व्यक्ति में आत्मभाव सम्मिलित कर रखा था, वह प्रिय था, प्रिय के बिछोह में

ही तो दुःख होता है। अपने घर पुत्र पैदा हुआ, तो खुशी से पाँव धरती पर नहीं पड़ते, पड़ोसी के यहाँ बच्चा जन्मे, तो कुछ प्रयोजन नहीं। यह स्वाभाविक है।

यहाँ उद्देश्य मात्र यह बताने का है कि गुण-अवगुण के कारण ही हम वस्तुओं को प्यार नहीं करते, वरन् प्रमुख कारण उसमें आत्मभाव का, अपने स्वार्थ का समन्वित होना है। जिससे जितना स्वार्थ-सम्बन्ध है, वह उतना ही अधिक प्रिय लगेगा। प्रिय से ही प्रसन्नता मिलती है। शोक-जन्य अप्रियता तो तब पैदा होती है। जब उनके लुटने, मिटने, बिगड़ने, घटने जैसी स्थितियाँ प्रस्तुत हों।

यथार्थता तो यह है कि विश्व की एक भी वस्तु न तो प्रिय है, न अप्रिय। किसी कारणवश आकर्षित होकर जब अपना आत्मभाव उसमें सम्मिलित हो जाता है, तो वह मनभावन लगने लगती है। जिससे स्वार्थ का विरोध पड़ता है, वह बुरी लगती है और जिसमें प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष कोई सम्बन्ध नहीं, उसके प्रति उपेक्षा रहती है। भले-बुरे के पीछे का यही मनोविज्ञान है। जो जितने अंशों में, जिस भाव में इस विज्ञान को धारण किये होता है, उतने ही अनुपात में सुख-दुःख अनुभव करता है।

दुःख-निवारण और सुखोपाजन के यहाँ दो ही उपाय हैं। एक तो स्वयं को निरपेक्ष और निस्पृह स्तर का बना लिया जाय कि आसक्ति के कारण उत्पन्न दुःख का अन्त हो जाय। दूसरा, अपने 'स्व' को इतना विस्तृत और व्यापक बना लिया जाय, कि सब कुछ अपना प्रतीत होने लगे। प्रथम स्थिति को प्राप्त करना तो परमहंस स्तर के योगी-यतियों द्वारा ही संभव है, पर दूसरी स्थिति ऐसी नहीं, जिसे सर्वसाधारण प्राप्त नहीं कर सकें। वस्तुतः यह दोनों ही जीवन की दो चरमवस्थाएँ हैं। एक व्यक्ति को विरक्ति की ओर ले जाती है, तो दूसरी आसक्ति की ओर, पर यह आसक्ति व्यामोह से आविर्भूत सांसारिक लगाव जैसी नहीं होती। यह विशुद्ध आध्यात्मिक स्थिति है, जिसमें अपनेपन का भाव तो होता है, पर वह लगाव नहीं, जो कष्टकारक हो। आँसू जब बहुत अधिक दुःख हो, तब भी निकलते हैं और आनन्दातिरेक में भी। वैसे ही शोक मुक्त हो पाना इन दोनों यतियों द्वारा भी संभव है, पर सर्वसामान्य के लिए अपने आपे को विस्तृत कर आनन्द की स्थिति प्राप्त कर पाना ज्यादा सव्य और सहज है। ऋषियों ने इसी अवस्था को उपलब्ध करने के लिए 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' और 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के सूत्र दिये हैं। जो जिस अनुपात में यह भाव-विकसित कर लेता है, उसके लिए यह संसार उतने ही अंशों में प्रिय लगने लगता है।

स्वर्ग की बड़ी महिमा गाई है। कथा पुराणों में उसका विस्तृत वर्णन मिलता है, उस सब का सार यह है कि वहाँ सब प्रिय ही वस्तुएँ हैं। जैसे स्थानों में रहना चाहते हैं, वह सब वहाँ मौजूद हैं। ऐसा स्वर्ग धरती पर स्वयं भी उतारा और बसाया जा सकता है, इसी जीवन में इन्हीं आँखों से उसे देखा एवं अनुभव किया जा सकता है। इसके लिए अभीष्ट आवश्यकता एक ही है—अपना आत्म विस्तार। आत्मभाव के विकास विस्तार के साथ ही पराये अपने लगने लगेंगे, दूसरे की खराब वस्तुएँ भी अच्छी लगने लगेंगी। प्रेम का अजस्र उत्स फूट पड़ेगा, जिसमें बिराता कोई न होगा। जो होंगे, सब अपने, प्रिय और प्रेमपात्र होंगे। प्रेमास्पदों का समुच्चय ही तो स्वर्ग है।

चेतना का हाथी भौतिकी की सुतली से बाँधे

मानवी सत्ता की व्याख्या भौतिकी नियमों के आधार पर ही प्रस्तुत करने के लिए हमें न तो आतुर होना चाहिए और न आग्रही। पदार्थ विज्ञान का जन्म और अभिवर्धन कुछ शताब्दियों का है जबकि सृष्टि का जीवन अरबों, खरबों वर्षों का। हर्मनबेल के अनुसार, “हम प्रकृति के रहस्यों का परिचय प्राप्त करने की दिशा में क्रमशः बढ़ रहे हैं। इसमें अधीर नहीं हो रहे हैं, फिर चेतना के रहस्यों को जानने के लिए विज्ञान की वर्तमान अपरिपक्व स्थिति को ही क्यों प्रमाण भूत आधार मानें ? हमें धैर्य रखना होगा और वैज्ञानिक प्रगति की उस स्थिति के लिए प्रतीक्षा करनी होगी, जहाँ पहुँचकर वह चेतना विज्ञान को भी अपने साथ सम्मिलित कर सके और अपने विकसित ज्ञान के आधार पर जीवन तत्व की व्याख्या कर सके।”

शरीर शास्त्री सर चार्ल्स शैरिंगटन ने अपनी पुस्तक ‘मैन आन हिज नेचर’ में लिखा है—‘चेतना के स्तर की परीक्षा हम ऊर्जा नापने के उपकरणों से नहीं कर सकते। भावनाएँ और विचारणाएँ किस स्तर की हैं, और व्यक्ति के आदर्श एवं आचरण किस श्रेणी के हैं यह जानने के लिए किसी शरीर का रासायनिक विश्लेषण करने से क्या काम चलेगा ? व्यक्तित्व अपने आप में एक रहस्य है उसकी गहराई में उतरने के लिए वे परीक्षण पद्धतियाँ असफल ही रहेंगी जो कोशिकाओं एवं ऊतकों की संरचना तक ही भाग लेकर समाप्त हो जाती हैं। मनुष्य का कलेवर ही पदार्थों से बना है इसलिए इसी का विश्लेषण, वर्गीकरण तत्व परीक्षा द्वारा सम्भव हो सकता है। चेतना एवं उसके स्तर जिस संरचना से बने हैं,

उनका निरूपण एवं सुधार परिवर्तन करने के लिए भौतिकी के नियम, परीक्षण एवं उपकरण निरर्थक ही सिद्ध होंगे।”

भौतिकी में नोबेल पुरस्कार विजेता प्रो० ई० पी० विगनर ने कहा है—“आधुनिक भौतिकी के सिद्धान्तों से चेतना की संरचना—स्थिति एवं उतार-चढ़ावों की व्याख्या नहीं हो सकती। जिन कारणों से चेतना में उभार, उतार-चढ़ाव, परिवर्तन आते हैं और उत्थान पतन के आधार खड़े होते हैं। वे तत्व कुछ और ही हैं। वस्तुओं को जिस आधार पर प्रभावित परिवर्तित किया जाता है वे सिद्धान्त चेतना को परखने और सुधारने के लिए किसी प्रकार काम नहीं आ सकते। मस्तिष्क विद्या शरीर के एक अवयव की हलचलों का विश्लेषण तो कर सकती है, पर उस आधार पर किसी के विचार बदलने या संवेदनाओं का प्रभावित करने जैसे प्रयोजन बहुत ही स्वल्प मात्रा में हो सकते हैं। भौतिकी के आधार पर चेतना की व्याख्या करने के लिए जो प्रयत्न किये जाते हैं, उनमें विसंगतियाँ ही भरी रह जाती हैं।”

पदार्थ विज्ञान प्रकृति के विवरण प्रस्तुत कर सकता है, पर उसकी संरचना एवं हलचलों के पीछे सन्निहित उद्देश्यों पर प्रकाश नहीं डाल सकता। परमाणु, उप-परमाणु, जीन, जीवाणु, कम्पन, ऊर्जा, प्रकाश, विकरण का स्वरूप ही भौतिकी हमें बता सकती है, पर यह नहीं बता सकती कि ब्रह्माण्ड में भरा हुआ पदार्थ किसलिए इतनी द्रुतगति से कहाँ दौड़ता चला जा रहा है ? आकाश गंगाओं की विशालता और ग्रह-नक्षत्रों की मध्यवर्ती दूरी को नापने से हमारा क्या प्रयोजन सिद्ध होगा ? जब तक यह पता न चले कि उनका अस्तित्व किस उद्देश्य की पूर्ति में संलग्न है। भौतिकी ही यदि सब कुछ है तो उसकी व्याख्या में इतना और जोड़ना चाहिए कि यहाँ सब कुछ निरुद्देश्य है। यदि पदार्थों और हलचलों का कोई उद्देश्य नहीं तो फिर मनुष्य की सत्ता का—उसकी जीवन सम्पदा का ही कुछ प्रयोजन क्यों होगा ? उद्देश्य रहित अस्तित्व के लिए न कुछ कर्तव्य है और न अकर्तव्य। फिर नीति-नियम, अनुशासन और आदर्श की बात करना भी व्यर्थ है। भौतिकी ही यदि सब कुछ है और तत्व-दर्शन निरर्थक है तो समझना चाहिए कि हम निरर्थक दुनिया में, निरर्थक जीवनयापन कर रहे हैं और अपनी उच्छृंखलता पर निरर्थक ही अंकुश लगाने की बात सोच रहे हैं। यदि भौतिकी उन्हीं निष्कर्षों तक हमें पहुँचाती है तो उस उपलब्धि की तुलना में आदिमकाल का पिछड़ापन किसी प्रकार भी बुरा नहीं ठहराया जा सकता।

दार्शनिक कोयेरे के अनुसार, 'विज्ञान ने अविज्ञान पर से बहुत से पर्दे उठाये हैं और अनजान स्थिति को हटाकर जानकारी ही सम्पन्नता प्रदान की है। उस पर भी एक बड़ी हानि यह हुई है कि प्रत्यक्ष मनुष्य, अप्रत्यक्ष होता चला गया है और क्रमशः लुप्त होने के निकट आ पहुँचा है।'

विज्ञान के अनुसार परमाणु और जीवाणु का तो अस्तित्व है पर चेतना का नहीं। कुछ समय पहले वेदान्ती इस संसार को माया, मिथ्या, स्वप्न और भ्रम बताया करते थे। अब विज्ञान ने उलटकर हमला किया है और यह कहना आरम्भ कर दिया है कि मनुष्य की सत्ता, माया, मिथ्या, स्वप्न और भ्रम है। मनुष्य का न कोई अस्तित्व है और न उद्देश्य। जो कुछ है केवल पदार्थ ही है। पदार्थ ही सोचता है, चाहता है यह कहते भी नहीं बनता फिर जो मनुष्य सामने खड़ा है और विज्ञान को उपार्जित करता है वह स्वयं क्या है ? क्या वह विज्ञान की उपज है अथवा विज्ञान में ही विलीन होने जा रहा है।

भौतिकी के स्वरूप का निर्धारण और इतिहास को क्रमबद्ध बनाने वाले इर्विन श्रेन्डिगर ने अपनी प्रतिपादित "सीक फार दि रोड" में लिखा है, पदार्थ का मूल स्वरूप कण है या तरंग यह विवाद उतना महत्वपूर्ण नहीं जितना कि जड़ और चेतन के पारस्परिक सम्बन्धों की गुत्थी सुलझाना। क्या जड़ ही एक स्थिति में चेतन बन जाता है? अथवा क्या चेतना स्वयं ही जड़ है। क्या मात्र इस संसार में पदार्थ ही पदार्थ है ? चेतना का कोई स्थायित्व या अस्तित्व भी है या नहीं, यह असमंजस भौतिकी ने उत्पन्न किया है। या तो उसे अपनी बात प्रमाणित करके यह घोषणा करनी चाहिए कि भौतिकी ही सब कुछ है, चेतना की पृथक्ता या प्रमुखता की बात व्यर्थ है अथवा दर्शन को इस स्तर के प्रमाण संचय करने चाहिए कि छाया हुआ असमंजस दूर हो सके और चिन्तन को आस्तिक और नास्तिक के बीच कोई स्वरूप दिशा धारा मिल सके।

कोयेरे ने झल्लाकर कहा है कि—“यह कितनी विचित्र बात है कि विज्ञान ने हर पदार्थ को मान्यता दी है किन्तु मनुष्य का अस्तित्व ही मानने से इन्कार कर दिया है। कभी धर्म गुरु कहते थे जो हमारे साथ नहीं चलेगा वह जहन्नुम में जायेगा और अब विज्ञान ने लगभग वैसी ही पहली प्रस्तुत की है और कहना आरम्भ किया है जो विज्ञान को स्वीकार करेगा वह अपनी हस्ती ही गँवा बैठेगा।”

चेतना के अस्तित्व को अमान्य ठहराना और उसकी अवमानना करना मात्र वैज्ञानिक एवं दार्शनिक विवाद ही नहीं है। उनके निर्णय का प्रभाव मनुष्य की नैतिक, संस्कृति, समाज व्यवस्था पर भी पड़ता है। उतावली में अस्वीकृति के प्रति आग्रह जमा लिया जाय तो उसका तात्कालिक प्रभाव यह होगा कि मानवी गरिमा का मूल्यांकन स्वतः मनुष्य की अपनी ही आँखों में हो जायेगा। जब वह कुछ है ही नहीं, रासायनिक पदार्थों से बना ढकोसला ही जब उछल-कूद कर रहा है और उसका अस्तित्व क्षण भर का है, तो फिर नीति और धर्म का अनुशासन मानकर कष्टसाध्य जीवन जीना निरर्थक है। तब फिर बुद्धिमत्ता इसी में है कि इन क्षणों में जितना अधिक मौज-मजा लूटा जाय उससे वंचित न रहा जाय, भले ही इसके लिए प्रचलित नीति, मर्यादाओं का अतिक्रमण ही क्यों न करना पड़े ?

आत्म-गौरव का तब कोई महत्व नहीं रह जाता जब अपना अस्तित्व ही संदिग्ध है। ऐसी दशा में समाज व्यवस्था के प्रति अपना योगदान करने को प्रवृत्ति ही क्यों उठेगी। तब देशभक्ति समाज सेवा, लोकहित, परमार्थ जैसे उन आदर्शों का कोई मूल्य नहीं रह जाता जिनके ऊपर व्यक्ति की श्रेष्ठता का स्वरूप बताने और उसे अपनाने वाले को श्रेय सम्मान देने की परम्परा चलती रही है। नास्तिकता की प्रतिक्रिया चारित्र-निष्ठा और समाज-निष्ठा पर सीधा कुठाराघात करती है। उनका आस्थापरक मूल्य समाप्त करती है फिर समाज व्यवस्था के नाम पर जो अनुशासन लादा जाता है, वह कोई दर्शन नहीं रह जाता। मात्र व्यवहार रह जाता है। ऐसे व्यवहार को स्वार्थ साधन के लिए तोड़ फेंकने में किसी को कोई संकोच नहीं हो सकता।

आज धर्म और अध्यात्म की सूत्र संचालक आस्था—आस्तिकता—के प्रति लोकश्रद्धा, व्यक्तिवाद और विलासी दृष्टिकोण के कारण स्वतः ही गिरती चली जा रही है फिर यदि नास्तिकता को दार्शनिक और वैज्ञानिक मान्यता भी मिल गई तो उसे शोध की प्रगति या अन्य जो भी नाम दिया जाय, माना और गर्व किया जा सकता है किन्तु उसका दुष्परिणाम उस संचित पूँजी को गँवाने के रूप में ही सामने आवेगा, जिसे मानवी प्रयासों की लम्बी श्रृंखला के उपरान्त बड़ी कठिनाई से गढ़ा गया है। उच्चस्तरीय आस्थाओं का बाँध तोड़ देने के उपरान्त तो रही बची आशा भी समाप्त हो जायेगी। तब चरित्र संकट की अराजकता की प्रतिक्रिया मनुष्य को मनुष्य द्वारा फाड़-चूरकर न सही निचोड़ने, चूसने और दबाने के रूप में तो प्रस्तुत होगी ही। तब नीति और न्याय का समर्थन उथले और उपहासास्पद तर्कों के सहारे ही किया

जा सकेगा और उसके किसी के गले उतरने की आशा नहीं ही की जायेगी।

भारतीय नास्तिकवाद में चार्वाक दर्शन प्रसिद्ध है, उनके मत का संक्षिप्त विवेचन इन दो श्लोकों में हुआ है।

देहस्थौल्यादियोगाच्च स एवात्मा न चापरः।

न स्वर्गो नापवर्गो वा नैवात्मा पारलौकिकः॥

यावज्जीवं सुखं जीवेद् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।

भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥

अर्थात्—काया पाँच तत्वों के सम्मिलन से बनी है। यह सम्मिलन ही आत्मा है। इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं। स्वर्ग, अपवर्ग, आत्मा परलोक आदि कहीं कुछ नहीं है।

इस मान्यता का फलितार्थ क्या होता है ? इसका स्पष्टीकरण दूसरे श्लोक में देखा जा सकता है। जब आत्मा, कर्मफल, परलोक, पुनर्जन्म आदि कुछ है ही नहीं तो फिर जिस तरह भी हो उसी प्रकार स्वार्थ सिद्ध करने और मौज-मजा लूटने के लिए प्रयत्न करना ही अक्लमंदी है। फिर नीति, धर्म, समाज, सदाचार आदि पर ध्यान क्यों दिया जाय ? और उनके बन्धनों में बँधकर अपनी सुविधाओं में कमी क्यों की जाय ? दूसरे श्लोक में यही निष्कर्ष है। चार्वाक कहते हैं—

“जब तक जीना सुख से जीना, कर्ज लेकर भी घी पीना। देह तो भस्मी भूत है। फिर आने का तो सवाल ही नहीं।” इसी दिशा में जो मौज-मजा सम्भव हो इसी समय कर लेने की बात ही सही जँचती है। पुण्य-परमार्थ, संयम, सदाचार, सेवा आदि के लिए ऐसी मनःस्थिति में कोई स्थान नहीं रह जाता।

चार्वाक की तरह ईसा से ३०० वर्ष पूर्व यूनान का दार्शनिक एपीक्यूरस भी इसी मत का प्रतिपादन करता था। इसने भी प्राणी को पदार्थ कहा है और चेतना को काया का उत्पादन कहा है। इतने पर भी वह इस शंका समाधान करने में असमर्थ रहा कि यदि चेतना काया का धर्म है तो मरने के बाद वह काया से अलग क्यों हो जाती है ? जबकि प्रत्येक पदार्थ का गुण उसके साथ अविच्छिन्न रूप से बना ही रहता है।

इससे अधिक स्पष्ट निष्कर्ष जर्मन वैज्ञानिक हेकल ने निकाला है। उनसे अपने ग्रन्थ ‘दि रिडल आव दि युनिवर्स’ में यह सिद्ध किया है कि परमाणु में मात्र हलचल ही नहीं चेतना भी मौजूद है और वह अपने ढंग

से उसी प्रकार आगे-पीछे सोचती है जैसा की प्राणियों की सत्ता।

मानवी सत्ता की व्याख्या प्रयोगशाला के निष्कर्षों के आधार पर ही की जाय यह आवश्यक नहीं। प्रत्यक्ष ही सब कुछ नहीं है। उन भाव संवेदनाओं का महत्व तो दूर उनके अस्तित्व का कोई कारण तक सिद्ध नहीं किया जा सका जिनके ऊपर भावनाओं का आधार खड़ा हुआ है। स्पष्ट है कि यदि भाव तत्व हटा दिया जाय तो फिर मनुष्य सचमुच ही एक चलता-फिरता पौधा अथवा सोचने, हँसने वाला यन्त्र भर बनकर रह जायेगा।

अधूरा प्रत्यक्षवाद यदि चेतना की व्याख्या करने में अतिशय उतावली करेगा, अपने साधन की अपूर्णता का ध्यान न रखेगा तो यह अत्युत्साह उस मानवी प्रगति की जड़ पर कुठाराघात ही करेगा जिसका एक अंग स्वतः विज्ञान है।

हम शरीर नहीं, आत्मा हैं

भौतिक विज्ञान आत्मा के अस्तित्व का खंडन नहीं करता अपितु वह उसे सिद्ध करने में ही सहायक हुआ है। विज्ञान की उच्च सतह पर न पहुँचने के कारण आज कुछ लोग ऐसी भ्रामक धारणाएँ फैलाए हुए हों, यह दूसरी बात है, अन्यथा जिन वैज्ञानिकों ने गहन तत्त्वान्वेषण किये हैं, उनमें से प्रायः सभी ने यह माना है कि पदार्थ जड़ है और आत्मा चेतनायुक्त, ज्ञानमय है। इन दोनों के गुणों में असमानता है तथापि आत्मा की शक्ति पदार्थ की शक्ति से बहुत बड़ी है।

वर्षों पूर्व कलकत्ता से प्रकाशित ‘दी मार्टन रिव्यू’ में सर ए० एस० एडिंग्टन तथा प्रो० अलवर्ट आइन्स्टीन के आत्म ज्ञान सम्बन्धी विचार उद्धृत हुए थे जो इस प्रकार हैं—

“संसार में कोई अज्ञात शक्ति काम कर रही है जिसे हम नहीं जानते कि वह क्या है ? फिर भी इतना तो स्पष्ट है कि वह अधिक शक्तिशाली है। मैं चेतना को मुख्य मानता हूँ। इस आत्मा के विषय में मुझे अपने मत से कोई विचलित नहीं कर सकता।” “मैं विश्वासपूर्वक कह सकता हूँ कि सारी प्रकृति में एक असीम शक्तिशाली चेतन-शक्ति काम कर रही है।” “विश्व में केवल एक ही मुख्य तत्व है जो देखता है, अनुभव करता है, प्रेम करता है, विचार और स्मृति करता है, वह आत्मा ही है।”

“जैसे मनुष्य दो दिनों के बीच रात्रि को स्वप्न देखता है वैसे ही मनुष्य की आत्मा ही मृत्यु तथा

पुनर्जन्म के मध्य विभिन्न सांसारिक क्रियायें करती है।” सर ऑलिवर लाज ने इन शब्दों में आत्मा के अस्तित्व पर प्रकाश डाला। कुछ वर्षों पूर्व इस बात को लेकर वैज्ञानिकों में काफी लम्बी चर्चा चली थी और आत्मा के अस्तित्व संबंधी उनके मत लिए गए थे, जिन्हें सामूहिक रूप से ‘दी ग्रेट डिजाइन’ नामक पुस्तक में प्रकाशित किया गया है। पुस्तक में उपसंहार करते हुए लिखा गया है—‘यह संसार कोई आकस्मिक घटना नहीं लगता है। इसके पीछे कोई सुनियोजित विधान चल रहा है। एक मस्तिष्क, एक चेतन-शक्ति, काम कर रही है। अपनी-अपनी भाषा में उसका नाम चाहे कुछ रख लिया जाय पर वह मनुष्य की आत्मा ही है।’

इसके अतिरिक्त जे. एन. थामसन जे. बी. हेल्डेन, पी० गोर्डेस, आर्थर एच० काम्पटन, जेम्सजीन्स आदि वैज्ञानिकों ने भी आत्मा के अस्तित्व में सहमति प्रकट की है। उसके प्रत्यक्ष ज्ञान के साधनों का पाश्चात्य देशों में भले ही अभाव हो, पर विचार और बुद्धिशील मनुष्य के लिये यह अनुभव करना कठिन नहीं है कि यह जगत केवल वैज्ञानिक तथ्यों तक सीमित नहीं वरन् उन्हें नियंत्रित करने वाली कोई चेतना भी अवश्य काम कर रही है और उसे जानना मनुष्य के लिये बहुत आवश्यक है।

शास्त्रीय कथानकों के माध्यम से आत्मा के अस्तित्व, गुणों और क्रियाओं के सम्बन्ध में बड़ी ही ज्ञान-पूर्ण चर्चायें की गई हैं। ऐसे कथानकों में नारद, ध्रुव आदि के वार्तालाप के साथ राजा चित्रकेतु की कथा भी बड़ी शिक्षाप्रद और वास्तविक तथ्यों से ओत-प्रोत है। कथा इस प्रकार है। चित्रकेतु एक राजा था जिसे महर्षि अंगिरा की कृपा से एक सन्तान प्राप्त हुई थी। बच्चा अभी किशोर ही था कि उसकी मृत्यु हो गई। राजा पुत्र-वियोग से बड़ा व्याकुल हुआ। अंत में ऋषिदेव उपस्थित हुए और उन्होंने दिवंगत आत्मा को बुलाकर शोकातुर राजा से वार्तालाप कराया। पिता ने पुत्र से लौटने के लिए कहा तो उसने जवाब दिया, ‘ए जीव! मैं न तेरा पुत्र हूँ और तू मेरा पिता है, हम सब जीव कर्मनुसार भ्रमण कर रहे हैं। तू अपनी आत्मा को पहचान। हे राजन् ! इसी से तू सांसारिक-संतापों से छुटकारा पा सकता है।’ अपने पुत्र के इस उपदेश से राजा आश्चर्यचकित हुआ और शेष जीवन उसने आत्म-कल्याण की साधना में लगाया। राजा चित्रकेतु अंत में आत्म ज्ञान प्राप्त कर जीवन मुक्त हो गया।

शरीर को अपेक्षित अधिकार देकर जो बुद्धिमान व्यक्ति शेष समय तथा रुचियाँ आत्मा के स्वार्थ में, उसकी सेवा करने में लगाते हैं, वे लोक में सुख और

परलोक में श्रेय के अधिकारी बनते हैं। शरीर की अतिशय सेवा जहाँ मनुष्य को पतन के गर्त में गिराकर रोग-शोक, संताप, पश्चाताप आदि की यातना दिलाकर भव-पाशों में लपेटती जाती है, वहाँ आत्मा की सेवा में मनुष्य अलौकिक सुख, हर्ष-उल्लास, आनन्द आदि के साथ मोक्ष एवं मुक्ति का पुरस्कार पाता है। अवश्य ही शरीर की उपेक्षा मत कीजिये। कमाइये, खाइये, गृहस्थी बसाइये, सुख और संपत्ति के अधिकारी बनिए लेकिन उसमें इस सीमा तक न डूब जाइए कि इसके सिवाय और कुछ सूझ ही न पड़े। शरीर और संसार में उतना ही समय, श्रम और मनोयोग लगाना चाहिये, जितना आवश्यक है और जिससे जीवन की गाड़ी सुविधापूर्वक चलती रहे। शेष सारा समय, श्रम तथा मनोयोग आत्मा का हित-साधन करने में लगाना चाहिए, जिससे स्वार्थ के साथ परमार्थ और लोक के साथ परलोक भी बनता चले। इसी में मनुष्य जीवन की सार्थकता भी है। किन्तु अधिकांश व्यक्ति यह सब मूल शरीर-परायण जीवन ही जीते देखे जाते हैं।

शरीर का महत्व बहुत है तथापि, जब इसको आवश्यकता से अधिक महत्व दे दिया जाता है, तब यही शरीर जो संसार-बंधन से मुक्त होने में हमारी एक मित्र की तरह सहायता करता है, हमारा शत्रु बन जाता है। अधिकार से अधिक शरीर की परवाह करने और उसकी इन्द्रियों की सेवा करते रहने से, शरीर और उसके विषयों के सिवाय और कुछ भी याद न रखने से वह हमें हर ओर से विभोर बनाकर अपना दास बना लेता है और दिन-रात अपनी ही सेवा में तत्पर रखने के लिये दबाव में आ जाने वाला व्यक्ति कमाने-खाने और विषयों को भोगने के सिवाय-इससे आगे की कोई बात सोच ही नहीं पाता। उसका सारा ध्यान शरीर और उसकी आवश्यकता तक ही केन्द्रित हो जाता है। वह शरीर और इन्द्रियों की दासता में बँधकर अपनी सारी शक्ति, जिसका उपयोग महत्तर कार्यों में किया जा सकता है, शरीर की सेवा में समाप्त कर देता है। इस प्रकार उसका जीवन व्यर्थ चला जाता है और उस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए उसके हृदय में एक पश्चाताप रह जाता है, जिसके लिए यह बहुमूल्य मानव-जीवन प्राप्त हुआ। इसलिए मनुष्य को इस विषय में पूरी तरह से सावधान रहने की आवश्यकता है कि शरीर का कितना महत्व है और अपनी सेवा पाने का उसे कितना अधिकार है?

शरीर की सेवा तक सीमित हो जाने की भूल मनुष्य से प्रायः तब होती है, जब वह शरीर को ही सब कुछ समझ लेता है। सत्य बात तो यह है कि मनुष्य शरीर नहीं, आत्मा है। शरीर तो साधन मात्र है,

साध्य केवल आत्मा ही है इसलिए प्रधान महत्त्व शरीर को नहीं आत्मा को ही देना चाहिए। आत्मा स्वामी है और सेवा में नियोजित करना चाहिए न कि आत्मा को शरीर के अधीन कर देना चाहिए।

मानव-जीवन का लक्ष्य आत्म-कल्याण है। इस लक्ष्य का पाने के लिए आवश्यक है कि आत्मा को शरीर के ऊपर प्रधानता दी जाय। यह क्रिया, दृष्टिकोण बदल देने से सहज में पूरी हो सकती है। हम मनुष्य हैं, शरीर ही सब कुछ है। इसकी सेवा करना हमारा कर्तव्य है, इस प्रकार के दैहिक विचारों के स्थान पर इन विचारों को स्थापित करना होगा, हम आत्मा हैं। शरीर तो साधन मात्र है। आत्मा का कल्याण करना ही हमारा परम धर्म है, जिसका निर्वाह हर मूल्य पर करना ही है। इस प्रकार मनुष्य शरीरिक दासता से बचकर आत्मा की सेवा में समर्पित हो जाएगा, जिससे उसे यह पश्चाताप करने का अवसर नहीं रहेगा।

मनुष्य दीन, हीन और पद-दलित तभी तक वह अपने आपको पहचानता नहीं। तुलसीदास जी जब तक निकृष्ट जीवन व्यतीत करते रहे तब तक वे शोक-संताप में डूबे रहे, किसी ने उन्हें जाना तक नहीं, बेचारे मारे-मारे इधर से उधर घूमते रहे। किन्तु जैसे ही उनकी आंतरिक शक्तियाँ प्रकाशित हुईं, तुलसीदास जी अमृत पुत्र हो गये। जन-जन की वाणी में समा गये, संत बन गये महात्मा हो गये। वाल्मीकि, अंगुलिमाल आदि की कथायें सर्वविदित हैं। विल्वमंगल सूरदास के नाम से प्रसिद्ध हुये, इसके मूल में मानवीय अंतःकरण का विकास ही सन्निहित है। वह शक्तियाँ, वह सामर्थ्य प्रत्येक मनुष्य में है अंतर केवल इतना है कि लौकिक कामनाओं से घिरा हुआ इंसान पारलौकिक संभावनाओं का विचार तक नहीं करता, इसी कारण वह छोटा है, तुच्छ है, निकृष्ट है।

किन्तु मनुष्य जब धीरे-धीरे अपने दोष-दुर्गुणों को हटाकर श्रेष्ठ संस्कारों को धारण करने लगता है तो उसके जीवन में दृष्टिकोण में स्वभावतया परिवर्तन होने लगता है एवं भोग-विलास की लालसा मिट जाती है और आत्मज्ञान की इच्छा बलवान होती जाती है और वैसे ही साधन भी मिलते जाते हैं। जीवनक्रम सरलतापूर्वक लक्ष्य प्राप्ति की ओर अग्रसर होने लगता है। यह साधन बाह्य नहीं होते वरन् आन्तरिक विशेषतायें ही होती हैं। सत्य अहिंसा, प्रेम, त्याग सेवा, आशा, उत्साह, धैर्य, स्वाध्याय, संयम, सदाचार आदि के द्वारा उसका परिष्कार होकर शुद्ध निर्मल तथा पवित्र आत्मा के दर्शन होने लगते हैं।

वही वास्तविक आत्मज्ञान है व इसी के लिए सारे अध्यात्म-उपचार ध्यान-साधनाएँ इत्यादि बतायी गयी हैं।

आत्मा की खुराक भी अनिवार्य

महात्मा गाँधी ने अपने एक प्रवचन में कहा था कि प्रार्थना आत्मा की खुराक है। उत्कर्ष की अभिलाषा रखने वालों का इसका अवलम्बन अनिवार्य रूप से लेना पड़ता है। जिसे अपने भीतर दिव्य ज्योति जगाने की छटपटाहट हो, उसे प्रार्थना का सहारा लेना चाहिए। स्तुति, उपासना न तो वहम है और न ही शब्दों या कानों का व्यायाम, वरन् हमारे खाने-पीने चलने फिरने जैसे आवश्यक क्रिया-कृत्यों से भी अधिक सत्य है।

ईश्वरीय स्तुति या प्रार्थना की महिमा-महत्ता से समस्त धर्मों के वाङ्मय, ग्रन्थ आदि भरे पड़े हैं, संसार में जितने भी महापुरुष महामानव हुए हैं, उनका जीवन बताता है कि प्रार्थना उनके दैनिक जीवन का अनिवार्य अंग बनी रही है। आत्मबल की उपलब्धि इसके बिना संभव भी नहीं। इस संदर्भ में प्रख्यात पादरी एवं मनोवेत्ता नार्मन विसेन्ट ने अपनी कृति—“ए गाइड टू कॉन्फिडेंट लिविंग” में कहा है कि प्रार्थना मानव जीवन का सर्वाधिक सशक्त एवं सुगम एक ऐसा ऊर्जा स्रोत है, जिसे हर कोई उत्पादित अभिवर्धित करके अपने को प्राणवान और परिष्कृत प्रतिभा सम्पन्न व्यक्तियों की श्रेणी में सम्मिलित कर सकता है। उनके अनुसार हमारी आकांक्षाओं, आवश्यकताओं एवं अभिलाषाओं की पूर्ति हेतु महामानवों ने तीन तरह के मार्ग निर्धारित किये हैं—

(१) कर्म (२) चिन्तन और (३) प्रार्थना। तीनों के समन्वित प्रयासों के माध्यम से ही जीवन लक्ष्य की प्राप्ति संभव हो हो पाती है। पर प्रायः देखा यह जाता है कि आमतौर से व्यक्ति प्रथम दो मार्गों पर चलने का प्रयत्न तो करता है, परन्तु तीसरे अति महत्त्वपूर्ण पक्ष को विस्मृत कर बैठता है।

चिन्तन और क्रिया के सामान्य जीवन क्रम जुड़े रहने पर अपने अस्तित्व की जानकारी आसानी से की जा सकती है, किन्तु मानव को महामानव—देवमानव की श्रेणी में पहुँचाने की सामर्थ्य भगवत्-सान्निध्य से ही संभव है। प्रार्थना उपासना का विधान इसी की पूर्ति के लिए अध्यात्मवेत्ताओं द्वारा सुझाया गया है। यदि दैनन्दिन जीवन में पाँच मिनट का भी समय इस निमित्त निकाला जा सके तो उतने भर से उन दुष्प्रवृत्तियों से पीछा छुड़ाया जा सकता है, जो आये दिन सिर पर सवार होकर अनेकानेक प्रकार से त्रास देती रहती हैं। उनसे प्रार्थना को प्रभावशाली बनाने के लिए कुछ सूत्र बताये हैं।

प्रथम सूत्र है, जीवन व्यापार के हर क्षेत्र में ईश्वर की साझेदारी को प्रमुखता देना। यही वह आधार है जिसका अवलम्बन लेने पर कर्तव्यों के प्रति जागरूकता बनी रहती है और दूरदर्शिता का विकास होता चलता है।

दूसरा सूत्र है, ईश्वरीय उपस्थिति का सतत् आभास होते रहना। दैवी चेतना का कार्य मनुष्य की सहायता करने तथा उसे सदैव ऊँचा उठाने विकासोन्मुखी बनाने का होता है। यदि यह आस्था जीवन में गहराई से जड़ जमा सके तो आत्मोत्कर्ष की दिशा में आगे कदम बढ़ा सकना किसी के लिए भी कठिन नहीं है।

तीसरा सूत्र है, ईश्वर की पुकार अंतःकरण की गहराई से निकले और वह इतनी भावनापूर्ण हो, जिससे परमात्म सत्ता का अनुदान वरदान, स्नेह, सहयोग के रूप में बरसता स्पष्ट दिखाई देने लगे। अंतःकरण से की गई सच्ची पुकार को परमात्मा कभी अनुसनी नहीं करता। वह अपना परिचय अन्तराल में उमंगती सद्प्रेरणाओं, सद्भावनाओं के रूप में तुरन्त देता है। इसी आधार पर बाद में प्रत्यक्ष सहयोग-सहकार भी चारों ओर से बरसने लगता है।

चौथा सूत्र है, प्रार्थना के समय चिन्तन की दिशाधारा विधेयात्मक हो। इसमें स्वयं के साथ, अन्यायों के कल्याण की भावना भी सन्निहित हो तथा प्रार्थना का प्रत्युत्तर भी मिलता है। समर्थ सत्ता के समक्ष अपनी इच्छा-आकांक्षा रखते समय इस बात का ध्यान अवश्य रखा जाय कि उसमें कहीं संकीर्ण स्वार्थपरता तो प्रवेश नहीं कर रही है।

पाँचवा व अन्तिम सूत्र है, अपना अनहित चाहने, सोचने वालों के प्रति भी सद्भावना का बने रहना। इन्हें सम्मति मिले, इसकी प्रार्थना करना। ऐसे व्यवहार से न केवल निज के अन्तराल शुद्ध होता है वरन् प्रतिपक्षी को भी विनम्र बनाता है।

यह एक अकाट्य सत्य है कि लोक कल्याण के निमित्त की गयी प्रार्थना निश्चित ही सार्थक एवं प्रभावी होती है। कठिन से कठिन प्रतीत हो रहे कार्य भी समष्टि के कल्याण की प्रार्थना से सधने लगते हैं। जीवन का इसे एक अनिवार्य अंग बना लिया जाय तो लोक व परलोक दोनों सध जाते हैं।

उत्कृष्टता से ओतप्रोत है, मानवी सत्ता

मनुष्य वस्तुतः सच्चे अर्थों में कौन है ? क्या विशिष्ट आकार-प्रकार का कलेवर या ढाँचा प्राप्त कर लेना ही इसकी निशानी है अथवा इसके कुछ अन्य

मानदण्ड हैं ? इन सब बातों पर गहराई से विचार करने पर यही ज्ञात होता है कि केवल बाह्य ढकोसलें के आधार पर किसी को मनुष्य कह देना मनुष्यता के साथ अन्याय करना है। ऐसे मिलते-जुलते कलेवर तो वनमानुष, चिम्पांजी जैसे अन्य वन्य जन्तुओं के भी होते हैं, फिर तो इस परिभाषा के आधार पर मनुष्य की श्रेणी में वे भी आ सकते हैं। इससे ऐसा लगता है कि परिभाषा अथवा चिन्तन में कहीं कोई कमी अवश्य है। मनीषियों का कहना है कि मनुष्य अथवा मनुष्यता की परिभाषा उसके नैतिक मूल्यमानों पर, आन्तरिक उत्कृष्टता पर आधारित होनी चाहिए, जो सही भी है।

इसी का समर्थन करते हुए एरिक फ्राम अपनी पुस्तक “साइकॉलाजी एण्ड ह्यूमन सोसायटी” में लिखते हैं कि मनुष्य के व्यवहार का आधार आचार है और आचार की अभिव्यक्ति व्यवहार अन्तरंग को सँवारे बिना उत्तम व्यवहार की कल्पना करना और सही अर्थों में मानवता का परिचय दे पाना हथेली में सरसों जमाने की तरह है। वे आगे लिखते हैं कि आज हम कहने को तो अन्तरिक्ष युग में प्रवेश कर चुके हैं, और बाहरी दृष्टि से यह मनुष्य की एक बहुत बड़ी विजय का द्योतक भी है, पर जब हम उसके अन्तराल में झाँकते हैं, तो ऐसा लगता है कि वह एक बार फिर से पाषाण युग की ओर ही अग्रसर हो रहा है। वे चेतावनी देते हुए कहते हैं कि यदि हमारा ध्यान अन्तः के परिष्कार की ओर न होकर मात्र बाह्य उपलब्धियों की ओर ही केन्द्रित रहा, तो फिर हम आदिमानवों की श्रेणी से भी नीचे पशुओं की श्रेणी में आ जायेंगे, जिसका एक ही काम होगा, पारस्परिक विद्रोह और विध्वंस।

आर० ड्यूब्स अपनी रचना “सो ह्यूमन एज एनीमल” में मानवी पतन का एकमात्र कारण जीवनोद्देश्य को भूल जाना बताते हैं। वे कहते हैं कि ऐसा तब से प्रारम्भ हुआ, जब से हमने विज्ञान के प्रत्यक्षवाद को ही सब कुछ मानने की भूल की। जिस बात को विज्ञान द्वारा सिद्ध किया जा सका, उसे हमने सहजता से स्वीकार लिया और जहाँ वह असमर्थ रहा, वहाँ हम उस तत्व के अस्तित्व से ही इन्कार करने लगे। प्रत्यक्षवाद ने जहाँ अन्धमान्यताओं एवं कुप्रथाओं को समाप्त करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी, वहीं सृष्टि संचालन के पीछे किसी समर्थ सत्ता के हाथ होने पर भी प्रश्न-चिह्न लगा दिया। बस यहीं से चार्वाक, मिल, बेन्थम, नीत्से चरनिस्सेस्की जैसे अनीश्वरवादी भोगवादियों ने सिर उठाना शुरू किया और “ऋण कृत्वा घृतं पिबेत्” का नारा देना शुरू किया। कहा-चाहे जैसे भी बन पड़े भले ही वह

अनाचार—अत्याचार के माध्यम से ही क्यों न हों, ऐश-भौज करो। इस सिद्धान्त ने समाज व्यवस्था ही भंग कर दी और एक अराजकतावादी समाज को जन्म दिया। ड्यूक्स का कहना है कि अराजकता को समाप्त करने के लिए हमें ईश्वर और मनुष्य के बीच पुनः वही सम्बन्ध स्थापित करना पड़ेगा, जो प्राचीनकाल में था और जिसे कभी संसार की सर्वोपरि सत्ता के रूप में स्वीकार किया गया था। जब तक इतना कुछ नहीं बन पड़ेगा तब तक समाज में नैतिकता की आशा करना मनुष्य के लिए दुराशा मात्र होगी।

इसी को दूसरे शब्दों में जी० ई० पुष्प अपनी कृति “दि बायोलॉजिकल ओरीजिन ऑफ ह्यूमन वेल्फ़ेयर” में लिखते हैं कि मनुष्य की पहचान उसके भावनात्मक संगठन के कारण है। मात्र बुद्धि अथवा आकार वह मनुष्य कहलाने का अधिकारी नहीं है। यदि ऐसा ही होता, तो प्रयोग परीक्षणों के दौरान बन्दर एवं चिम्पांजी को भी बुद्धिमान पाया गया है। इस आधार पर वे भी मनुष्य की पंक्ति में आ खड़े होते, पर वस्तुतः मनुष्य उदात्त भावनाओं का समुच्चय है। इसे यदि उससे पृथक् कर दिया जाय, तो मनुष्य मात्र एक बुद्धिमान जन्तु बनकर रह जायेगा। इसी का समर्थन करते हुए “दि ह्यूमन साइक” में जॉन एकलिस कहते हैं कि मनुष्य अपने अन्तस् में उत्कृष्टता के बीज सँजाये हुए है। यदि इसे निरन्तर पोषण देकर विकसित किया जा सके, तो कोई कारण नहीं कि मानव महामानव न बन सके, पर विडम्बना यह है कि कि मानवी देवत्व पर असुरत्व हावी हो जाने के कारण देवत्व के अंकुर विकसित वृक्ष बनने से पूर्व ही मुरझा जाते हैं। उन्होंने “ए क्लॉक वर्क ओरेन्ज” एवं “जॉज” जैसी भयानक व डरावनी फिल्मों के निर्माता श्री क्यूब्रिक के इस कथन पर आपत्ति प्रकट की है कि मनुष्य मूलतः पाशविक, हिंस्र व सनकी है। श्री एकलिस का कहना है कि वस्तुतः मनुष्य ऐसा है नहीं। यह तो उसके विकास काल के अवशेषी संस्कार हैं, जिन्हें प्रयासपूर्वक हटाकर वह अपने प्रखर और वास्तविक स्वरूप को प्राप्त कर सकता है।

नृतत्वविज्ञानी ई० ओ० विल्सन अपनी पुस्तक “ऑन ह्यूमन नेचर” में यह स्वीकारते हैं कि मानवी जीवन गरिमामय तभी माना जा सकता है, जब वह “अपना और अपनों” की संकीर्ण स्वार्थपरता के सिद्धान्त के ऊपर उठकर विश्व-बन्धुत्व का परिचय दे। वे लिखते हैं कि इतनी विशेषता तो मनुष्येतर प्राणियों में भी पायी जाती है, फिर मनुष्य तो उनसे बहुत बुद्धिमान और विकसित है। उसने भी उसी लीक पर चलने का परिचय दिया, तो इसे उसकी संकीर्णता ही कहनी चाहिए।

मानव में सामाजिकता के विकास का आरम्भ सिर्फ इस कारण हो सका था कि उसने इसकी आवश्यकता और उपयोगिता समझी थी, पर आज एक बार फिर से वह इससे विमुख होता जा रहा है, जिससे उसका भविष्य अन्धकारमय दिखाई पड़ता है। इसी आशय का मन्तव्य प्रकट करते हुए शेरिंगटन अपनी प्रसिद्ध रचना “मैन एण्ड हिज नेचर” में लिखते हैं कि दूसरों के प्रति सद्भावना और सम्मान ही ‘स्व’ के विस्तार का आधार है और इसी आधार पर उसके उज्ज्वल भविष्य की आशा की जा सकती है। इससे कम में विकास तो क्या अस्तित्व को सुरक्षित रख पाना भी उसके लिए असंभव होगा। इसी बात को श्री एल० आर० लक्ष्मीनारायण ने अपने शोध प्रबन्ध “श्री अरविन्दो एण्ड दि टू कल्चर्स” में दूसरे ढंग से कहा है। वे मनुष्य की वर्तमान चिन्तन पद्धति को ही आज के संकट के लिए जिम्मेदार ठहराते हुए कहते हैं कि चिन्तन की संकीर्णता जहाँ व्यक्ति के दायरे को स्वयं तक, सम्प्रदाय अथवा जाति तक सीमित कर देती है, वहीं उसकी अधोमुखता हिंसा, क्रोध एवं प्रतिशोध जैसी प्रवृत्तियों को जन्म देती है। इस संकट से उबरने का वे एक ही विकल्प सुझाते हैं—चिन्तन का परिष्कार और उदात्तीकरण।

यह सच है कि मानवी चिन्तन—चेतना में समाये इस प्रकार के दुर्गुण की आज के संकट और मनुष्य के अस्तित्व के लिए प्रश्न-चिन्ह बनकर अड़े हुए हैं। जब तक वह अपने चिन्तन को परिष्कृत कर स्वयं को दुर्गुण मुक्त नहीं कर लेता तब तक न तो वह मनुष्य कहलाने का अधिकारी है और न वर्तमान दुर्गति से बच सकता है। इसी का अनुमोदन करते हुए डब्ल्यू० एच० थोप अपने ग्रन्थ “एनीमल नेचर एण्ड ह्यूमन नेचर” में प्रसिद्ध जन्तुशास्त्री डॉ० कोनार्ड लोरेन्ज की पुस्तक “ऑन एग्रेसन” पर समीक्षा प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि मनुष्य को जो मूलतः हिंसक एवं क्रोधी स्वभाव के मानते हैं, वह वस्तुतः भूल करते हैं। यह मनुष्य के विकार हैं न कि मूल प्रवृत्ति, इन्हें दूर कर वह, वह सब कुछ बन सकता है, जिसे महान विलक्षण, अद्भुत, अलौकिक कहा गया है।

आत्मसत्ता-आत्मिकी की सर्वांगपूर्ण प्रयोगशाला

मनुष्य की कायिक एवं मानसिक संरचना विलक्षण एवं असीम सम्भावनाओं से भरी-पूरी होते हुए भी उसे पूर्ण नहीं माना जा सकता। जीवन व्यापार में उसे हर समय दूसरों की मदद लेनी ही पड़ती है। पदार्थ जगत

१.१२८ चेतन, अचेतन एवं सुपर चेतन मन

की सर्वोत्कृष्ट प्रतिभा मनुष्य की काया और ब्राह्मी चेतना के परोक्ष वैभव का प्रत्यक्ष प्रतीक प्रतिनिधि मानवी मस्तिष्क इतने श्रेष्ठ स्तर का होते हुए भी मनुष्य तब तक परावलम्बी है, जब तक इस यन्त्र उपकरण को अनुशासित कर नियन्त्रण करने वाली परब्रह्म सत्ता से उसके तारतम्य का पता नहीं लगाया जाता। यह पराक्रम पुरुषार्थ भी उसी स्तर का दैव-दानव संग्राम है, जिससे कभी चौदह रत्न निकले थे व विश्व-वसुधा गौरवान्वित हुई थी। भौतिकी को आत्मिकी के अनुशासन में बँधकर देखना ही ऋषिगुणों की, महामानवों की विशेषता रही है। आज के भौतिकवादी युग में उन्हीं मूल्यों की पुनः खोज, नये परिप्रेक्ष्य में उसकी स्थापना व उन्हें जन सुलभ बनाकर मानव को उसकी गरिमा का बोध करा देना उतना ही अनिवार्य हो गया है।

जब आज मनुष्य को अपनी छोटी-छोटी आवश्यकताओं के लिए परावलम्बी होना पड़ता है, विज्ञान के आविष्कारों की परिणित को सुख-साधनों पर निर्भर रहना पड़ता है, तो आत्मिक प्रगति के लिये उच्चस्तरीय सहयोग की आवश्यकता पड़ना स्वाभाविक ही है। ब्राह्मी चेतना की अनुकूलता, अनुकम्पा सदैव मनुष्य के उत्थान हेतु उपलब्ध है। प्रश्न यही है कि कितना लाभ मनुष्य ने इस काया रूपी जन्म लेने के बाद आत्मोत्कर्ष की दिशा में बढ़ने के लिये उठाया। अनुग्रह ऊपर से बरसें या सिद्धियाँ अन्तः से उछलें, यह प्रश्न इतना अहम् नहीं जितना कि यह निर्धारण कि ऊँचा उठने के लिये कोई सहारा ढूँढ़ा गया अथवा नहीं। साधना से सिद्धि प्राप्त की दिशा में विभूतियों का सहयोग तभी मिलता है और वे श्रेष्ठ भी होती हैं, जब मनुष्य अपने को मनुहार द्वारा नहीं, पात्रता सम्पादन द्वारा तद्रूप-तदनुकूल बनाने का प्रयास करता है। यही है ब्रह्म को परब्रह्म से जोड़ने का तत्त्वदर्शन तथा समस्त सिद्धियाँ उच्चस्तरीय उपलब्धियों की प्राप्ति का राजमार्ग। इसी पर चलकर भौतिकी के विभिन्न मनीषियों ने—अध्यात्मविज्ञान के ऋषियों ने बहुमूल्य मणि-मुक्तक खोज निकाले हैं, स्वयं को देवदूत स्तर तक पहुँचाया है। इस कड़ी को पकड़कर ही वह आधार बनाया जा सकता है, जो व्यक्तित्व की समग्रता, पूर्णता की लक्ष्य प्राप्ति में सहायक बन सकेगा। इस प्रक्रिया को ही, जो जीव स्वयं सम्पन्न करता है, 'साधना' नाम से जाना जाता है।

साधना-जीवन साधना—आदतों एवं मान्यताओं को साध लेना इतना व्यापक शब्द है, जिसमें व्यक्तित्व की परिष्कृति का सारा स्वरूप छिपा पड़ा है। किसान अपने उच्छृंखल बैल को नकेल डालकर साधता है, जबकि

सर्कस का मास्टर शेर, हाथी, रीछ जैसे उग्र प्रकृति के जीवों को नरम व्यवहार द्वारा, कभी कड़ाई से साध कर पालतू बना लेता है। गुलाब के पौधों में 'बडिंग' (कलम) लगाकर भौतिक-भौतिक के रंगीन फूल पैदाकर माली अपनी कला-सौन्दर्य की साधना का परिचय देता है। बंजर, अनुपजाऊ भूमि को खेत का रूप देकर धरती को सोना उगलने वाली देवी बना देना किसान की अथक साधना का ही प्रतिफल है। इसी प्रकार अणु विखण्डन द्वारा, भूगर्भ की पुरुषार्थ भरी खोजों तथा अन्तरिक्ष की गहरी छानबीन करते हुए आधुनिक मानव ने बहुमूल्य सुख-साधन प्राप्त किए हैं। यह भी एक साधना है, जिसके सुनियोजित प्रतिफलों ने आज युग को भौतिकी की दृष्टि से चरमावस्था पर पहुँचा दिया है। प्रश्न यह उठता है कि अनगढ़ प्रकृति तथा जीव जगत को सुगढ़ बनाते समय वह चेतना सत्ता को सुव्यवस्थित बनाने का, उत्कर्ष की दिशा में अग्रसर करने का प्रयास क्यों नहीं करता ? प्रगति के इस राजमार्ग का सुनिश्चित पथ जानते हुए भी वह चौराहे पर भटक क्यों जाता है ? यही है वह विडम्बना जिसके चलते व्यक्ति दिग्भ्रान्त, अशान्त, उद्विग्न नजर आता है। सभ्य और सुसंस्कृत बनाने की दिशा में, अपने आप को सुव्यवस्थित, सुगढ़ बनाने में यदि उसी स्तर का पुरुषार्थ किया जाता तो आज जैसी परिस्थितियाँ सम्भवतः दृष्टिगोचर नहीं होती। सर्वत्र स्वर्गोपम वातावरण एवं देवत्व भरी मनःस्थिति पायी जाती है।

मानवी गरिमा के अनुरूप व्यक्तित्व कैसे ढले ? इस विधा को ही आत्मिकी कहते हैं। इस विधा का अनुशासन व्यक्ति को अपने जन्म-जन्मान्तरों के संचित कुसंस्कारों, हठीले अभ्यासों को छोड़ने हेतु विवश करता है, निपटने हेतु समुचित मनोबल जुटाता है, कष्ट सहकर भी प्रगति की दिशा में अग्रगमन की प्रेरणा देता है।

उस प्रसंग में कदम जो उठाने पड़ते हैं, वे उच्चस्तरीय होते हैं। प्रसुप्त की जागृति इससे कम में सम्भव नहीं। बहुमूल्य पौध उगाने-फसलें प्राप्त करने के लिए भूमि को भी परिशोधित कर विशिष्ट रूप से तैयार किया जाता है। उच्च स्तर का आत्मबल यदि अभीष्ट है तो परिष्कृत व्यक्तित्व का उपार्जन करना होता है कि ताकि विभूतियों को सँभालकर रखा जा सके—उनका दुरुपयोग न होने पाए।

आत्मिकी को भौतिकी के अनुरूप बनाने उसकी प्रामाणिकता को तर्क, प्रमाणों के आधार पर सिद्ध करने के लिए मानवी काया को ही प्रयोगशाला बनाकर साधक की व्यष्टि सत्ता को प्रखर-परिमार्जित करना होगा। साधना के अनेकानेक पक्षों की चर्चा इसी सन्दर्भ में होती रही है। योग

और तप, साधना के दो महत्वपूर्ण अंग हैं। 'योग' जहाँ शरणागति एकत्व की स्थिति है, वहाँ 'तप' शोधन की अग्नि-संस्कार वाली प्रक्रिया है। आत्म-सम्पादन हेतु वांछित ऊर्जा इसी काया से 'तप' प्रक्रिया के माध्यम से ही उद्भूत होती है। ऊर्जा जहाँ भौतिकी की सर्वाधिक महत्वपूर्ण बलशाली शक्ति है, वहाँ अध्यात्म क्षेत्र में भी सामर्थ्य उपार्जन का यही एक मात्र आधार है। चेतना को निकृष्टता से विरत कर उत्कृष्टता के साथ जोड़ देना 'योग' और शरीरगत अस्त-व्यस्तता को सुसंस्कारिता के अनुशासन में जकड़ देना 'तप' है। दोनों ही परस्पर अन्योन्याश्रित हैं। दोनों पैरों को उठाते, बढ़ते रहने पर ही यात्रा क्रम चलता है। दो पहियों से ही गाड़ी लुढ़कती है। दोनों हाथों से ही ताली बजती है। योग और तप को, शरीर और मन को, चिन्तन और कर्म को उत्कृष्टता का अभ्यास कराने के लिए अनिवार्य रूप से आवश्यकता पड़ती है, यह समझना और समझाना आत्मिकी के पुनर्जागरण में शुभारम्भ की तरह आवश्यक माना जाना चाहिए और इसके लिए गम्भीरता से प्रयास चलना चाहिए।

गम्भीरता से चिन्तन की बात इसलिए कही जा रही है कि अक्सर इनको बड़े हल्के रूप में ले लिया जाता है। इससे लाभ मिलना तो दूर, अध्यात्म के समीप भी साधक पहुँचता नहीं देखा जाता। वस्तुतः यह गीता में वर्णित महाभारत है, जो अन्तर्जगत के धर्म-क्षेत्र कुरुक्षेत्र में लड़ा जाता है। भाव कल्प, चिन्तन का परिष्कार, समग्र प्रत्यावर्तन ही इस प्रक्रिया की फल श्रुति है।

योग में 'ध्यान' अभ्यास की प्रमुखता है। 'मेडीटेशन' एकाग्रता का महत्त्व बहुत बताया जाता रहा है। उसका तात्पर्य यही है कि निकृष्टता के, लोभ, मोह और अहंता के जाल-जंजाल में जकड़े हुए मन को इन विडम्बनाओं में भटकते रहने की आदत छुड़वाना तथा निर्धारित लक्ष्य इष्टदेव के साथ तादात्म्य होने का अभ्यास करना। इसमें मन को बिखराव की बाल बुद्धि छोड़ने और इष्टदेव से लेकर दिनचर्या के प्रत्येक क्रिया कृत्य में तादात्म्य होने का अभ्यास करना भी है। न तो पूजा उपचार में बिखराव रहे और न दैनिक क्रिया-कृत्य को बेगार भुगतने की तरह आधे-अधूरे मन से किया जाय। इस ढोंग-मन बहलाने की प्रक्रिया से पीछा जितनी जल्दी छुड़ाया जा सके, इसके प्रयास चलने चाहिए। समय क्षेप तो इससे बचेगा ही, सोद्देश्य साधना के लाभ भी शीघ्र ही मिलने लगेंगे। क्रिया के साथ मनोयोग को घनिष्ठ कर देने की सफलता बहुत बड़ी उपलब्धि है। इसे अपनाने

वाले भौतिक एवं आत्मिक क्षेत्र में समान रूप से सफल होते हैं।

किसी देवता का ध्यान करते रहना और उसी की छवि में मन रमाए रहना मनोनिग्रह का एक स्वरूप तो है पर इतने भर से अभीष्ट सफलता नहीं समझी जानी चाहिए। ऐसी एकाग्रता तो नट, बाजीगर, मुनीम, कलाकार, वैज्ञानिक भी अपने स्वभाव का अंग बना लेते हैं। मेस्मेरेज्म के प्रयोगों में यही एकाग्रता चमत्कार दिखाती है। इतने पर भी वे लोग आत्मिक दृष्टि से किसी भी प्रकार ऊँचा उठे हुए नहीं कहे जा सकते। किसी कल्पना मात्र पर ध्यान जमाए रहना इस प्रयोजन के लिए एक उपचार भर है। लक्ष्य यह है कि सर्वतोमुखी उत्कृष्टता के प्रति सघन श्रद्धा उत्पन्न की जाय, उसके माहात्म्यों का भावभरा चिन्तन किया जाय और अपनी समूची चेतना को उसी में सराबोर होने दिया जाय। उद्देश्यपूर्ण स्वाध्याय और सत्संग भी ध्यानयोग के ही अंग माने गए हैं। उत्कृष्टता की गरिमा पर श्रद्धा केन्द्रित करने को 'चिन्तन' और उसे आज की स्थिति में क्रियान्वित करने की आकांक्षा को उभारना, योजना बनाना 'मनन' कहलाता है।

योगाभ्यास की ध्यान योजना के अन्तर्गत आत्म समीक्षा, आत्मनिर्माण एवं आत्मविकास की सुविस्तृत रूपरेखा खड़ी करना, उसे सफल बनाने के लिए कटिबद्ध होना प्रमुख कार्य है। इसी के निमित्त स्वाध्याय, सत्संग, चिन्तन मनन के चार आधार अपनाने पड़ते हैं। एकाग्रता (मेडीटेशन) ध्यान योग के अन्तर्गत ये प्रयोजन भी जुड़े रहते हैं। अन्यथा मन को एक कल्पना भर देकर रोकें रहने से योगाभ्यास का वह उद्देश्य पूरा नहीं हो सकेगा, जिसके आधार पर आत्मसत्ता को आत्मिकी की प्रयोगशाला के रूप में परिणति करने की व्यवस्था बनती थी।

योग का साथी तप मात्र शरीरगत क्रिया है। सँजोई अनगढ़ आदतों को मोड़ना-मरोड़ना एवं अपने स्वभाव में सुसंस्कारिता को सम्मिलित करने का अभ्यास प्रबल पुरुषार्थ है। बिखराव रुकने पर तप द्वारा शक्ति अर्जन का आप्त वचन सही होता है देखा जा सकता है। मात्र निरोध नहीं-संकल्पों से जुड़ा संयम ही तप कहलाता है। इन्द्रिय संयम, विचार-संयमों के रूप में इन तप-साधनों की चर्चा समय-समय पर होती रही है। बाल बुद्धि के लोग मात्र ब्रह्मचर्य को ही तप मानते हैं, जबकि तप एक समय साधना है जिसका ब्रह्मचर्य भी एक अंग है। इन्द्रिय-लिप्सा जब पूरे जोश-खरोश पर है, ऐसी दशा में संयम समर्थ तर्क, तथ्य, प्रमाण और वैज्ञानिक प्रतिपादनों के आधार पर सत्यापन नितान्त आवश्यक है। अन्यथा आत्मिकी के प्रयोग-परीक्षणों के लिए द्वार बन्द ही रहेगा। जब साधक की सत्ता आत्मिकी का अवधारण ही न कर सकेगी तो उससे लाभ उठाने की बात ही कैसे बनेगी?

इन्द्रिय छिद्रों में से जीवन-रस टपकता रहेगा और आत्मिक दृष्टि से छूँछ बना हुआ व्यक्ति उच्चस्तरीय पुरुषार्थ करने एवं तदनु रूप सफलताएँ प्राप्त कर सकने में सफल कैसे होगा ?

योग और तप सम्बन्धी इस विवेचन को आज भी भ्रष्ट मान्यताओं और दृष्ट परम्पराओं के सामने किस प्रकार मल्लयुद्ध के लिए प्रस्तुत करने और विजयी बनाने का संरंजाम जुटाया जाय, यही वास्तविक युगानुकूल पुरुषार्थ है। इन प्रयासों की सफलता पर आत्मिकी का पुनर्जीवन और मानवी भविष्य के उज्ज्वल पक्ष का निर्धारण अवलम्बित है। यह प्रयत्न छोटा दीखते हुए भी परिणाम की दृष्टि से कितना महान और महत्वपूर्ण है, इसकी मात्र कल्पना से ही मन पुलकित हो उठता है।

चेतना के विकास में परिवेश

का महत्व

जिस वातावरण में, जैसे व्यक्तियों के सम्पर्क में रहना पड़ता है, उससे प्रभावित हुए बिना नहीं रहा जा सकता। मनुष्य को बहुत कुछ अपने भाग्य, भविष्य और व्यक्तित्व का निर्माता स्वयं कहा जाता है, परन्तु उसका इच्छित निर्माण भी तभी सम्भव होता है, जबकि उपयुक्त वातावरण मिले। उपयुक्त वातावरण के अभाव में वे परिस्थितियाँ और सुविधाएँ उपलब्ध ही नहीं होतीं जो अभीष्ट विकास के लिए आवश्यक हैं इसीलिए मनीषियों ने उच्चस्तरीय आत्मिक विकास के लिए सत्पुरुषों की संगति करने, परिमार्जित और परिष्कृत वातावरण में रहने तथा आत्मविकास के लिए समुचित प्रयत्न करते रहने का निर्देश दिया है।

वातावरण, परिवेश या परिस्थितियाँ मनुष्य को किस प्रकार प्रभावित करती हैं ? इसका अच्छा उदाहरण जुड़वाँ बच्चों में देखा जा सकता है। एक साथ एक ही गर्भ से जन्म लेने वाले बच्चों के स्वभाव, स्वास्थ्य, रंग, रूप और यहाँ तक कि चरित्र में भी अद्भुत साम्य देखा गया है। जन्म लेने के बाद भले ही परिस्थितियाँ भिन्न हो जाएँ, जुड़वाँ बच्चों को आगे चलकर भिन्न-भिन्न कार्यक्षेत्र अपनाते पड़े परन्तु उनमें वह साम्य फिर भी कम नहीं होता। यह साम्य किस स्तर तक, किस सीमा के अन्दर तक घटाया या बढ़ाया जा सकता है ? इस सम्बन्ध में वैज्ञानिकों ने अनेक प्रयोग किये हैं और उनके आश्चर्यजनक परिणाम सामने आए हैं। अमेरिका के बोस्टन शहर में जन्मी दो जुड़वाँ बच्चियों पर किये गए प्रयोग इस सम्बन्ध में एक ठोस प्रमाण प्रस्तुत करते हैं।

यहाँ जन्मीं दो लड़कियाँ जिल और वरोनिका को तीन महीने तक तो एक साथ पलने दिया गया। फिर

उन्हें अलग-अलग कर दिया गया। जिल के पालन-पोषण की जिम्मेदारी जिस महिला को दी गई थी, उसके और भी बच्चे थे तथा वह कठोर शारीरिक श्रम की आदी और सख्त अनुशासन प्रिय स्वभाव की थी। अपने बच्चों को भी उसने अपनी इच्छा और रुचि के अनुसार साँचे में ढाला। वरोनिका की अभिभावक महिला सीधे सादे किस्म की गृहिणी थी और वह दूसरों से ज्यादा मिलना-जुलना भी पसन्द नहीं करती थी। एकान्त उसे बहुत अच्छा लगता था, जबकि जिल की अभिभावक महिला सामाजिक कार्यों में बहुत रुचि लेती थी और एकान्त तो जैसे उसे कटने दौड़ता था।

जिल और वरोनिका के चेहरे-मोहरे में अद्भुत साम्य था। दोनों को एक साथ देखने पर उन्हें अच्छी तरह पहचानने वाला व्यक्तियों के लिए यह निश्चित कर पाना कठिन हो जाता था कि कौन जिल है और कौन वरोनिका ? उन्हें जब स्कूल में भरती कराया गया तो पाया गया कि उनके स्वभाव एक-दूसरे से बहुत सीमा तक मिलते हैं। अलग-अलग स्थानों में, अलग-अलग प्रकृति की महिलाओं के संरक्षण में रहकर भी उनके स्वभाव में कोई विशेष अन्तर आभासित नहीं होता था।

जुड़वाँ बच्चे जीवविज्ञान के लिए अभी भी एक पहेली हैं। वैज्ञानिकों ने इस विषय में अनुसंधान की व्यापक योजनाएँ बनाई हैं। अकेले अमेरिका में सौ से अधिक ऐसे केन्द्र हैं जहाँ जुड़वाँ बच्चों के सम्बन्ध में अध्ययन किया जाता है। इन केन्द्रों में विभिन्न जुड़वाँ बच्चों के सम्पूर्ण जीवन की जानकारी एकत्रित की जाती है, उसका अध्ययन किया जाता है और उन्हें एक-दूसरे से सम्बद्ध किया जाता है अब तक हुए अध्ययन से प्राप्त विभिन्न निष्कर्षों के अनुसार औसतन ४० में से एक बच्चा जुड़वाँ होता है अर्थात् ८० प्रसव होते हैं तो उनसे एक प्रसव से जुड़वाँ बच्चे जन्म लेते हैं।

जुड़वाँ बच्चों को जन्म के आधार पर दो वर्गों में बाँटा जा सकता है। एक तो वह जिसमें दोनों बच्चों का एक साथ जन्म होता है, दूसरे बच्चे कुछ समय के अन्तर से होते हैं। इनमें से पहले वाले को युग्म जुड़वाँ बच्चे कहा जाता है। तथा दूसरे प्रकार के बच्चों को सामान्य जुड़वाँ बच्चे। युग्म जुड़वाँ बच्चे एक ही डिम्ब से जन्म लेते हैं। देखने में वे अक्सर एक जैसे लगते हैं, उनमें कोई अन्तर नहीं दिखाई देता। केवल उनकी अँगुलियों के निशान ही अलग होते हैं। वे अलग सैक्स के हो सकते हैं और शक्त में भी कुछ अन्तर हो सकता है। किन्तु यह अन्तर ऐसा नहीं होता कि सामान्य दृष्टि से देखा या समझा जा सके। स्वभाव तो लगभग एक समान ही होता है।

बंकिम के मातृत्व शोध-संस्थान के वैज्ञानिकों ने जुड़वाँ बच्चों में कुछ अन्तर पाए हैं, किन्तु यह अन्तर सामान्य या सामान्य गम्भीरता से देखने पर पता नहीं चलता। इस पर भी उनके विचारों, आदतों और स्वभाव में अद्भुत साम्य देखा गया। विसेट तथा मारग्रेट नामक दो वैज्ञानिकों ने सैकड़ों जुड़वाँ बच्चों पर शोध कर अनेक महत्वपूर्ण तथा विस्मयकारी निष्कर्ष ढूँढ़ निकाले हैं। उन्होंने अपनी पुस्तक में कई जुड़वाँ बच्चों के उदाहरण दिये हैं। एक डॉक्टर की पत्नी का उदाहरण इसमें बेहद दिलचस्प है। नाम था उसका डोंग मार्टिन। वह एक पार्टी में सम्मिलित थी और हँस-हँसकर अपने मित्रों से बोल-बतिया रही थी। अचानक न जाने क्या हुआ कि वह उदास हो गई और फूट-फूट कर रोने लगी। डॉ० विसेट भी उसी पार्टी में उपस्थित थे। मार्टिन को इस प्रकार रोते देख कर उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ। कुछ समय बाद उन्होंने इसके कारण तलाशते हुए पाया कि पार्टी में जिस समय मार्टिन रो उठी थी, उस समय उसकी जुड़वाँ बहन अचानक बीमार पड़ गई थी।

बंकिम शहर की ही एक और घटना का उल्लेख है, मारग्रेट एक परिवार में अतिथि थे। मेजवान परिवार की गृहिणी पूरी तरह सामान्य थी। वह प्रसन्न और स्वस्थ चित्त से अतिथियों का सत्कार कर रही थी। अचानक रसोई में से उनके कराहने का स्वर सुनाई दिया। मारग्रेट सहित परिवार के अन्य लोग दौड़कर आए। देखा टैडी उसी प्रकार कराहते हुए रसोई के अपने कम में लगी है। पूछने पर उसने बताया अचानक उसके चेहरे, पीठ और पैरों में इस प्रकार दर्द होने लगा था, जैसे वह किसी दुर्घटना में आहत हो गई हो और उसे चोट लगी हो।

टैडी काफी समय तक उसी स्थिति में रही। चोट लगने जैसे दर्द का तत्काल कोई कारण समझ में नहीं आया पीछे पता चला कि उसी समय टैडी की बहन बैब्स एक कमरे दुर्घटना में बुरी तरह घायल हो गई थी। उसके चेहरे, पीठ और पैरों पर काफी चोटें आई थीं तथा वह इस दुर्घटना के कारण बेहोश हो गई थी।

इस तरह की घटनाएँ अन्य जुड़वाँ बच्चों में भी पाई गई हैं। प्रायः उनमें से किसी एक को कोई तकलीफ होती है तो दूसरे को भी पता चल जाता है और बहुत बार वैसे ही पीड़ा वे भी अनुभव करने लगते हैं। ब्रिटेन की लेबर पार्टी के संसद सदस्य डगलस की बेटी कैथरीन ने जिस समय एक लड़के को जन्म दिया उसी समय, उसकी जुड़वाँ बहन हेलन के पेट में भी संछा पीड़ा हो रही थी। मानचेस्टर की बारबरा मैरिगन ने भी छह घण्टे तक अपनी जुड़वाँ बहिन के साथ प्रसव वेदना

झेली। प्रो० जे० एच० कैमरान ने लिवरपूल के एक मैकेनिक का विचित्र विवरण दिया है। जिसे न कहीं चोट आई न कोई बीमारी हुई फिर भी वह एक सप्ताह तक चलने-फिरने में असमर्थ रहा। कारण कि उसके एक जुड़वाँ भाई की टाँग एक दुर्घटना में टूट चुकी थी।

जुड़वाँ बच्चों में शारीरिक और मानसिक रूप से इतनी साम्यता होती है कि उन्हें एक ही व्यक्तित्व के दो बिम्ब कहा जाये तो भी अत्युक्ति नहीं होगी। अनेक जुड़वाँ बच्चों में, वे कहीं भी रहें, एक-दूसरे तक अपने विचार और संवेदना सम्प्रेषित करने की अद्भुत क्षमता पाई जाती है और कई बार इस क्षमता से बहुत लाभ होता देखा गया है।

यह समानता क्यों उत्पन्न होती है ? इस सम्बन्ध में वैज्ञानिक गम्भीरता से शोध कर रहे हैं। अमरीकी विशेषज्ञ विसेट का कथन है कि यदि युग्म जुड़वाँ बच्चों में शारीरिक दृष्टि से समानता होती है तो इस बात की सम्भावना बहुत बढ़ जाती है कि वे मानसिक दृष्टि से भी एक समान हैं। ऐसा क्यों होता है ? इसके उत्तर में कहा गया है कि उन बच्चों का विकास गर्भाशय के भीतर ही एक-सी ही स्थितियों में होता है। उस समान स्थिति में पलने के कारण अलग-अलग देहधारी होते हुए भी उनके व्यक्तित्व तथा आचरण में समानता आ जाती है।

एक ही गर्भ में पलने वाले बच्चों के गुणसूत्र भी एक से होते हैं। कभी-कभी इन बच्चों का गर्भाधान और विकास अलग प्रकार के गुणसूत्रों से भी होता है। एक ही प्रकार के गुणसूत्रों वाले बच्चों को 'आइडेंटिकल ट्विनस' कहते हैं। ऐसे बच्चे समान लिंगी के होते हैं अर्थात् या तो पुरुष होते हैं अथवा स्त्री। गर्भ में जिन बच्चों का विकास अलग-अलग गुणसूत्रों से होता है, उन्हें फ्रैटर-नल ट्विनस कहते हैं। ऐसे बच्चों के लिंग भिन्न-भिन्न भी हो सकते हैं अर्थात् एक पुल्लिंग हो सकता है और दूसरा स्त्रीलिंग। कोई आवश्यक नहीं कि ये भिन्न लिंग के हों ही सही परन्तु ऐसी सम्भावना हो सकती है। 'आइडेंटिकल ट्विनस' में इस तरह की सम्भावना बिल्कुल नहीं रहती।

लन्दन हॉस्पिटल के 'साइकीआर्टो इन्स्टीट्यूट' के डॉ० जेम्स शील्ड ने जुड़वाँ बच्चों पर काफी अनुसंधान कार्य किया है तथा उनमें पाई जाने वाली समानताओं के वैज्ञानिक कारण प्रस्तुत किये हैं। उनके अनुसार एक ही गुणसूत्रों से विकसित बच्चों के शरीर, स्वरूप, स्वभाव, आदतों, व्यवहार, रुचियों और मस्तिष्कीय क्षमताओं में आश्चर्यजनक समानता होती है। इसका कारण दोनों का

एक ही परिवेश में पलना और विकसित होना है। ऐसे बच्चे जब गर्भ में होते हैं तो गर्भिणी द्वारा किये जाने वाले आहार तथा उसकी दिनचर्या का दोनों पर समान रूप से प्रभाव पड़ता है। उन्हें गर्भ में एक ही प्रकार का पोषण मिलता है। वे एक ही श्वास लेते हैं। कुछ मिलाकर समान परिस्थितियाँ एवं समान स्तर का पोषण मिलने के कारण ही उनमें समानताएँ पाई जाती हैं।

वातावरण और परिवेश गर्भस्थ शिशु को ही नहीं मनुष्य को भी असाधारण रूप में प्रभावित करता है। इस सिद्धान्त या तथ्य को भारतीय मनीषियों ने भी समझा था। जब व्यक्ति के उच्चस्तरीय विकास हेतु संस्कारी व्यक्तित्वों के संसर्ग में रहने पर विशेष जोर दिया था। सत्संग का इसीलिए अत्यधिक महत्त्व बताया गया है कि उसमें जिन व्यक्तियों की संगति प्राप्त होती है, उनका तेजस् वातावरण में ऐसी सूक्ष्म विशेषताएँ उत्पन्न करता है, जिससे मनुष्य की चेतना अनायास ही प्रभावित होने लगती है और आत्मिक विकास की दिशा में अग्रसर होती है।

शारीरिक दृष्टि में प्रत्येक व्यक्ति की क्षमताएँ भले ही भिन्न-भिन्न हों, उनकी अलग-अलग सम्भावनाएँ हों, किन्तु आत्मिक क्षेत्र में प्रत्येक व्यक्ति विशिष्ट सम्भावनाएँ लिए हुए होता है, ये सम्भावनाएँ तभी साकार होती हैं, जब उनके अनुरूप परिस्थितियाँ उपलब्ध हों। पानी से भाप बन जाने और वाष्प शक्ति के रूप में बड़े-बड़े यन्त्र चलाने की सम्भावना है। किन्तु पानी हर कहीं वाष्प शक्ति में परिणित नहीं होता। उसके लिए उपयुक्त व्यवस्था बनानी पड़ती है। आत्मिक विकास की उच्च कक्षा में पहुँचने के लिए भी उच्चस्तरीय आत्माओं का सम्पर्क, सान्निध्य आवश्यक है। वह सम्पर्क, सान्निध्य चुम्बकीय विशेषता की तरह समीपवर्ती व्यक्तियों को अपने समान बना लेता है। अतः ऐसे व्यक्तियों के सम्पर्क में रहने के लिए प्रयत्नशील रहना चाहिए, जिनके सान्निध्य में आत्मिक क्षमताओं का विकास हो सके। वैसे वातावरण और परिवेश में रहने का अवसर प्राप्त करना चाहिए, जो चेतना का उच्चस्तरीय विकास सम्भव बना सके।

जीव चेतना की सात भूमिकाएँ

जीवात्मा क्या है ? कहाँ से आया है ? विश्व में वह किस स्थिति में है और कहाँ पहुँचकर वह पूर्णता प्राप्त करता है ? इस सम्बन्ध में पूर्व और पश्चात्, ज्ञान और विज्ञान जगत दोनों ही आदिकाल से खोज करते रहे हैं। किन्तु अति सूक्ष्म विज्ञान होने के कारण उसे अच्छी तरह समझा नहीं जा सका। इस सन्दर्भ में

उपलब्ध दर्शनों में वेद और उपनिषद् सम्बन्धी मीमांसा को सर्वशुद्ध और प्रामाणिक माना गया है।

(१) भूः (२) भुव (३) स्वः (४) महः (५) जनः (६) तपः और (७) सत्यम्—यह सात लोक, (१) बीज जाग्रत (२) जाग्रत (३) महा जाग्रत (४) जाग्रत स्वप्न (५) स्वप्न (६) स्वप्न जाग्रत और (७) सुषुप्ति—यह जीव की सात अवस्थाएँ, (१) रस (२) रक्त (३) मॉस (४) मज्जा (५) मेद (६) अस्थि और (७) वीर्य—यह सात धातुएँ तथा (१) स्वप्न जागर (२) संकल्प जागर (३) केवल जागर (४) चिर जागर (५) घन जागर (६) जाग्रत स्वप्न और (७) क्षीण जागर—यह जीवों के सात प्रकार। इन सबकी विधिवत् जानकारी दिलाना भारतीय तत्त्व-दर्शन का उद्देश्य रहा है। यह सप्तक केले के पत्तों के अनुसार जीव-चेतना के विकास की सात अवस्थाओं का विज्ञान है। इसे समझ लेने पर परमात्मा की स्थिति से लेकर संसार के विस्तार, जीवात्मा के विज्ञान से लेकर पुनः मुक्त अवस्था प्राप्त होने तक का शुद्ध ज्ञान प्राप्त करना सुगम हो जाता है। इन अवस्थाओं को 'एस्ट्रल' शरीर के नाम से थियोसाफिस्ट और पश्चात् वैज्ञानिक भी जानने लगे हैं, तथापि उनकी सबसे अच्छी व्याख्या योग-ग्रन्थों और उपनिषदों में ही प्राप्त है।

सर्वप्रथम सृष्टि-विस्तार की प्रक्रिया को लेते हैं। भारतीय दर्शन की मान्यता यह है कि प्रारम्भ में एक ही 'महतत्त्व' परमात्मा था, उसकी इच्छा हुई—'एकोहं बहुस्याम्' मैं एक हूँ, अनन्त हो जाऊँ। उसकी इस इच्छा से ही पंच-तत्त्वों की रचना हुई और क्रमशः अनेक लोक-लोकान्तरो और जीवधारियों की रचना होती चली गई। यों बाह्यणों की संख्या अनन्त है—बहवों ह वा आदित्यात् पराज्यो लोका, (जैमिनी ब्राह्मण १।११) अर्थात् आदित्य से परे लोक है तथापि पंच तत्त्वों की न्यूनाधिक मात्रा के अनुपात से लोकों की संख्या सात ही मानी गई, ५ लोक पाँच तत्त्वों की मिति बहुलता वाले अर्थात् किसी में आकाश तत्व अधिक है, शेष ४ कम मात्रा में। किसी में अग्नि तत्व अधिक है, शेष ४ कम ऐसे। एक इन समस्त तत्त्वों में परे महतत्त्व और अन्तिम तमिस्र लोक अर्थात् जिसमें स्थूलता-ही स्थूलता, अन्धकार-ही अन्धकार है।

इन लोकों की स्थिति पृथक्-पृथक् न होकर अर्न्तवर्ती है अर्थात् एक लोक में ही शेष ६ भी हैं। एक ही स्थान पर सातों लोक विद्यमान हैं। जीव-चेतना अपने तत्त्वों की जिस बहुलता में होती है, वह उसी प्रकार के लोक का अनुभव करती है। पृथ्वी पर रहते हुए भी हम सूर्यलोक, आदित्य या स्वर्गलोक में स्थित हो

सकते हैं, यदि हमारी चेतना अग्नि, सोम और महतत्व में परिणित हो चुकी हो। जैमिनी ब्राह्मणों में इसी बात को—‘अनन्तहितान् एश्वेत् उच्चनि लोकान् जयति’ कहा है, जिसका अर्थ है—ईश्वर को प्रयत्नपूर्वक धारण करने वाला व्यक्ति न पृथक् हुए ही उर्ध्व लोकों को जीतता है।

भूः लोक हमारे भीतर है, हम जिस लोक के तत्व का विकास कर लेते हैं। स्थूल रूप से शरीर में होने पर भी अपने आपको उसी लोक में अनुभव करते हैं, वैसी ही सूक्ष्म दृष्टि और शक्ति के स्वामी भी हम होते हैं। भूलोक स्थूल धातुओं और खनिजों का लोक है। इस लोक में रहने वाले व्यक्ति में इच्छाएँ और वासनाएँ बनी रहती हैं। इस तत्व से प्रभावित व्यक्ति में नेतृत्व, सर्व विद्या विनोदी, रोगमुक्त, काव्य और लेखन की सामर्थ्य आदि विकसित होते हैं।

भुवः लोक जल तत्व प्रधान सिन्दूर पूर्ण का है। इस लोक में निवास करने वाले व्यक्तियों का अहंकार, मोह, ममत्व नष्ट हो जाता है। ईश्वरीय मनन में प्रसन्नता अनुभव होने लगती है। रचना-शक्ति का विकास होने लगता है, सामान्य व्यक्ति की अपेक्षा वह अधिक उन्नतिशील होता है। स्वःलोक अग्नि तत्व की प्रधानता की अवस्था है। सूर्य में अग्नि तत्वों वाले जीव ही रह सकते हैं या यों कहना चाहिए कि सूर्य का ध्यान करते रहने से अग्नि अर्थात् उष्णता, विद्युत और प्रकाश के परमाणुओं का शरीर में विकास होता है। ऐसे शरीर वाले व्यक्ति में संहार और पालन की शक्ति, वचन-सिद्धि आदि गुण होते हैं। उस व्यक्ति को दुर्गुणों से घृणा होने लगती है तथा परमार्थ व सेवा में आनन्द मिलने लगता है।

महः लोक वायु तत्व की प्रधानता का प्रतीक है। इसके ध्यान और प्राप्ति से इन्द्रिय संयम, ज्ञान-प्राप्ति की उत्कण्ठा और परकाया प्रवेश आदि सिद्धियों का स्वामित्व मिलता है। इसी स्थिति में परिणित हो जाने पर आत्म-चेतना इन शक्तियों सामर्थ्यों का अधिकार सामान्य रूप में प्राप्त कर लेती है। जनः लोक जिसके परमाणु धूम्र वर्ण के, आकाश तत्व की प्रधानता वाले होते हैं। इस स्थिति में जीवात्मा दीर्घ जीवी तेजस्विता, सर्व हित परायणता और भूत-भविष्य को देखने का अधिकार प्राप्त करती है। इस स्थिति पर पहुँची हुई आत्मायें कठिन परिस्थिति में भी अतीव शान्ति अनुभव करती हैं। उनके मस्तिष्क में से सदैव सुखद विचार उठते रहते हैं।

तपः लोक शुभ्र वर्ण के शुद्ध ज्योतिर्मय परमाणुओं से बना होता है। इसे ही महतत्व कहते हैं, उसके ध्यान

करने से ऊँकार का सुखद नाद सुनाई देता है और तीनों लोकों में जो कुछ है, वह स्थूल नेत्रों की तरह आत्मा में प्रतिभासित होने लगता है। इस अवस्था में पहुँचे हुए साधक के सभी दोष नष्ट हो जाते हैं। अन्तिम सत्यलोक, जहाँ से परमात्मा का संकल्प स्फुरित होता है, जो निराकार और सभी तत्वों से अतीत है। यहाँ पहुँची हुई आत्मायें जन्म-मृत्यु के बन्धनों से छूटकर सहस्रदल कमल की तरह आकार वाले दिव्यलोक का स्वामित्व प्राप्त करती हैं। इन सातों लोकों की क्रमशः सूक्ष्म, सूक्ष्मतर, सूक्ष्मतम अवस्थाएँ हैं। इनमें आत्म-चेतना की क्रमशः परिणति को ही जीव की सात अवस्थाएँ कहा जाता है।

यों ब्रह्माण्ड के विस्तार के सम्बन्ध में पाश्चात्य विद्वानों के अनेक मत हैं, पर उनमें से जिन तीन सिद्धान्तों को पाश्चात्य देशों में ग्रामाणिक माना गया है, उनका सार इन तथ्यों का प्रतिपादन ही करता है।

पहला ब्रिटिश खगोलशास्त्री फ्रायड हायल का ‘अपरिवर्ती’ सिद्धान्त है। इसके अनुसार ब्रह्माण्ड का अस्तित्व हमेशा रहा है। हम भी मानते हैं कि परमात्मा अनादि तत्व है, वह कालातीत है अर्थात् ऐसा कोई भी समय नहीं, जब वह न रहा हो। इस तत्व को हाइड्रोजन कहते हैं। इसी से अनेक आकाश गंगाएँ बनीं और क्रमशः घनत्व वाले ब्रह्माण्डों का विस्तार होता चला गया है।

दूसरा सिद्धान्त कैम्ब्रिज विश्व-विद्यालय के रेडियो खगोल शास्त्री डॉ० मार्टिन रैले का ‘वृहत् विस्फोट’ का सिद्धान्त कहलाता है। उसके अनुसार १० अरब वर्ष पूर्व एक अत्यन्त सघन परमाणुओं वाला तत्व था, उसमें एक-एक जोर का विस्फोट हुआ। उस विस्फोट से बिखरे पदार्थ खण्ड ही आकाश गंगाएँ बनीं और उनसे सूर्य, सूर्य से पृथ्वी आदि ग्रह-नक्षत्र बने। गुब्बारा फूलने की तरह यह ब्रह्माण्ड विकसित होता जा रहा है और वह अनन्त विस्तार में समाता चला जायेगा। इस मत के मानने वाले ब्रह्माण्ड की समाप्ति पर नहीं, विस्तार पर ही विश्वास करते हैं।

तीसरा सिद्धान्त पुनरावृत्ति का या दोलायमान स्थिति का सिद्धान्त कहलाता है और जो ऐलेने सैण्डेज तथा पालोमर वेधशाला के वैज्ञानिकों की देन है—ये और सब बातें वृहत् विस्फोट के सिद्धान्त की ही हैं, पर इनके अनुसार ८० अरब वर्ष पीछे ब्रह्मांड के विस्तार की अन्तिम स्थिति होगी अर्थात् उस समय प्रलय जैसी स्थिति उत्पन्न होने से सारे पञ्चभूत नष्ट होकर पुनः एक ही तत्व में चले जायेंगे। इसके बाद सृष्टि निर्माण की प्रक्रिया पुनः प्रारम्भ होगी।

यह सिद्धान्त प्रकरणान्तर से भारतीय सिद्धान्तों की ही पुष्टि करते हैं। एक ही तत्व के विकास और काल-विभाजन को हमारे यहाँ गणनायें तक हुई हैं और उन्हें देव-गुणों से लेकर पृथ्वी के युगों तक बाँटकर एक-एक युग में तत्वों की कमी या आधिक्य के साथ यह तक बता दिया है कि अमुक युग में ऐसी मनःस्थिति, अमुक युग में अमुक मनःस्थिति के लोग होंगे। ब्रह्मांड के विकास के साथ चेतना के विकास का जितना अच्छा समन्वय और सामंजस्य भारतीय तत्व-दर्शन ने प्रस्तुत किया है, उतना संसार के अन्य किसी भी विद्वान ने नहीं किया। वे अभी तक स्थूल विवेचन तक ही सीमित हैं, इसलिये आगे जीव की जिन सात अवस्थाओं का विवेचन करेंगे, उनका वैज्ञानिक दृष्टि से कोई प्रमाण नहीं मिलेगा। उनको प्रमाणित करने वाले तत्व केवल मनोवैज्ञानिक और घटनापरक तथ्य ही होंगे,

अब तक सप्त लोकों की स्थिति का अध्ययन और पुष्टि वैज्ञानिक नहीं कर सके तथापि ब्रह्मांड में कुछ धुँधली रहस्यमयी वस्तुएँ दिखाई दी हैं, जिन्हें आकाश की जबर्दस्त शक्ति-स्रोत के रूप में देखा जा रहा है। इन वस्तुओं का नाम 'क्वासार' रखा गया है। उनका अध्ययन तो ज्योति-विज्ञान के अध्याय में अन्यत्र करेंगे, पर यहाँ यह उल्लेखनीय है कि इन शक्ति-स्रोतों के वर्णक्रम (स्पेक्ट्रम) सात रंग के पाये गये हैं १—बैंगनी २—नीला ३—आसमानी ४—हरा ५—पीला ६—नारंगी ७—लाल। इनमें से कुछ वर्णभेद समीपवर्ती रंगों के सम्मिश्रण हो सकते हैं। यदि ऐसा हो, तो उनकी पूर्ति अत्यन्त दिव्य और अत्यन्त अम्बकारपूर्ण वे दो रंग हो सकते हैं, जिन्हें अपने वर्णक्रम (स्पेक्ट्रम) में पालोमर वेशशाला के वैज्ञानिक डा० एलन सैडेज और जीस ग्रीनस्टेन ने प्राप्त किया। बड़े परिश्रम से जब उन्होंने अत्यन्त सूक्ष्म वर्णक्रम प्राप्त किया, तो उसमें यह दो ही रंग उपलब्ध हुए।

इन अवस्थाओं और शक्ति-स्रोतों को इकट्ठा चित्रित करना कठिन है, पर यह निश्चित है कि यह अनजाने शक्ति-स्रोत सात लोकों के सात तत्व केन्द्र ही हैं। उन पर और विस्तृत खोजें हुईं, तो लोग देखेंगे कि भारतीय तत्व-दर्शन कितना अत्याधुनिक और प्रामाणिक रहा है।

जैसा कि ऊपर बताया गया है—लोकों के अध्ययन के साथ-साथ भारतीय तत्वदर्शियों और योगियों ने उनमें पाये जाने वाले तत्वों और उनकी मानसिक संरचना का भी विस्तृत अध्ययन किया और जब उसे मनुष्य के मनोविज्ञान से मिलाया, तो उसमें अद्भुत सामंजस्य मिला। सातों लोकों में प्राप्त चेतना यद्यपि अपने

मूल परिवेश में एक ही है तथापि उसके गुण और सामर्थ्य अलग-अलग क्रमशः ऊपर से नीचे की ओर विघटित या नीचे से ऊपर की ओर विकसित हैं। विकसित अवस्था को जीव का लक्ष्य बताया, क्योंकि उससे आनन्द, सुख-सौन्दर्य, श्री और शांति मिलती है, जबकि पतन की स्थिति में जीवात्मा अपनी सूक्ष्म शक्तियाँ सोंप की केंचुल की तरह छोड़ती चली जाती है। निकृष्ट योनियों में पड़ने से वह दुःख कष्ट और क्लेशपूर्ण जीवन में ही फँसती चली जाती है। इसलिये शास्त्रकार सदैव ऊर्ध्वमुखी जीवन की प्रेरणा देते रहे और भोगवादी प्रवृत्तियों से सावधान करते रहे हैं।

सातों लोकों में निवास करने वाली चेतना का विस्तार जब परमात्मा से प्रकृति की ओर होता है, तब प्रथम अवस्था बीज जाग्रत कहलाती है। विज्ञान बताता है कि संसार स्थूल कुछ है ही नहीं—सब कुछ शक्तिमय, चिन्तमय है। यह सारा संसार परमाणुओं से बना है और परमाणु अपने आप में कोई स्थूल पदार्थ न होकर धन विद्युत आवेश (प्रोटॉन), ऋण विद्युत आवेश (इलेक्ट्रॉन) नाभिक (न्यूक्लियस) न्यूट्रॉन, पाजिट्रॉन आदि शक्तियों को सम्मिलित इकाई है। भारतीय योग-ग्रन्थों में उसे ही—'द्या देवो सर्वभूतेषु शक्ति रूपेण संस्थिता' कहा है अर्थात् सृष्टि के परमाणुओं को पृथक् नहीं किया जा सकता जबकि सभी में नाभिक, धन विद्युत, ऋण विद्युत आदि तो उन्हें भी अलग नहीं किया जा सकता। एक ही वस्तु में या विराट् ब्रह्मांड में उन सभी चेतनाओं के स्वरूप को अलग-अलग अनुभव भर किया जा सकता है। इन शक्तियों में जो मूल चेतना है, वही बीज जाग्रत अवस्था है। इस अवस्था में चेतना नितान्त शुद्ध, निर्विकार और नाम आदि से मुक्त होती है। पर उसे भविष्य में नामों से पुकारा जा सकता है।

उदाहरण के लिये हमारा जब जन्म नहीं हुआ था, तब हम केवल चेतन रूप में थे। उसका कोई नाम नहीं था, पर जब शरीर से संयोग हुआ, तो लोगों की पहचान के लिये नाम रखा जाने लगा। इस अवस्था में मैं हूँ, यह मेरा है। आदि अनुभव होने लगते हैं। इस अवस्था को जाग्रत अवस्था कहते हैं। इस स्थिति में अपने पूर्व स्वरूप का कोई ज्ञान नहीं होता। मन्त्रों के द्वारा, पुनर्जन्म, भूत-प्रेत और आत्मा के आह्वान आदि की घटनाओं से मरणोत्तर जीवन की पुष्टि तो कर सकते हैं पर हमारी चेतना का मूल स्वरूप क्या है—यह एकाएक अनुभव नहीं कर सकते, जब तक कि तप और साधनाओं के द्वारा इन अवस्थाओं का विकास बीज जाग्रत अवस्था में न कर लें।

तीसरी अवस्था के बारे में योग-वासिष्ठ के ३।११७।१६-१७ मंत्रों में कहा है—

अयं सोहमिदं तन्म इति जन्मान्तरोदितः ।

पीवरः प्रत्यय प्रोक्तो महाजाग्रदिति स्फुरन्॥

अर्थात् जब कई जन्म हो चुकते हैं तो अहंभाव अर्थात् मेरे-तेरे का स्वार्थ भाव दृढ़ हो जाता है। यही महाजाग्रत अवस्था है।

इन अवस्था से छूटने के लिये वैराग्य और अहंकार भावना के परित्याग का अभ्यास करना पड़ता है। इस अवस्था में मनुष्य अपने अनादि जीवन का चिन्तन करे, तो भी वह मेरे-तेरे के भाव से छूट नहीं पाता। पर जब वह सांसारिक जीवन में इतना घुल जाता है कि उसे अनन्त जीवन का मान ही नहीं होता, तब यह चौथी जाग्रत स्वप्न अवस्था में होता है—

यज्जाग्रतो मनोराज्यं जाग्रत्स्वप्नः स उच्यते।

द्विचक्षुमुक्ति काश्यप भृगतृष्णादिभेदतः ॥

आरूढमथ या रूढ सर्वथा सन्मयात्मकम् ।

—३।११७।१८

—३।११७।१७

अर्थात्—हमारा जो जीवन चल रहा है, वह इतना दृढ़ हो गया कि वह कल्पित नहीं, उसी प्रकार सत्य प्रतीत होने लगा है जैसे एक चन्द्रमा पानी में दो, सीप को चाँदी, और रेगिस्तान को देखकर नदी का भ्रम होता है। इस अवस्था में जीव अपनी मृत्यु का भी ध्यान नहीं करता। उसे ही सत्य भासता है, भले ही उसे कितना ही दुःख क्यों न मिल रहा हो।

पाँचवीं अवस्था 'स्वप्नावस्था' कहलाती है। उस समय व्यक्ति को जाग्रत अवस्था का सा अनुभव होता है। पर जागने पर वह असत्य सा अनुभव होने लगता है। इस अवस्था में कई देखी हुई घटनायें भविष्य में इतनी सत्य होती हैं कि उसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती, तो भी जाग जाने पर मनुष्य अपने यथार्थ चेतन स्वरूप की याद न करके वही न करने पाप कर्म करता और स्थूल इन्द्रिय भोगों में फँसा रहता है।

छठवीं स्वप्न जाग्रत अवस्था के सम्बन्ध में योग-वासिष्ठ कहती है—

चिरसंदर्शनाभावाद प्रफुल्लवृहद्वपुः।

स्वप्नो जाग्रतया रूढो महाजाग्रत्पदं गतः॥

अक्षते वा क्षते देहे स्वप्नजाग्रन्मते हि तत्॥

—३।११७।२०, २१, २२

अर्थात्—अधिक समय तक जाग्रत अवस्था के स्थूल विषयों और इन्द्रिय सुखों का अनुभव नहीं होता। पर स्वप्न में ही अपने द्वारा किये जाने वाले क्रिया-कलाप महाजाग्रत अवस्था के से जान पड़ने लगते हैं। उस समय यह आवश्यक नहीं, कि यह स्थूल शरीर रहे ही अर्थात् मरणोपरान्त भी ऐसे अनुभव होते हैं। यह अवस्था स्वप्न-जाग्रत कहलाती है।

कुछ दिनों तक विविध साधनायें और योगाभ्यास आदि करने से इस स्थिति का स्पष्ट आभास शरीर रहते हुए भी हो जाता है। इस अवस्था में सहायक के अधिकांश स्वप्न सच्चे भी होने लगते हैं।

अन्तिम अवस्था सुषुप्ति की है। यह जीव की सर्वथा जड़ स्थिति है। वह केवल वही कल्पनायें करता है, जिसमें भविष्य में दुःख-ही-दुःख होता है। योग-वासिष्ठ ३।११७। २४ में लिखा है—

‘पदार्थाः संस्थिताः सर्वे परमाणु प्रमाणिनः।’

अर्थात्—संसार के मिट्टी, कंकड़, तृण, पत्थर आदि सभी पदार्थ इसी अवस्था में स्थित रहते हैं। अर्थात् इन सबमें भी चेतना तो होती है, पर वह ऐसे सद्यः सुख प्राप्ति के भाव से चेतना प्रसित होती है कि उसे अपनी चेतना का भी ध्यान नहीं होता। इसलिये जो कुन्द बुद्धि लोग होते हैं, जिन्हें आत्मा और परमात्मा आदि सूक्ष्म सत्ताओं की ओर ध्यान ही नहीं जाता, प्रायः जड़ कहा जाता है। यह अवस्था बीज जाग्रत अवस्था की ठीक उल्टी होती है। एक में सारा संसार चेतन ही चेतन होता है, दूसरे में जड़ ही जड़। जो जिस अवस्था में होता है उसे वही सत्य दिखाई देता है। जब तक चेतना की धारा और दिशा एकाएक परिवर्तित न हो या परिवर्तित न की जाये, हर स्थिति का व्यक्ति अपने को ही सत्य माने बैठा रहता है, जबकि यह सारी ही अवस्थायें माया और दुःखपूर्ण होती हैं। जितनी ऊपर की अवस्थाएँ हैं उतनी ही सुखद, शक्तिशाली और सिद्धियों से ओत-प्रोत हैं जबकि निम्नगामी अवस्थाएँ तो उनके लिये दास, शोषण आदि की वस्तुएँ ही रहती हैं। प्रकृति का यह सिद्धान्त भी अपने आप में अटल काम करता रहता है।

इन सातों अवस्थाओं में विद्यमान चेतना को ही स्वप्न, जागर, संकल्प जागर, केवल जागर, चिर जागर, धन जागर, जाग्रतस्वप्न और क्षीण जागर नाम से पुकारा जाता है। शरीर में यही अवस्थाएँ सप्तधातुओं के रूप में विकसित होती हुई शरीर में ही सम्पूर्ण लोक और ब्रह्मांड को अवस्थित करती हैं। इस सूक्ष्म विज्ञान को जो जान लेता है, वह कैसी भी स्थूल स्थिति में पड़ा हो, अपनी

चेतना का ऊर्ध्वमुखी विकास करके श्रेष्ठ लोगों की सिद्धियाँ और आनन्द प्राप्त करता है।

जीवात्मा की सत्ता और

वैज्ञानिक दृष्टिकोण

जीवात्मा आखिर है क्या ? उसका लक्षण, स्वरूप, स्वभाव और लक्ष्य क्या है ? इस प्रश्न पर विज्ञान अपने बचपन में विरोधी था, वह कहता था जड़ तत्वों के अमुक रसायनों के एक विशेष संयोग-सम्मिश्रण का नाम ही जीव है। उसकी सत्ता वनस्पति वर्ग की है। अन्य प्राणियों की तरह मनुष्य भी एक चलता-फिरता पेड़ है। रासायनिक संयोग उसे जन्म देते, बढ़ाते और बिगाड़ देते हैं। ग्रामोफोन के रिकार्डों पर सुई का संयोग होने से आवाज निकलती है और वह संयोग-वियोग में बदलते ही ध्वनि प्रवाह बन्द हो जाता है। जीव अमुक रसायनों के अमुक मात्रा में मिलने से उत्पन्न होता है और वियोग होते ही उसकी सत्ता समाप्त हो जाती है। अणु अमर हो सकते हैं, पर शरीर ही नहीं, उसकी विशेष स्थिति चेतना भी मरण धर्मा है।

यही था वह प्रतिपादन जो चार्वाक मुनि के शब्दों को विज्ञान दुहराता रहा। उसकी दलील यही थी—**‘भस्मी भूतस्य देहस्य पुनरागमने कुतः’** शरीर नष्ट होने पर आत्मा भी नष्ट हो जाती है। इस मान्यता का निष्कर्ष यही निकला कि जब शरीर के साथ ही अस्तित्व-नष्ट होते हैं तो परलोक का भय क्या करना ? जितना सुख-जिस प्रकार भी सम्भव हो लूट लेना चाहिए इसी में जीवन की सार्थकता है। नास्तिकवाद ने जन-साधारण को यही सिखाया—**‘यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिवेत्’** जब तक जियो सुख से जियो-कर्म से लेकर भी घी पियो। चूँकि अब घी हजम नहीं होता और वह तथाकथित सभ्यता का चिह्न भी नहीं है इसलिए आधुनिक चार्वाकों ने **‘कुर्म करके धन कमाओ, नशा पियो और मजा उड़ाओ’** के सूत्र रच दिये। इन दिनों जन-मानस इसी प्रेरणा का अनुगमन कर रहा है।

बचपन से आगे बढ़कर विज्ञान जब किशोरावस्था में पहुँचा तो उसने जीव को एक स्वतन्त्र चेतना के रूप में मानना स्वीकार किया। मनःशक्ति को मान्यता दी गई। आरम्भिक दिनों में जीवाणु ही शरीर और मन का आधार था। पीछे माना गया मनःचेतना की अपनी सत्ता है, वह अपने अनुकूल जीवाणुओं पर सवारी गाँठती है। उन्हें अपनी इच्छा आवश्यकतानुसार ढालती है। मरणोत्तर स्थिति में भी उसकी सत्ता बनी रहती है। इतने पर भी उसे

बिजली, चुम्बक, ताप, प्रकाश, शब्द स्तर की एक भौतिक अदृश्य शक्ति ही माना गया। अब इस युग से विज्ञान आगे बढ़ रहा है, उसकी प्रौढ़ता समीप है और थोड़ी हिचकिचाहट के साथ उसकी तैयारी इसी दिशा में कदम बढ़ाने की है कि जीवन को अणु निर्मित भौतिक जगत की तरह, चेतना जगत को स्वतन्त्र सत्ता का एक घटक मान लिया जाय। यह मान्यता लगभग उसी प्रकार की होगी जैसी कि आध्यात्मिक के क्षेत्र में जीव के स्वरूप, लक्षण एवं गुण के सम्बन्ध में व्याख्या की जाती रही है।

आशा की जानी चाहिए कि विज्ञान जब अपनी अंधेड़ परिपक्वावस्था में पहुँचेगा तो उसे जीवन के लक्ष्य एवं विकास का वह स्वरूप भी मान्य हो सकेगा। जो आत्मा को परमात्मा स्तर का बनाने के लिए योग और तप का अवलम्बन लेने के लिए तत्त्वदर्शियों ने अपनी सूक्ष्म दृष्टि के आधार पर कहा बताया था। विज्ञान की पदयात्रा क्रमशः नास्तिकता से आस्तिकता की ओर बढ़ रही है और प्रत्यक्ष है।

पदार्थ को शक्ति के रूप में अब मान्यता मिल चुकी है और यह विज्ञान के प्रारम्भिक विद्यार्थियों को तो नहीं पर मूर्धन्य स्तर पर यह स्वीकार्य है कि यह विश्व एक शक्ति सागर भर है। शक्ति की दो धाराएँ मानी जाती रही हैं, उसी परम्परा के अनुसार एक को भौतिक और दूसरी को प्राणिज माना गया है। दोनों आपस में पूरी तरह गुँथी हुई हैं इसलिए जड़ में चेतन का और चेतन में जड़ का आभास होता है। वस्तुतः वे दोनों ज्वार-भाटे की तरह लहरों के मूल और ऊर्ध्व में निचाई-ऊँचाई का अन्तर दीखने की तरह हैं और एक अविच्छन्न युग्म बनाती हैं। यद्यपि उन दोनों की व्याख्या अलग-अलग रूपों में भी की जा सकती है और उनके गुण, धर्म पृथक् बताये जा सकते हैं। एक को जड़ दूसरी को चेतन कहा जा सकता है। इसी विभेद की चर्चा अध्यात्म ग्रन्थों में परा और अपरा प्रकृति के रूप में मिलती है।

मस्तिष्कीय विद्या के, मनोविज्ञान के आचार्य न्यूरीलॉजी, मैटाफिजिक्स, साइकोलॉजी आदि के सन्दर्भ में मस्तिष्कीय कोशों और केन्द्रों की दिलचस्प चर्चा करते हैं। उनकी दृष्टि में वे कोश ही अपने आप में पूर्ण हैं। यदि यही ठीक होता तो मृत्यु के उपरान्त भी उन कोशों की क्षमता उसी रूप में या अन्य किसी रूप में बनी रहनी चाहिए थी। पर वैसा होता नहीं। इससे प्रकट है कि इन कोशों में मनः तत्व भरा हुआ है। जीवित अवस्था में वह इन कोशों के साथ अतीव सघनता के साथ घुला

रहता है। जब इन दोनों का अलगाव हो जाता है तो उस मृत्यु की स्थिति में मस्तिष्क के चमत्कारी कोश सड़ी-गली श्लेष्मा भर बनकर रह जाते हैं।

मनःशास्त्र के यशस्वी शोधकर्ता कार्ल गुस्ताव जुंग ने लिखा है—मनुष्य के चेतन और अचेतन के बीच की श्रृंखला बहुत दुर्बल हो गई है। यदि दोनों के बीच सामंजस्य स्थापित किया जा सके तो प्रतीत होगा व्यक्ति की परिधि छोटे से शरीर तक सीमित नहीं है वरन् वह अत्यधिक विस्तृत है। हम हवा के सुविस्तृत आयाम में साँस लेते और छोड़ते हैं, उसी प्रकार विश्वव्यापी चेतन और अचेतन की संयुक्त सत्ता के समुद्र में ही अपना व्यक्तित्व पानी के बुलबुले की तरह बनाते, बिगाड़ते रहते हैं। जैसे हमारी अपनी कुछ रुचियाँ, प्रवृत्तियाँ और आकांक्षाएँ हैं, उसी प्रकार विश्व-व्यापी चेतना की धाराएँ भी किन्हीं उद्देश्यपूर्ण दिशाओं में प्रवाहित हो रही हैं।

गैरल्ड हार्ड ने आइसोटोप ट्रेसर्स के सम्बन्ध में हुए नवीनतम शोधकार्य की चर्चा करते हुए कहा है कि जीव विज्ञान अब हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचाता है कि शरीर की कोशिकाओं और परमाणुओं पर मनःशक्ति का असाधारण नियन्त्रण है। चेतन और अचेतन रूप में जिन दो धाराओं की विवेचना की जाती है वस्तुतः वे दोनों मिलकर एक पूर्ण मनःशक्ति का निर्माण करती हैं। यह मनःचेतना सहज ही नहीं मरती वरन् एक ओर तो वंशानुक्रम विधि के अनुसार गतिशील रहती है। दूसरी ओर मरणोत्तर जीवन के साथ होने वाले परिवर्तनों के रूप में उसका अस्तित्व अग्रगामी होता है। मनःचेतना का पूर्ण मरण पिछले दिनों सम्भव माना जाता रहा है। अब हम इस निष्कर्ष पर पहुँचने ही वाले हैं कि चेतना अमर है और उसका पूर्ण विनाश उसी तरह सम्भव नहीं जिस प्रकार के परमाणुओं से बने पदार्थों का।

भौतिक विज्ञान के नोबल पुरस्कार विजेता श्री पियरे दि काम्ते टू नाउ के विज्ञान और व्यक्ति के बीच सामंजस्य स्थापित करते हुए लिखा है—अब हमें यह मानने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए कि मनुष्य में अपनी ऐसी चेतना का अस्तित्व मौजूद है जिसे आत्मा कहा जा सके। यह आत्मा विश्वात्मा के साथ पूरी तरह सम्बद्ध है। उसे पोषण इस विश्वात्मा से ही मिलता है। चूँकि विश्व चेतना अमर है इसलिए उसकी छोटी इकाई आत्मा को भी अमर ही होना चाहिए।

‘ह्यूमन डेस्टिनी’ ग्रन्थ के लेखक ‘लेकाम्ते टू नाउ’ ने जीव सत्ता की स्वतन्त्र व्याख्या अगले कुछ ही दिनों में प्रचलित विज्ञान मान्यताओं के आधार पर ही की जा

सकने की सम्भावना व्यक्त की है और कहा है कि हम इस दिशा में क्रमशः अधिक द्रुतगति से बढ़ रहे हैं।

प्राणि का ‘अहम्’ उसके स्वतन्त्र अस्तित्व का सृजन करता है और जब तक वह बना रहता है, तब तक उसकी अन्तिम मृत्यु नहीं हो सकती। स्वरूप एवं स्थिति का परिवर्तन होता रह सकता है। इस अहम् ईगो-सत्ता का स्वरूप निर्धारण अब इलेक्ट्रो डायनैमिक सिद्धान्तों के अन्तर्गत प्रमाणित किया जाने लगा है। इस व्याख्या के अनुसार यह मानने में कठिनाई नहीं होती कि जीव सत्ता जन्म-मरण के चक्र में घूमती हुई भी अपनी आकृति-प्रकृति में हेर-फेर करती रहकर भी अपनी मूल सत्ता को अक्षुण्ण बनाये रह सकती है।

‘दि रूट्स आफ कोइंसिडेन्स’ ग्रन्थ के लेखक महामनीषी आर्थर कोइंसिडेन्स ने जीव सत्ता के आयाम को स्वीकार किया है और कहा है कि प्राणी की सत्ता विशेषता को सर्वथा आणविक या रासायनिक नहीं ठहराया जा सकता।

‘यू डू टेक इट विद यू’ के लेखक भी डिविट मिलर इस बात से सहमत हैं कि मस्तिष्कीय कोशों को प्रभावित करने वाली एक अतिरिक्त चेतना का उसी क्षेत्र में घुला-मिला किन्तु स्वतन्त्र अस्तित्व है।

मृत्यु के उपरान्त प्राणी की चेतना शक्ति उसी प्रकार बची रह सकती है जैसे कि अणु गुच्छक एक पदार्थ से टूट-बिखर कर किसी अन्य रूप में परिणत होते रहते हैं। शक्ति के समुद्र इस विश्व में प्राणियों की सत्ता बुलबुलों की तरह अपना स्वतन्त्र अस्तित्व बनाती है—विकसित करती है और समयानुसार अपने मूल उद्गम में लीन हो जाती है। जड़-चेतन मिश्रित इस शक्ति सागर को कहा जा सकता है। यदि इन्हें अलग से कहना आवश्यक हो तो एक को ‘प्रकृति’ और दूसरे को ‘पुरुष’ कह सकते हैं।

अपने समय के मूर्धन्य खगोलवेत्ता डा. गुस्ताफस्ट्रोम वर्ग की पुस्तक ‘दि सोल ऑफ यूनिवर्स’ में जीवन क्या है ? विशेषतया मनुष्य क्या है ? इस प्रश्न पर प्रस्तुत वैज्ञानिक दृष्टिकोण की मार्मिक समीक्षा की है। वे विज्ञान से पूछते हैं—क्या मनुष्य ब्रह्माण्ड की कुछ धूल का ताप और रासायनिक घटकों की औधी-सीधी क्रिया-प्रक्रिया मात्र है ? क्या वह प्रकृति की किसी अनिच्छित क्रिया के अवशेष उच्छिष्ट से बना खिलौना मात्र है ? क्या मानव जीवन वस्तुतः लक्ष्यहीन, अर्थहीन बेतुका राग मात्र है ? क्या उसकी सत्ता आणविक और रासायनिक हलचलों के बनने-बिगड़ने वाले संयोगों की

परिधि तक ही सीमित है ? अथवा वह इससे आगे भी कुछ है ?

इन प्रश्नों के सही उत्तर प्राप्त करने के लिए स्ट्रोम वर्ग ने तत्कालीन विज्ञान की दार्शनिक विवेचना करने वाले मनीषियों से भी परामर्श किया। उन्होंने इस सम्बन्ध में एफ० आर० मोस्टन, वास्टर आडम्स, आर्थर एडिंगटन, थामस हैट मार्गन, जान वूदिन, कारेलहूजर, ओ० एल० स्पेसरल आदि प्रख्यात मनीषियों के सामने अपना अन्तर्द्वन्द्व रखा और जानना चाहा कि विज्ञान-सम्मत दर्शन द्वारा क्या मानव चेतना की इतनी ही व्याख्या हो सकती है, जितनी कि वह अब तक की गई है, अथवा उससे आगे भी कुछ सोचा जा सकता है।

अपनी जिज्ञासा, दृष्टि, कठिनाई, समीक्षा और विवेचना का एक विचारणीय स्वरूप स्ट्रोमवर्ग के 'दि सोल ऑफ यूनिवर्स' ग्रन्थ में है। इस पुस्तिका की भूमिका लिखते हुए आइन्स्टीन ने प्रस्तुत जिज्ञासा को युग चिन्तकों के सामने अति महत्वपूर्ण चुनौती माना है और कहा है हमें किन्हीं पूर्वाग्रहों से प्रभावित हुए बिना सम्भावित सत्य के आधार पर ही इस प्रश्न पर विचार करना चाहिए।

फ्रायड ने प्रेरणाओं का प्रधान स्रोत 'काम' को माना था और उसकी व्याख्या 'सेक्स' के रूप में की थी। इसके बाद उन्होंने अपने ही जीवन में उसे यौन-लिप्सा से आगे बढ़ाकर कामना इच्छा तथा वासना तक पहुँचा दिया। इसके बाद जुंग और एडलर ने उस काम वृत्ति की व्याख्या कामाध्यात्म के रूप में की और उसे आनन्द, उल्लास की सहज सुलभ प्रवृत्ति के साथ जोड़ दिया।

जुंग का कथन है कि आत्मा की अमरता को यद्यपि अभी भी प्रयोगशालाओं में सिद्ध नहीं किया जा सका फिर भी ऐसी अगणित अनुभूतियाँ मौजूद हैं जो यह बताती हैं कि आदमी मरण धर्मा नहीं है, वह मौत के बाद भी जीवित रहता है।

मनःशास्त्र का विकास क्रमिक गति से आगे बढ़ा है, आरम्भ में विज्ञान ने एक जाग्रत चेतन मन ही स्वीकारा था। पीछे अचेतन मन की खोज की गई। इस अचेतन की भी कई शाखा-प्रशाखाएँ खोजी गईं। सब-कान्शास-अर्ध चेतन और रैशियल अनकान्शास—जातीय अचेतन, इसकी प्रमुख धाराएँ इन दिनों सर्वविदित हैं। फ्रायड की कल्पना पर सुपर ईगो-उच्चतर अहं और सेन्सर-अंकुश तथ्य छाये रहे। उन्होंने इसी परिधि में मनःशास्त्र की संरचना की है। तब से अब तक पानी बहुत आगे बह गया और मनोविज्ञान ने कितनी ही नये-नये रहस्यों का उद्घाटन किया है।

जर्मनी के मनःशास्त्री हेन्सावेन्डर ने अतीन्द्रिय क्षमता के अनेकों प्रमाण संग्रह करके यह सिद्ध किया है कि मनुष्य की सूक्ष्म सत्ता उससे कहीं अधिक सम्भावनाओं से भरी पूरी है जैसी कि अब तक जानी जा सकी है। टैलिपैथी के शोधकर्ता रेने वार्कोलियर ने मनःचेतना को ज्ञात भौतिकी से ऊपर वाले सिद्धान्तों पर आधारित बताया है। वे कहते हैं—“मन की व्याख्या पदार्थ विज्ञान के प्रचलित सिद्धान्तों के सहारे नहीं हो सकती।”

विश्व विख्यात लेखक एस० जी० बेल्स ने अपनी पुस्तक “इन दि डेज ऑफ दि क्रामेट” में यह सम्भावना व्यक्त की है कि निकट भविष्य में मनुष्य का मन और दृष्टिकोण अधिकाधिक परिष्कृत होता चला जायेगा। तब मनुष्य में सहृदयतम सहयोग-भावना तथा दूरदर्शिता बढ़ती जायेगी। फलस्वरूप समाज का ढाँचा और मानवी आचार इतना उपयोगी बन जायेगा जिसे अब की अपेक्षा कायाकल्प जैसा कहा जा सके। तब कोई युद्ध का समर्थन न करेगा और चिन्तन की दिशा सहयोगपूर्वक शान्ति एवं प्रगति के लिए प्रयुक्त हो सकने वाले आधारों को ढूँढ़ने के लिए प्रयुक्त होगी।

शंकराचार्य कहते थे ‘स्व’ और ‘पर’ का भेद भ्रान्ति है। हम सब भिन्न दीखते भर हैं वस्तुतः सब एकता के सघन सूत्र में पिरोये हुए मनकों की तरह हैं। ‘ईसा कहते थे—अपने पड़ोसी को प्यार करो ताकि तुम्हारा विकसित प्यार तुम्हें निहाल कर दे।’ बुद्ध ने कहा था—‘करुणा से बढ़कर मनुष्य के पास और कोई दिव्य-सम्पदा नहीं। जो ममता और करुणा से भरा है वही दिव्य है।’

जीव चेतना का लक्ष्य और विकास क्रम का पूर्णत्व इसी स्तर पर विज्ञान को भी पहुँचा देगा, जो ऋषियों और तत्त्वदर्शियों ने बताया था। यदि विज्ञान का उद्देश्य सत्य की खोज है तो उसे आत्मा की वर्तमान स्वीकृति को परमात्मा स्तर प्राप्त करने तक भी पहुँचना होगा। इसके लिए कल न सही परसों सही की प्रतीक्षा की जा सकती है।

मनोविज्ञान को नीति विरोधी

न बनने दिया जाय

मनुष्य में भी अन्य प्राणियों की तरह कुछ जन्मजात प्रवृत्तियाँ पाई जाती हैं। वे पूर्व संचित अनुभवों एवं अभ्यासों का प्रतिफल हैं। विकासक्रम की लम्बी मंजिल पूरी करते-करते उसे बहुत कुछ भूलना और सीखना पड़ा है। इसी समुद्र-मन्यन की उपलब्धियों से जितनी कुछ पूँजी

हस्तगत है, उसी पिटारी को संचित प्रवृत्तियाँ कहा जा सकता है।

विगत शताब्दी के मनोवैज्ञानिकों ने इन प्रवृत्तियों को साधारण महत्व दिया है और लगभग पत्थर की लकीर जैसी मान बैठने की भूल की है। सामान्य-जन प्रेरणाओं से प्रेरित होकर रुचि लेते और कर्म करते हैं, उसका पर्यवेक्षण करने पर उन्हें जिन अन्तःप्रेरणाओं का पता चला है, उन्हें उन्होंने मौलिक प्रवृत्तियाँ मान लिया और यह कहना आरम्भ कर दिया कि वे अकाट्य हैं। इन्हीं के समन्वय से व्यक्तित्व बना है। इसलिए इन्हें हटाने की अपेक्षा तुष्ट करना चाहिए। इस प्रतिपादन का फल यह हुआ कि मनुष्य की स्थिति कठपुतली जैसी मानी गई और सोचा गया है कि जड़ पदार्थों की तरह ही मनुष्य की प्रकृति को बदलना भी अशक्य है। इस चिन्तन में मौलिक भूल यह होती रही है कि विकासवाद के उन सिद्धान्तों को भुला दिया गया, जिन्हें अपनाकर एककोशीय स्थिति से आगे बढ़ते-बढ़ते उस स्थिति तक पहुँचा जिसमें आज है। इस बीच जहाँ उसने अपनी काय संरचना में आश्चर्यजनक परिवर्तन किए, वहाँ पुरानी आदतों, प्रवृत्तियों को भी सुधारता, समुन्नत बनाता चला गया। यदि यह क्रम भूतकाल में अपनाया जाता रहा है तो मनुष्य जीवन में प्रवेश पाने के उपरान्त वह प्रक्रिया क्यों समाप्त हो जायेगी और क्यों तथाकथित मूल प्रवृत्तियाँ जड़वत् जहाँ की तहाँ बनी रहेंगी? क्या मनुष्य शरीर प्राप्त करते ही अब तक की प्रवृत्ति परिष्कार प्रक्रिया समाप्त हो जायेगी?

विकासवाद और मनोविज्ञान की यदि संगति बिठाई जाय तो भी यह आग्रह समाप्त हो जाता है कि मूल प्रवृत्तियों को परिष्कृत करने का प्रयास छोड़कर उनके तुष्टीकरण के लिए सिर झुका दिया जाय और रीति-नीति ऐसी अपनाई जाय जो प्रवृत्तियों के अनुरूप हो। देखना यह है कि मनोवैज्ञानिकों द्वारा प्रतिपादित मनुष्य की मूलभूत प्रवृत्तियाँ क्या हैं? यों सभी मनोविज्ञानी इस सन्दर्भ में एकमत तो नहीं हैं फिर भी उन सबके प्रतिपादनों का जो सार निकलता है, उसे इस प्रकार वर्गीकृत किया जा सकता है।

(१) कामुकता (२) आत्मरक्षा (३) आक्रमण (४) वरिष्ठता (५) सहचर्य (६) अनुकरण (७) ईर्ष्या (८) दुराव (९) आधिपत्य आदि।

कहा जाता है कि इन्हीं उत्तेजनाओं से प्राणियों की विभिन्न प्रकार की आकांक्षाएँ उत्पन्न होती हैं और उनकी पूर्ति के लिए तरह-तरह के उपाय सोचने एवं प्रयत्न करने पड़ते हैं। आज की तुलना में कल अच्छी स्थिति प्राप्त करने में अपने पुरुषार्थ जगाने, साधन बढ़ाने पड़ते हैं

और दूसरों के साथ प्रतिस्पर्धा में उतरना पड़ता है। उसी आधार पर जीवनचर्या चलती और कुशलता तथा सुविधा बढ़ती है। यह भी कहा जाता है कि यदि इस प्रवृत्ति प्रवाह में अवरोध खड़े किए जाएँगे तो मानसिक कुण्ठाएँ बढ़ेंगी और उनका शारीरिक, मानसिक स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ेगा और प्रगति क्रम में भी अवरोध उत्पन्न होगा।

यदि उपरोक्त प्रतिपादन को सही माना जाय तो उस 'सर्वाइवल ऑफ फिटिस्ट' के सिद्धान्त को भी सही मानना पड़ेगा, जिसमें जंगल के कानून का समर्थन किया गया है। छोटी मछली को बड़ी मछली निगलती है, छोटे पौधों की खुराक ऊपर छाये हुए बड़े वृक्ष खा जाते हैं-वाली बात ही यदि प्रकृति को स्वीकार है तो फिर 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' वाली उक्ति को ही न केवल प्राणि समुदाय में वरन् मनुष्यों में भी चरितार्थ होता पाया जायेगा अथवा प्रगति के निमित्त वैसा प्रचलन आरम्भ करना पड़ेगा।

विचारणीय यह है कि क्या सचमुच ही इस जगत में उपभोग, आक्रमण की वृत्तियाँ ही प्रधान रहेंगी और उसी आधार पर बलिष्ठों को जीवित रहने और शेष दुर्बलों को उनका शिकार बनते जाने का सिलसिला चल पड़ेगा। अभी तो यह प्रवृत्ति मात्र मौसमारी जीव-जन्तुओं में ही पाई जाती है और वह एक सीमित वर्ग पर ही लागू होती है, पीछे जब यह मान्यता प्रकृति प्रेरणा के नाम पर जोर-शोर से समर्थन प्राप्त करने लगेगी तो अपने पराये का भी भेद न रहेगा और जो वर्ग अभी सीमित उस आक्रामकता से बचे हुए हैं वे भी उसकी चपेट में आ जायेंगे? सिंह, व्याघ्र पात्र कुछेक पशुओं को ही अपने शिकार के लिए चुने हुए हैं। पक्षी उनके जबड़े पर बैठकर दाँतों में फँसा मौस निर्भय होकर निकालते, कुदेदते रहते हैं, उनके लिए कोई संकट उत्पन्न नहीं होता। जलचर, थलचर, नभचर अपने-अपने वर्ग के कुछेक प्राणियों को आहार बनाते हैं और शेष के साथ छेड़खानी नहीं करते। पर जब भूख के लिए नहीं प्रगति के लिए आक्रामक वृत्ति का तुष्टीकरण आवश्यक माना जायेगा और उसके लिए अधिकाधिक अवसर प्राप्त करने का उत्साह उठेगा तो उसके लिए क्षेत्र बिस्तार की आवश्यकता पड़ेगी और अधिकाधिक आक्रमण करने, अधिकाधिक लाभ उठाने की यह सामान्तशाही एक स्वभाविक प्रक्रिया बन जायेगी, जिसने मध्यकाल के अन्धकार युग में सारे नीति-नियम उठाकर ताक पर रख दिये थे और खुली लूट, कत्लेआम, युवा-युवतियों का दास-दासियों के रूप में अपहरण एक राज्य नियम बना दिया था। उन दिनों की रोमांचकारी घटनाओं की स्मृतियाँ तक आज भी दिल

१.१४० चेतन, अचेतन एवं सुपर चेतन मन

दहला देती हैं और गुहार उठती हैं कि हे भगवान् ! वे दिन लौटकर इस धरती पर फिर कभी न आयें।

उस मदान्ध प्रचलन को यदि मूल-प्रवृत्तियों का तुष्टीकरण करने के नाम, प्रकृति प्रेरणा या प्रगति व्यवस्था में सम्मिलित करके लोक मान्यता स्तर तक पहुँचा दिया गया तो फिर अन्य प्राणियों का तो इस धरती से अस्तित्व उठ ही जायेगा, मनुष्य भी सुन्द-उपसुन्द की कथा को चरितार्थ करते पाए जायेंगे और भाई को भाई का खून पीते देखा जायेगा। पूर्वजों के उत्तराधिकार में भाई ही प्रथम प्रतिद्वन्द्वी होता है। जब आक्रामकता और प्रतिद्वन्द्विता ही नीति रही तो अन्धों पर आक्रमण करने से पहले भाई को ही क्यों न समाप्त किया जाय? ताकि बँटवारे में जो घाटा पड़ने वाला था उसकी आशंका ही न रहे।

जब कामुकता प्रकृति प्रेरणा है और उत्साह उभारने के लिए आवश्यक है तो उसकी पूर्ति के लिए जहाँ-तहाँ भटकने को, नया झंझट बढ़ाने की क्या आवश्यकता है? परिवार की स्त्रियाँ जो पहले से ही घर में रहती और खर्च कराती हैं, उन्हीं से काम तृप्ति का काम भी क्यों न चला लिया जाय। बहिन-बेटी का अन्यत्र विवाह करने की क्या आवश्यकता? पिता, भाई आदि उन्हीं से सम्पर्क बनाकर सरलतापूर्वक तृप्ति क्रम क्यों न चलाते रहें! जब नीति-मर्यादाओं का मनुष्य की मूलभूत प्रवृत्तियों में कोई स्थान ही नहीं है तो उन परम्पराओं का निर्वाह क्यों किया जाय जिनका समर्थन उपरोक्त मूल प्रवृत्तियाँ नहीं करतीं?

बच्चों को प्यार, दुलार देने और उनका पालन करने में एक ऐसा तत्व ही काम करता है जिनका न तो अर्थशास्त्र समर्थन करता है और न जिससे सुविधा सम्बर्धन में कोई सहायता मिलती है। ऐसी दशा में वात्सल्य को क्यों न प्रतिगामिता, कुरीति, मूढ़ मान्यता घोषित करके उसे समाप्त कर दिया जाय? जब आँगन में उगने, फलने वाले शाक-भाजी पकाकर खाए जा सकते हैं तो बाल-बच्चों का वैसा ही उपयोग क्यों नहीं हो सकता ?

ऐसी दशा में दया, उदारता, सेवा, दान, परोपकार जैसा उन सत्प्रवृत्तियों के समर्थन का भी कोई आधार नहीं रह जाता जो आत्म-रक्षा, सुरक्षा, ईर्ष्या, आक्रामकता आदि किसी भी मूल प्रवृत्ति का समर्थन नहीं करतीं।

मूल प्रवृत्तियाँ यदि वही हैं जिन्हें फ्रायड या उनके साथी प्रतिपादित करते हैं तो उनके साथ एक तथ्य और भी जुड़ा हुआ समझा जाना चाहिए कि प्रगति-क्रम में मिली आ रही पुरानी आदतें भर हैं। आदतों की जड़ें यों

होती तो गहरी हैं, पर साथ ही समयानुरूप वे बदलती भी रहती हैं। बचपन से लेकर यौवन काल में पहुँचने तक ढेरों बार आदतें बदल जाती हैं। छोटा बच्चा वातावरण का निरीक्षण करने और पड़े रहने की तुलना में खड़े होने या घूमने की इच्छा से अभिभावकों की गोदी में चढ़ने का प्रयत्न करता है और उसके लिए संकेत करने से लेकर मचलने तक का उपक्रम करता है किन्तु दो-तीन वर्ष का होते ही आदत बदल देता है और अपने पैरों चलने लगता है। इसी प्रकार असमर्थ रहने तक दूसरों का सहयोग पाकर काम चलाने की प्रवृत्ति भी हट जाती है। इतना ही नहीं उसमें लज्जा-संकोच का अनुभव भी होने लगता है। शिशु को इच्छा होते ही कहीं भी मल-मूत्र त्यागने में संकोच नहीं होता किन्तु बड़ा होते ही समय और स्थान की अनुकूलता न होने तक उन्हें इस पर रोकथाम भी लगानी पड़ती है। ऐसे-ऐसे उदाहरण आये दिन देखे जाते हैं। विवाह के उपरान्त लड़कियों की आदत नई परिस्थितियों के अनुरूप किस तेजी से बदलती है इसे देखकर आश्चर्य होता है। परिस्थितियों के साथ ताल-मेल बिठाने में मनुष्य अपने स्वभाव, अभ्यास में किस प्रकार कितना परिवर्तन कर लेता है ? इसे कैदी, सैनिक और संन्यासी की पूर्व परिस्थिति के साथ तुलना करने पर लगता है कि न केवल परिस्थितियों में जमीन-आसमान जैसा अन्तर आ गया वरन् स्वभाव भी बदल गया। साथ ही नया ढर्रा अनुकूल ही नहीं पड़ा वरन् सुहाने भी लगा। कई कैदी छूटते ही ऐसे उपाय करते हैं कि उसी अभ्यस्त ढर्रे में रहने के लिए फिर से किसी प्रकार जेल में आ पहुँचे और निश्चिन्ततापूर्वक दिन गुजारें। आरम्भ में उन्हें जेल का प्रवेश कष्टकारक लगा होगा, पर बाद में तो वही अनुकूल बन गया और संतोषजनक लगने लगा।

यह उदाहरण बाहरी आदतों के सम्बन्ध में है। मूल प्रवृत्ति इससे गहरी होती है और प्रेरणा उत्पन्न करने वाले अन्तराल के साथ सम्बद्ध होती है। इतना होते हुए भी उन्हें अपरिवर्तनीय नहीं कहा जा सकता। मूल प्रेरणा में सुविधा-संवर्धन, गौरव-सम्पादन, कामोपभोग जैसे तथ्य भी जुड़े हो सकते हैं। पर वे इतने प्रबल नहीं हैं कि नैतिक परतों के साथ विग्रह खड़ा करें या उनके अनुशासन की सर्वथा उपेक्षा करने लगें। यदि ऐसा होता तो सदुद्देश्यों के लिए कोई त्याग-बलिदान की बात सोचने या करने में समर्थ ही न होता, वैसी उमंगें ही किसी के भीतर न उठतीं। वयस्क पुत्री के साथ अवसर मिलने पर पवित्रता बनाए रहने तक किसी के लिए भी शक्य न रहा होता। पर देखा इससे विपरीत ही जाता है। कसाई भी अपने बालकों तथा परिजनों को प्यार करते हैं और सहानुभूति

भरा उदार व्यवहार करते हैं। आक्रमण की मूल प्रवृत्ति को निरन्तर परिपोषण मिलते रहने पर तो कसाईयों को सर्वथा क्रूर हो जाना चाहिए था। पर ऐसा कुछ होता नहीं है इससे प्रकट होता है कि मूल प्रवृत्तियाँ अकाट्य नहीं हैं।

गत शताब्दी में मनोविज्ञानी शोधकर्त्ताओं ने लगता है उथले अन्वेषणों में सन्तोष कर लिया है। सम्भव है उसने ओछे स्तर के नैतिक दृष्टि से पिछड़े लोगों को अपने अन्वेषण का निमित्त कारण चुना हो। हो सकता है, उन्हें शोधकाल की वर्तमान स्थिति को ही सब कुछ मान बैठने का भ्रम रहा हो। यदि ऐसा न होता तो उन्हें मूल प्रवृत्तियों में कुछ और भी ऐसी बातें मिल सकती थीं जो आदर्शवादी आदतों की पुष्टि करतीं और बतातीं कि वे भी अवसर पाते ही प्रकट और प्रखर हो सकती हैं। माता का सन्तान के प्रति जो भावभरा अनुदान होता है, उसे कहीं से सिखाने-सीखने की आवश्यकता नहीं पड़ती और न उसके लिए कोई दबाव डालना पड़ता है। वह सब कुछ भीतर से ही उभरकर आता है। पीड़ितों के प्रति करुणा का, देशभक्ति जैसे उच्च उद्देश्यों के लिए प्राण उत्सर्ग करने का, ईश्वर भक्ति में भाव-विभोर होकर वैराग्य लेने की जो उमंगें अन्तराल में उठती हैं, उन्हें भी किसी मूल प्रवृत्ति का कारण होना चाहिए। यह सोचा गया होता तो विश्लेषणकर्त्ताओं को जितने सूत्र हाथ लगे हैं, वे अधूरे प्रतीत होते और उस शृंखला में उनसे ऐसी खोजें भी की होतीं जो मूल प्रवृत्तियों की उत्कृष्ट परमार्थ-परायणता को भी सम्मिलित कर लेतीं।

आदर्शवादिता का आचरण अपनाने पर अन्तराल में एक अलौकिक सन्तोष की अनुभूति होती है। यों बाहर से उसमें अनुदारता या अनाचार अपनाने की तुलना में घाटा, उपहास आदि सहने की ही अधिक सम्भावना रहती है। इतने पर भी यह सन्तोषानुभूति क्यों उठती है? चित्त में शान्ति और प्रसन्नता क्यों लगती है? इसका कारण भी किसी न किसी मूल प्रवृत्ति से जुड़ना चाहिए था। हिंस्र प्राणियों का आहार के लिए आक्रमण करना प्रवृत्ति प्रेरणा भी कहा जा सकता, पर मनुष्य जैसे शाकाहारी, समूहवादी आदर्शों में गरिमा अनुभव करने वाले विकसित प्राणी को भी उसी प्रवृत्ति का अनुयायी मान बैठना गलत है।

प्रवृत्तियों के विश्लेषण से जो निष्कर्ष निकले हैं, वे एक-पक्षीय एवं एक परिस्थिति की परिस्थिति वालों को सामने रखकर किए गए प्रतीत होते हैं। अन्यथा आदर्शवादी जीवनयापन करने वालों की उच्चस्तरीय आदतों को भी शोध-क्षेत्र में सम्मिलित किया गया होता और देखा गया होता कि जिन्हें आधारभूत प्रेरणा माना जा रहा है, वे शाश्वत नहीं, मात्र परिस्थितिजन्य हैं। परिस्थितियाँ

बदलने पर उनमें आमूलचूल परिवर्तन होना सम्भव है। जबकि हर प्राणी को मरण से भय लगता है और खतरे से बचने के लिए भाग खड़े होने की सूझती है तब सैनिक छावनियों में रहने वाले क्यों निरन्तर मौत के साथ खिलवाड़ करने में रस लेते और गर्व अनुभव करते देखे जाते हैं। वे युद्ध मोर्चे पर प्रबल शत्रु को देखते ही भाग खड़े होने की बात क्यों नहीं सोचते? देशभक्तों को सारा जीवन त्याग बलिदान से भरा-पूरा रखे रहने में स्वार्थ पोषक मूल प्रवृत्तियाँ बाधक क्यों नहीं बनती?

काम प्रवृत्ति यदि जन्मजात है और माता का स्तनपान करने में भी उसी कारण आनन्द मिलता है। तो समर्थ होने पर सन्तान अपनी माता के साथ रमण करने में उत्सुकता क्यों नहीं प्रकट करती? ऐसे कुछ प्रश्न वर्तमान मनोविज्ञानियों की सूझ-बूझ से बाहर ही बने रहे होंगे। अन्यथा जान-बूझकर वे इतनी बड़ी समस्याओं को क्यों अनदेखा करते और क्यों अनसुलझाया छोड़ देते?

नीति निष्ठा थोपी हुई वस्तु नहीं है। उत्कृष्टता को मूल प्रवृत्तियों के विपरीत कहा जाय तो फिर मानवी सुसंस्कारिता को भी अमान्य ठहराना पड़ेगा और प्रगति अद्यावधि इतिहास को झुठलाकर कोई ऐसा प्रतिपादन खोजना पड़ेगा जो पशु-प्रवृत्तियों को ही आधारभूत कारण ठहराए रहकर ही भावनात्मक उत्कर्ष का कोई और कारण सिद्ध कर सके।

प्रवृत्तियों की प्रौढ़ता और समर्थता को मान भी लिया जाय और यह हठ किया जाय कि वे चेतना के साथ अविच्छिन्न रूप से जुड़ी हुई ही हैं तो भी उसमें इतना-सुधार तो बिना किसी असमंजस के किया जा सकता है कि उनकी तृप्ति के लिए ऐसे आधार भी ढूँढ़े जा सकते जो नीति-निष्ठा के साथ विग्रह न करें। प्रवृत्तियाँ काय तृप्ति और मनःतृप्ति के काम आती हों तो भी ऐसे अवसर उपलब्ध हो सकते हैं जिनमें स्वार्थ और परमार्थ का समन्वय हो सके। इतना तो और भी अधिक सम्भव है कि सामान्य हास-परिहास से, विनोद-कौतुक से भी उन्हें सन्तुष्ट किया जा सके।

जो हो, विज्ञानों ने देर से सही यह अनुभव किया है कि विज्ञान के नाम पर यदि उपयोगी मर्यादाओं का उत्त्लंघन चल पड़ा तो बाँध टूटते ही बाढ़ का पानी सर्वत्र फैलता चला जायेगा और खेत-खलिहानों, घर-झोपड़ों को निस्सार करके रहेगा। अतएव वह आवश्यक है कि मानवी प्रगति को आधारभूत आदर्शवादी सत्प्रवृत्ति को इस प्रकार अस्त-व्यस्त, नष्ट-भ्रष्ट न होने दिया जाय। इसके लिए उन्होंने मनःशास्त्र की अधूरी खोजों को अपर्याप्त माना और जो खोजना शेष रह गया

है, उसे पूरा करने का कदम बढ़ाया है। पिछली शताब्दियों में हुए थे और भ्रमवश नीति-विरोधी, उच्छ्वलता समर्थक समझे गये थे। अब उनमें समुचित संशोधन किया जा चुका है। अपेक्षा यह की जा सकती है कि जब मनोविज्ञान वर्तमान प्रायः सन्धि को पार करके प्रौढ़ता तक पहुँचेगा वैसे ही प्रतिपादन करेगा जैसे कि दूरदर्शी मंचों से की जाती है।

आधुनिक मनोविज्ञान का

उपनयन संस्कार किया जाय

अविज्ञात शक्तियों की कितनी ही धाराएँ प्रकृति के गर्भ में अभी भी विद्यमान हैं। असीम सम्भावनाओं के समक्ष प्राप्त हुए भौतिक शक्तियों की सामर्थ्य अत्यन्त न्यून है। सामर्थ्यों के जो महत्वपूर्ण स्रोत हाथ लगे हैं, वे कभी काल्पनिक तथा असम्भव ज्ञान पड़ते थे। बिजली, भाप, चुम्बक, परमाणु ऊर्जा जैसी शक्तियाँ भी करतलगत होंगी, ऐसी कल्पना थोड़े से व्यक्तियों को रही होगी। पर आज सर्वत्र उनका ही वर्चस्व है। उन्हें प्राप्त कर लेना न केवल सम्भव हो गया है बल्कि विभिन्न कार्यों में उपयोग भी होने लगा है। प्रकृति की शक्तिधाराओं की जो जानकारी मिली तथा प्रयोग में आयी, उनकी तुलना में अविज्ञात का क्षेत्र कई गुना अधिक है। पदार्थ की नाभिकीय शक्ति से भी अधिक प्रचण्ड अदृश्य भौतिक शक्तियों का अस्तित्व प्रकृति में मौजूद है। अपने ही इर्द-गिर्द एक और प्रतिबिम्ब, प्रतिपदार्थ, प्रतिकण, प्रतिअणु की दुनिया है, जो अत्यन्त रहस्यमय तथा विलक्षण है। उस अदृश्य दुनिया तथा उससे जुड़े घटकों के विषय में वैज्ञानिक कितने ही प्रकार की अटकलें लगा रहे तथा सम्भावनाएँ व्यक्त कर रहे हैं। ब्लैकहोल, साइक्लोन, सूर्य, गुरुत्वाकर्षण आदि की प्रचण्ड शक्तियों का भी उपयोग होना अभी बाकी है। वह विधा हाथ नहीं आयी है, जिससे उनकी शक्तियों को कैद किया जा सके तथा प्रयोग में लाया जा सके।

प्रकृति की भाँति मानवी काया भी अत्यन्त रहस्यमय है। शारीरिक जानकारी का एक बड़ा हिस्सा चिकित्सा विज्ञान की पकड़ में आया है, पर वह परिपूर्ण नहीं है। मन तो और भी विलक्षण है। उसका सामान्य क्रिया-कलाप, इच्छा-आकांक्षा एवं विचारणा के रूप में दिखायी पड़ता तथा स्थूल गतिविधियों का कारण बनता है। आधुनिक मनोविज्ञान की जानकारी, अध्ययन, विश्लेषण यहीं तक सीमित है। चेतन, अचेतन मन की रचना तथा प्रकृति को समझने तक ही अभी मनोविज्ञान सीमित है। छुपा हुआ चमत्कारी सुपर चेतन भी विद्यमान है, जो कि

शक्ति एवं प्रेरणा का केन्द्र बिन्दु है। यह रहस्य मनोविज्ञान के क्षेत्र में अभी उजागर होना बाकी है। जानकारी का अभाव किसी भी शक्ति के उपयोग में वंचित रखता है जैसा कि प्रकृति की प्राप्त शक्तियों के सन्दर्भ में दीर्घ काल तक होता रहा है।

आधुनिक मनोविज्ञान की मानवी सत्ता को भलीभाँति समझने, सन्निहित सामर्थ्यों को करतलगत करने एवं प्रयोग में लाने के लिए एक छल्लाँ लगानी होगी। मन के अध्ययन विश्लेषण के सीमित दायरे से निकलकर विस्तृत आत्मा क्षेत्र में प्रविष्ट करना होगा। अन्यथा प्रचलित फ्रायडवादी मनोविज्ञान मनुष्य को मूल प्रवृत्तियों का गुलाम ठहराता रहेगा और उसके आत्म-विकास की सम्भावनाओं को अवरुद्ध रखेगा।

मनोविज्ञान का उद्गम एवं विकास का मूल स्रोत वस्तुतः भारतीय अध्यात्म है। वह अध्यात्म शास्त्र का एक अभिन्न अंग है। उसकी उपयोगिता अध्यात्म से अलग कर देने पर सिद्ध भी नहीं होती। आत्म-विज्ञान से कटकर मनोविज्ञान मन के अध्ययन-विश्लेषण तक कैसे सीमित हो गया, इसका एक क्रमिक इतिहास है। प्राचीन समय में प्राश्चात्य साइकोलॉजी का क्षेत्र भी विस्तृत था। साइकोलॉजी शब्द लैटिन भाषा के 'साइक' तथा 'लोगोस' शब्द से मिलकर बना है। 'साइक' अर्थात् आत्मा तथा 'लोगोस' अर्थात् शास्त्र अथवा ज्ञान। साइकोलॉजी का शाब्दिक अर्थ हुआ-आत्मा का विज्ञान। प्राश्चात्य मनोविज्ञान का गवेषक भी अरस्तू को माना जाता है। अरस्तू, सुकरात, प्लूटो तीनों ही मूर्धन्य दार्शनिकों ने आत्मतत्त्व पर गहन चिन्तन किया तथा इस संदर्भ में बहुत कुछ लिखा है। आत्मसत्ता एवं उसकी असाधारण महत्ता पर इन विद्वानों ने प्रकाश डाला है। यह इस बात का प्रमाण है कि उन्होंने आत्मानुसंधान को मनोविज्ञान का एक अभिन्न तथा महत्वपूर्ण अंग माना था।

दो शतक पूर्व तक भारत तथा सांस्कृतिक दृष्टि से सुविकसित अन्य पश्चिमी देशों में भी मनोविज्ञान, अध्यात्म विज्ञान का एक अविच्छिन्न अंग माना जाता था। पर जैसे-जैसे प्रत्यक्षवाद-भौतिकवाद मानवी चिन्तन में अपनी जड़ें गहरी जमाता गया, उसी क्रम में मान्यताओं एवं प्रतिपादनों में उलट-फेर होता गया। समय-समय पर मनोविज्ञान की परिभाषाएँ भी बदलती गयीं। पर एक बात समान रूप से उन परिभाषाओं में दिखायी पड़ती है कि सबने मन का तत्त्व चेतना को माना है।

मनोविज्ञान का 'टिचनर' ने 'मन का विज्ञान' के रूप में उल्लेख किया है तथा मन की विशेषताओं को तीन भागों-संवेदना, प्रतिभा तथा भावना के रूप में

विभाजित किया है। अनेकों मनोवैज्ञानिकों ने मनोविज्ञान को चेतना के विज्ञान के रूप में परिभाषित किया है। चेतना के भी जो अर्थ विभिन्न विद्वानों ने लगाये हैं, उनमें परस्पर मतभेद है। वार्ड ने चेतना को अनुभव के अर्थ में प्रयुक्त किया। व्यवहारवादी मनःशास्त्रियों ने चेतना के स्थान पर अनुभव को ही प्रधानता दी। 'वाटसन' ने उसे आत्मा के स्थानापन्न के रूप में माना। इस तरह 'चेतना' शब्द आज भी मनोविज्ञान के क्षेत्र में विवादास्पद बना हुआ है।

'विलियम जेम्स' ने मनःशास्त्र का चेतना की अवस्थाओं के रूप में वर्णन किया तथा उनका विश्लेषण कर चार रूपों में प्रतिपादित किया। चेतना की अवस्था से उनका अभिप्राय संवेदनाओं, इच्छाओं, संवेगों और संकल्पों के अध्ययन से था। 'पिल्सबरी' ने मनोविज्ञान को मानव व्यवहार का विज्ञान बताया। व्यवहारवादी मनःशास्त्री 'वाटसन' ने मनोविज्ञान में सीखे अथवा बिना सीखे हुए कथनों अथवा कार्यों के रूप में मानव व्यवहार को सम्मिलित करते हुए उसे प्राकृतिक विज्ञान कहा है। उन्होंने मनःशास्त्र का प्राकृतिक विज्ञान की प्रयोगात्मक शाखा और चेतना का 'उत्तेजक प्रतिक्रिया' सिद्धान्त के आधार पर प्रतिपादन किया।

नारमन एल० मन ने मनोविज्ञान के अध्ययन में अनुभव एवं व्यवहार का समन्वय स्थापित किया। उनका कहना था कि 'चेतन' अनुभव के विज्ञान से तथा 'ज्ञान' व्यवहार से सम्बन्धित होता है। इस तरह अनुभव एवं व्यवहार आन्तरिक एवं बाह्य जीवन की अभिव्यक्तियाँ हैं। व्यवहारवाद के जन्म के पश्चात् मनोविज्ञान तथा शरीर विज्ञान में भेद स्थापित कर विलियम मैकडूगल ने मनोविज्ञान की परिभाषा देते हुए कहा कि 'वह एक ऐसा विज्ञान है, जो सम्पूर्ण शरीर के व्यवहार का ज्ञान कराता है। 'बुडवर्ड' के अनुसार 'मनोविज्ञान व्यक्ति की क्रियाओं का विज्ञान है।' क्रियाओं से उनका अभिप्राय केवल शारीरिक क्रियाओं से ही नहीं, अपितु ज्ञानात्मक एवं भावात्मक क्रियाओं से भी था। सीखना, स्मरण करना एवं विचार करना आदि मानसिक क्रियाएँ इसमें समाहित हैं। मैकडूगल ने मनःशास्त्र को ज्ञान, भावना एवं क्रिया तीन भागों में विभक्त किया।

मनःशास्त्र को नयी दिशा देने तथा मन की चेतन-अचेतन परतों के विषय में विश्व को नयी जानकारी देने में आधुनिक मनोवैज्ञानिकों में फ्रायड, जुंग, एडलर आदि मूर्धन्य माने जाते हैं। पर इन विद्वानों का ज्ञान भी मन के दृश्य पक्षों तक ही सीमित है। दृश्य के पार भी अदृश्य क्षेत्र में सम्भावनाओं के रहस्यमय एवं

सामर्थ्यवान् स्रोत मानवी उत्तर में ही विद्यमान हैं, यह जानना अभी भी अवशेष है। कुछ मनःशास्त्रियों ने भारतीय प्राचीन योग मनोविज्ञान की समग्रता एवं गूढ़ता की ओर इंगित करते हुए कहा है कि मानवी सत्ता की विशद एवं सर्वांगपूर्ण व्याख्या करने में वह आज भी समर्थ है।

डॉ. कैनन अपनी पुस्तक 'इन विजीबिल इनफ्लूएन्स' में लिखते हैं कि भारत हमको मनोविज्ञान एवं मन की क्रियाओं के सम्बन्ध में फ्रायड, एडलर तथा पश्चिमी विचारकों से कहीं अधिक ज्ञान दे सकता है। इसका कारण बताते हुए वे कहते हैं कि शाश्वत ज्ञान अनुभूतियों पर अवलम्बित होता है। भारतीय मनीषियों ने शरीर ही नहीं मन एवं बुद्धि से भी परे जाकर आत्मा के क्षेत्र में गहन मन्थन किया। ध्यान को गहन अनुभूतियों में उन्होंने अनुभव किया कि शरीर एवं मन से भी समर्थ सत्ता आत्मा के रूप में मनुष्य के भीतर ही विद्यमान है, जिसके पतन अथवा विकास पर प्रगति अवलम्बित है।

सर जॉन वुडरफ प्रख्यात पुस्तक 'वर्ल्ड एज पावर रियल्टी' में लिखते हैं कि 'वेदान्त मनोविज्ञान के विकास की चरम अभिव्यक्ति है। वेदान्त के सिद्धान्त ऊँचे से ऊँचे दार्शनिक एवं मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों में भी श्रेष्ठ हैं।'

पॉल ब्रन्टन ने अपनी पुस्तक 'विजडम ऑफ दी सेल्फ' में लिखा है कि भारत के पास उसके आध्यात्मिक ज्ञान की प्राचीन बातें हैं जिसकी गहराई और विस्तार की तुलना किसी से नहीं की जा सकती। वैज्ञानिक क्षेत्रों में अब जो नयी खोजें होती जा रही हैं, वे प्राचीन भारतीय खोजों का ही समर्थन करती देखी जाती हैं। भारतीय ऋषियों-मनीषियों ने जो कुछ भी लिखा अथवा उद्घोष किया वह सब मनःशास्त्र को भी दिशा देने में समर्थ है।

विद्वान् जूलियट जॉनसन ने 'पथ ऑफ दी मास्टर्स' में उल्लेख किया है कि आधुनिक मनोवैज्ञानिक अनुसंधानों का आधार मनुष्य की चेतना का साधारण जीवन और प्रयोगशालाओं में प्रकट हुआ बाह्य रूप है, जिससे मात्र मन के स्वरूप एवं सामर्थ्य की सीमित जानकारी मिलती है। उससे मानवी व्यक्तित्व एवं उसकी सम्भावनाओं का सर्वांगीण परिचय नहीं मिलता। आधुनिक मनःशास्त्री यह बता सकने में असमर्थ हैं कि मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास अथवा पतन के वास्तविक कारण कौन-कौन से हैं? क्या मानवी चेतना ऋद्धि-सिद्धियों की अधिष्ठात्री भी हो सकती है? मनोविज्ञान इस पर कुछ भी प्रकाश नहीं डालता। जबकि समय-समय पर इसकी पुष्टि में प्रमाण अतीन्द्रिय सम्पन्न व्यक्तियों के रूप में मिलते रहते हैं।

१.१४४ चेतन, अचेतन एवं सुपर चेतन मन

पदार्थ जगत शरीर एवं मन से भी परे जाकर अदृश्य के गर्भ में पक रही घटनाओं का उद्घोष करने वाले भविष्यविदों का परिचय भी देश-विदेश में मिलता रहता है, जिसे देखकर वैज्ञानिक एवं मनोवैज्ञानिक दोनों ही हतप्रभ होते हैं। उन्हें यह सोचने पर बाध्य होना पड़ता है कि प्रत्यक्ष ज्ञान ही सब कुछ नहीं है। असीम जानकारी एवं सम्भावनाओं को उजागर करना अभी भी शेष है।

जीवन का अन्त भौतिक शरीर के साथ मानने वालों को गहरी ठेस उस समय लगती है जब पुनर्जन्म के अकाट्य प्रमाण सामने आते हैं। वे नहीं जानते कि किस आधार पर कोई व्यक्ति अपने पूर्वजन्म का लेखा-जोखा सप्रमाण प्रस्तुत कर देता है। आधुनिक मनःशास्त्र इसकी व्याख्या करने में पूर्णतया असमर्थ है। स्थूल-सूक्ष्म के अतिरिक्त मनुष्य के भीतर कारण शरीर भी विद्यमान है, जिसमें जन्म-जन्मान्तरों के संस्कार एवं अनुभव संचित होते हैं जो किसी दिशा विशेष में चलने एवं

विशिष्ट कार्य करने की प्रेरणा देते हैं। फ्रायडवादी मनोविज्ञान व्यक्तित्व की इन गहरी परतों की कोई जानकारी नहीं देता। फलतः मनोविज्ञान का वर्तमान ज्ञान अगणित मानवी समस्याओं का सुनिश्चित हल नहीं प्रस्तुत कर पाता।

अगणित सामर्थ्यों का स्रोत मानवी सत्ता में मौजूद है। उन्हें जानने-समझने तथा शक्तियों को करतलगत करने के लिए प्रचलित मनोविज्ञान से आगे बढ़कर योग मनोविज्ञान के क्षेत्र में प्रवेश करना होगा। जो न केवल मनुष्य की मूल सत्ता की सर्वांग जानकारी देता है वरन् उसके विकास का मार्ग भी प्रशस्त करता है। मन की अल्प जानकारियों तक सीमित रहने वाले, आधुनिक मनोविज्ञान को जीवन की अनेकानेक समस्याओं का सही हल प्रस्तुत करने वाले, व्यक्तित्व विकास का व्यावहारिक मार्गदर्शन करने वाले अध्यात्म मनोविज्ञान का पक्षधर बनना युग की एक महान् आवश्यकता है।



अचेतन का परिवर्धन-परिष्कार

अचेतन मन की विकृति ही रोग-शोक का कारण है

प्रत्यक्ष शरीर दीखता है। साज-सँभाल एवं शृंगार भी उसी का सर्वाधिक किया जाता है। काया के पोषण एवं विकास पर ढेरों समय एवं साधन खर्च किये जाते हैं। बहुमूल्य आहार जुटाने जैसे बलवर्धक साधनों से लेकर आसन-व्यायाम आदि का उपक्रम अपनाया जाता है। स्वस्थ नीरोग रखने के लिए उपचार आदि की व्यवस्था बनाई जाती है। कितने ही व्यक्ति अपना सौन्दर्य निखारने के लिए कृत्रिम संसाधनों का प्रयोग करते देखे जाते हैं। स्वस्थ एवं सुन्दर दीखने के लिए हर व्यक्ति अपनी-अपनी मान्यताओं के अनुरूप अपने-अपने स्तर पर प्रयास करता है। इस प्रयास में सफलता कितनों को मिलती है, यह बात अलग है, पर यह तो सुनिश्चित है कि अधिकांश व्यक्ति अपने शरीर के लिए प्रचुर समय, धन एवं शक्ति खर्च करते हैं।

शरीर के बाद आज के विज्ञानों ने बुद्धि को महत्त्व दिया है। बुद्धि अर्थात् 'इण्टेलीजेंस', जो प्रतिभा निखारने, योग्यता बढ़ाने में काम आती है। बुद्धि को पैना बनाने तथा बढ़ाने के लिए भी तरह-तरह के प्रयोग किये जा रहे हैं। स्कूली शिक्षा से बौद्धिक क्षमताओं का ही विकास होता है। वाद-विवाद प्रतियोगिताएँ-प्रतिस्पर्धाएँ भी इसीलिए आयोजित की जाती हैं कि प्रतिभा निखरती चले। इस प्रयास में सफलता भी मिली है। बुद्धि की दृष्टि से आज का मनुष्य पुरातन की तुलना में कहीं आगे है और इस दिशा में वह निरन्तर ही आगे बढ़ता चला जा रहा है।

मानवी व्यक्तित्व को इन दो स्थूल परतों-शरीर और बुद्धि को ही सर्वत्र महत्त्व मिलता रहा है। मन इन दोनों की अपेक्षा सूक्ष्म है। प्रत्यक्षतया उसकी भूमिका नहीं दीख पड़ने से अधिकांश व्यक्ति उसे महत्त्व भी नहीं देते। प्रायः वह उपेक्षित ही बना रहता है। यह एक सबसे बड़ी विडम्बना है कि व्यक्तित्व की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण परत उपेक्षा की गर्त में पड़ी है। शरीर एवं बुद्धि न केवल मन के इशारे पर चलते हैं, वरन् उसकी भली-बुरी स्थिति से असामान्य रूप से प्रभावित भी होते हैं, इस तथ्य का समर्थन आधुनिक मनोविज्ञान भी निर्विवाद करने

लगा है। व्यक्तित्व के इतने मूल्यवान घटक पर ध्यान न दिया जाय, उसकी साज-सँभाल न की जाय, उसे स्वस्थ सन्तुलित रखने का प्रयास न किया जाय तो इससे बढ़कर आज के बुद्धिमान मनुष्य की भूल दूसरी और कोई नहीं हो सकती।

पोषण एवं सन्तुलन के अभाव में काया भी रुग्ण बन जाती है। अपनी सामर्थ्य गँवा बैठती है। वैचारिक खुराक न मिले तो बुद्धि की प्रखरता मारी जाती है। अधिक से अधिक वे जीवन-संकट को किसी तरह खींचने जितना सहयोग ही दे पाते हैं। उपेक्षा की प्रताड़ना मन को सबसे अधिक मिली है। फलतः उसकी असीम सम्भावनाओं से भी मनुष्य जाति को वंचित रहना पड़ा है। निरुद्देश्य भटकती एवं मचलती हुई इच्छाओं, आकांक्षाओं का एक नगण्य स्वरूप ही मन की क्षमता के रूप में सामने आ सका है। मनोबल संकल्प बल की प्रचण्ड सामर्थ्य तो यत्किंचित व्यक्तियों में ही दिखाई पड़ती है। अधिकांश व्यक्तियों से मन की प्रचण्ड सामर्थ्य को न तो उभारते ही बनता है और न ही लाभ उठाते। मन को सशक्त बनाना, उसमें सन्निहित क्षमताओं को सुविकसित करना तो दूर, उसे स्वस्थ एवं सन्तुलित रखना भी कठिन पड़ रहा है। फलतः रुग्णता की स्थिति में वह विकृत आकांक्षाओं, इच्छाओं को ही जन्म देता है। इच्छायें मानवी व्यक्तित्व की, स्वास्थ्य संतुलन एवं विकास की प्रेरणा स्रोत होती हैं। उनका स्तर निकृष्ट होने पर मनुष्य के चिन्तन और व्यवहार में श्रेष्ठता की आशा भला कैसे की जा सकती है। रुग्ण मानस रुग्ण समाज को ही जन्म देगा। मन रोगी हो तो काया भी अपना स्वास्थ्य अधिक दिनों तक स्थिर नहीं रख सकती।

वैज्ञानिक क्षेत्र में नये अनुसन्धानों ने प्रचलित कितने ही सिद्धान्तों का खण्डन किया है। कितनी ही नई प्रतिस्थापनाएँ हुई हैं तथा कितने ही सिद्धान्तों में उलट-फेर करने के लिए विवश होना पड़ा है। अब धीरे-धीरे स्थूल के ऊपर से विश्वास टूटता जा रहा है। पदार्थ ही नहीं कायिक स्वास्थ्य के सम्बन्ध में भी प्रचलित धारणाओं में क्रान्तिकारी परिवर्तन होने की सम्भावना नजर आने लगी है। मनोविज्ञान ने मन की रहस्यमय परतों का विश्लेषण करते हुए यह रहस्योद्घाटन किया है कि मनःसंस्थान में कितने ही शारीरिक रोगों की जड़ें विद्यमान हैं। मन का

उपचार यदि ठीक ढंग से किया जा सके तो उन रोगों से भी मुक्ति मिल सकती है, जिन्हें असाध्य एवं शारीरिक मूल का कभी ठीक न हो पाने वाला माना जाता है।

चिकित्सा जगत में 'विहेवियोरल मेडिसिन' के विकास से उपचार की सर्वथा एक नई मनोवैज्ञानिक पद्धति का प्रादुर्भाव हुआ है। इस उपचार प्रक्रिया में विशेषज्ञों ने मन और शरीर को एक कड़ी के दो छोर माने हैं। इसके आधारभूत प्रयोग में न्यूरोकेमिकल को विकसित करने का प्रयास किया जाता है। विहेवियोरल मेडिसिन के आविष्कारकों का मत है कि मन के भावनात्मक दबाव एवं तदङ्ग तनाव ही रोगोत्पादन के कारण बनते हैं।

'विहेवियोरल मेडिसिन' चिकित्सा पद्धति का विकास सन् १९७७ में येल विश्वविद्यालय (यू. एस. ए.) में हुआ। इसमें एन्थोपोलॉजी, सोशियोलॉजी, एपिडेमिओलॉजी, साइकालॉजी, साइकिएस्ट्री, मेडिसिन तथा प्रारम्भिक जीव विज्ञान जैसे अनेक विषयों का अध्ययन सम्मिलित था। संस्थान की व्यवस्था यहाँ पर सँभालते हैं-मनःशास्त्री स्टीफेन एमवेस। इसकी शाखाएँ हृदय, फेफड़ा, रक्त संस्थान से सम्बन्धित मनोशारीरिक रोगों के उपचार के लिए खोली गई हैं। मनःचिकित्सक डेविड हैमवर्ग के नेतृत्व में विहेवियोरल मेडिसिन के प्रयोग परीक्षण के लिए एक एकेडमी की स्थापना भी हुई है। संस्थान से एक मासिक जर्नल 'दी जर्नल ऑफ विहेवियोरल मेडिसिन' नियमित रूप से प्रकाशित होती है, जिसमें इस उपचार पद्धति की जानकारीयों का प्रकाशन होता है।

उपचार पद्धति साइकोसोमैटिक मेडिसिन पर अवलम्बित है। शोध कार्य में लगे विशेषज्ञों का यह दृढ़ विश्वास है कि मन और शरीर के क्रिया-कलाप पूर्णतः एक-दूसरे से अभिन्न रूप से जुड़े हुए हैं। इनके बीच थोड़ा भी असन्तुलन कैंसर, मल्टीपल स्केलेरोसिस, आर्थ्राइटिस, माइग्रेन हेडेक, डॉयविटीज तथा हृदय रोगों का कारण बन सकता है। 'न्यूरो एण्डोक्राइनलॉजी' की नई खोजों के अनुसार सेण्ट्रल नर्वस सिस्टम तथा 'एण्डोक्राइन सिस्टम' एक-दूसरे से सम्बन्धित हैं। वे परस्पर एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं। शरीर के हार्मोन्स न्यूरोट्रान्समीटर के रूप में क्रियाशील होते हैं। इन्हें सक्रिय बनाने के लिए विहेवियोरल मेडिसिन की इस पद्धति में रोगापचार हेतु रिलेक्सेशन, बायोफीड बैक आदि का निरापद प्रयोग आरम्भ किया गया है। इससे यह आशा बँधती है कि मनोशारीरिक रोगों का उपचार अब सम्भव हो सकेगा। चिकित्सा जगत की असाधारण प्रगति के बावजूद कैंसर जैसे रोग आज भी असाध्य बने हुए हैं। शरीर शास्त्रियों

को वे सूत्र पकड़ में नहीं आ रहे हैं कि शरीर के किसी स्थान विशेष की कोशिकाएँ क्यों बागी हो जाती हैं, क्यों अपना सामान्य क्रम छोड़ बैठती हैं, उन्हें कैसे इस असामान्य व्यवहार से रोका जा सकता है ? लम्बी माथापच्ची के बाद भी ये प्रश्न जैसे के तैसे बने हुए हैं तथा मानवी मस्तिष्क को चुनौती देते हैं। अब सोचा जा रहा है कि कैंसर की जड़ें व्यक्तित्व की कहीं अधिक सूक्ष्म परतों में विद्यमान होनी चाहिए। जब निदान ही सम्भव नहीं हो पा रहा तो उपचार कैसे सम्भव होगा ?

अमेरिका के रोचेस्टर विश्वविद्यालय द्वारा किये गये अध्ययन से यह ज्ञात हुआ है कि किसी व्यक्ति का जीवन के प्रति अतिशय निराशाजनक चिन्तन कैंसर रोग को जन्म दे सकता है। फोर्टवर्थ टेक्सास के डॉ. कार्ल साइमण्टन, कैंसर के रोगियों का उपचार 'रैडियेशन', 'केमोथेरेपी' तथा 'शल्य क्रिया' की परम्परागत उपचार पद्धति से अलग हटकर रिलैक्सेशन (शिथिलीकरण) और विजुअलाइजेशन (आत्म निरीक्षण) पद्धति से कर रहे हैं। इसमें रोगियों को नियमित रूप से दिन में तीन बार प्रातः उठते समय १५-१५ मिनट का ध्यान करने को कहा जाता है, इस साधना में रोगी 'आटोसेजशन' का अभ्यास करता है तथा यह भावना करता है कि उसका मन शान्त, सन्तुलित और स्वस्थ हो रहा है। दूसरे चरण में उसे कैंसरग्रस्त स्थान पर ध्यान करना पड़ता है, जिसमें वह प्रबल भावना का आरोपण करता है कि शरीर के श्वेत कण कैंसरग्रस्त स्थान पर एकत्रित हो रहे हैं तथा रुग्ण कोशिकाओं को शरीर के बाहर निकाल रहे हैं। रोगियों को सदा प्रसन्नचित रहने तथा आशावादी दृष्टिकोण अपनाये रखने का ही निर्देश दिया जाता है। डॉ. साइमण्टन को अब तक डेढ़ सौ से अधिक कैंसर के रोगियों के उपचार में पूर्ण सफलता मिली है। स्वस्थ रोगियों में से अधिकांश वे हैं, जो आशावादी विचारणा के थे।

जर्मनी के एक चिकित्सक डॉ. हैमर ने आधुनिक चिकित्सा विज्ञान को अपने मत द्वारा चुनौती दी है तथा यह कहा है कि कैंसर रोग की उत्पत्ति का कारण मानव मन है। यह बीमारी विषैले वातावरण, जीवाणु, आनुवंशिक खामियों के कारण नहीं, मरीज के स्वयं के मानसिक संघर्षों के कारण पैदा होती है। डॉ. हैमर स्वयं भी कभी कैंसर के रोगी थे। उनके रोग के साथ एक मर्मस्पर्शी घटना जुड़ी हुई है। डॉ. हैमर के पुत्र डर्फ को १९७८ में इटली के एक व्यक्ति ने गोली मार दी थी। चार महीने तक उपचार चलता रहा, पर कोई फायदा न हुआ। डर्फ की मर्मान्तक पीड़ा को अपने ही नेत्रों से डॉ. हैमर नित्य देखते थे। अन्ततः उसकी मृत्यु हो गई। पुत्र को

तिल-तिलकर मरते हुए देखने से उन्हें तीव्र मानसिक विक्षोभों से होकर गुजरना पड़ा। निरन्तर के मानसिक संघर्षों ने ही कैसर को जन्म दिया, डॉ. हैमर का यह निश्चित विश्वास है।

अपने मत की पुष्टि के लिए उन्होंने म्यूनिख, रोम, कोल, कोलोन के विभिन्न अस्पतालों में ५०० रोगियों की जाँच-पड़ताल की। जिससे उनकी धारणा और भी परिपुष्ट होती चली गई। अपने मत का उन्होंने जर्मनी के विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशन कराया। चिकित्सा जगत की प्रचलित मान्यताओं से मेल न खाने के कारण उनका चारों ओर विरोध हुआ। विशेषकर आधुनिक चिकित्सा पद्धति के प्रतिपादकों द्वारा। डॉ० हैमर ने विरोध देखते हुए अपनी मान्यताओं को और अधिक मजबूत करने के लिए देश छोड़ना व बाहर जाकर प्रयोग करना अधिक उपयुक्त समझा। इन दिनों वे रोम में जाकर बस गये हैं तथा अपने शोध कार्य को आगे बढ़ाने का प्रयत्न कर रहे हैं।

वस्तुस्थिति को वैज्ञानिक कसौटियों पर कसा जाना अभी शेष है किन्तु कैसर जैसे गम्भीर रोगों को पैदा करने में मनःस्थिति कहीं तक जिम्मेदार है तथा किस तरह की भूमिका सम्पादित करती है? पर जो तथ्य प्रकाशन में आ रहे हैं उनसे यह सम्भावना प्रबल होती जा रही है कि गम्भीर असाध्य रोगों को जन्म देने में मन की अहम् भूमिका हो सकती है। इंग्लैण्ड की एक महिला पैट्रिक का रोचक कस आज भी चिकित्साविदों के लिए एक रहस्य बना हुआ है। चिकित्सकों ने उसे वक्ष कैसर घोषित किया था। यदि निदान आरम्भ में हो गया होता तो उन्हें बचाये जाने की भी सम्भावना थी। कैसर रोग की शुरुआत की स्थिति में निदान के लिए एवं सर्जरी के लिए जो यन्त्र आवश्यक थे, वे लन्दन के अतिरिक्त और कहीं नहीं थे। महिला के लिए उन्हें स्वयं के उपचार के लिए जुटा पाना शायद असम्भव था। चिकित्सकों ने घोषणा की थी “रोग की गम्भीरता के कारण ६ माह बाद वे मर जायेंगी।” घोर निराशा की स्थिति में इस महिला ने सोचा “मेरा मरना तो सुनिश्चित है। क्यों न ही जीवन के अवशेष दिनों का उपयोग ऐसे कार्य में किया जाय ताकि अन्य रोगियों को मेरी तरह घुट-घुटकर न मरना पड़े।” रेडियो एवं टेलीविजन सेवाधिकारियों की सहानुभूति अर्जित करके उसने यह प्रसारण कराया—“मैं एक वक्ष कैसर से पीड़ित महिला हूँ। छः माह बाद मेरी मृत्यु सुनिश्चित है।” कैसर के रोगियों के प्रारम्भिक निदान के लिए “कैटस्केन” यन्त्र आवश्यक है। मेरी इच्छा एक ऐसे कम्प्यूटराइज्ड एक्जियल टोमोग्राफी युक्त यूनिट की स्थापना है ताकि

दूसरे रोगियों का इलाज हो सके। मेरी याचना एवं पीड़ा पर आप सब ध्यान दें तथा आर्थिक मदद करें।”

इस प्रसारण का अप्रत्याशित प्रभाव पड़ा। इतना अधिक चन्दा एकत्रित हुआ कि उसकी व्यवस्था बनाने के पैट्रिक को एक पूरा स्टाफ रखना पड़ा। करोड़ों की लागत से बनने वाले दर्जनों ऐसे कैसर उपचार केन्द्रों का निर्माण सुदूर ग्रामीण क्षेत्रों में हो गया। तब तक नौ माह का समय गुजर चुका था। अपने कैसर रोग को इस व्यस्तता के कारण लगभग वह भूल चुकी थी। श्रेष्ठ प्रयोजन में मिली असाधारण सफलता की प्रसन्नता में उसे कुछ भी याद न रहा। एक दिन उसके एक अभिन्न मित्र ने याद दिलाया कि चिकित्सकों ने छः माह बाद वक्ष कैसर के कारण उसके मर जाने की घोषणा (भविष्य वाणी) की थी। उसे एक झटका-सा लगा और पैट्रिक ने अपने ही बनबाये हुए एक कैसर निदान उपचार केन्द्र में विशेषज्ञों की एक टोली द्वारा पूरा परीक्षण कराया। चिकित्सकों को यह देखकर आश्चर्य का पाराबार न रहा कि पैट्रिक के वक्ष में कैसर का नामोनिशान नहीं है। लम्बे समय तक खोज-बीन चलती रही, पर यह रहस्योद्घाटन न हो सका कि बिना किसी उपचार के पैट्रिक असाध्य वक्ष कैसर रोग से मुक्त कैसे हो गई। मनःशास्त्रियों ने अपना मत व्यक्त करते हुए संभावना व्यक्त की “पैट्रिक की परमार्थ भावना, रचनात्मक दृष्टिकोण तथा प्रसन्नचित्त मनःस्थिति आदि के समन्वय से प्रचण्ड मनोबल का उद्भव हुआ, जो कैसरग्रस्त कोशिकाओं के कायाकल्प का कारण बना।”

शरीर एवं बुद्धि की अपेक्षा मानसिक सामर्थ्य भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। रचना, सामर्थ्य एवं सम्भावना की दृष्टि से भी वह इन दोनों की तुलना में भारी ही बैठती है। आधुनिक मनोवेत्ता भी इस तथ्य को स्वीकार करने लगे हैं कि मन के सन्तुलन एवं विकास पर अधिक ध्यान देने की आवश्यकता है। ‘सामर्थ्य एवं सम्भावनाओं का यह महत्वपूर्ण स्रोत यदि उपेक्षित ही पड़ा रहा, तो स्वास्थ्य एवं आरोग्य को स्थायी रूप से सुरक्षित नहीं रखा जा सकता। मात्र मन को ही समुचित दिशा दे देने से कविक अवरोध तथा अस्त-व्यस्तताओं पर नियन्त्रण पाया जा सकता सम्भव है। अब विज्ञान की मुहर भी लग जाने से इस चिकित्सा-प्रक्रिया को और भी अधिक सशक्त स्वर से कहा व प्रतिपादित किया जा सकता है। आधुनिक चिकित्सा को मानने वाले विद्वानों को भी मानवी अन्तस् के उपेक्षित से पड़े कल्पवृक्ष मानव मन को अब मान्यता देकर इसकी सामर्थ्यों का सबको लाभ देना चाहिए।

मनःसंस्थान का समूची जीवन सत्ता पर प्रभाव

मनोमय कोश की साधना मस्तिष्कीय क्षेत्र में घुसे मनोविकारों को-दुष्प्रवृत्तियों को-निरस्त करने के लिए लड़ा जाने वाला महाभारत हो, साथ ही इसमें धर्म राज्य की-राम राज्य की-स्थापना का लक्ष्य, संकल्प भी जुड़ा हुआ हो।

इस सन्दर्भ में वैज्ञानिक-अनुशीलन ध्यान देने योग्य है। बहुत समय पहले शारीरिक रोगों का कारण वात, पित्त, कफ, अपच, मलावरोध, ऋतु प्रभाव, विषाणुओं का आक्रमण आदि माना जाता था। नवीनतम शोधें शरीर पर पूरी तरह मनःसत्ता का अधिकार मानती हैं और बताती हैं कि बाह्य कारणों से उत्पन्न हुए रोग तो शरीर की जीवनी शक्ति स्वयं ही अच्छे कर लेती है अथवा मामूली से उपचार से वे अच्छे हो सकते हैं। जटिल रोग तो आमतौर से मनोविकारों के ही परिणाम होते हैं। उनका निराकरण दवा-दारू से नहीं मानसिक परिशोधन से ही सम्भव हो सकता है।

शारीरिक ही नहीं मानसिक रोगों का भी यही प्रधान कारण है। दुष्कर्म अथवा दुर्बुद्धिग्रस्त व्यक्ति शारीरिक ही नहीं मानसिक रोगों से भी ग्रसित रहते हैं। उन्माद विस्फोट की स्थिति न आये तो भी असन्तुलन से ग्रस्त व्यक्ति अर्धविक्षिप्त स्थिति में पड़े रहते हैं। अकारण दुःख पाते और अकारण दुःख देते हैं। इनकी मनःस्थिति कितनी दयनीय होती है यह देखने भर से बड़ा कष्ट होता है। शारीरिक व्यथाओं से पीड़ितों की अपेक्षा मनोरोगों से ग्रस्त लोगों की संख्या ही नहीं पीड़ा भी अधिक है। इन व्यथाओं से छुटकारे का उपाय अस्पतालों में नहीं, मानसिक संशोधन की साधनाओं पर ही अवलम्बित है। वे उपाय, उपचार अन्य प्रकार भी हो सकते हैं, पर अध्यात्म विज्ञान के आधार पर उसे मनोमय कोश से, साधना से अधिक सुविधापूर्वक सम्पन्न किया जा सकता है।

काय-विज्ञान के विद्यार्थी जानते हैं कि मस्तिष्क के साथ जुड़े हुए ज्ञान तन्तु सारे शरीर में फैले हैं। उन्हीं के माध्यम से इस जटिल यन्त्र का संचालन होता है। इन्द्रियों की क्रियाशक्ति, अनुभूतियाँ, सरसताएँ मस्तिष्क में ही जाकर खुलती हैं। इन्द्रिय गोलक तो मात्र सूचनाएँ संग्रह करने और उन्हें मस्तिष्कीय केन्द्रों तक पहुँचाने भर का काम करते हैं। कोई मानसिक कष्ट होने पर सारा शरीर शिथिल हो जाता है और क्रिया शक्ति में स्पष्टतः अस्तव्यस्तता दिखने लगती है। भय, चिन्ता, शोक, निराशा जैसे प्रसंगों पर किसी भी मनुष्य का चेहरा उदास

और सारा शरीर शिथिल देखा जा सकता है। क्रोध, अपमान, द्वेष, प्रतिशोध की स्थिति में किस प्रकार अंग-प्रत्यंगों में उत्तेजना दीख जाती है, इसे किसी आवेशग्रस्त पर छाये हुए भावोन्माद को देखकर सहज ही देखा, समझा जा सकता है। प्रसन्न और निश्चित रहने वाले स्वस्थ रहते और दीर्घजीवी बनते हैं। इसके विपरीत क्षुब्ध रहने वाले अकारण दुर्बल होते जाते हैं और अकाल मृत्यु से असमय मरते हैं। यह तथ्य स्पष्ट करते हैं कि शरीर संस्थान पर आहार-विहार का, जलवायु का जितना प्रभाव पड़ता है उससे कहीं अधिक भाव-संस्थान का होता है।

शरीर में स्नायुमण्डल द्वारा तथा नलिकाविहीन ग्रन्थियों द्वारा भावनाएँ क्रियाशील होती हैं। हमारे सम्पूर्ण शरीर में स्नायुओं का जाल बिछा हुआ है। सामान्यतः स्नायु उज्ज्वलवर्णी होते हैं और तार की तरह ठोस होते हैं। हमारी सभी पेशियाँ स्नायुओं के ही आधार पर चलती हैं। प्रत्येक पेशी में पहुँचने वाला मुख्य स्नायु सुतली की तरह मोटा होता है। फिर उसकी शाखा-प्रशाखाएँ अधिकाधिक पतली होती चली जाती हैं। कई प्रशाखाएँ तो बारीक सूत जैसी पतली होती हैं।

सम्पूर्ण स्नायुमण्डल के दो भाग हैं—(१) ऐच्छिक, (२) अनैच्छिक। चलने-फिरने, झुकने-मुड़ने, वस्तुएँ उठाने, रखने आदि की क्रियाओं में हम अपने हाथ-पैर आदि को इच्छानुसार हिलाते हैं। यह ऐच्छिक स्नायुओं के ही कारण है। अनैच्छिक स्नायुओं पर हमारा ऐसा अधिकार नहीं होता। वे शरीर की आन्तरिक क्रियाएँ सम्पादित करते हैं। जैसे हृदय की धड़कनें, साँसों का आना-जाना आदि।

अनैच्छिक स्नायुमण्डल का केन्द्र मस्तिष्क का एक लघु अंश हाइपोथैलामस होता है। यही 'हाइपोथैलामस' नारी व पौरुष ग्रन्थियों को भी नियन्त्रित करता है। साथ ही 'मोनोएमीन आक्सीडेज' नामक किण्वन (एन्जाइम) भी सम्पूर्ण शरीर में विकीर्ण होते हुए भी केन्द्रीय स्नायविक प्रणाली में विशेष रूप से जमा रहता है। 'हाइपोथैलामस' द्वारा पिट्यूटरी ग्रन्थि भी उत्तेजित होती है और उससे विभिन्न हॉर्मोन्स निकलते हैं जो भावनाओं का परिणाम भी होते हैं और नई भावनाओं का कारण भी। किसी नई परिस्थिति के उपस्थित होने पर नलिकाविहीन ग्रन्थियों पर दबाव पड़ता है और वे विभिन्न हॉर्मोनों को स्रावित करती हैं। इन हॉर्मोनों की शरीर में प्रतिक्रिया होती है और यह प्रतिक्रिया उसी के अनुरूप भावना-समूहों को जन्म देती है। जैसे किसी रोग के कीटाणुओं के संक्रमण-दबाव से पिट्यूटरी ग्रन्थि ने कोई हॉर्मोन छोड़ा, इससे शरीर में

तेज हलचल मच गई, व्यक्ति को अस्वस्थता महसूस होने लगी और वह खाट पर पड़ गया। अब बीमारी की दशा में तरह-तरह की भावनाएँ जो अचेतन मन में दबी थीं, उभरने लगीं। उनके परिणामस्वरूप अनेक प्रकार की शारीरिक प्रतिक्रियाएँ भी पैदा होने लगती हैं।

मनोमय कोश का निवास मस्तिष्क में बताये जाने का अर्थ केवल इतना ही है कि उसका केन्द्रीय कार्यालय वहीं है। उसके सूक्ष्म अवयव उसकी शाखा-प्रशाखाएँ तो सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त-विस्तृत हैं। मस्तिष्क के जीवाणु अन्य जीवाणुओं से अधिक समझदार और अधिक अनुभवी होते हैं, इसीलिए वे शेष जीवाणुओं के अगुआ नेता कहे जाते हैं। वे जिस दिशा में चलते हैं, शेष जीवाणु भी उसी दिशा धारा में बहने लगते हैं। सम्पूर्ण सूक्ष्म शरीर को स्वस्थ, प्रसन्न, उल्लसित, प्रगतिशील बनाये रखने के लिए मस्तिष्कीय-स्थिति वैसी होनी जरूरी है। नेता ही निराश-हताश, कुण्ठित-त्रस्त हुआ, तो प्रगति की क्या आशा की जा सकती है। नेता का संवेग समस्त अनुयायियों को प्रभावित करता है।

विनया के मनोचिकित्सक डॉ. फैकल का मत है कि मानसिक-धरातल ही शारीरिक स्वास्थ्य का आधार है। मानसिक सन्तुलन का कारण जीवन की सार्थकता को न समझना है। इसीलिए उन्होंने 'लौगोथेरेपी' या 'अर्थबोधचिकित्सा' नाम की चिकित्सा पद्धति विकसित की है। डॉ. फैकल की मान्यता है कि जिस व्यक्ति को अपने जीवन और कार्य की सार्थकता का बोध नहीं हो, वह स्वस्थ नहीं रह सकता। मनुष्य जीवन के लक्ष्य और उनकी सिद्धि ही आनन्द का आधार है। डॉ. फैकल की चिकित्सा पद्धति में रोगी से प्रिय-अप्रिय सभी विषयों पर चर्चा कर, उसे जीवन की सार्थकता की तलाश की प्रेरणा दी जाती है। व्यक्ति को जैसे ही जीवन में सार्थकता की अनुभूति हो उठती है, वह अपने भीतर निहित शक्तियों का स्मरण कर आत्म विश्वास से भर उठता है और धीरे-धीरे स्वस्थ होने लगता है। मनःक्षेत्र की स्वस्थता उसके स्थूल शरीर को भी स्वस्थ बना देती है।

सूक्ष्म शरीर की हलचलों का स्थूल शरीर पर स्पष्ट एवं निश्चित परिणाम होता है। तन्त्रकीय रोगों का कारण दबे हुए गन्दे विचार ही होते हैं। शरीर-शास्त्रियों का भी मत है कि मात्र मानसिक-चित्रों के आधार पर ही अनेक शारीरिक बीमारियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। "इम्प्लुएन्स ऑफ द माइण्ड अपॉन द बॉडी" नामक पुस्तक के लेखक डॉ. टुके ने लिखा है-"विक्षिप्तता, मूढ़ता, अंगों का निकम्मा हो जाना, पित्त, पाण्डुरोग, केश-पतन, रक्ताल्पता, घबराहट, मूत्राशय के रोग, गर्भाशय में पड़े बच्चे का

अंग-भंग हो जाना, चर्म रोग, फुन्सियाँ, फोड़े, एगिजमा आदि अनेक स्वास्थ्यनाशक रोग मात्र मानसिक क्षोभ तथा भावनात्मक उद्वेलन के परिणाम होते हैं।" मानसिक क्षोभ, भावनात्मक उद्वेलन, निषेधात्मक चिन्तन, सूक्ष्म शरीर की विकृतियाँ हैं, जिनका स्थूल शरीर पर स्पष्ट प्रभाव पड़ता है। इसी प्रकार परिष्कृत दृष्टिकोण स्वस्थ-उदात्त चिन्तन, आदर्शवादी विचारधारा सूक्ष्म-शरीर को तेजस्वी और प्रखर बनाती है और उसका श्रेष्ठ प्रभाव स्थूल शरीर पर भी स्पष्ट देखा जा सकता है।

विधेयात्मक विचारों की, ऊर्ध्वमुखी चिन्तन की आश्चर्यजनक महत्ता के प्रतिपादन में डॉ. बैनेट ने स्वयं को ही प्रस्तुत किया है। ५० वर्ष की आयु तक डॉ. बैनेट निराशा और अवांछनीय चिन्तन के कारण अपना स्वास्थ्य पूरी तरह गँवा बैठे। उन्हें जब ऊर्ध्वगामी चिन्तन की इस असीम उपादेयता का पता चला तो उन्होंने अपना जीवन-क्रम ही बदल डाला। मन की जड़ता और विषय-विकारों का जुआ उनसे उतार फेंका, हृदय को श्रद्धा, आस्था से भरा, सदैव प्रसन्न-प्रफुल्ल रहने की आदत बना ली। २० वर्षों के अपने इस जीवन को स्वर्गीय सुख से ओत-प्रोत बनाते हुए डॉ. बैनेट ने अपनी ५० वर्षीय फोटो तथा ७० वर्षीय फोटो भी इस पुस्तक में छपी है। पहली में उनका चेहरा झुर्रियों से चिपके गाल, धँसी आँखों के कारण मनहूस दिखाई देता है, जबकि ७० वर्ष की आयु में वे स्वस्थ, सशक्त दिखाई देते हैं, झुर्रियाँ न जाने कहाँ चली गईं, चेहरे में उददीप्ति है और युवकों जैसी सक्रियता।

अब तक किये गये ऐसे ही विविध आधुनिक प्रयोगों से यह स्पष्ट हो गया है कि मन का, मस्तिष्क का कष्ट प्रत्येक जीवाणु को कष्ट में डाल देता है। घृणा, ईर्ष्या, क्रोध का अनिष्ट प्रभाव समस्त जीवाणुओं में तुरन्त दौड़ जाता है, झलक उठता है। मस्तिष्क में प्रसन्नता का भाव आते ही प्रत्येक जीवाणु प्रसन्न-पुलकित हो उठता है। ये सभी जीवाणु परस्पर गहन आत्मीयता और अभिन्नता का भाव रखते हैं। प्रत्येक जीवाणु की दशा से सभी प्रभावित होते हैं, इनका सुख-दुःख मिला-जुला ही होता है। इनका पारस्परिक सौहार्द-सद्भाव अनूठा है। सच्ची मैत्री, प्रगाढ़ आत्मीयता सहानुभूति के ये अनूठे उदाहरण हैं। कल्पना करें कि एक व्यक्ति को तेज भूख लगी है। सुस्वादु भोजन का थाल सामने है। उसी समय किसी प्रियजन की मृत्यु का तार मिलता है। उसे पढ़ते ही मस्तिष्क में उस प्रियजन की संचित स्मृति सहसा जागृत हो उठती है। मन में आत्मीय संवेदना उमड़ पड़ती है। मस्तिष्क के जीवाणुओं में हलचल, उथल-पुथल मच जाती है। मस्तिष्क के जीवाणुओं की इस प्रतिक्रिया का तत्काल

२.६ चेतन, अचेतन एवं सुपर चेतन मन

सम्पूर्ण शरीर के जीवाणुओं पर प्रभाव पड़ता है। जीभ सूखने लगती है। भूख बढ़ाने वाले जीवाणु जो उछल-कूद मचा रहे थे, चीख-चीखकर भोजन की माँग कर रहे थे, सहमकर शान्त, निष्क्रिय, दुबके-से बैठ जाते हैं। हृदय और दूसरे अंग भी निष्पाण से हो चलते हैं। दिल डूबने लगता है, आँखों के सामने अँधेरा छा जाता है, शरीर निढाल हो जाता है। समस्त अंगों पर यह प्रभाव पड़ता है। स्पष्ट है कि मस्तिष्कीय जीवाणुओं की भाव दशा का तत्काल प्रभाव सम्पूर्ण शरीरस्थ जीवाणु-समूहों पर पड़ता है।

‘ओल्ड एज इट्स कॉज एण्ड प्रिवेन्शन’ नामक पुस्तक में उनके रचयिता सुप्रसिद्ध अमरीकी वैज्ञानिक तथा लेखक डॉ. बैनेट ने एक बहुत ही मनोरंजक किन्तु शिक्षाप्रद घटना दी है। एक १९ वर्षीय फ्रांसीसी युवती ने एक अमेरिकन नव-युवक से विवाह का निश्चय किया। युवक निर्धन था सो तय यह हुआ कि पहले वह अमेरिका जाकर धन कमायेगा और लौटकर शादी करेगा। युवक ने ३ वर्ष में पर्याप्त धन कमा लिया, पर दुर्भाग्य से कोई मुकदमा लग जाने के कारण वह १५ वर्ष तक फ्रांस नहीं लौट सका। १५ वर्ष बाद जब वह वापस लौटा तो यह देखकर आश्चर्यचकित रह गया कि उसकी मँगैतर का स्वास्थ्य, सौन्दर्य बिल्कुल वैसा ही है। जैसा वह १९ वर्ष पूर्व था। ३४ वर्ष की अघेड़ हो जाने पर भी उसमें १९ वर्षीय नवयुवती के गुण विद्यमान थे।

घटना का विवेचन करते हुए बैनेट महोदय लिखते हैं—प्रकृति ने मनुष्य शरीर की संचालन प्रक्रिया इस प्रकार रखी है कि शरीर का प्रत्येक कोश (सैल) ८० दिन पीछे पुराना होकर मेल के रूप में उसी प्रकार बाहर निकल जाता है, जिस प्रकार समुद्री लहरों में निरन्तर ज्वार-भाटे से समुद्र की गन्दगी तटों पर जमा होती रहती है। कोश-परिवर्तन की यह प्रक्रिया आयु बढ़ने के साथ क्षीण होती रहती है, उसी का नाम वृद्धावस्था है किन्तु इस घटना ने इस प्राकृतिक व्यवस्था को ही उलट दिया, ऐसा क्यों ?

इसका उत्तर युवती के मुँह से दिलवाते हुये श्री बैनेट लिखते हैं कि—“मैं प्रतिदिन प्रातःकाल एक आदमकद शीशे के समुख खड़ी होकर अपना चेहरा देखती और मन ही मन अनुभव करती कि मैं ठीक वैसी ही हूँ जैसी कल थी। दिन के परिवर्तन ने मेरे शरीर में कोई प्रभाव नहीं डाला, इच्छा शक्ति की यह दृढ़ता मुझे दिन भर पुलकित और प्रसन्न बनाये रखती। उसी का फल है जो मैं जैसी १५ वर्ष पूर्व थी वैसी ही आज भी हूँ।” सूक्ष्म शरीर के शोधन की, विचारों को ऊँचा उठाने की, संकल्प की महत्ता उन्होंने अमरीका के अध्यात्म

परायण व्यक्ति डॉ. मारडन की पुस्तक ‘लौह इच्छा शक्ति’ (इन आइरन विल) से समझी। जिसमें बताया गया है—मनुष्य अपने विचार नये कर ले, चरित्र को ऊँचा उठा ले तो अपना शरीर ही बदल सकता है। यह स्वाध्याय उनके लिए तो औषधि बना ही, सैकड़ों को नया जीवन देने वाला है। प्रेम, मैत्री, दया, करुणा और परोपकारी विचारों को धारण कर कोई भी इसका प्रत्यक्ष लाभ ले सकता है।

खोपड़ी के ऊपर या नीचे की रक्तवाहिनियों की पेशियाँ भावनाओं के अनुसार फैलती-सिकुड़ती व तीव्र संवेदनात्मक प्रतिक्रियाएँ करती हैं।

अस्वस्थ भावनाएँ विभिन्न शारीरिक रोगों का कारण बनती हैं। सामान्य सिर दर्द से लेकर ‘माइग्रेन’ नामक कठिन सिर दर्द भावनात्मक तनाव से होता है। इस तनाव से खोपड़ी की रक्तवाहिनियाँ सिकुड़ती हैं और इससे सिर दर्द शुरू हो जाता है। आज तो यह पाया जाता है कि सिर दर्द की सौ घटनाओं में से पचासी का कारण भावनात्मक तनाव होता है।

भावना-क्षोभ के कारण पेशियों में उत्पन्न तनाव के कारण कई बार लोग भोजन के बाद ऐसा अनुभव करते हैं कि कलेजे पर बोझ आ पड़ा है और भोजन नीचे सरक ही नहीं रहा है। अधिक तनाव होने पर उबकाई आने लगती है, जी मिचलाने लगता है।

भावनात्मक तनाव से उत्पन्न स्नायु-रोगों में डकारें आना, पेट में ऐंठन होना, विभिन्न वायु-विकार अनेक त्वचा-विकार, एग्जिमा, खुजली आदि होते हैं।

कमर-दर्द के बारे में ऐसा ज्ञात हुआ है कि अधिकांश मामलों में इसका कारण भावनात्मक तनाव ही होता है।

यह जान लेने पर कि भावनात्मक तनावों एवं विकृतियों से ही अधिकांश रोग पैदा होते हैं, यह प्रश्न अनेकों को कचोटता है कि भावनाओं पर नियन्त्रण कैसे हो? इसका एक ही सरल मार्ग है—समझदारी भरे दृष्टिकोण का नित्य-प्रति के जीवन में अभ्यास। बिना अभ्यास के यह दृष्टिकोण व्यावहारिक जीवन में नहीं उतरता। जिन्दगी को बोझ न मानते हुए, खेल-भावना से जीना, अभ्यास द्वारा ही सम्भव है। अपनी सीमाओं को पहचानना, शक्ति के सर्वोत्तम उपयोग की व्यवस्था करना, ‘मैं-मैं’ की चीख-पुकार से मुक्त होकर अपने दायित्वों को समझना और निभाना तथा सृजनात्मक वृत्तियों का जीवन में निरन्तर विकास करना ही एकमेव राजमार्ग है।

सामान्यतः कठोरता, क्रोध, बात-बात में लड़-बैठने आदि को हम भ्रान्तिवश शक्ति का पर्याय मान बैठते हैं, जबकि मनोवैज्ञानिक इस सबको 'बचकानी हरकतें' मानते हैं। ये दुर्बलता के प्रतीक हैं। शक्तिशाली व्यक्ति विनम्र एवं दृढ़ होता है। क्रोध और झगड़ालूपन तो शक्तिहीनता की उपज है। सादगी-संयम का अभ्यास ही शक्ति का स्रोत है किन्तु अपनी दुर्बलताओं पर व्यर्थ की खीझ भी लाभकर न होगी। धीरे-धीरे ही कुसंस्कार चित्ततल पर जमते हैं और धीरे-धीरे ही उनका उन्मूलन सम्भव है। सतत् अभ्यास ही सर्वोत्तम उपचार है। इस बात को सदा ध्यान में रखा जाय कि मन की कुटिलता और अनैतिक कर्म ही रोग का आधार हैं तथा मन की शुचिता, स्नेह, करुणा और व्यापक मानवीय प्रेम द्वारा इन रोगों को मिटा सकना सरलता से सम्भव है।

मस्तिष्क की धुलाई-सफाई वैज्ञानिक उपकरणों से भी सम्भव हो सकती है। फिर अध्यात्म साधना के उपचार तो उससे अधिक ही सशक्त समर्थ होते हैं। उनका प्रभाव तो और भी अधिक होना चाहिए।

इलेक्ट्रिकल स्टीम्यूलेशन आफ ब्रेन (ई. एस. वी.) पद्धति के अनुसार कई एशियन विश्वविद्यालयों ने आंशिक रूप से मस्तिष्क की धुलाई (ब्रेन वाशिंग) में सफलता प्राप्त कर ली है। अभी यह बन्दर, कुत्ते, बिल्ली, खरगोश, चूहे जैसे छोटे स्तर के जीवों पर प्रयोग किये गये हैं। आहार की रुचि, शत्रुता, मित्रता, भय, आक्रमण आदि के सामान्य स्वभाव को जिस प्रकार चरितार्थ किया जाना चाहिए उसे वे बिल्कुल भूल जाते हैं और विचित्र प्रकार का आचरण करते हैं। बिल्ली के सामने चूहा छोड़ा गया तो वह आक्रमण करना तो दूर उससे डरकर एक कोने में जा छिपी। क्षणभर में एक-दूसरे पर खूनी आक्रमण करना, एक आध मिनट बाद परस्पर लिपटकर प्यार करना यह परिवर्तन उस विद्युत क्रिया से होता है जो उनके मस्तिष्कीय कोषों के साथ सम्बद्ध रहती है। यही बात मनुष्यों पर भी लागू हो सकती है। मानव मस्तिष्क अपेक्षाकृत अधिक परिष्कृत होता है, उसमें प्रतिरोधक शक्ति भी अधिक होती है इसलिए उसमें हेर-फेर करने के लिए प्रयास भी कुछ अधिक करने पड़ेंगे और पूर्ण सफलता प्राप्त करने में देरी भी लगेगी, पर जो सिद्धान्त स्पष्ट हो गये हैं, उनके आधार पर यह निश्चित हो गया है कि मनुष्य को भी जैसा चाहे सोचने, मान्यता बनाने और गतिविधियाँ अपनाने के लिए विवश किया जा सकता है।

मनोमय कोश की साधना मस्तिष्कीय क्षेत्र की धुलाई सफाई ही नहीं करती, वरन् उसे समुन्नत,

सुसज्जित एवं सुसंस्कृत बनाने का काम भी बहुत हद तक पूरा कर सकती है।

मनोमय कोश शरीर और मस्तिष्क के समूचे क्षेत्र को अपने अंचल में समेटे हुए है। वह इन दोनों क्षेत्रों को प्रभावित करता है। अन्तःकरण के अस्त-व्यस्त और विकृत स्थिति में बने रहने पर उसकी प्रतिक्रिया शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य पर विनाशकारी प्रभाव डालती है। व्यक्तित्व लड़खड़ा जाने पर दृष्टिकोण और व्यवहार दोनों ही गड़बड़ाते हैं। फलतः गतिविधियाँ अवांछनीयता से भर जाती हैं। स्पष्ट है कि ऐसी स्थिति में विपत्तियाँ ही उत्पन्न होंगी। अवरोध ही खड़े होंगे। कलह और संकट आक्रमण करेंगे। समूचा जीवन ही नरक बन जायगा। इस नारकीय यन्त्रणा से छुटकारा कोई और नहीं दिला सकता। क्योंकि इस विपत्ति का दोष भले ही किसी पर थोपा जा सके परन्तु उसका कारण अपने आप में ही होता है। मनःस्थिति के अनुरूप परिस्थिति बनने का तथ्य इतना स्पष्ट है कि उसे झुठलाये जाने की कहीं कोई गुंजाइश नहीं है। अपने आप में परिवर्तन किये बिना हम इस नरक से अन्य किसी तरह उबर नहीं सकते। जीवन-क्रम उत्पन्न विविध-विधि अवरोधों से छुटकारा पाये बिना हमारा उद्धार हो नहीं सकता। समस्याओं और विपन्नताओं से त्राण मिल नहीं सकता।

समृद्धि, प्रगति और सुख-शान्ति की समस्त सम्भावनाएँ बीज रूप में अपने ही भीतर भरी पड़ी हैं। सत्प्रवृत्तियों की देवी और सद्भावनाओं के देवता ही हमें दिव्य वरदानों से सुसम्पन्न बनाते हैं। अन्तरंग की विभूतियाँ ही बहिरंग की सिद्धियाँ बनकर सामने आती हैं। आत्मशोधन और आत्म परिष्कार जीवन का सबसे बड़ा पुरुषार्थ माना गया है। इसे प्रत्यक्ष कल्प-वृक्ष की उपमा दी जा सकती है।

मनोमय कोश का विज्ञान और साधन हमारी मानसिक स्थिति के परिष्कार का ऋषि प्रणीत उपाय है। इस दिशा में कदम बढ़ाने पर हम हर दृष्टि से लाभान्वित ही होते हैं।

अपने सबसे निकटवर्ती शत्रुओं से

जूझिए

आधुनिक मनोविज्ञान के प्रणेता सिगमंड फ्रायड ने एक ग्रीक पौराणिक कहानी का उल्लेख किया है। किसी ग्रीक युवक की जुड़वाँ बहिनों का आकस्मिक निधन हो गया। इस दुःख को वह सहन न कर सका और विक्षिप्त रहने लगा, निराशा की मनःस्थिति में एक दिन वह

२.८ चेतन, अचेतन एवं सुपर चेतन मन

अपनी बहिनों को ढूँढ़ने निकला। घूमते-घूमते एक तालाब के निकट पहुँचा और उसके किनारे बैठ गया। अचानक बिना किसी प्रयोजन के उसने तालाब में झाँका। अपने आपको वह भूल चुका था। फलतः अपने ही प्रतिबिम्ब को वह नहीं पहचान सका। उसे यह भ्रम हुआ कि तालाब में कोई और युवक है, जो उसकी ओर घूर-घूर कर देख रहा है। यह जानकर उसे प्रसन्नता हुई कि तालाब का युवक उसके व्यक्तित्व से असाधारण रूप से प्रभावित है। तब से वह नित्य ही तालाब के किनारे पहुँच जाता। घण्टों वहाँ बैठा रहता। जो बोलता था, उसकी प्रतिध्वनि भी उसे सुनाई पड़ती। दुःख के कारण उसकी सोचने-विचारने की सामर्थ्य समाप्त हो चुकी थी। एक दिन तालाब में वह अपनी परछाई को पकड़ने घुसा और गहरे पानी में डूबकर मर गया।

फ्रायड के अनुसार ग्रीक युवक आत्म प्रशंसा का सदा इच्छुक रहता था। उसके आत्म प्रशंसक रूप को पोषण जुड़वाँ बहिनों द्वारा मिलता था। बहिनों की मृत्यु के कारण उसकी इच्छा को पोषण मिलना बन्द हो गया। फलस्वरूप वह इतना अधिक असंतुलित हो गया कि आत्मनियन्त्रण एवं विवेक गँवा बैठा और अन्ततः उसकी दुर्गति दुःखद मृत्यु के रूप में हुई।

फ्रायड, जुंग, एडलर जैसे विश्व के मनःशास्त्रियों का मत है कि श्रेय, सम्मान, प्रशंसा पाने की आकांक्षा अधिकांश व्यक्तियों में पाई जाती है। जो समझदार-विचारशील होते हैं, वे ऐसे मार्ग का चयन करते हैं, उन कार्यों को अपनाते हैं, जिनसे उन्हें समाज द्वारा सम्मान अपने आप मिलता है। पर जो मूर्ख होते हैं, वे ऐसे जाल-जंजाल रचते, कौतूहल खड़ा करते हैं, जिन्हें बचकानापन कहा जा सकता है। आत्म प्रशंसा के इच्छुक ऐसे व्यक्तियों की चित्र-विचित्र हरकतें देखते ही बनती हैं। शरीर की दृष्टि से परिपक्व-परन्तु मन, मस्तिष्क की दृष्टि से अपरिपक्व ऐसे व्यक्तियों को सहज ही पहचाना जा सकता है। उनके आचरण एवं व्यवहार स्वयं ही परिचय दे देते हैं। बच्चों की भाँति वे कल्पना करते हैं तथा व्यावहारिक धरातल से दूर रहते हैं। आत्मविज्ञापन के लिए शृंगार, वेश-विन्यास कौतूहलपूर्ण बनाने, अपव्यय द्वारा सम्पन्नता का ढिंढोरा पीटने जैसे कितने ही स्वाँग उनके क्रियाकलाप में स्पष्ट देखे जा सकते हैं। मनःशास्त्रियों के अनुसार प्रदर्शन बाजी करने वाले आत्मप्रशंसा के इच्छुक व्यक्ति वस्तुतः आत्महीनता की ग्रन्थियों से ग्रसित होते हैं। उनमें आत्मविश्वास का अभाव पाया जाता है। सदगुणों के विकास अथवा विशेषताओं को अर्जित करने के स्थान पर वे लोक सम्मान पाने, अपना

वर्चस्व जताने के लिए उथले प्रदर्शन का मार्ग अपनाते देखे जाते हैं।

प्रख्यात मनःशास्त्री एडलर के अनुसार आत्म मोह से ग्रसित व्यक्तियों की स्थिति लगभग उन अर्धविक्षिप्तों जैसी होती है, जो चिकित्सालयों में मानसिक उपचार के लिए भर्ती रहते हैं। उनमें से कितने ही अपने को किसी महान नेता या आइन्स्टीन से कम तो समझते ही नहीं। कुछ तो अपने को क्राइस्ट, बुद्ध तथा कुछ हिटलर, नेपोलियन मानते रहते हैं। यह भी एक विलक्षण बात है कि वे अपनी मान्यताओं से बुरी तरह चिपके रहते हैं। प्रायः उनकी भ्रामक मान्यताओं को मिटाने में अधिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। मनःचिकित्सक का समूचा प्रयत्न इसी में लगा रहता है कि रोगी के मन में जड़ जमाये इस अवांछनीय चिन्तन को किस तरह हटाया जाय तथा उनके स्थान पर विधेयात्मक विचारों की स्थापना कैसे की जाय। मन की चेतन-अचेतन परतों की उधेड़-बुन, अध्ययन-विश्लेषण इस निमित्त करना पड़ता है। अचिन्त्य चिन्तन एवं पूर्वाग्रहों से पीछा छूटने तथा मन की ग्रन्थियों के खुलते ही मनोरोगी स्वयं को स्वस्थ एवं नीरोग महसूस करता है। कपोलकल्पित चिन्तन, चिन्ताओं से पिण्ड छूटना ही मनःचिकित्सा की सफलता का आधार है।

चिकित्सालयों में भर्ती होने वाले मनोरोगियों के अतिरिक्त भी समाज में विचरण करने वाले ऐसे व्यक्तियों की बहुतायत है, जिनकी स्थिति लगभग उन रोगियों की तरह होती है। उनकी हरकतों में वे चिह्न देखे जा सकते हैं। आत्ममोह का पागलपन वस्तुतः मानसिक अपरिपक्वता की निशानी है। मनोविज्ञानी इसे एक रोग मानते हैं। ऐसा रोग जो अपनों को नहीं, दूसरों को भी हानि पहुँचाता है। कारण कि वह व्यक्ति अपने को सर्वसमर्थ-अवगुणों से रहित मानता है। आत्मसुधार के प्रति उसमें उत्साह नहीं होता। आत्मप्रशंसा की लालसा प्रबल होती है। अयोग्य एवं अक्षम होते हुए भी वह ऐसे आडम्बर खड़ा करता है, जाल-जंजाल बुनता है ताकि दूसरे उसका वर्चस्व स्वीकार करें। जो विचारशील होते हैं, वे तो उसकी उथली मनोवृत्ति को पहचानते तथा उपहास करते हैं पर मूर्ख उसके आडम्बरों से प्रभावित होकर गुणगान करते देखे जाते हैं। गलतियों को बताने एवं समझाने पर भी सुधार के लिए तैयार न होने पर प्रगति का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है।

आत्ममोह से ग्रसित व्यक्तियों में राग एवं द्वेष की उत्तेजनार्थ तीव्र होती है। अपनी वास्तविक स्थिति का मूल्यांकन न कर पाने के कारण वे अहंकारी बन जाते हैं। अहंकार मानवी सौजन्यता, सौम्यता एवं विनम्रता को

समाप्त करके आपसी मतभेदों, मनमुटावों तथा संघर्षों को जन्म देता है। फलस्वरूप रचनात्मक क्षमता समाप्त होने लगती तथा व्यक्तित्व विकास की सम्भावनाएँ प्रायः क्षीण होती हैं। अहंकार अथवा दम्भ को एक प्रकार से मूर्खता का पर्याय कहा जा सकता है। ऐसी मूर्खता जिसकी चपेट में समझदार, नासमझ दोनों ही ग्रसित देखे जाते हैं।

मनःशास्त्री तथा “अण्डर स्टैडिंग ह्यूमन विहैवियर” ज्ञानकोष के सम्पादक विद्वान निकोलस का कहना है कि दम्भ एक ऐसा मनोरोग है जो दम्भी को कभी भी चैन से नहीं रहने देता। ईर्ष्या की अग्नि में वह जलता रहता है। प्रचुर सुख-साधनों के बीच रहते हुए भी उसका मन उत्तेजित, हृदय विदग्ध बना रहता है। वह अपने को जैसा प्रदर्शित करता है, वैसा उसका व्यक्तित्व होता नहीं। फलतः दुहरे व्यक्तित्व का जन्म होता है। उन दोनों ही व्यक्तित्वों की टकराहट में उसकी सत्ता खण्डित होती रहती है। पुराणों में जिसे देवासुर संग्राम कहा गया है, अपने भीतर ठीक वह वैसा ही अनुभव करता है। यह स्थिति यदि अधिक समय तक रहती है, तो अनेकों प्रकार के मनोरोग उठ खड़े होते हैं।

उथले प्रदर्शनों, बचकानी हरकतों अथवा साज-शृंगार अपव्यय की ओछी आदतों द्वारा प्रशंसा, सम्मान पाने की आकांक्षा पहले नम्बर की मूर्खता है। सही रूप में प्रयास करें तो मनुष्य में विकास की असीम सम्भावनाएँ विद्यमान हैं। बीज रूप में हर व्यक्ति के भीतर एक कलाकार बैठा है। आवश्यकता बस इतनी भर है कि अपने आत्मविश्वास को जगाया जाय। आत्मप्रशंसा की प्रवृत्ति से हर हालत में बचा जाय। प्रशंसा पाने की अपेक्षा दूसरों की अच्छाइयों की प्रशंसा की नीति अपनाई जाय। अपनी समीक्षा सुनना तथा दुर्गुणों को दूर करने का साहस विकसित कर लेना, एक आध्यात्मिक पुरुषार्थ है।

जिन्हें अपनी प्रगति अभीष्ट हो, उन्हें सर्वप्रथम अपने भीतर के उन शत्रुओं से जूझना चाहिए जो सबसे निकटवर्ती हैं पर सर्वाधिक हानि पहुँचाते हैं। व्यक्तित्व के विकास के मार्ग में चट्टान की भाँति अड़कर अग्रगमन को रोक देते हैं। आत्मविश्वासी बनना प्रगति के लिए जितना आवश्यक है, आत्म-भिमान की प्रवृत्ति उतनी ही खतरनाक एवं हानिकारक है। इसके रहते भौतिक अथवा आध्यात्मिक उन्नति के उच्च सोपानों पर चढ़ना सम्भव नहीं।

अतिवादी चिन्तन और बढ़ता

पागलपन

शारीरिक रोगों की तरह अब मानसिक रुग्णता भी आम बात होती जाती है। शरीर पर कार्याधिक कुपोषण, प्रकृति विरोधी दिनचर्या को आधारभूत कारण मान लिया गया है और चिकित्सा उपचार के अतिरिक्त जीवनचर्या में हेर-फेर करने की आवश्यकता को भी लोग समझने लगे हैं कि, बढ़ते हुए ‘पागलपन’ का कारण मोटे रूप में समझ में नहीं आता। क्योंकि न तो लोगों ने गंभीरतापूर्वक इस विषय में विचार किया है और न इस संदर्भ में समझने, समझाने का ही कुछ ठोस प्रयत्न हुआ है। शरीरगत रोगों के निवारण के सम्बन्ध में जितनी कुछ उल्टी-सीधी जानकारी है उतनी मनोरोगों के सम्बन्ध में नहीं फिर इस विषय में कोई उपयोगी साहित्य भी तो नहीं लिखा गया और न पागलखानों के अतिरिक्त निजी उपचार गृहों का स्थापन-प्रचलन हुआ है।

पर्यवेक्षण से पता चलता है कि प्रायः एक तिहाई लोग न्यूनाधिक रूप में विक्षिप्त या अर्धविक्षिप्त बनकर रह रहे हैं। आरम्भिक स्थिति में तो उसके लक्षणों को स्वभावगत दोष मानकर घटना विशेष के सम्बन्ध में समझाने-बुझाने, डाँटने-डपटने या बोल-चाल बन्द कर देने जैसी प्रतिक्रिया भर व्यक्त की जाती है। यह नहीं देखा जाता कि इस प्रकार के अटपटपन का मूल कारण क्या है। अच्छे खासे व्यक्ति के चिन्तन और व्यवहार में ऐसा बेतुकापन क्यों बढ़ रहा है। उसकी जिस-तिस प्रकार से पुनरावृत्ति क्यों हो रही है।

मानसिक विक्षिप्तता अब पेट के अपच या नाक के जुकाम की तरह बहुजन प्रचलित होती जा रही है। उसका कारण न समझ पाकर उसे उदण्डता, ईर्ष्या आदि नाम दे देते हैं और उसे दोष भर मान बैठते हैं जबकि उसकी गहराई में जाकर यह देखना चाहिए कि इस प्रकार का असंतुलन क्यों उत्पन्न हो रहा है? निदान और उपचार का सही स्वरूप मालूम होने पर ही व्यथा से छुटकारा पाया जा सकता है।

विक्षिप्तता का हल्का स्तर यह है जिसमें व्यक्ति का आचरण असाधारण रूप से अटपटा हो जाता है। वस्तुस्थिति को सही रूप में समझ नहीं पाता और कुछ का कुछ निष्कर्ष निकालता है। दुर्भावनाओं की गाँठ बना लेता है। दूसरों को दोषी मानता है और उत्पन्न होते रहने वाले विग्रहों में अपने को निर्दोष। दोष दूसरों में भी हो सकते हैं, गलती दूसरे भी कर सकते हैं। पर उसका हल विचार-विनिमय से निकल सकता है। पर जहाँ

वह प्रक्रिया जड़ पकड़ने लगे तो समझना चाहिए कि विग्रही विक्षिप्तता का आरम्भ हो गया।

एक दूसरे प्रकार कि विक्षिप्तता है, जिसे सनक कहते हैं। रोगी के मस्तिष्क पर कोई एक बात ही छाई रहती है वह भी रचनात्मक नहीं, निषेधात्मक ही होती है। सृजन नहीं ध्वंस, सहयोग नहीं विग्रह ही इच्छा पूर्ति का उपाय सूझता है। स्वजन पराये लगते हैं और उनकी सेवा सहायता भी अनिष्टकर प्रयास जैसी लगती है। कई बार इच्छायें ऐसी अवास्तविक एवं बढ़ी-चढ़ी होती हैं जिनकी पूर्ति की कोई तुक नहीं। इसी प्रकार की अन्य विसंगतियाँ भी मस्तिष्क पर सवार रहती हैं। एक में शिथिलता नहीं आने पाती कि दूसरी नई सनक उठ खड़ी होती है। इस प्रकार असंतोष, आक्षेप और विग्रह का वातावरण बना ही रहता है। सम्पर्क में आने वाले लोग हैरान हो जाते हैं साथ ही रोगी भी अपने को उपेक्षित व सताया गया अनुभव करता करता है। इस प्रकार सनक भी शारीरिक बीमारी की तरह ही एक स्थायी विपत्ति बन जाती है और दोषारोपण, खीझ, घुटन का सिलसिला चल पड़ता है।

सनक जब उग्र रूप धारण करती है तो उससे आक्रान्त व्यक्ति अपने दैनिक काम-काज ठीक तरह से निपटाने की स्थिति में नहीं रहता और ऐसे आचरण करता है जिस पर नियन्त्रण न बन पड़े। ऐसे ही लोग पागलखाने में पहुँचते हैं और उन्हीं के आधार पर पागलों की गणना होती है। ऐसे लोगों की संख्या भी अब आश्चर्यजनक रूप में बढ़ रही है और उनके लिए संक्रामक रोगों के रोगियों की तरह प्रथक् व्यवस्था हर नगर में करने की आवश्यकता अनुभव की जा रही है।

अनपढ़ क्षेत्रों में इसे भूत-पलीत का प्रकोप, किसी के द्वारा किया हुआ टोना-टोटका मानकर जंत्र-तंत्र करने वालों के फेर में पड़ते हैं और व्यर्थ ही अपना पैसा और समय गँवाते हैं, बाबाओं की मंडली में जा मिलते हैं, भीख माँगते या आत्महत्या जैसा कुछ कर बैठते हैं। बीमारियाँ भी शरीर को घेर लेती हैं।

होता यह है कि जिस प्रकार व्यावहारिक जीवन में आहार-विहार का संतुलन ठीक न बैठ पाने के कारण आये दिन शारीरिक रोगों के आक्रमण होते रहते हैं, उसी प्रकार चिन्तन क्षेत्र में अनुपयुक्त आकांक्षाओं की भरमार कर लेने, मर्यादा एवं शालीनता का ध्यान न रखने पर व्यक्ति अनुपयुक्त कल्पनायें करने लगता है। ताल-मेल बिठाने की अपेक्षा अपने ही अहंकार के प्रतिपादन को सब कुछ समझ बैठता है। उस प्रकार का बानग बन नहीं पाता। यहीं से घुटन, खीझ, दोषारोपण और दुर्भाग्य की

अनुभूति होने लगती है। यह एक प्रकार का मानसिक ज्वर है जिसके चढ़ने पर उसी प्रकार की अटपटी परिस्थिति बन जाती है जैसी कि ज्वर आने पर शरीर में बेचैनी, हड़कन होती है।

सुख-सुविधाओं की, दूसरों से असाधारण लाड़-दुलार की आशा रखने और व्यवहार में उनके कार्यान्वित न होने पर व्यक्ति कुढ़ने लगता है। ऐसा भी होता है कि चिन्तन प्रवाह में हर किसी में दोष निकालने की आदत पड़ जाने से सम्पर्क क्षेत्र के सभी लोग बुरे लगने लगते हैं। अनुभूति को व्यक्त करके उसका निराकरण करने का साहस नहीं होता। फलतः उसकी निषेधात्मक मान्यता ही उसे वास्तविक प्रतीत होने लगती है और सब ओर प्रतिकूलता-अवांछनीयता दृष्टिगोचर होने लगती है। इससे क्रोध उत्पन्न होता है, उनका न समाधान होता है न खुलासा। घुटन भीतर ही भीतर जलाती है और त्रास देती रहती है। रक्त में या पेट में भरी हुई विषाक्तता का निराकरण न होने पर जिस तरह शारीरिक बीमारियाँ फूट पड़ती हैं उसी प्रकार मानसिक घुटन भी एक सनक या विक्षिप्तता का रूप धारण कर लेती है। दब्बू प्रकृति या उदण्ड स्वभाव के महत्वाकांक्षी बहुधा छोटे-बड़े स्तर की सनक या विक्षिप्तताओं के शिकार होते हैं।

अत्याचार, उत्पीड़न, अपमान भी मनुष्य को विक्षुब्ध बना देते हैं। उपेक्षा लड़ाई से भी अधिक अखरती है। ऊँची उड़ानें उड़ने वाले जब परिस्थितियों में वैसी सम्भावना नहीं देखते तो भी आघात अनुभव करते हैं और तिलमिलाने लगते हैं। बहुधा दाम्पत्य जीवन के बारे में युवकों और युवतियों की आकांक्षाएँ, कल्पनायें देवलोक जैसी होती हैं। सिनेमा इस प्रकार की प्रणय लीलाओं का अव्यावहारिक ज्ञान जमा देता है। उसके चरितार्थ न होने पर भी वे घुटते हैं और उस आक्रोश को अपने ऊपर उतारते हैं। सिर पीटने की तरह संतुलन को गड़बड़ा लेना भी वस्तुस्थिति से अपरिचित लोगों का ही काम है। दोष ढूँढ़ने पर वे सर्वत्र प्रचुर परिमाण में मिल सकते हैं। अपने को उत्पीड़ित या दुर्भाग्यग्रस्त समझने वाले अपने मत की पुष्टि के लिए कोई न कोई आधार ढूँढ़ लेते हैं।

पागलपन अन्य कारणों से भी हो सकता है। पर इन दिनों जिस तेजी से सनकी और विक्षिप्तों की संख्या बढ़ रही है उसमें उनका अनुपयुक्त चिन्तन ही प्रधान कारण होता है। हित चिन्तकों का कर्तव्य है कि अपनों को जीवन की वास्तविकताओं से परिचित कराते रहें और वह स्थिति स्वजनों के सिर पर न लदने दें जिसके लिए सभी को खिन्न रहना पड़े।

भावनाओं को परिष्कृत रखें

मनुष्य भावनाओं का पुतला है। उनकी अभिव्यक्ति के लिए सृष्टि ने पंचतत्त्वों से विनिर्मित काय-कलेवर की व्यवस्था की है। भावनाएँ, विचारणाएँ जिस स्तर की होंगी, व्यक्तित्व भी तदनु रूप बनाता, ढलता चला जायेगा। उनकी उत्कृष्टता-निकृष्टता ही व्यवहार में चरितार्थ होकर प्रगति-अवगति का मार्ग खोलती और व्यक्ति को उन्नत-अवनत स्थिति में ला प्रतिष्ठित करती है।

महान दार्शनिक अरस्तू का कहना है कि भावनाओं का काया पर उसी प्रकार आधिपत्य रहता है, जैसा मालिक का नौकर पर, स्वामी का गुलाम पर। भाव-चिन्तन की स्वच्छता जहाँ शारीरिक मानसिक स्वास्थ्य को अक्षुण्ण बनाये रखती है, वहीं उसकी विकृति अनेकानेक बीमारियों का कारण बनती है। इस तथ्य की पुष्टि मनोविज्ञानियों एवं मनःचिकित्सकों ने अब गहन अध्ययन एवं अनुसन्धान के आधार पर की है।

सोवियत संघ की एकेडमी ऑफ साइंसेज के वरिष्ठ सदस्य एवं स्नायु विज्ञानी प्रो. पावेल सिमोनोव के अनुसार भावनाएँ दो प्रकार की होती हैं—एक विधेयात्मक और दूसरी निषेधात्मक। इनमें से प्रथम श्रेणी में आशा, उत्साह, विश्वास, प्रेम, साहस, प्रफुल्लता आदि को गिना जा सकता है, जिनका मन-मस्तिष्क पर अच्छा व अनुकूल प्रभाव पड़ता है, जबकि काम, क्रोध, चिन्ता, भय, शोक, द्वेष जैसी निषेधात्मक भाव तरंगों से कायतंत्र के विभिन्न भाग अतिरिक्त रूप से उत्तेजित हो उठते हैं और दुःख संक्षोभ से लेकर तनाव, उद्वेग तक उत्पन्न करते हैं। यह पूर्णतया व्यक्ति की मान्यताओं, इच्छा, आकांक्षाओं पर निर्भर करता है कि इनमें से कौन सी उसके लिए लाभदायक है और कौन सी हानिकारक। भावनात्मक असंतुलन स्वास्थ्य एवं व्यक्तित्व दोनों को लकड़ी में लगे घुन के कीड़े की तरह चट कर जाता है। विधेयात्मक भावनाएँ यदि संकीर्ण-स्वार्थपरता जैसी प्रवृत्तियों को भड़काने लगे तो वह व्यक्ति एवं समाज के लिए कष्टकर हो सकती हैं, जबकि छोटे बच्चों के निर्मल अन्तःकरण से प्रस्फुटित भाव हर व्यक्ति को आकर्षित करते और सेवा, सहायता एवं सहानुभूति प्रदान करने की प्रेरणा उभारते हैं।

मनीषियों का कहना है कि मनुष्य मूलतः पवित्र एवं परिष्कृत भावनाओं का पुंज है, किन्तु अनुपयुक्त परिस्थितियों के कारण आज उसमें अनेक विकृतियाँ भर गई हैं। उत्तेजनापूर्ण विषाक्त वातावरण तो उसने स्वयं विनिर्मित किया है, जिसे अप्राकृतिक एवं अस्वाभाविक ही कहा जा सकता है। इसका दुष्परिणाम मनोकायिक आधि-व्याधियों के रूप में उसे भुगतना भी पड़ रहा है।

उनके अनुसार जिसकी भावनाएँ जितनी संकुचित होती हैं, वह शारीरिक-मानसिक एवं आत्मिक दृष्टि से उतना ही कमजोर होता चला जाता है। विभिन्न तरह की आधि-व्याधियों से ऐसे ही लोग अधिक पीड़ित होते और समय से पूर्व दम तोड़ते देखे जाते हैं। जिसने अपनी भावनाओं की परिधि को जितना अधिक विस्तृत बना लिया, समझना चाहिए कि वह उतना ही स्वस्थ, समुन्नत और परिष्कृत बनता चला जायेगा। जन सम्मान और दैवी अनुदान घटाटोफ बनकर उस पर बरसते रहेंगे। इसके विपरीत विकृत भाव सम्पन्न व्यक्ति से दूसरों का, समाज का हित साधन हो सकना तो दूर अपना भी वह कल्याण नहीं कर पाता। स्वार्थी व्यक्ति क्षणिक प्रसन्नता भले पा लें, पर उसकी जीवात्मा अपनाई गई छुद्रता के लिए उसे सदैव कचोटती रहती है। परिचितों की घृणा बरसती और सम्बद्ध जनों की रुष्टता सहनी पड़ती है, सो अलगा।

इसी तथ्य को अधिक स्पष्ट करते हुए प्रख्यात मनःचिकित्सक एच. एफ. डनबार ने कहा है कि जिनका अन्तराल और मनःसंस्थान उदात्त भावनाओं, सद्विचारणाओं से लबा-लब भरा रहता है, प्रसन्नता-प्रफुल्लता ही जिनकी प्रकृति है, ऐसे व्यक्तियों का शरीर स्वस्थ रहता है। चेहरे पर दमकती आभा और आँखों की चमक उनकी जीवनी शक्ति का प्रमाण स्वयं उपस्थित कर देती है। व्यक्तित्व का चुम्बकत्व सहज ही दूसरों को अपनी ओर आकर्षित कर लेता है। भाव संस्थान में छाई विषाक्तता जीवन ऊर्जा का अनावश्यक क्षरण करती रहती है। ऐसे में प्रगति की आकांक्षा बुझ जाती है। इच्छा शक्ति को, उमंग को लकवा मार जाता है। बाह्य उपचार, औषधियाँ इसके लिए अस्थायी लाभ भले दिलावें, पर दीर्घकालिक एवं स्थायी सत्परिणाम अन्तःकरण के परिष्कार से ही मिल सकता है। अतः भावनाओं का विवेकयुक्त सुनियोजन ही शारीरिक, मानसिक, स्वास्थ्य का मूलधार है।

भावनाशील तो बनें,

पर भावातिरेक से बचें

प्रत्यक्ष शरीर और बुद्धि के ही क्रिया-कलाप दिखायी पड़ते हैं, इसलिए महत्त्व भी इन्हीं दोनों को अधिक दिया जाता है। मानवी सामर्थ्यों में शरीरबल और बुद्धिबल को ही प्रतिष्ठा प्राप्त है। इनसे सम्बद्ध संस्थानों पर ही प्रायः अधिक ध्यान दिया जाता है। इन्हें बलिष्ठ एवं प्रखर बनाने तथा असन्तुलनों को दूर करने के लिए विविध प्रकार के उपचारों की व्यवस्था बनायी जाती है। यह उचित है और आवश्यक भी। पर शरीर और बुद्धि के अतिरिक्त एक सूक्ष्म परत और भी है जो इनकी

तुलना में कहीं अधिक सामर्थ्यवान है, वह है-भाव-सम्बेदनाओं से युक्त अन्तःकरण की। जिसमें विक्षेप होने से समूचा शरीर संस्थान प्रभावित होता है। भावनात्मक असन्तुलन शारीरिक एवं मानसिक असन्तुलनों की तुलना में कहीं अधिक खतरनाक सिद्ध होता है।

विगत दिनों शरीर और मस्तिष्क संस्थान के सन्तुलन पर ही अधिक ध्यान दिया जाता रहा, भाव-संस्थान उपेक्षा की गर्त में पड़ा रहा। फलस्वरूप अनेकों प्रयत्नों के बावजूद भी मनुष्य को स्वस्थ और सन्तुलित जीवन का लाभ नहीं मिल सका। मनःशास्त्री इसका कारण स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि भावनात्मक विक्षोभों के रहते स्वस्थ और सफल जीवन की आशा नहीं की जा सकती। मनोविज्ञान की आधुनिकतम खोजों ने भावनात्मक असन्तुलन को सर्वाधिक खतरनाक ठहराया है तथा यह तथ्य उजागर किया है कि शारीरिक एवं मन के उपचार के लिए जितना ध्यान दिया जाता है उतना ही भाव-संस्थान के उपचार के लिए भी दिया जाना चाहिए।

सम्बद्ध विषय पर गहराई से खोजबीन करने वाले मनःशास्त्री जार्ज बेंगल का कहना है कि भावातिरेक ही सभी प्रकार के मानसिक एवं भावनात्मक व्यतिरेकों को जन्म देता है। लेखक ने एक लेख “कैनयोर इमोशनल यू” में लिखा है कि उसे इस सम्बन्ध में खोज करने की प्रेरणा स्वयं के जीवन की एक घटना से मिली। उसके भाई का आकस्मिक निधन दिल के दौर से हो गया, इस घटना की बरसी की तिथि पर शोकानुराग था। अचानक उसे भी दिल का गम्भीर दौरा पड़ा जिस पर बड़ी कठिनाई से नियन्त्रण हो सका। स्वस्थ होने पर उसने आकस्मिक मौत से मरने वाले दो सौ पचहत्तर व्यक्तियों की मृत्यु के कारणों का एक अध्ययन किया तो पाया कि अधिकांश की मृत्यु का मात्र कारण था, भावनात्मक असन्तुलन। जार्ज बेंगल का मत है कि भावातिरेक की स्थिति में मनुष्य सामान्य-सी घटना को भी असाधारण महत्त्व देता और छोटी-मोटी प्रतिकूलताओं का सामना करने में भी अपने को असमर्थ पाता है। परिस्थितियों के साथ सामंजस्य बिठा पाने के अभाव में वह जीवन से निराश होकर ऐसे ही आत्मघाती कदम उठाता है। उदाहरणार्थ, उपरोक्त दो सौ पचहत्तर मृत व्यक्तियों के मृत्यु के कारणों का पता लगाने पर उन्होंने पाया कि वे इतने गम्भीर नहीं थे, पर अतिशय भाव-विक्षेप के कारण उन्हें अपने जीवन से हाथ धोना पड़ा। इन व्यक्तियों में से एक सौ दस ऐसे थे जिनकी मृत्यु मात्र उनके निकटतम सगे-सम्बन्धियों के मृत्यु के कारण हो गयी। एक सौ पाँच व्यक्तियों का मृत्यु का समाचार सुनकर दिल का दौरा पड़ने लगा और थोड़ी देर

बाद ही मृत्यु की गोद में जा पहुँचे जबकि इसके पूर्व उन्हें कभी भी दिल का दौरा नहीं पड़ा था। तीस व्यक्ति किसी न किसी प्रकार के मोटर दुर्घटना के शिकार होते-होते बचे थे, पर उस दुर्घटना की आशंका से उतना घबड़ा उठे कि बिना किसी रोग अथवा कारण के अकाल मृत्यु की गोद में जा पहुँचे। मरने वाले तीस व्यक्ति छोटी-मोटी जीवन की ऐसी असफलताओं से निराश थे जिन्हें कि सामान्यतः अधिकांश व्यक्ति उतना महत्त्व नहीं देते हैं।

‘हाउ योर माइण्ड कैन कण्ट्रोल-योर हेल्थ’ नामक एक शोध निष्कर्ष में डॉ. फ्रान विल्सन लिखते हैं कि भावातिरेक अनेकों प्रकार के शारीरिक एवं मानसिक रोगों को जन्म देता है। भावातिरेक की स्थिति में मनःसंस्थान तनावग्रस्त हो जाता है जिससे शरीर के ‘हारमोनल सिस्टम’ पर दुष्प्रभाव पड़ता है। मनःशास्त्री इस असन्तुलन से होने वाले मनःरोगों को ‘साइकोजेनिक’ या ‘इमोशन कॉल्ड’ रोगों का नाम देते हैं। प्रायः मनोचिकित्सकों के पास उपचार के लिए पहुँचने वाले ऐसे रोगियों की बहुलता होती है।

मनःशास्त्री डॉ. फ्रान विल्सन का कहना है कि प्रायः प्रत्येक व्यक्ति को न्यूनाधिक रूप से यह जानकारी होती है कि स्वस्थ एवं विकृत भावनाओं का मन एवं शरीर संस्थान पर तदनुरूप प्रभाव पड़ता है। उदाहरणार्थ, कामुकता के भाव अपनी तुरन्त प्रतिक्रिया दर्शाते हैं तथा समूचे शरीर और मन को उत्तेजित कर डालते हैं। पर जाने-अनजाने दुष्प्रभावों को देखते हुए भी अधिकांश व्यक्ति उन्हें नियन्त्रण करने का प्रयास नहीं करते हैं। फलस्वरूप अश्लील चिन्तन शारीरिक और मानसिक शक्तियों को भीतर ही भीतर क्षीण करता रहता है। भावातिरेक का यह भी एक विकृत पक्ष है जो अन्य प्रकार का भी हो सकता है तथा अपनी दुःखद प्रतिक्रिया छोड़ सकता है।

डॉ. जॉनविग ने एक घटना का उल्लेख किया है कि रूथ केडविक नामक स्त्री ने चार बार गर्भधारण किया और चारों बार उसे गर्भपात हो गया। पाँचवीं बार वह एक गर्भ-विशेषज्ञ के पास पहुँची, जो मनःशास्त्र का भी विशेषज्ञ था। उस गर्भ-विशेषज्ञ ऑक्टेटिशियन ने महिला से पूछा—‘आपके मन में प्रसव वेदना के सम्बन्ध में कैसे विचार हैं ? उत्तर में महिला ने बताया कि सन्तान उत्पन्न करने की तो मेरी हार्दिक इच्छा है, पर बचपन में प्रसव के सम्बन्ध में मैंने इतनी खौफनाक बातें सुन रखी हैं कि मेरे मन में भयानक धारणाएँ बन गयी हैं। जब भी प्रसव का समय सन्निकट आता है मैं असामान्य रूप से

भयभीत हो उठती हैं। डाक्टर ने उसकी मानसिक तुष्टि के लिए कुछ मीठी गोलियाँ दवा के रूप में दे दीं और अपनी रिपोर्ट हर दूसरे दिन देते रहने के लिए कहा। चिकित्सक के निर्देशानुसार वह हर दूसरे दिन अपने स्वास्थ्य की रिपोर्ट देने पहुँचने लगी। जब भी वह चिकित्सक के पास अपने स्वास्थ्य की रिपोर्ट देने जाती वह विस्तार से उसके मनोभावों को जानने का प्रयास करता। साथ ही मनोवैज्ञानिक ढंग से उसके मन में जड़ जमायी प्रसव के सम्बन्ध में भय की प्रबल भावना को समाप्त करने का प्रयत्न करता। क्रमशः इस प्रयास से महिला का भय जाता रहा और निश्चित समय पर उसने एक स्वस्थ बालक को जन्म दिया।

इस घटना का विश्लेषण करते हुए कोलोरेडा विश्वविद्यालय के अनुसन्धानकर्त्ताओं ने बताया कि महिला के गर्भधारण करने के बाद प्रसव वेदना की भयपूर्ण कल्पनाओं के कारण शरीर से ऐसे विशेष प्रकार के हार्मोन पैदा होने लगते थे जो गर्भ स्त्राव में सहायक होकर गर्भपात के कारण बनते थे। इन विशेषज्ञों के अनुसार मस्तिष्क में अवस्थित पिट्यूटरी ग्लैंड जिसे मास्टर ग्लैंड कहा गया है, भावातिरेक से उत्पन्न होने वाले मानसिक व्यतिरेकों, भय, चिन्ता, आशंका आदि से अत्यधिक प्रभावित होता है। इसका नियन्त्रण मस्तिष्क के हाइपोथेलमस, गले में स्थित थाइराइड तथा एड्रीनल ग्रन्थि के स्त्रावों तथा यौन ग्रन्थियों के स्त्रावों पर भी होता है। पिट्यूटरी ग्रन्थि के प्रभावित होने से हार्मोनल सिस्टम भी असन्तुलित हो उठता है जिसका दुष्प्रभाव विविध प्रकार के शारीरिक एवं मनोरोगों के रूप में दिखायी पड़ता है।

इस विषय पर कोलोरेडा विश्वविद्यालय में अनुसन्धान करने वाले विशेषज्ञों का कहना है कि अब तक जो जानकारी प्राप्त हुई है उनसे यह ज्ञात हुआ है कि भावनाओं के कारण होने वाली शारीरिक प्रतिक्रियाओं का रहस्य इसी पिट्यूटरी ग्रन्थि में छिपा है। जिसके सम्बन्ध में अभी चिकित्सा शास्त्र को बहुत थोड़ी जानकारी प्राप्त हो सकी है अधिकांश तो अविज्ञात है।

अमेरिकन 'हैण्डबुक ऑफ साइकियाट्री' पुस्तक में डॉ. मेलिटार्शिमडवर्ग ने कहा है कि जितनी आवश्यकता शरीर के आवश्यक अंगों की है उतनी ही मानसिक प्रतिरक्षा मेंटल डिफेंस की है। यह प्रतिरक्षा भावनाओं के ऊपर नियन्त्रण द्वारा ही सम्भव है। डॉ. इमान स्टीवेंसन ने अमेरिकन जर्नल ऑफ साइकियाट्री में लिखा है कि जिस प्रकार विभिन्न रोगों से लड़ने के लिए शरीर की प्रतिरोधक शक्ति एण्टीबॉडी उत्पन्न कर लेती है उसी प्रकार मन में भी विरोधी मानसिक तत्त्वों से लड़ने की

सामर्थ्य विद्यमान है। मन भी विचार रूपी सूक्ष्म एण्टीबॉडी पैदा करने में समर्थ है पर उसकी सामर्थ्य का लाभ इसलिए नहीं मिल पाता कि भावातिरेक की स्थिति में मानसिक एण्टीबॉडी का बनना बन्द हो जाता है। यदि भावनात्मक सामंजस्य स्थापित किया जा सके तो दुःखदायी परिस्थितियाँ जो मनःविक्षोभ का कारण बनती हैं, वे भी मनुष्य के लिए वरदान सिद्ध हो सकती हैं। अपनी बात के समर्थन में डॉ. स्टीवेंसन कहते हैं कि मानसिक आघात की अवस्था में मानसिक रीआर्गेनाइजेशन की प्रक्रिया उसी प्रकार सम्पन्न होती है जिस प्रकार शारीरिक टूट-फूट की स्थिति में। ऐसी हालत में भावनात्मक सन्तुलन बना रहे तो कितने ही बच्चों का विकास असाधारण रूप से होता है। उदाहरणस्वरूप विश्व की मूर्धन्य प्रतिभाओं का जन्म एवं विकास प्रतिकूलताओं में हुआ। इसका कारण यह है कि प्रतिकूलताओं में आत्मविश्वास जगने एवं सुदृढ़ होने का अधिक अवसर मिलता है। जो प्रगति में असाधारण सहायक सिद्ध होता है।

सुप्रसिद्ध साइकियाट्रिस्ट डॉ. कार्ल मिनिजर ने ऐसी अनेकों प्रतिभाओं का प्रमाण प्रस्तुत किया है जिन्हें भयंकर मानसिक वेदनाओं से होकर गुजरना पड़ा पर इसके बावजूद भी उनका मनोबल घटने के स्थान पर बढ़ता ही गया। उदाहरणार्थ, विश्वविख्यात लेखक तथा विचारक जान स्टुअर्ट मिल, विलियम जेम्स, बर्नाडशा आदि को अपने आरम्भिक दिनों में गम्भीर मानसिक असन्तुलनों तथा नर्वस ब्रेक डाउन जैसी समस्याओं का सामना करना पड़ा। इनसे गुजरने के बाद उनकी प्रतिभा में निखार आया। फलस्वरूप वे सर्वोत्तम साहित्य लिखने में सफल हो सके। संस्कृत के उद्भट विद्वान कालीदास तथा मानसकार तुलसीदास की प्रतिभा भी इसी प्रकार आघात सहकर निखर कर सामने आयी।

अन्तःकरण की इस सर्वोत्तम प्रतिरक्षा व्यवस्था को अध्यात्म मनोविज्ञानियों ने आत्मश्रद्धा के नाम से सम्बोधित किया है। शब्दों में हेर-फेर से आधुनिक मनोविज्ञान इसे ही 'सेल्फ एक्सेप्टेन्स' कहता है। विलियम जेम्स तथा डॉ. मिनिजर ने इसे अन्तःशक्ति का नाम दिया है। इन विद्वानों का मत है कि प्रसुप्त अथवा जागृत अवस्था में हर व्यक्ति के भीतर एक महान शक्ति विद्यमान है जिसका अवलम्बन यदि मनुष्य ले सके तभी मानसिक व्यतिरेकों के मूलभूत कारण भावनात्मक असन्तुलनों से बचाव सम्भव है।

कहीं ! हमें भी सनकने का रोग तो नहीं ?

मनोवैज्ञानिकों के अनुसार चिन्ता और उन्माद की तरह सनक भी एक प्रकार का मनोविकार है। जब यह अपने पूरे उभार पर होती है तो व्यक्ति को इस कदर आवेशग्रस्त करती और विश्वासों की इतनी गहरी भूमिका में उतार देती है कि वह बेचारा सम्भव-असम्भव का भी भेद भूल जाता है, अपनी तर्क शक्ति गँवा बैठता और जो कुछ भी सनक ने उसे मान बैठने के लिए कहा था, उसी पर पूरा विश्वास करने लगता है।

घटना अमरीका की है। हैराल्ड बर्नी नामक एक उच्च शिक्षित व्यक्ति वाशिंगटन में अपनी पत्नी और दो बच्चों के साथ रहता था। वह एक धार्मिक प्रकृति वाला व्यक्ति था। नियमित रूप से गिरजाघर जाना और व्यवसाय से बचे समय का उपयोग समाज सेवा में करना उसकी सामान्य दिनचर्या थी। वह दो करोड़पति कंपनियों का चेयरमैन था। भौतिक विज्ञान में उच्च शिक्षा प्राप्त होने के कारण वह अक्सर विज्ञान विषय पर नई-नई बातें सोचता रहता। इसी कारण से कई छोटे-बड़े आविष्कार भी किये।

एक बार उसके मन में अंतर्ग्रही यात्रा करने की कल्पना आयी। वह कोई ऐसा यान विकसित करने का विचार करने लगा, जिससे विभिन्न ग्रहों की सैर की जा सके। दिन-रात ग्रह-नक्षत्रों की कल्पना में डूबे रहने के कारण वह चिन्तन की उस गहराई में उतर गया, जहाँ उसे ऐसा प्रतीत होने लगा, जैसे शुक्र ग्रह के बारे में वह न केवल बहुत कुछ जानता ही है, वरन् कितनी ही बार वहाँ की यात्रा भी कर आया है। शुक्र के राजकुमार का वह मित्र है और ऐसा अंतरिक्ष यान बनाने की विधि जान चुका है, जिससे विभिन्न आकाशीय पिंडों की यात्रा सरलता और सुगमतापूर्वक कम खर्च में की जा सके।

राजकुमार यूसीलस उसका परम स्नेही है और एक ऐसी कम्पनी बनाने में उसका सहयोग प्राप्त कर चुका है, जो उसके कल्पित "मैग्नेटिक फ्लक्स मोडुलेटर" सिद्धान्त पर आधारित सस्ते, सरल और सुविधाजनक यान बनाया करेगी। बर्नी ने अपनी कल्पना-जगत की इस कम्पनी का नाम "प्रोपल्शन रिसर्च लेबोरेटरी" रखा। यह स्वयं को संसार का प्रथम शुक्र ग्रह का यात्री मानने लगा और अपनी दो यात्राओं का विस्तृत विवरण बताने वाली पुस्तक "शुक्र ग्रह में दो सप्ताह" भी लिखी। वह ११८ पृष्ठों वाली थी। उसकी सीमित प्रतियाँ ही छपवायीं गईं क्योंकि विषय अत्यन्त गोपनीय था और उसके 'लीक' हो जाने का खतरा था। उसके विचार में यदि ऐसा हुआ तो उसे

भारी घाटा उठाना पड़ सकता है और जिस आविष्कार से अरबों-खरबों की संपत्ति कमायी जानी है, उससे वह वंचित रह सकता है।

बर्नी अपनी सनक में पूरी तरह खो गया था। कल्पना और यथार्थता को भुला देने वाली उसकी मनःस्थिति बन गई थी। उसने आवेश में आकर अपने १ लाख ६९ हजार डालर के शेयर बेच डाले। आश्चर्य यह है कि जिस आत्मविश्वास के साथ सहयोगियों से उसने बातें कीं, उससे प्रभावित होकर अनेक सुसंयोजित लोग उस पर विश्वास करने लगे और उसके इस हत्वाकांक्षी अभियान में सम्मिलित हो गये। सनक का स्वरूप इतना बढ़ा-चढ़ा और योजनाबद्ध हो सकता है, इसका दूसरा उदाहरण कदाचित ही कहीं मिले।

बर्नी की सेक्रेटरी एंजेलिका भी इस योजना में शामिल हो गई। उसे क्या पता था कि जिस कार्य के लिए वह इतनी भाग-दौड़ कर रही है, वह एक सनकी मस्तिष्क की कभी भी पूरी न हो सकने वाली बेतुकी योजना है।

एक दिन बर्नी पर और भी विचित्र सनक सवार हुई। उसने शुक्रग्रह से अपनी सेक्रेटरी को राजकुमार यूसीलस की ओर से फोन कराया कि इस ग्रह पर आकर बर्नी बीमार पड़ गये हैं और अपने साधियों के नाम अमुक संदेश नोट कराते हैं, जो उन तक पहुँचा दिया जाय सेक्रेटरी ने वैसा ही किया। इसके पश्चात् कुछ दिन बाद उसके मरने का समाचार आ गया।

सेक्रेटरी ने सोचा इतनी महत्वपूर्ण योजना को अधूरा न रहने दिया जाय। इसके सफल हो जाने से अमरीका का भाग्य बदल सकता है, अतः उसने तत्कालीन राष्ट्रपति आइजन हावर से मिलकर सम्पूर्ण योजना समझा दी और बर्नी की दो शुक्र यात्राओं से लेकर अंतरिक्ष यान बनाने और ब्रह्माण्ड भ्रमण करने की उसकी आकांक्षा बता दी और सलाह दी कि वे स्वयं इस कार्य को हाथ में लें और आगे बढ़ायें।

राष्ट्रपति ने इस रोमांचक एवं अद्भुत समझे जाने विवरण से तनिक भी प्रभावित न होते हुए सम्पूर्ण प्रकरण को सी० आई० ए० के अधिकारियों को सौंप दिया। पुलिस ने छानबीन की, तो शुक्र पर मरा हुआ बर्नी धरती पर ही अर्ध विशिष्ट अवस्था में जीवित पाया गया। वह वाशिंगटन से बहुत दूर इलिनॉय राज्य में एक साइनबोर्ड बनाने वाले के यहाँ पेट भरने जितने वेतन पर मजदूरी कर रहा था उसकी स्थिति फटेहाल भिखारियों जैसी हो गई थी। पुलिस ने उसे झूठी अफवाहें फैलाने

और धोखा-धड़ी करने के मामले में गिरफ्तार कर लिया। अदालत में उसके विरुद्ध मुकदमा दायर किया, जहाँ उसे दस साल की सजा सुनाई गई। वह अपनी पूरी सजा भी नहीं काट सका और कालकोठरी में ही मर गया।

हम कल्पना तो करें और योजनाएँ भी बनायें, पर ऐसी नहीं, जिसके लिए स्वयं को ही मृत घोषित करना पड़े। सनकी तो अर्धमृतकों की तरह जीते हैं। हमें जीवन्तों की तरह जीना चाहिए और कुछ ऐसा कर गुजरना चाहिए, जो समाज के लिए अनुकरणीय साबित हो। ऐसा तभी सम्भव है, जब मस्तिष्क को शान्त-सजग रखते हुए बार-बार इस बात पर विचार करें कि जो कुछ किया जा रहा है, वह अन्तरंगित स्तर का उन्माद तो नहीं।

मस्तिष्क को असन्तुलित न रहने दें

मस्तिष्क मानवी सत्ता का ध्रुव केन्द्र है। उसकी शक्ति असीम है। इस शक्ति का सही उपयोग कर सकना यदि सम्भव हो सके तो मनुष्य अभीष्ट प्रगति-पथ पर बढ़ता ही चला जाता है। मस्तिष्क के उत्पादन इतने चमत्कारी हैं कि इनके सहारे भौतिक ऋद्धियों में से बहुत कुछ उपलब्ध हो सकती हैं।

मस्तिष्क जितना शक्तिशाली है, उतना ही कोमल भी है। उसकी सुरक्षा और सक्रियता बनाये रखने के लिए यह आवश्यक है कि अनावश्यक गर्मी से बचाये रखा जाय। पेन्सिलीन आदि कुछ औषधियाँ ऐसी हैं जिन्हें केमिस्टों के यहाँ ठण्डे वातावरण में रेफ्रीजेटरों में सँभालकर रखा जाता है गर्मी लगने पर वे बहुत जल्दी खराब हो जाती हैं। औषधियाँ ही क्यों अन्य सीले खाद्य पदार्थ कच्ची या पकी स्थिति में गरम वातावरण में जल्दी बिगड़ने लगते हैं। उन्हें देर तक सही स्थिति में रखना हो तो ठण्डक की स्थिति में रखना पड़ता है। मस्तिष्क की सुरक्षा के मोटे नियमों में एक यह भी है कि उस पर गरम पानी न डाला जाय, गरम धूप से बचाया जाय। बाल रखाने और टोपी पहनने का रिवाज इसी प्रयोजन के लिए चला है कि उस बहुमूल्य भण्डार को यथासम्भव गर्मी से बचाकर रखा जाय। सिर में ठण्डे प्रकृति के तेल या घोंने के पदार्थ ही काम में लाये जाते हैं। इससे स्पष्ट है कि मस्तिष्क को अनावश्यक उष्णता से बचाये रहने की सुरक्षात्मक प्रक्रिया को बहुत समय से समझा और अपनाया जाता रहा है।

यह बाह्योपचार हुआ। वस्तुतः मस्तिष्कीय सम्पदा खोपड़ी के भीतर है। बाहरी गर्मी के ऋतु प्रभाव से तो हड्डी से ऊपर का भाग ही बचाया जा सकता है। भीतरी

क्षेत्र में अनावश्यक गर्मी न बढ़ने देने की बात मुख्य है। बाह्य सुरक्षा के लिए तो प्रकृति ने भी मजबूत तिजोरी जैसी खोपड़ी पहले से ही रच दी है। सृष्टा को पता था कि जो भीतरी अवयव जितने अधिक महत्वपूर्ण हैं उनकी सुरक्षा का प्रबन्ध उतनी ही अधिक अच्छी तरह किया जाना है। हृदय, मस्तिष्क, फुफ्फुस, जिगर जैसे अति महत्वपूर्ण अवयवों को हड्डियों के मजबूत खोखले में बन्द करके रखा गया है। इन सबमें मस्तिष्क की उपयोगिता और कोमलता सर्वोपरि है। इसलिए उसे खोपड़ी की मजबूत डिब्बी में इस तरह सँभालकर रखा गया है जिसे खजाने की तिजोरी या मोती की सीप, राजा की किलेबन्दी की उपमा दी जा सकती है।

मस्तिष्क का बहुमूल्य यन्त्र तभी ठीक तरह काम कर सकता है जब उसे शान्तिमय वातावरण में, एयर कण्डीशन कमरों जितने तापमान में काम करने दिया जाय। मर्यादा से अधिक गरम रहने पर इन्जन, मोटर या अन्य मशीनें अपना काम करना बन्द कर देती हैं ठीक यही स्थिति मस्तिष्क की है। उससे ठीक काम लेना हो तो सन्तुलित परिस्थितियाँ बनाये रहना आवश्यक है। फोटो फिल्में अनावश्यक गर्मी सहन नहीं कर पातीं। इसी प्रकार मस्तिष्क भी उत्तेजना एवं आवेश की स्थिति उत्पन्न होने पर एक प्रकार से अपना काम करना ही बन्द कर देते हैं। यदि कुछ करते भी हैं तो वह उल्टा होता है। वह उल्टापन लाभ के स्थान पर हानि ही उत्पन्न करने लगता है।

मस्तिष्क को बाहरी गर्मी, तेज धूप, गरम पानी किन्हीं रसायनों की पड़ती है किन्तु भीतरी गर्मी उत्पन्न होने का कारण उत्तेजनाएँ होती हैं। उसकी मात्रा जितनी बढ़ेगी उतनी ही मानसिक संरचना को स्थायी रूप से हानि पहुँचेगी और सामने पड़े कामों को ठीक तरह कर सकना उसके लिए सम्भव न रहेगा। देखा जाता है कि कोई आवेश चढ़ने पर आदमी अर्ध विक्षिप्त जैसी स्थिति में जा पहुँचता है। उसकी कल्पना, निर्णय, बचन, हरकतें सब कुछ विचित्र हो जाती हैं। क्रोध का आवेश जिस पर चढ़ रहा हो उसकी गतिविधियों पर ध्यानपूर्वक दृष्टि डाली जाय तो पता चलेगा, पागलपन में अब बहुत थोड़ी ही कमी रह गई है। अधिक क्रोध आने पर मस्तिष्कीय द्रव एक प्रकार से उबलने लगता है और यदि उसे ठण्डा न किया जाय तो मानसिक रोगों से लेकर हत्या, आत्म-हत्या जैसे क्रूर कर्म कर बैठने जैसी स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

क्रोध का आवेश शरीर पर क्या असर डालता है और बुद्धि को कैसा भ्रष्ट कर देता है उसके उदाहरण हम सब आये दिन अपने आस-पास ही देखते रहते हैं। गुस्से से तमतमाया चेहरा राक्षसों जैसा बन जाता है। आँखें, होठ, नाक आदि पर आवेशों के उभार प्रत्यक्ष दीखते हैं। मुँह से अशिष्ट शब्दों का उच्चारण चल पड़ता है। रक्त प्रवाह की तेजी से शरीर जलने लगता है। हाथ-पैर काँपते और रोये खड़े होते देखे जाते हैं। ऐसा व्यक्ति स्वयं एक समस्या बन जाता है। ऐसी दशा होने पर हितैषी लोग सबसे पहला काम यह करते हैं कि आवेशग्रस्त को येन-केन प्रकारेण शान्त करते हैं। जिस कारण उत्तेजना आई थी उसका निवारण करने पर उतना ध्यान नहीं दिया जाता, जितना कि आवेश ठण्डा करने पर। किसी भी प्रतिकूलता में उतनी हानि नहीं होती जितनी कि आवेशग्रस्तता से। इस मोटी जानकारी से हर कोई परिचित रहता है इसलिए हितैषियों का प्रथम कार्य गुस्सा ठण्डा करना होता है। अन्य बातें पीछे सोची जाती हैं। वैज्ञानिक तथ्य यह है कि एक घण्टे का क्रोध एक दिन के तेज बुखार से भी अधिक जीवनी शक्ति का विनाश करता है।

रक्तचाप में व्यतिरेक दो प्रकार के होते हैं—एक ऊँचा दूसरा नीचा। उच्च रक्तचाप (हाई ब्लड प्रेशर) में बेचैनी बढ़ने के कारण कष्ट होता है। निम्न रक्तचाप (लो ब्लड प्रेशर)—में लक्षण तो भिन्न होते हैं, पर कष्ट उससे भी उतना ही होता है। लो ब्लड प्रेशर का मरीज भारी कमजोरी अनुभव करता है और अपने को अपंग, असहाय जैसी स्थिति में पाता है। इन दो ही प्रकार के व्यतिरेकों में रोगी की कार्यक्षमता एवं मनःस्थिति पर हानिकारक प्रभाव लगभग एक जैसा ही होता है।

क्रोध की उच्च रक्तचाप से और खिन्नता की निम्न रक्तचाप से तुलना की जा सकती है। क्रोध वर्ग में द्वेष, घृणा, आक्रमण, विनाश, जैसे क्रूर प्रकृति के विचार एवं कृत्य गिने जा सकते हैं। खिन्नता वर्ग में निराशा, चिन्ता, शोक, भय, संकोच जैसी निष्क्रियता उत्पन्न करने वाली प्रवृत्तियों की गणना होती है। इन्हें ज्वार-भाटा के समतुल्य और अस्थिरता, अव्यवस्था उत्पन्न करने वाला कहा जा सकता है। उफनते समुद्र में तैरना कितना कठिन होता है इसे सभी जानते हैं।

शोकग्रस्त, भयभीत, निराश व्यक्ति की मनोदशा उसके अच्छे खासे स्वास्थ्य को देखते-देखते तोड़-मरोड़कर रख देती है। चेहरे पर मुर्दनी छा जाती है। सही आवाज तक नहीं निकलती। लगता है कि शरीर को कंट मार

गया, कुछ करते-धरते नहीं बनता है। भूख-प्यास गायब हो जाती है। नींद आने में भारी कठिनाई पड़ती है। क्रोध में भी लगभग ऐसा ही होता है अन्तर इतना भर रहता है कि खिन्नता में बर्फ में जमने और गलने जैसी स्थिति होती है तो उत्तेजना में आग से जलने-उबलने जैसी। सामान्य स्थिति तो दोनों ही दशाओं में नष्ट हो जाती है और न केवल मस्तिष्क वरन् साथ-साथ शरीर भी अपनी साधारण गतिविधियाँ जारी रख सकने में असमर्थ बन जाता है।

मस्तिष्कीय क्षमता एवं कुशलता बढ़ाने का महत्व सभी जानते हैं और इसके लिए अध्ययन, परामर्श, सम्पर्क अनुभव सम्पादन, अभ्यास जैसे कितने ही साधन जुटाते हैं। प्रसन्नता से मानसिक उर्वरता बढ़ने की बात को ध्यान में रखते हुए मनोरंजन के लिए कई ऐसे कार्य करते हैं जिनमें समय और पैसा काफी लग जाता है। इन रचनात्मक प्रयोजनों से परिचित होते हुए भी न जाने इस तथ्य को क्यों भुला दिया जाता है कि आवेश एवं अवसाद जैसी अव्यवस्था फैलाने वाली मनःस्थिति उत्पन्न न होने दी जाय। लाभ उपार्जन करने की बात का जितना महत्व है उतना ही हानि न होने देने का भी। एक ओर लाभ कमाया जाय, दूसरी ओर हानि बढ़ती जाय तो फिर अन्ततः व्यवसाय घाटे में फँसता चला जायेगा और दिवालिया बनने की नौबत आ जायेगी।

आवेशों का शरीर पर क्या असर होता है; इसका पर्यवेक्षण करने पर प्रतीत होता है कि सामान्य कार्यक्षमता को उनके कारण भारी आघात पहुँचता है। आँख, कान, नाक, जीभ अपना काम मुश्किल से ही आधा अधूरा कर पाते हैं। जीभ का स्वाद चला जाता है। पेट की भूख उड़ जाती है। कान कुछ का कुछ सुनते हैं। आँखों से सामने गुजरने वाली घटनाओं में से बहुत कम की स्मृति रहती है। तापमान बढ़ता है, रोमांच खड़े होते हैं, साँस तेज चलती है, हृदय की धड़कन और रक्त प्रवाह की तेजी बढ़ती है। यह सारे लक्षण मिलकर जीवनी शक्ति का बड़ी मात्रा में विनाश करते हैं। यह तो यदा-कदा की बात हुई। यदि यह असन्तुलन आदत बन जाय, स्वभाव में सम्मिलित हो जाय तो समझना चाहिए कि व्यक्तित्व की स्थिरता और सुखद सम्भावना समाप्त ही हो चली। ऐसे असन्तुलनग्रस्त मनुष्य प्रायः अर्ध-विक्षिप्तों जैसी स्थिति में जिन्दगी गुजारते हैं। पग-पग पर उपहासास्पद बनते, तिरस्कृत होते और असफल रहते देखे जाते हैं।

मानसिक असन्तुलन को परिस्थितिजन्य माना जाता है और कहा जाता है-अपना क्या कसूर है, घटनाक्रम ही ऐसा बन गया है कि उत्तेजना या खिन्नता का शिकार बनना पड़ा। तर्क सीधा-सा लगता है और सही भी प्रतीत होता है किन्तु वास्तविकता वैसी है नहीं। एक ही परिस्थिति की भिन्न व्यक्तियों पर भिन्न प्रतिक्रिया देखी जाती है। तनिक-सी प्रतिकूलता आने पर एक व्यक्ति बेतरह घबरता और उत्तेजित होते देखा जाता है। जबकि दूसरा व्यक्ति ठीक वैसी ही अथवा उससे भी अधिक प्रतिकूलता में अपना सन्तुलन यथावत् बनाये रखता है। उसे जीवन क्रम का साधारण-सा उतार-चढ़ाव मानता है और घबराने की तनिक भी आवश्यकता अनुभव नहीं करता। उसकी प्रतिक्रिया गड़बड़ी को सुधारने के लिए, उपाय सोचने, काम करने और साधन जुटाने में संलग्न होने की होती है। घबराहट उत्पन्न करके असन्तुलन की नई विपत्ति को न्योत बुलाना उसे मूर्खतापूर्ण लगता है। अस्तु स्वयं परेशान होने और दूसरों को परेशान करने वाली अस्त-व्यस्तता पर वह अपना सहज विवेक से नियन्त्रण कर लेता है। इन घबराने और बिना घबराने वाले दोनों व्यक्तियों के सामने परिस्थिति एक जैसी होते हुए भी मनःस्थिति में जमीन-आसमान जैसा अन्तर पाया जाता है। यह आत्म नियन्त्रण का, दृष्टिकोण के परिमार्जन का प्रतिफल है। एक उससे वंचित रहता और दुःख पाता है। दूसरा उसका संचय करके हँसता-मुस्कराता रहता है और आये दिन उत्पन्न होती रहने वाली प्रतिकूलताओं को ऐसे ही मजाक-मसखरी में उपेक्षापूर्वक उतार ही नहीं देता। दूरदर्शी विवेक को अक्षुण्ण बनाये रहकर उनका समाधान भी सरलतापूर्वक कर लेता है।

मस्तिष्क को ठण्डा बनाये रहना, उस पर आवेशों का आक्रमण न होने देना एक महत्वपूर्ण साज सँभाल है। घड़ी, साइकिल आदि छोटी-छोटी मशीनों की साज-सँभाल रखी जाती है तो मस्तिष्क को क्षतिग्रस्त होने से क्यों नहीं बचाया जाता है जबकि दवाओं और खाद्य पदार्थों को ठण्डा रखा जाता है। ठण्डी छाया में बैठकर काम करने का प्रबन्ध किया जाता है तो मस्तिष्कीय शान्ति बनाये रखने की आवश्यकता क्यों न समझी जाय। सन्तुलन बनाये रहना एक अत्यन्त ही बुद्धिमत्तापूर्ण उपाय है जिसमें रहना सुखी रहने और सफल होने के दोनों ही उद्देश्य प्राप्त किये जा सकते हैं।

आत्महत्या अर्थात् अचेतन की विकृति

मनुष्य की जिजीविषा साधारणतया अदम्य मानी जाती है। हम जीवित रहना चाहते हैं और जीवन को प्यार करते हैं। उसकी सुरक्षा के लिए तरह-तरह के साधन जुटाते हैं। मरण से सबको भय लगता है। प्राण-संकट की घड़ी आने पर पशु-पक्षी तक सब कुछ कर गुजरने पर उतारू हो जाते हैं। आत्मरक्षा के प्रयत्नों में सृष्टि के प्रत्येक प्राणी को संलग्न देखा जा सकता है। इससे प्रतीत होता है कि न केवल मनुष्य, वरन् हर एक जीवधारी जीवन सम्पदा को सुरक्षित रखने के लिए अपनी सूझ-बूझ और स्थिति के अनुसार हर सम्भव उपाय करता है। जीवधारी को जीवन से कितना प्यार है, इसकी झाँकी दृष्टि पसारकर कहीं भी की जा सकती है, इतने पर भी मनुष्य तनिक से कारणों से उसे गँवाने और आत्मघात करने पर कटिबद्ध हो जाता है।

जीवन जैसी बहुमूल्य सम्पदा जिस कारण निरर्थक ही नहीं, असह्य बनती जा रही है, वह है मानसिक विक्षोभ। देखने में यही प्रतीत होता है कि अमुक घटनाओं या परिस्थितियों ने अमुक व्यक्ति को आत्मघात करने के लिए विवश कर दिया, पर वास्तविकता कुछ दूसरी होती है। इन लोगों को जो स्थिति असह्य प्रतीत हुई और घबराकर यह अवांछनीय कृत्य कर बैठे, वह वस्तुतः उतनी अधिक जटिल थी नहीं। उन्हीं परिस्थितियों को असंख्य लोग सहन करते हैं और कुछ तो इतने अभ्यस्त हो जाते हैं कि उन्हें जीवन का एक सहज स्वाभाविक अंग मानकर संतोषपूर्वक दिन गुजारते हैं। यदि कठिनाइयाँ सचमुच इतनी असह्य होतीं तो फिर किसी के लिए भी उनमें रह पाना कितना कठिन होता ?

विश्व स्वास्थ्य संगठन की रिपोर्ट के अनुसार प्रति एक लाख में ३५.०९ व्यक्ति डेनमार्क में, ३३.७२ व्यक्ति स्विट्जरलैण्ड में, २३.३५ व्यक्ति फीनलैण्ड में, १९.७४ व्यक्ति स्वीडन में, १५.५२ व्यक्ति अमेरिका में, १४.८३ व्यक्ति फ्रांस में, १३.४३ व्यक्ति इंग्लैण्ड में, १३.०३ व्यक्ति आस्ट्रेलिया में, ११.४० व्यक्ति कनाडा में आत्महत्या से मरते हैं।

एमील डर्कहीम अपनी पुस्तक 'ली सुसाइड' में लिखते हैं कि बीसवीं सदी में जितनी आत्महत्याएँ हुई हैं, उतनी संसार में इससे पूर्व कभी नहीं हुईं। वे कहते हैं कि वास्तव में आत्महत्या का सीधा सम्बन्ध मानवी विकास से है। समय के साथ-साथ बौद्धिक विकास जैसे-जैसे होता गया, मानवी जटिलताएँ भी बढ़ती गईं। बीसवीं सदी में वह विकास जब अपने चरम पर है, तो

उससे जुड़ी हुई समस्याएँ भी उजागर हुई हैं। उनके अनुसार आज के सभ्य समाज की सबसे बड़ी कठिनाई मानसिक अस्वस्थता सम्बन्धी है। यह अस्वस्थता ही आत्महत्या जैसे कठोर निर्णय का कारण बनती है। वे कहते हैं कि जंगली कबीलों में रहने वाले वनवासी चूँकि सभ्य समाज से दूर रहते हैं, इसलिए उनमें किसी प्रकार के मानसिक रोग नहीं पाये जाते, फलतः आत्मघात जैसे मामले भी उस समुदाय में कभी प्रकाश में नहीं आते।

ऐसी बात नहीं कि साधारण पढ़ा-लिखा और सामान्य स्तर का नागरिक ही अपघात करता है। कई बार विद्वान और ज्ञानवान समझे जाने वाले लोग भी इस कुकृत्य के शिकार हो जाते हैं। इनमें विश्व प्रसिद्ध साहित्यकार, संगीतकार से लेकर राजनेता और वैज्ञानिक तक सम्मिलित हैं।

जर्मन विद्वान गेटे आत्महत्या करना चाहते थे, इसलिए एक धारदार चाकू बाजार से खरीद लाये। बहुत दिनों तक वे उसे तकिये के नीचे रखे रहे, पर हिम्मत नहीं जुटा सके, इसलिए अन्ततः अपघात का विचार त्याग दिया।

वायरन जिन दिनों 'चाइल्ड हेराल्ड' के लेखन में व्यस्त थे, उन दिनों अक्सर उन पर आत्महत्या की सनक सवार रहती, पर माँ का प्यार याद कर वे वैसा न कर सके।

यूनान के महान दार्शनिक डायोजेनीज अपने हाथों फाँसी लगाकर मरे थे। कहा जाता है कि संसार को निजी बनाने का सपना देखने वाले हिटलर ने अपनी पिस्तौल से गोली मारकर आत्महत्या कर ली थी।

'मृच्छकटिक' के लेखक शूद्रक आग में जल मरे थे। 'जानकी हरण' महाकाव्य के रचनाकार सिंहल देश के राजा की मृत्यु का शोक न सह सके और चिता में जल मरे। चीनी साहित्यकार लाओत्से ने भी अपनी मौत स्वयं बुलायी थी। लैटिन कवि एम्पेदोक्लीज ने ज्वालामुखी में कूदकर आत्मघात किया था। लुकेशियस ने अपने को चिरस्मरणीय बनाने के लिए ऐसा किया था। महाकवि चैटरटन ने दरिद्रता से पीछा छुड़ाने के लिए विषपान करना उपयुक्त समझा। गोर्की ने पेट में पिस्तौल चलाकर उसे विदीर्ण कर डाला। आस्ट्रियाई साहित्यकार स्टीफेन ज्विग अपने अपघात का कारण बताते हुए अपने पीछे एक पुर्जा छोड़ गये थे "अब संघर्षों से टकराने की मेरी शक्ति चूक गई है। अशक्त जीवन का अन्त कर लेना मुझे अधिक अच्छा जँचा।"

चित्रकार लाड्रे ने अस्पताल की चारपाई पर पड़े-पड़े ही स्वयं को गोली मार ली। एक अन्य चित्रकार बानगाँव ने भी अपना अन्त ऐसे ही किया। राबर्ट क्लाइब ने अपने जीवन में तीन बार आत्महत्या का प्रयास किया पर निशाना चूक जाने से हर बार वे बच गये।

मूर्धन्यों में भी ऐसे कम नहीं हैं, जिनने तनिक-सी परेशानी से उद्विग्न होकर आत्मघात कर लिया हो ऐसे लोगों में सेफो, डेमोस्थनीज, ब्रूटस, केसियस, डेमोकलीज, हनीवाल, बर्टन, आर्थर कोयेसलर जैसे विश्व प्रसिद्ध व्यक्तित्व सम्मिलित हैं।

आत्महत्या के तरीकों में अगणित प्रकार के उपाय अपनाये जाते रहे हैं। इनमें पानी में डूब मरना, ऊँचाई से कूदना, विष पान करना, फाँसी लगाना, आत्मदाह करना, नस काटकर सम्पूर्ण रक्त को धीरे-धीरे निकाल देना आदि अधिक प्रचलित हैं। एक दुःख को हल्का करने के लिए दूसरा उससे बड़ा दुःख मोल लेना भी एक उपाय सोचा जाता रहा है, यद्यपि वह इच्छित लाभ प्राप्त करने में तनिक भी सहायक नहीं होता। अताई इलाज में एक उपचार यह भी था कि किसी के पेट में दर्द हो, तो लोहे की गरम सलाख से उसकी छाती दाग दी जाय। इससे जलने का कष्ट इतना बढ़ जाता है कि रोगी पेट के दर्द की बात भूल जाता है। लगभग इसी स्तर का दुस्साहस यह है कि अमुक चिन्ता अथवा आपत्ति से छुटकारा पाने के लिए आत्महत्या जैसी बड़ी आपत्ति को अपना लिया जाय।

जिस प्रकार शरीर में अनेक प्रकार के घातक विषाणु प्रवेश करके विविध लक्षणों वाले रोग उत्पन्न करते हैं, उसी प्रकार मनःक्षेत्र में भी इसी तरह की कोई विकृतियाँ अपनी जड़ें जमा लेती हैं और परिपूर्ण उन्माद न सही, उससे मिलते-जुलते ही विघातक मानसिक रोग उत्पन्न करती हैं।

डिमेशिया प्रिकोक्स अर्थात् किशोरावस्था की हिंसात्मक सनक, डिमेशिया पैरालिटिख अर्थात् आवेश का सामयिक दौरा, मेलनकोलिया अर्थात् अवसाद ग्रस्तता, न्यूरस्थेनिया अर्थात् स्नायुविक असंतुलन जैसी कितनी ही विकृत मनःस्थितियाँ ऐसी हैं, जो विवेक को अस्त-व्यस्त करके रख देती हैं और समयानुसार जो भी उभार आता है, उसी में मस्तिष्क इतनी तीव्रगति से बहता चला जाता है जिसमें अपने को सँभाल सकना कठिन पड़ता है।

दूसरों के क्षोभ को शान्त करने के लिए स्वयं दुःखी होने की स्थिति अपना लेना भी ऐसा ही विचित्र चिन्तन है, जिसे अक्सर सहानुभूति एवं सहायता के लिए अपनाया जाता है। अभिभावकों के कष्ट-निवारण के लिए

विवाह योग्य कन्याओं का इसलिए आत्मघात कर बैठना कि इससे उनके माता-पिता को अर्थ चिन्ता से छुटकारा मिल जायेगा, ऐसा ही दुस्साहस भरा कदम है। इनमें आदर्शवाद, उदारता, सहानुभूति जैसे तत्वों का पुट तो होता है, पर यह स्मरण नहीं रहता कि इस कदम से अपना बहुमूल्य जीवन ही नष्ट नहीं होगा, अपितु जिनके लिए यह सब किया जा रहा है, उनकी कठिनाई, चिन्ता एवं विपत्ति और अधिक बढ़ जायेगी।

प्राचीनकाल में आत्मघात को धार्मिक प्रशंसा प्रदान करने का भी प्रचलन रहा है। संन्यासियों की स्वाभाविक मृत्यु की अपेक्षा स्वेच्छा मरण की सराहना की गई है। बौद्ध और जैन धर्मों में भी मृत्यु सम्बन्धी ऐसे विधानों का उल्लेख उनके धर्मग्रन्थों में मिलता है। पाण्डवों का स्वर्गरोहण, मंडन मिश्र का तुषाग्नि संदाह, ज्ञानेश्वर की जीवित समाधि, रामतीर्थ की जल समाधि, कुमारिल भट्ट का आत्मघाती प्रायश्चित्त विधान जैसी अनेकानेक घटनाएँ इतिहास के पृष्ठों पर अंकित हैं, जिन्हें सराहा ही जाता है। चित्तौड़ की रानियों का सामूहिक आत्मदाह (जौहर) और सतीप्रथा ऐसे कृत्य हैं, जिन्हें महिमामंडित किया जाता रहा है।

उपरोक्त घटनाएँ कुछ विशेष परिस्थितियों में किन्हीं विशेष उद्देश्य को लेकर घटित हुईं अतः वह साधारण नहीं, असाधारण कही जायेंगी। सबके पीछे तो नहीं पर कुछ के पीछे ऊँचा आदर्श और महान उद्देश्य था, इसलिए आत्महत्या जैसी लगने वाली यह घटनाएँ भी तब सराही गईं। आज उनकी लकीर पीटना और उन्हें परम्परा का स्वरूप देना किसी भी प्रकार समझदारी नहीं कही जायेगी। छोटी-छोटी बातों पर अथवा राजनैतिक माँगों को मनवाने के लिए आत्मदाह कर लेना, पति के मरने के उपरान्त पत्नी को जिन्दा जलने के लिए विवश करना, जल समाधि लेना सभ्य जन और सभ्य समाज का लक्षण नहीं, अपितु असभ्यता का चिह्न कहना चाहिए। इसके पीछे भारत की मूल संस्कृति नहीं, वरन् सामयिक विचार-विकृति ही कारणभूत मानी जायेगी।

आत्महत्या को भी दूसरों की हत्या के समान ही गर्हित कर्म माना जा सकता है। दूसरे देशों में पुराने जमाने से इसे बहुत बुरा कहा जाता था और मरने के उपरान्त भी यह कुकृत्य करने वाले की भर्त्सना की जाती थी।

यूरोप में उन दिनों आत्महत्या करने वालों के प्रति बहुत अनुदार दृष्टिकोण था। उनकी लाशें सड़कों के आस-पास कूड़े के ढेर में दबा दी जातीं और उसके आगे भयंकर आकृतियाँ खड़ी कर दी जाती थीं ताकि

मरने वाले की निन्दा हो और जो ऐसा करना चाहते हों, वे हतोत्साहित हों। इस प्रचलन को बदलने में डेविड ह्यूम, वाल्टेर, रूसो जैसे दार्शनिकों ने आवाज उठायी अन्ततः उसे समाप्त करवा दिया। इसके पीछे उनका तर्क था कि आदमी को जीने की तरह मरने की भी आजादी होनी चाहिए।

कुरान में दूसरों की हत्या करने से भी अधिक जघन्य पाप आत्महत्या को बताया है। यहूदी धर्म में यह निन्दनीय कर्म करने वाले के लिए शोक मनाने और उसकी आत्मा की शान्ति के लिए प्रार्थना करने का भी निषेध है। ईसाई धर्म में भी इसे घृणित पातक बताया गया है। ११वीं सदी में इंग्लैण्ड में एक कानून बना था, जिसमें आत्महत्या करने वालों की सम्पत्ति जब्त कर ली जाती थी और उसके शव को किसी ईसाई कब्रिस्तान में धार्मिक विधि से दफनाया नहीं जा सकता था।

आत्महत्या का प्रयत्न करने वालों को रोगी माना जाय या अपराधी ? इस प्रश्न पर आज भी मनःशास्त्रियों, मानवविज्ञानियों और विधिवेत्ताओं के बीच गम्भीर मतभेद है। मनोवैज्ञानिकों का मत है कि ऐसे लोगों का उचित स्थान जेलखाना नहीं, पागलखाना है, जबकि विधिवेत्ताओं की दलील है कि यदि हम किसी को दारुण वेदनाओं से मुक्ति नहीं दिला सकते, तो उसे ऐसी मौत मरने का अधिकार होना चाहिए जिसमें वह पीड़ा झेलने की अपेक्षा राहत पा सके। नृतत्ववेत्ता मध्यवर्ती मार्ग अपनाते हुए उन्हें करुणा का पात्र घोषित करते हैं और 'यूथेनेसिया' के नाम पर उन पर सहानुभूति प्रकट करते हुए समाज को उनकी समस्याओं को हल करने का सुझाव देते हैं।

शोध अध्ययनों से ज्ञात हुआ है कि जिन-जिन देशों में आत्मघात की दर उच्च है, वहाँ-वहाँ मद्यपियों की संख्या भी उसी अनुपात में ज्यादा है। अनुसन्धानकर्त्ताओं का कहना है कि अमेरिका, स्विट्जरलैण्ड, स्वीडन और डेनमार्क एवं फ्रांस में विश्व की सर्वाधिक आत्महत्याएँ होती हैं और मद्यपान की लत वहाँ उसी अनुपात में देखी गई है। इससे यह स्पष्ट है कि आत्महत्या का कारण शारीरिक कम मानसिक अधिक है।

एरिक फ्रॉम अपनी पुस्तक 'दि सेन सोसायटी' में एक स्थान पर लिखते हैं कि यूरोप के सबसे अधिक शान्त, समृद्ध और लोकतान्त्रिक कहे जाने वाले राष्ट्रों एवं विश्व के सर्वाधिक सम्पन्न देश अमेरिका की मानसिक स्वस्थता के क्षेत्र में जो वर्तमान अवस्था है, उसे दयनीय ही कहना चाहिए। वे लिखते हैं कि इन राष्ट्रों का

सम्पूर्ण सामाजिक, आर्थिक उन्नयन का इतना ही प्रयोजन है कि उनका भौतिक जीवन सुखमय हो, सभी सम्पत्तिवान हों, स्थिर लोकतान्त्रिक व्यवस्था हो और वह शान्तिपूर्ण हो। वे कहते हैं कि जिन देशों ने इस लक्ष्य को प्राप्त कर लिया अथवा जो इसकी प्राप्ति के सन्निकट पहुँच गये, वहाँ मानसिक असंतुलन की गम्भीर समस्याएँ भी उठ खड़ी हुई हैं।

एरिक फ्रॉम के इस निष्कर्ष से स्पष्ट है कि आत्महत्या के मूल में संव्याप्त मानसिक असंतुलन का सबसे प्रमुख कारण समृद्धि है। सम्भवतः इसी कारण से अध्यात्मवादी चिन्तन में धनोपार्जन की छूट तो है, पर धन-संग्रह पर रोक लगायी गई है। यदि यह बात सही है कि वर्तमान मानसिक अस्वस्थता की जड़ में सम्पदा की प्रधान भूमिका है, तो अर्थवेत्ताओं, नृत्त्वविज्ञानियों और समाजशास्त्रियों को मिलजुलकर कोई ऐसा हल वर्तमान संदर्भ में ढूँढ़ना चाहिए, जिससे समाज भी सम्पन्न बना रहे और मनुष्य भी मानसिक दृष्टि से विपन्न नहीं कहलाये, तभी सही अर्थों में २१वीं सदी हमारे लिए उज्ज्वल भविष्य लेकर आ सकेगी, अन्यथा नहीं।

अर्थ के साथ-साथ समाज की अवांछनीय परिस्थितियाँ भी मनुष्य को विक्षुब्ध करती हैं। स्नेह-सौजन्य का अभाव, नैतिकता का गिरा स्तर, शोषण, उत्पीड़न, ठगी, विश्वासघात, बेकारी, हानि, बर्बादी जैसे कितने ही कारण मानव को दुःखी बनाते हैं। सामाजिक कुनृतियों के कुचक्र में कितनों को ही पिसना पड़ता है। इन प्रचलनों को बन्द करना सरकार और समाज का काम है। समाज की संरचना ऐसी होनी चाहिए, जिसमें हर व्यक्ति को निर्वाह, प्रगति और सुरक्षा के समुचित साधन प्राप्त हों, कोई किसी के भी साथ अन्याय और अनीति नहीं बरत सके। इसके अतिरिक्त एक अन्य महत्वपूर्ण कार्य यह भी होना चाहिए कि स्वास्थ्य-रक्षा और अर्थ-उपार्जन की तरह ही चिन्तन तंत्र का सही उपयोग कर सकने की क्षमता भी सर्वसाधारण में उत्पन्न की जाय। इसके लिए मानसिक प्रशिक्षण की एक समर्थ प्रणाली खड़ी की जानी चाहिए। इसके बिना आत्महत्या जैसे व्यापक संकट उत्पन्न करने वाले मनोरोगों का भड़काया हुआ दवानल रोक न जा सकेगा।

जीवन जीने के लिए हम सबको मिला है, मरने के लिए नहीं, यह तथ्य हर स्थिति में याद रखा जाना चाहिए। अनेकानेक योनियों में भटककर मानव योनि में जीव जब आता है तो इसलिए कि कर्म करते हुए अपनी मुक्ति का पथ-प्रशस्त कर ले। किन्तु विक्षुब्ध मनःस्थिति में प्रेत-सा जीवन जीते हुए आत्मघाती प्रवृत्ति की ओर उन्मुख

होना उसे कदापि शोभा नहीं देता। सृष्टा के राजकुमार के रूप में मनुष्य को जो पदवी मिली है, उसका तिरस्कार न कर जीवन चुनौती के रूप में, खिलाड़ी की तरह जिया जाय तो हँसते-हँसते, पुण्य कमाते औरों की सेवा कर संतोष प्राप्त करते हुए यह जीवन जिया जा सकता है, इसमें कोई संदेह नहीं।

मनःस्थिति को सुव्यवस्थित बनायें

मानसिक अस्तव्यस्तता की स्थिति तनाव कहलाती है। इसी के चिह्न सिर में दर्द, चक्कर आना, जी घबराना, अनिद्रा, बेचैनी, उत्तेजना आदि के रूप में दिखाई देते हैं। निद्रा, शांति और विश्राम के लिए मानसिक शिथिलता जरूरी है। पर जब मानसिक स्थिति तनावग्रस्त हो तो थकान मिटाने वाली नींद कैसे आये ? काम के दबाव से उत्पन्न तनाव तो विश्राम से दूर किया जा सकता है, पर चिन्ताओं से उत्पन्न होने वाला तनाव विश्राम की स्थिति उत्पन्न होने नहीं देता। फलस्वरूप स्थिति लगातार बिगड़ती जाती है।

मनोवैज्ञानिकों के अध्ययन के अनुसार तनाव से बड़े शहरों के निवासी देहात में रहने वालों की अपेक्षा कहीं अधिक ग्रसित पाये जाते हैं। इसके कारण के बारे में उनका मानना है, गाँवों का जीवन सीधा और सरल है जबकि शहरों का जीवन मशीन बन कर रह गया है। जीवन शैली का यह भेद बहुत महत्वपूर्ण है। एक को साधारण कपड़े और साधारण भोजन में सन्तोष है, तो दूसरा अधिक से अधिक चमक-दमक बटोरना चाहता है। कामनाओं की बाढ़ से मन चिन्ताओं और विक्षोभों में डूबा रहे यह स्वाभाविक है। सितार के तारों को अधिक कड़ा करते जायें तो वे टूट जायेंगे। इसी प्रकार मनःस्थिति यदि अव्यवस्थित व तनावपूर्ण रहे तो उसकी प्रतिक्रिया समूचे जीवन को तोड़-मरोड़कर रख देती है।

मनोवैज्ञानिक आर. एस. लाजरस ने अपनी रचना “साइकोलॉजिक स्ट्रेस एण्ड द कोपिंग प्रोसेस” में इसका प्रमुख कारण खुद की मनःस्थिति एवं सामाजिक वातावरण के पारस्परिक सम्बन्धों में होने वाले उतार-चढ़ाव को बताया है। यह उतार-चढ़ाव मुख्य रूप से दो तथ्यों पर टिका है। पहला व्यक्ति की समाज में माँग, दूसरा माँग के प्रति उसकी स्वयं की मानसिकता। अधिकांश लोग समाज से असीमित माँगें रखते हैं, जबकि समाज को देने की क्षमता सीमित है। ऐसी दशा में स्वाभाविक है कि मनःस्थिति अस्त-व्यस्त हो चले।

इच्छाओं की बाढ़ को रोककर परिस्थितियों से तालमेल बिठाना हमें सीखना होगा। लोगों का साथ निभाने

की कला में हमें आनी चाहिए। आदमी मिट्टी के खिलौने नहीं है जो जब चाहे जहाँ हटाये बदले जा सके। कुछ लोग ऐसे होते हैं जिनके साथ हमें इच्छा या अनिच्छा से रहना ही पड़ेगा। पड़ौस में जो लोग बसे हैं उनके घर को नहीं उखाड़ फेंका जा सकता और न ही अपने खेत-खलिहान को छोड़कर किसी दूर देश में घोंसला बनाया जा सकता है। पड़ौसी जैसे भी हैं, आखिर रहना तो उन्हीं के साथ पड़ेगा। जरूरी नहीं वे समझाने-बुझाने से हमारी मन-मर्जी के अनुसार चलने लगे। यही बात कुटुम्बियों, परिवारीजनों के सम्बन्ध में भी है। बूढ़े माँ-बाप, जवान भाई-भावज, सयाने लड़की-लड़के, धर्मपत्नी इन सबकी आदतें अपनी मर्जी के अनुरूप हों, यह कोई जरूरी नहीं। जिस तरह हर आदमी की शक्ल में अन्तर होता है, उसी प्रकार उसका व्यक्तित्व भी न जाने कितनी अच्छी-खराब विशेषताओं से जुड़ा रहता है। कुछ इनमें से बदलती रहती हैं। अच्छे बुरे बन जाते हैं और बुरे अच्छे। अरुचि की स्थिति पैदा होते ही उन्हें हटा दिया जाय, खुद हट जायें या अपनी मर्जी का सुधार कर लिया जाय। ये तीनों बातें कठिन हैं। सरल यही है कि हमें जिन लोगों के साथ रहना पड़े, उनके साथ इस तरह गुजर-बसर करें, तालमेल बिठाये कि आये दिन का टकराव पैदा हुए बिना समय गुजरता रहे और यथासम्भव सहयोग की सम्भावनाएँ बढ़ती रहें।

घुटन को हार की तरह छाती से चिपटाये रहना ठीक नहीं। एक बात सामने आयी उस पर विचार किया और सिनेमा की फिल्म की तरह दिमाग के पर्दे से हटा दिया। जब हम फेफड़े में साँस को रोके नहीं रख सकते तो किसी विक्षोभ को ही मन में जमाकर, दबाकर क्यों बैठे रहें ? नई साँस लेने के लिए जरूरी है कि पुरानी साँस बाहर निकले। भविष्य का निर्माण करने वाले विचारों को आमन्त्रित करने के लिए जरूरी है, जो बीत चुका उसकी कष्टदायी यादों को विस्मरण के गड्ढे में धकेल कर छुटकारा पाएँ।

खाली बैठे रहने पर न जाने कितनी इच्छाएँ, कामनाएँ ऊट-पटाँग विचार मन में उमड़ा करते हैं। इनसे पिण्ड छुड़ाने का सरल तरीका यह भी है कि ठालीपन दूर किया जाय। बहुत-से काम ऐसे हैं, जो मानसिक गड़बड़ी में भी किए जा सकते हैं। झाड़ू लगाना, कपड़े धोना जैसे काम अभ्यस्त हाथ करते रह सकते हैं। तैरना, खेलना, किसी काम से दूसरी जगह चले जाना जैसे छोटे परिवर्तन उत्तेजित मनःस्थिति को हल्की कर सकते हैं।

दूसरों से बहुत ज्यादा अपेक्षा न करना भी एक कारगर उपाय है। सामान्यतः देखा यह जाता है कि

बाप-बेटे से बहुत अधिक आशाएँ रखता है। उसके द्वारा हवाई किले बनाये जाने के सपने देखे जाते हैं। इसी प्रकार तमाम तरह की अपेक्षाएँ पड़ौसियों, कुटुम्बियों, रिश्ते-नातेदारों से की जाती हैं। ये सभी पूरी होने से तो रहीं। न पूरी होने की स्थिति में मन को विक्षुब्ध होना पड़ता है।

इस विक्षुब्धताजन्य तनाव से बचने के लिए जरूरी है कि अपनी अपेक्षाओं को कम से कम रखा जाय। अपनी माँगों को सिकोड़ा जाय। इसके लिए मन को प्रशिक्षित करना होगा। मन तो छोटे बच्चे की तरह है। जिस किसी चीज को पाने के लिए दौड़ पड़ता है। न पाने पर रोता-मचलता है। यह रोने मचलने की स्थिति ही तो तनाव है। वह न रोये मचले, इसके लिए तरह-तरह के उदाहरण उसके सामने रखने होंगे। दुनिया के ख्याति प्राप्त रसायनज्ञ डॉ. प्रफुल्ल चन्द्र राय अपने वेतन के छोटे से हिस्से से अपना काम चला लेते थे, शेष धन गरीब विद्यार्थियों, सेवाभावी संस्थानों में नियोजित करते थे। माँगें कम रखने का मतलब है-इस स्थिति से स्थायी रूप से छुटकारा पाना।

यही बात परिवेश-परिस्थितियों के सम्बन्ध में है। बात घर-परिवार अड़ौस-पड़ौस की हो या दफ्तर कार्यालय की। जब भी कोई ऐसी समस्या उठे तो शान्त मनःस्थिति रखकर विचार करने का प्रयास करना चाहिए। एक हाथ से ताली नहीं बजती। गलती दोनों ओर से होती है। इसमें अपनी गलती कहाँ है, उसे ढूँढ़कर दूर करने की कोशिश की जाय। प्रायः होता यह है कि छोटी सी बात को बड़ा बना दिया जाता है। तिल का ताड़ बनाने वाली इस आदत की बजह से न जाने कितने लोग मन का विक्षोभ भुगतते रहते हैं। थोड़ी समझदारी बरत लेने-संगति बिठाकर चलने में किसी तरह की तनावजन्य स्थिति का न आना स्वाभाविक है।

काम की चिन्ताओं का बोझ दफ्तर या कार्य स्थल पर ही रहने देना ठीक है। हर समय इसे वेबजह ढोने से कोई भलाई नहीं क्योंकि इस तरह काम को तो पूरा किया नहीं जा सकता। सिर्फ उधेड़ बुन के कारण तनाव हाथ लगता है। जिस समय काम करें, पूरे मनोयोग से करें। प्रतिष्ठा का प्रश्न बनाकर करें, उसके बाद तो उसी जगह छोड़कर हँसी-खुशी की हल्की-फुल्की जिन्दगी जीना ही अच्छा है। धीरे-धीरे किन्तु लगातार इस तथ्य पर अमल करने से ऐसी स्थिति आने नहीं पाती।

मानसिक स्तर व जीवन क्रम को ऐसा सँजोया जाय, इस प्रकार सुसंयत किया जाय कि आये दिन की तनावजन्य परेशानियों का सामना ही न करना पड़े। चिन्तन

और जीवन शैली में ठीक तरह से सामंजस्य बिठाकर चलने और हँसने-हँसाने की आदतों को अपनाकर तनाव से एवं तदजन्य व्यथाओं से सहज ही छुटकारा पाया जा सकता है।

आत्महीनता की महाव्याधि

कहते हैं कि हाथी को अन्य प्राणी डील-डौल में उनके वास्तविक आकार-प्रकार से कहीं बड़े दिखाई देते हैं। उसकी आँख की बनावट ऐसी होती है कि यह अन्य प्राणियों का आकार कई गुना बढ़ा-चढ़ाकर देखती है, इसी कारण हाथी दूसरे प्राणियों से भयभीत रहता है और सामान्यतः यकायक किसी पर आक्रमण नहीं करता। यह कहावत गलत भी हो सकती है, कवि कल्पना भी हो सकती है, पर यह सत्य है कि आत्महीनता की ग्रन्थि से ग्रस्त व्यक्ति परिस्थितियों को उसी रूप में नहीं देखता जो वास्तव में होती हैं। अपने प्रति हीनता या अविश्वास का भाव रखने वाले लोग परिस्थितियों को बहुत बढ़ा-चढ़ाकर देखते हैं और उनसे भयभीत, आतंकित, चिन्तित होते रहते हैं। इस मनोविकृति के कारण अधिकांश लोग अपने आप स्वयं ही अपना तिरस्कार करते रहते हैं और उसके अभ्यस्त बन जाते हैं।

आत्महीनता की भावना से ग्रस्त व्यक्तियों का स्वभाव दम्बूपन का बन जाता है। वे सही और उचित सामान्य बात भी किसी से नहीं कह पाते। मुँह खोलने में उन्हें डर लगता है कि जिससे जो कुछ वह कहने जा रहे हैं, वह पता नहीं क्या समझ बैठे, रुष्ट न हो जाये कहीं झिड़क न दे। वस्तुतः यदि ऐसा हो भी जाता है तो सामान्यतः कोई बड़ी हानि नहीं होती पर आत्महीनता की व्याधि से ग्रस्त व्यक्ति इस सीमा तक डरे दबे रहते हैं कि भले ही कोई हानि हो जाये वे किसी भी स्थिति में अपनी बात को सरल सीधे ढंग से कहने का साहस नहीं जुटा पाते। आवश्यक होने पर भी कुछ न कह पाने का संकोच बरतने से इस बात की सम्भावना तो बनी ही रहती है कि कि गलत फहमियाँ पैदा हो जायँ, व्यवहार में भ्रान्तियाँ जन्म लेने लगें और इस कारण सामने वाला कुछ का कुछ समझकर अप्रत्याशित, अस्वाभाविक, हानिकारक व्यवहार कर बैठे। यह स्थिति मनुष्य को निश्चित ही दयनीय स्थिति में डाल देती है और इसके लिए कोई अन्य कारण दोषी नहीं है, व्यक्ति का आत्महीनता ग्रस्त स्वभाव स्वयं ही दोषी है।

विचारणीय यह है कि लोगों में आत्महीनता की यह भावना क्यों उत्पन्न होती है ? मनःशास्त्री उसके कई कारण बताते हैं। उनके अनुसार बचपन में आवश्यक स्नेह

सम्मान न मिल पाना, माता-पिता या अभिभावकों की ओर से उपेक्षा मिलना, उपहास का कारण बनते रहना या अभावग्रस्त स्थिति में समय गुजारते रहना आदि ऐसे कारण हैं जो बचपन में ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न करते हैं, जिनके कारण बच्चे बड़े होकर भी आत्महीनता की महाव्याधि के शिकार बनते हैं। बीमार, अपंग और मन्दबुद्धि, कमजोर, बच्चे भी बार-बार डाँट-डपट सुनते रहते हैं। फलतः उनका मन यह मान बैठता है कि उनकी स्थिति दूसरों की अपेक्षा गई-गुजरी ही है, भाग्य ही कुछ ऐसा है। पिछड़ी समझी जाने वाली जातियों के स्त्री-पुरुष आमतौर पर अपने को दूसरों की तुलना में घटिया अनुभव करते हैं और अपने सोचने-विचारने का ढंग उसी स्तर का बना लेते हैं मानो उनको बनाते समय विधाता ने घटिया मिट्टी का ही प्रयोग किया हो।

ऐसा बात नहीं है कि आत्महीनता की यह व्याधि केवल पिछड़े और बचपन में उपेक्षित रहने वाले लोगों में ही पाई जाती है। सभ्य और शिक्षित कहे जाने वाले लोगों में भी इस व्याधि के लक्षण रूप दम्बूपन की प्रवृत्ति पाई जाती है और वे अपने इस स्वभाव के कारण स्वयं को हेय स्थिति में डाल लेते हैं। ऐसे व्यक्तियों को सहज ही पहचाना जा सकता है। आत्महीनता की ग्रन्थि अकारण ही मनुष्य को आलसी, असंतुष्ट, दम्बू, चापलूस तथा बात-बात पर खिन्न और क्षुब्ध होने वाले स्वभाव का बना देती है। उनसे कोई भी बेगार ले सकता है, उग सकता है। मन में वैसा न करने की बात रहते हुए भी इन्कार करने की हिम्मत नहीं होती है तो सामने वाले का आग्रह टालते नहीं बनता है।

इस प्रकार के दम्बूपन के अतिरिक्त आत्महीनता की विकृति उद्धत बनकर भी उभरती है और वह ऐसे कृत्य करने को उकसाती है, जिससे कि लोगों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया जा सके, विधिवत् असाधारण बनने के लिए तो आवश्यक है कि व्यक्तित्व का समग्र निर्माण किया जाय और उसे आत्मविश्वास से सम्पन्न बनाया जाये। कहना नहीं होगा कि व्यक्तित्व का समग्र निर्माण करने के लिए आदर्शवादी गतिविधियाँ अपनाने का साहस जुटाना पड़ता है तथा उस मार्ग पर चलते हुए श्रेष्ठ परिणामों को प्राप्त करने की प्रतीक्षा कर सके, इस स्तर का धैर्य जुटाना पड़ता है। आत्मविश्वास से रहित, आत्महीनता की व्याधि से ग्रस्त लोगों में ऐसा साहस और धैर्य जुटाने की सामर्थ्य कहाँ होती है ? सो वह उद्धत आवरण करके ही लोगों को अपनी ओर आकर्षित करने की रीति-नीति अपना लेता है और कई बार अपराधिक गतिविधियाँ भी अपना लेता है। यों इस तरह की गतिविधियाँ अपनाने और अपराध करने में भी हिम्मत

की आवश्यकता पड़ती है सो इस रास्ते से जल्दी सफलता मिलते देखकर हीनताग्रस्त व्यक्ति ऐसे लोगों का साथ ढूँढ़ता और संग करता है जो इन्हीं कुकृत्यों में संलग्न हैं। ऐसे आवारा लोगों का साथ पा लेने के बाद उसमें अपराध कृत्यों को करने का दुस्साहस भी उत्पन्न हो जाता है और इस अभ्यास से वह भी गुण्डागर्दी में संलग्न होकर स्वयं को आत्मगौरव सम्पन्न अनुभव करने लगता है। यही कारण है कि उच्छृंखल गतिविधियाँ अपनाने वाले अवांछनीय तत्त्व निजी जीवन में थोड़ी सी विपत्ति आते ही बुरी तरह रोने-कलपने लगते हैं। यह बात अलग है कि अवांछनीय गतिविधियाँ अपनाने के कारण वे सस्ती तरकीब से दुहरा लाभ उठाने की गतिविधियों को पेशे के रूप में अपना लेते हैं और बढ़े-चढ़े अपराध करने लगते हैं पर मूलतः वे होते आत्महीनता की भावना के शिकार हैं।

आत्महीनता ही वह कारण है जो स्वयं को उपेक्षित, तिरस्कृत और हेय स्तर का आभास देती है साथ ही उस आभास से अधिक बन ठनकर, साज-शृंगार के द्वारा दूसरे लोगों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने की प्रवृत्ति अपनाने के लिए प्रेरित करती है ताकि बहुत-से लोगों को अपनी ओर आकर्षित हुआ देखकर हेय आभास ही व्यथा पर आकर्षक होने का मरहम लगाया जा सके। अधिक बन-ठनकर रहने, साज-शृंगार करने वाले व्यक्तियों में निश्चित रूप से अधिकांश ऐसे ही होते हैं, जो अपने आपको तिरस्कृत, उपेक्षित एवं हेय स्तर का मानते हैं। भले वे अपने बारे में बढ़-चढ़कर बातें करते हों, आत्म संस्तुति से अघाते न हों पर मन में कहीं बहुत गहराई में यह भावना छिपी दबी रहती है। दूसरों के सामने अधिक आकर्षक दिखने, अमीरी का ढोंग रचने और शान-शौकत के लिए अपव्यय करने वाले लोग मूलतः औरों पर अपने बड़े होने की छाप ही छोड़ना चाहते हैं ऐसे व्यक्ति कम कीमत की मजबूत चीजें खरीदने के स्थान पर महँगी दुकानों से अधिक मूल्य वाली साधारण वस्तुएँ खरीदना ज्यादा पसन्द करते हैं और इसके पीछे दूसरों पर अपने बड़प्पन का आतंक जमाने के सिवा दूसरा कोई कारण नहीं होता। झूठे बड़प्पन की छाप छोड़ने के लिए आमदनी से अधिक खर्च भी उन्हें करना पड़ता है और परिणामतः ऋणी बनना पड़ता है अथवा आर्थिक तंगी का सामना करना पड़ता है।

यह तो हुई आत्महीनता की भावना को दबाने, ढकने और उसके लिए स्वाभाविक आचरण करने वालों की स्थिति। इस मनोव्याधि से ग्रस्त व्यक्तियों में एक-दूसरे प्रकार का लक्षण भी पाया जाता है, जो आत्मघात,

नशेबाजी और मनोवेगों के रूप में देखने को मिलता है। पिछले दिनों अमेरिका के एक मनःशास्त्री प्रो. हाइन्ज हाफनट ने अपने एक अध्ययन सर्वेक्षण में यह पाया कि आत्महत्याओं, नशीले पदार्थों के सेवन और आत्महीनता के कारण उत्पन्न रोगों में गहन सम्बन्ध है। ये रोग या प्रवृत्तियाँ छूत के रोग की तरह हैं और परस्पर इस ढंग से सम्बद्ध हैं कि एक व्यक्ति यदि उनमें से किसी एक प्रवृत्ति का शिकार है तो उसमें दूसरी प्रवृत्ति बढ़ने की बहुत सम्भावना रहती है।

प्रो. हाफनट का कहना है कि २५ वर्ष की आयु तक के युवक-युवतियाँ सबसे अधिक आत्महत्या का प्रयत्न करते हैं। इसी आयु वर्ग में स्त्रियाँ-पुरुषों से दुगुनी संख्या में आत्महत्या करती हैं। २५ वर्ष की आयु से ऊपर और ५० वर्ष तक की आयु वाले स्त्री-पुरुषों में यह अनुपात लगभग बराबर है। प्रो. हाफनट और उनके सहयोगियों ने देखा कि जो लोग आत्महत्या करते हैं उनमें से अधिकांश किसी न किसी नशीले पदार्थ का सेवन करते रहे हैं। आत्म-हत्याओं के पारिवारिक और सामाजिक परिवेश का अध्ययन करने के बाद पाया गया कि इन परिस्थितियों में आत्महत्या करने वाले लोग अपने आपको एकाकी, उपेक्षित और अकेला अनुभव करते थे और उन्हीं परिस्थितियों में ऐसे लोगों की ओर आकर्षित हो जाते थे, जो किसी न किसी मादक पदार्थ का सेवन करते थे।

अमेरिकी और ब्रिटिश वैज्ञानिक सम्मिलित रूप से अपने एक शोध-सर्वेक्षण में इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि मादक द्रव्यों का आदी व्यक्ति शीघ्र ही अपने सम्पर्क में आने वाले नये व्यक्ति को अपने जैसा ही बना लेता है। मजे की बात तो यह है कि स्वयं को एकाकी, उपेक्षित और अकेला अनुभव करने वाला व्यक्ति ही ऐसे नशेबाज की ओर जल्दी आकर्षित होता है तथा उस परिवेश में अपने को सुरक्षित अनुभव करने लगता अथवा आत्म-विस्मरण के गहन अन्धकार में डूब जाता है। यह भी देखा गया है कि मादक पदार्थों की ओर प्रायः ऐसे युवक-युवतियाँ ही अधिक आकर्षित होते हैं, जिन्हें माता-पिता से भरपूर स्नेह नहीं मिला है अथवा जो प्रायः उपेक्षित रहे हैं। बचपन में इस प्रकार उपेक्षित रहने वाले व्यक्तियों में चिन्ताजनक रूप से आत्महीनता की भावना पाई जाती है और प्रायः यही लोग जीवन में पथ-भ्रष्ट होते हैं।

अपने सर्वेक्षण से प्राप्त निष्कर्षों के आधार पर प्रो. हाफनट ने प्रतिपादित किया है कि जितने लोग दरिद्रता, बेकारी, पारिवारिक कलह, असफल प्रेम, निराशा, हताशा

और असाध्य बीमारी आदि कारणों से आत्मघात करते, उससे भी अधिक आत्मघात वे लोग करते हैं जो आत्महीनता की महाव्याधि से ग्रस्त रहते हैं। यही वह कारण है जिसकी प्रतिक्रिया मानसिक असन्तुलन के रूप में परिलक्षित होती है और लोग छोटी-छोटी कठिनाइयों या असफलताओं को बहुत बड़ा-चढ़ाकर देखते हैं। ऐसे लोग ही आत्मघाती कदम उठते हैं।

मनःशास्त्रियों के अनुसार आत्महीनता की भावना और भी न जाने कितने रोगों की, आधि-व्याधियों की जननी है। अतः उससे छुटकारा पाना ही श्रेयस्कर है। परिस्थितियों को बढ़ा-चढ़ाकर देखने की आदत और अपने आपको दूसरों के सामने छोटा, हेय, हीन समझने का स्वभाव ही आत्महीनता की व्याधि का प्रमुख लक्षण है। इस व्याधि को जड़मूल से मिटाने का उपचार सुझाते हुए मनःशास्त्री कहते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति को उचित और अनुचित में अन्तर करना आना चाहिए। ऐसे लोग अपने आप में इतना साहस सँजोयें कि जो सही है, उसी को अपनायें और जो गलत है उससे स्पष्ट इन्कार कर सकें। सहमत होना और हाँ करना अच्छी बात है पर वह इतनी अच्छी बात नहीं है कि यदि कोई बात अनुचित लग रही है और अनुचित लगने के पर्याप्त कारण हैं तो भी हाँ, कही ही जाय और सहमत हुआ ही जाय। स्पष्ट रूप से, निस्संकोच भाव से अस्वीकार करने की हिम्मत भी रखनी चाहिए। सोच-विचार करने में यह बात भी सम्मिलित रखनी चाहिए कि हर सही गलत बातें हाँ-हाँ करते रहने से दूसरों की दृष्टि में अपने व्यक्तित्व का वजन घट जाता है और आत्मगौरव को ठेस पहुँचती है वह तो अलग ही है।

विकसित और परिष्कृत व्यक्तित्व का अर्थ है, अपनी मान्यता को स्पष्ट किन्तु नम्र और सन्तुलित शब्दों में व्यक्त कर पाना। जो ऐसा नहीं कर पाते वह अपना मूल्य आप ही गिराते हैं।

अपने बारे में यह कभी नहीं सोचना चाहिए कि मैं कुछ नहीं हूँ बल्कि यह मानना चाहिए कि मैं भी इस संसार का एक महत्वपूर्ण घटक हूँ परमात्मा के इस उपवन का एक सुन्दर और उपयोगी आवश्यक फूल हूँ, जिसे असमय कुम्हलाने का कोई कारण नहीं है। दूसरों के प्रति और अपने प्रति तो विशेष रूप से अपने विचारों, मान्यताओं एवं भावनाओं का मूल्य है। विश्व भर में संव्याप्त असीम बुद्धि, चेतना और प्रचण्ड शक्ति सामर्थ्य का उपयुक्त तथा आवश्यक अंश प्रत्येक प्राणी में, प्रत्येक व्यक्ति में विद्यमान है। अपने भीतर निहित इस शक्ति और सामर्थ्य को पहचानने की सामर्थ्य प्रत्येक व्यक्ति में

होनी चाहिए और नहीं है तो उसका विकास करना चाहिए।

भय का मनोविज्ञान

अकड़न की बीमारी जब शुरू होती है तो सारे शरीर को बुरी तरह जकड़ लेती है, अंग सीधे नहीं होते, चलना-उठना कठिन हो जाता है, रक्त ठंडा पड़ जाता है और दिमाग सोचना बन्द कर देता है। चाहने पर भी शरीर कुछ काम नहीं करता। यह लक्षण अन्य बीमारियों के भी हो सकते हैं, पर सर्वसाधारण में तो इनका प्रकटीकरण भय के दौरान ही होता है। सिंह को देखकर हिरन चौकड़ी भरना भूल जाते हैं और किकर्तव्यविमूढ़ की सी स्थिति में पड़े रहकर बेमौत मारे जाते हैं। यही दशा मनुष्यों में तब पैदा हो जाती है, जब कोई अप्रत्याशित संकट सामने आ खड़ा होता है, फिर तो उससे कुछ भी सोचते नहीं बन पड़ता हाथ-पाँव फूलने लगते हैं और जो नहीं घटने चाहिए, वह सब घटित हो जाते हैं।

जे. कृष्णमूर्ति अपनी पुस्तक 'प्रथम और अन्तिम मुक्ति' में लिखते हैं कि जैसा कि भय के बारे में सोचा और समझा जाता है, वास्तविकता वैसी है नहीं। डर हमेशा ज्ञात के प्रति ही हो सकता है, अज्ञात के प्रति भय बनने का कोई कारण नहीं। जहाँ ऐसा प्रतीत होता है, वहाँ समझने में भूल हो जाती है। वे कहते हैं कि आम धारणा में मृत्यु को भयकारक माना जाता है, पर यह सच नहीं है, कारण कि साधारण स्थिति में न तो मौत को जाना जा सकता है, न उसकी अनुभूति की जा सकती है। जिसे देखा नहीं, जिसकी भयंकरता समझी नहीं, भला उससे डर कैसा ? त्रास के वास्तविक कारण का उल्लेख करते हुए वे बताते हैं कि संकट व्यक्ति को उस विलगाव में दिखाई पड़ता है, जहाँ वह अपने प्रिय कुटुम्बियों, वस्तुओं, संपदाओं, भोगों से स्थायी पृथक्ता की कल्पना करता है। अलग हो जाने की यही धारणा भय का यथार्थ कारण है।

कोई भूत, जिसके बारे में बालक ने कुछ सुना नहीं, कभी देखा नहीं, वह यदि अचानक उसके सामने प्रकट हो जाय तो इतना निश्चित है कि वह उसे देखकर भागेगा नहीं, वरन् और प्रसन्न होगा कि एकांत और सुनसान राह पार करने के लिए एक साथी मिल गया। यह अज्ञानता की निर्भयता है। यही कारण है कि दुनिया में बालक जितने निडर और निर्भय होते हैं, उतने शायद ही साधारण जन देखे जाते हैं। उनको न तो क्षणमात्र में भस्मसात् कर देने वाली आग के स्वभाव के बारे में

जानकारी रहती है, न साँप, बिच्छू की भयंकरता का परिचय होता है। इसीलिए आये दिन अग्नि के स्पर्श से उनके जलने और जहरीले कृमि-कीटकों को पकड़ लेने और पीड़ा भोगने के समाचार प्रकाश में आते ही रहते हैं।

दूसरी ओर धर्मभीरू लोग ईश्वर से इसलिए डरते हैं, क्योंकि उन्हें उसकी कर्मफल व्यवस्था और दंड विधान का पता होता है। वे अपंगों, बीमारों, कोढ़ियों के रूप में उनके पापकर्मों का दारुण फल-भोग देखते ही रहते और ऐसा प्रयास करते हैं, जिससे जीवन में कोई अनैतिक कर्म न बन पड़े, जिसका दण्ड आने वाले समय में, आगामी जीवन में भीषण त्रास की तरह झेलना पड़े।

इसके विपरीत ऐसे भी लोगों की कमी नहीं, जिन्हें भयंकरता का ज्ञान होते हुए भी भयकारक वस्तुओं, प्राणियों, परिस्थितियों से आँख-मिचौनी खेलते रहते हैं। सपेरे रोज ही काले विषधर नाग पकड़ते हैं, शिकारी शेर, बाघ का शिकार करते ही रहते हैं। उन्हें वे जरा भी डरावने नहीं लगते, वरन् उन्हें दूँढ़ते रहते हैं और मिल जाने पर प्रसन्न होते हैं, जबकि अजनबी व्यक्ति को साँप-शेर की तस्वीर देखने और चर्चा सुनने भर से पसीना छूटता है।

अँधेरे में घुसने में डर लगता है। सुनसान में प्रवेश करते हुए पैर काँपते हैं। मन में तरह-तरह की आशंकाएँ उठती हैं कि उस अँधेरे सुनसान में न जाने क्या विपत्ति होगी, न मालूम कैसे जहरीले जीव-जन्तु हों इतना सोचते ही दिल बेतरह धड़कने लगता है, पर जब उसमें निश्चिन्त प्रवेश किया जाता है, दीपक लेकर देखा जाता है, तो प्रतीत होता है कि वहाँ डरने जैसा कुछ भी नहीं था। मन की दुर्बलता ही है, जो जरा-सा आधार मिलते ही तिल का ताड़ बनाती है, काल्पनिक भय गढ़कर उन्हें इस तरह चित्रित करती है, मानो प्राणघाती सर्वनाश संकट आ गया। अब बचना कठिन है, जबकि वस्तुतः जरा-सा कारण ही वहाँ रहा होता है और वह भी इना छोटा कि उसके साथ आसानी से निपटा जा सके।

दुनिया में लाखों-करोड़ों लोग अँधेरे में रहते और आते-जाते हैं। वन्य प्रदेशों में यदा-कदा ही दीपक का प्रयोग होता है। किसान खेतों पर सोते हैं और रात को रखवाली करते हैं। छोटी झोपड़ियाँ बना कर सघन जंगलों में वनवासी परिवार समेत रहते हैं। धनी लोग सघन बस्ती से हटकर खुले बँगलों में रहते हैं। चोर-डकैत, भूत-पलीत कहीं किसी को खाते हैं ? यदा-कदा तो दुर्घटनाएँ दिन दहाड़े बीच बाजार में भी हो सकती हैं। संकट के

वास्तविक अवसर कम ही आते हैं। अधिकतर तो लोग काल्पनिक संकट गढ़ते हैं और अपने बनाये मानसिक चित्र को देख-देख कर डरते-मरते रहते हैं।

भय वस्तुतः कायरता की प्रतिकृति है। अपना चेहरा जैसा भी होगा, वैसा ही दर्पण में दीखेगा। आँखों में पीला चश्मा चढ़ा लेने पर हर चीज पीले रंग की दिखाई देगी। भीरू मनुष्य की आंतरिक दुर्बलता इस संसार-दर्पण में विपत्ति बनकर दीखती है। संकट का सामना करने की, उससे उलझने, निपटने की क्षमता अपने में नहीं है, ऐसा मान लेने के बाद ही डर आरम्भ होता है। जिसे यह भरोसा है कि कठिन परिस्थितियों का सूझ-बूझ के साथ मुकाबला करेंगे, उन्हें हटाने-मिटाने के लिए जूझेंगे, इसके लिए आवश्यक समझ और बल अपने पास है, मित्र और ईश्वर भी साथ देगे; इस प्रकार की हिम्मत यदि अपने में मौजूद हो तो काल्पनिक डरों से छुटकारा मिल पाता है और मन का अधिकांश बोझ हल्का हो जाता है।

विख्यात हंगेरियन मनोवैज्ञानिक फेरेन्ज नैडेस्डी ने अपनी पुस्तक 'फियर ऑर फ्रीडम' में भय का एक अन्य कारण गिनाते हुए लिखा है कि डर वहीं उत्पन्न होता है, जहाँ एक विशेष प्रकार के ढाँचे में जीने की इच्छा होती है, एक विशेष प्रकार के जीवन की चाह होती है। इस ढाँचे को, चाह को ढाह और त्यागकर व्यक्ति कुछ समय के लिए भय-मुक्त हो सकता है, पर ऐसा तभी है, जब वह इस सत्य को भली-भाँति जान ले कि उक्त आकांक्षा ही भय का कारण है और भय उस आकांक्षा को मजबूत कर रहा है। वे कहते हैं कि किसी एक ढाँचे को तोड़ देने मात्र से ही कोई पूर्णतया भयमुक्त नहीं हो सकता। इससे इतना ही अंतर पड़ सकता है कि हम एक शैली को छोड़कर किसी दूसरी जीवन-शैली में प्रवेश कर जायेंगे वह दूसरे प्रकार का भय उत्पन्न करेगी। इसे भी यदि तोड़ा गया तो कोई तीसरी जीवन शैली के हम अधीन हो जायेंगे। वह पुनः अपने तरह का भय पैदा करेगी। तथ्य यह है कि इस प्रकार किया गया कोई भी कार्य जो ढाँचा तोड़ने की प्रवृत्ति पर आधारित हो, केवल एक दूसरी प्रणाली उत्पन्न करेगा और भय का कारण बनेगा। अंततः वे भी इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इस प्रकार तोड़ने और बनाने की क्रिया से भय मुक्ति संभव नहीं। स्थायी शांति तभी संभव है, जब मूल निमित्त 'मन' को साधा और सुधारा जा सके।

अनैतिकता को भी भीरुता का एक कारण माना जाता है। जिसकी अंतरात्मा कलुषित और पाप कर्म से लिप्त है, वह कभी चैन की नींद न सो सकेगा। उसे

दूसरे की ओर से तरह-तरह की आशंकायें रहेंगी। उन्हें उनसे धोखा होने का, बदला लेने का, फँसा देने का डर बना ही रहेगा। पोल खुल जाने पर बदनामी फैलेगी और लोग सतर्क होकर उसके जाल में फँसने तथा देने से अलग हो जायेंगे। निंदा और असहयोग की स्थिति में उसका भविष्य ही अंधकारमय हो जायगा। इससे उसका मन सदा आशंकित रहता है। पापकर्म के फलस्वरूप समाज का दण्ड, राजदण्ड तथा ईश्वरीय दण्ड मिलते हैं। तीनों इकट्ठे होकर या पृथक्-पृथक् से वे कभी-न-कभी मिलकर ही रहेंगे। इस भय से भीतर-ही-भीतर बड़ी बेचैनी रहती है। इस आत्मदेव की पीड़ा उसे निरन्तर कचोटती रहती है। बाहर वाले दण्ड मिलने में तो देर-सबेर भी हो सकती है, पर आत्म दण्ड तो कुमार्ग पर कदम धरते ही मिलना आरम्भ हो जाता है और वह निरन्तर दुःख देता रहता है।

ब्रिटिश मनःशास्त्री रिचर्ड गार्नेट अपने ग्रन्थ 'साइकालॉजी ऑफ फियर' में लिखते हैं कि शारीरिक कष्ट एक स्नायुगत अनुक्रिया है, किन्तु मानसिक कष्ट तब उत्पन्न होता है, जब व्यक्ति का किसी वस्तु से गहनतम तादात्म्य हो जाता है। ऐसी स्थिति में वस्तु से उसकी निकटता, उसका लगाव, शांति और संतोषदायक होता है, क्योंकि तब वह उस व्यक्ति या वस्तु से भयभीत रहता है, जो उन वस्तुओं को उससे अलग कर सकते हैं। वे कहते हैं कि जब तक मनोवैज्ञानिक रूप से संचित अनुभवों में कोई बाधा नहीं पड़ती, वे मनोवैज्ञानिक कष्ट को रोकते हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि व्यक्ति इन समाहारों की, अनुभवों की एक गठरी है और यह किसी गम्भीर विक्षोभ या अशांति को रोकती है। ऐसे में व्यक्ति हर उस चीज से भयभीत रहता है, जो उन संचित अनुभवों में विक्षोभ पैदा करती है। इस तरह आदमी ज्ञात से भय पीड़ित रहता है। वह शारीरिक गणना मानसिक रूप से संचित उन अनुभवों से डरता रहता है, जिन्हें उसने अथवा कष्ट से बचने के लिए एकत्रित किया है। इस प्रकार वे भी इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यह ज्ञान भी कष्ट को दूर करने का एक साधन मात्र है, भय-मुक्ति का उपाय नहीं।

डर का एक बड़ा कारण अज्ञान भी माना गया है। आदिमकाल में मनुष्य को सूर्य ग्रहण, बिजली की कड़क, पुच्छल तारे आदि के बारे में कुछ पता न था। वह इनसे डरता था और देवता समझकर उनके कोप से बचने के लिए तरह-तरह के पूजन बलिदान करता था, पीछे जब वास्तविकता समझ में आ गई, तो वह डर सहज ही चला गया। भूत-पलीतों का डर अब धीरे-धीरे समाप्त

होता चला जा रहा है, पर उसके स्थान पर अब नये भय पैदा होते जा रहे हैं।

मनुष्य की विडम्बना यह है कि जिसका वास्तव में भय करना चाहिए, उससे वह निडर स्तर का बना रहता है और जहाँ भय का कोई कारण नहीं, वहाँ भयभीत होता रहता है। उसे पाप से डरना चाहिए, कर्मफल से डरना चाहिए, ईश्वर के न्याय से डरना चाहिए, पर इनसे वह भयभीत होने की आवश्यकता नहीं समझता। चोरी करते हुए, भोले लोगों को ठगते हुए, छल-प्रपंच रचते हुए, षड्यन्त्र अपनाते हुए, चुगली, नशेबाजी, व्यभिचार, बेईमानी, असत्य भाषण, मिथ्या प्रलाप करते हुए कौन डरता है ? डरते हैं मिट्टी के पुतले मनुष्य से, काल्पनिक भूत-पलीतों से, दीन-दुर्बल, कुकर्मी आतंकवादियों से। हमें अपने इस अज्ञान को समझना चाहिए और उन अकिंचन व्यक्तियों, वस्तुओं एवं परिस्थितियों से डरने से इन्कार कर देना चाहिए, जो वस्तुतः तुच्छ एवं असमर्थ हैं। डरना ही हो तो ईश्वरीय विधान और दुष्प्रवृत्तियों से डरना चाहिए। वास्तविक दुःख के निमित्त यही हैं और सुख के कारण भी इन्हीं में प्रच्छन्न हैं, इस तथ्य को जितनी जल्दी समझा जा सके उतना ही अच्छा।

मानसिक उद्वेग

जीवन विनाश के प्रमुख कारण

मानसिक स्वास्थ्य की परीक्षा के लिए यह देखना चाहिए कि चिन्तन की प्रक्रिया सही है या नहीं। जो बिना किसी वेदना अथवा विक्षोभ के हँसी-खुशी और सन्तोष, उत्साह भरा जीवन जी रहा हो और उसे मानसिक दृष्टि से स्वस्थ कहा जा सकता है। दूसरों के सुख को अपने सुख से अधिक महत्त्व देने वाले, दाम्पत्य जीवन से संतुष्ट, विनोदप्रिय, चिड़चिड़ेपन से मुक्त, असफलता और निराशा के वातावरण में भी अपना विवेक संतुलन बनाये रहने वाले मानसिक दृष्टि से स्वस्थ कहे जा सकते हैं।

नये व्यक्तियों के बीच नये वातावरण में अपने आपको फिट कर लेना, कभी भी अकेलापन अनुभव न करना, उदासी और खीज से बचे रहना, मन में किसी के प्रति चिरस्थायी ईर्ष्या-द्वेष न रखना—अपनी कठिनाइयों को हल्की और सुधरने योग्य मानना, भविष्य की उज्ज्वल सम्भावनाओं पर विश्वास रखना, भूतकाल की विपत्तियों का, भविष्य की विभिन्न आकांक्षाओं के चिन्तन करते रहने की बुरी आदत से बचे रहना, किसी व्यक्ति के मानसिक स्वास्थ्य संतुलन का उपयुक्त प्रमाण माना जा सकता है।

विपत्ति के समय धैर्य, शूरवीरों जैसी निर्भयता, पुरुषार्थ में अभिरुचि, मनोयोगपूर्वक परिश्रम, कठिनाइयों से जूझने का साहस, प्रफुल्ल और निश्चिन्त रहना, अपनी क्षमतायें बढ़ाने के लिए तथा त्रुटियों को सुधारने के लिए प्रयत्नशील रहना यह बताता है कि यह व्यक्ति मानसिक दृष्टि से नीरोग है। दूसरों से बड़ी-बड़ी आशाएँ न बाँधना और उनके सम्बन्ध में बहुत ऊँची कल्पनाएँ न गढ़ना भी इस बात का चिन्ह है कि मस्तिष्क यथार्थवादी है। बहुत ऊँची उड़ानें उड़ाने और किसी को बहुत ऊँची स्थिति का मान बैठने से अन्ततः निराशा ही होती है क्योंकि प्रायः सभी मनुष्य किन्हीं-किन्हीं दोषों से युक्त पाये जाते हैं।

मन पर छाये रहने वाले उद्वेग, असंतोष एवं आक्रोश मस्तिष्कीय कणिकाओं को इतना उत्तेजित कर देते हैं कि उनका प्रभाव समस्त शरीर पर अशान्ति एवं बेचैनी के रूप में दिखाई पड़ता है। घर का कलह, पैसे की तंगी, व्यावसायिक हानि, मुकदमा, शत्रुता, बीमारी, शोक-वियोग, क्रोध, भय, ईर्ष्या-द्वेष आदि अनेक कारण ऐसे हो सकते हैं, जिनके कारण मस्तिष्क पर असाधारण दबाव पड़े। कहना न होगा कि समस्त शरीर मस्तिष्क के ही नियन्त्रण में चलता है। मस्तिष्क उत्तेजित होगा तो उस उत्तेजना का प्रभाव नस-नाड़ियों, माँस-पेशियों, कोशिकाओं पर, प्रत्येक अंग-अवयव पर दिखाई पड़ेगा। उनकी गति बढ़ जायेगी और बेचैनी अनुभव होगी। इस स्थिति में जीवनी शक्ति का बेतरह क्षरण होने लगता है। क्रम बहुत समय जारी रहे तो शरीर के अंग-प्रत्यंग न केवल शिथिल होते जाते हैं वरन् उनमें तरह-तरह की विकृतियाँ भी उत्पन्न होती हैं। ऐसे उत्तेजना ग्रस्त व्यक्ति कई तरह के रोगों से ग्रसित होते चले जाते हैं और कई बार स्थिति इतनी विषम बन जाती है कि उसका समाधान मृत्यु ही आकर करती है।

संसार के मूर्धन्य व्यक्तियों में से अधिकांश को अल्पायु में ही अपना शरीर छोड़ना पड़ा। इसका प्रधान कारण उनके मस्तिष्क का अनावश्यक रूप से उत्तेजित रहना पाया गया। काम की अधिकता, प्रस्तुत योजनाओं की पूर्ति का ताना-बाना बुनना, उलझनों और समस्याओं को सुलझाने के लिए व्यग्रता, साथियों से असंतोष आदि कितने ही कारण मस्तिष्कीय क्षमता से अधिक दबाव उन पर डालते रहे, फलतः उस तनाव का परिणाम सारे शरीर की अव्यवस्था के रूप में सामने आता रहा। असामयिक मृत्यु का यह एक बड़ा कारण है जिसके कारण सुविकसित समझे जाने वाले सुसम्पन्न एवं मूर्धन्य लोग प्रायः जीवन काल की थोड़ी-सी मंजिल पूरी करके ही पैर पसार देते हैं।

तनाव के चिन्हों में सबसे प्रधान है, गहरी निद्रा का अभाव। ऐसे लोगों को देर से या कम मात्रा में नींद आती है। जितनी देर आती है वह भी हल्की और छिर-छिरी होती है। झपकियाँ आती रहती हैं और सपने देखते रहते हैं। अधजगी स्थिति बनी रहती है। ऐसी अर्ध निद्रित अवस्था में यदि सारी रात पड़े रहा जाय तो भी उतनी राहत नहीं मिलती जितनी दो-चार घण्टे गहरी नींद में सो जाने पर मिलती है। भोजन द्वारा पोषण प्राप्त करना जितना आवश्यक है, उतना ही आवश्यक यह भी है कि शरीर और मस्तिष्क की श्रमजन्य थकान को दूर करने के लिए समुचित विश्राम मिलता रहे। विश्राम का प्रमुख माध्यम है निद्रा। गहरी नींद द्वारा हम थकान मिटाते हैं और नये सिरे से काम कर सकने योग्य स्फूर्ति प्राप्त करते हैं। यदि नींद अधूरी रहेगी तो क्षति पूर्ति का समुचित साधन बन ही न सकेगा और मनुष्य थका-हारा अशान्त बेचैन बना रहेगा।

अनिद्रा और तनाव का घनिष्ठ सम्बन्ध है किन्तु वह मानसिक उत्तेजना के कारण ही उत्पन्न होती है। शारीरिक श्रम से अधिक थका हुआ मनुष्य तो आसानी से गहरी नींद में सो जाता है पर मानसिक उत्तेजनायें निद्रा आने में भारी बाधा उत्पन्न करती हैं। आवेशों से उद्विग्न मनुष्य भीतर ही भीतर बेतरह अशान्त रहते हैं और चैन की नींद सो नहीं पाते। कहना न होगा कि थकान उतारने के लिए और ताजगी प्राप्त करने के लिए निद्रा की अनिवार्य आवश्यकता है। नींद न आने से मानसिक एवं शारीरिक शक्तियों के खर्च की पूर्ति नहीं हो सकती। दूसरे दिन फिर काम करना पड़ता है। पिछले की पूर्ति होने नहीं पाई थी, नया बोझ और सिर पर आ गया इस प्रकार लगातार थकान का बोझ बढ़ता जाता है और मनुष्य दिन-दिन दिवालिया होता जाता है।

उद्विग्न मनुष्य असहिष्णु चिढ़-चिढ़ा और असंतुलित रहने लगता है। उसे तनिक-सी प्रतिकूलता पहाड़ जैसी भारी लगती है और घबराकर ऐसे कार्य करने पर उतारू हो जाता है जिसकी वस्तुतः कुछ भी आवश्यकता नहीं थी। इंग्लैण्ड बहुत छोटा देश है, पर उसमें हर वर्ष प्रायः ४० हजार मनुष्य आत्महत्या का प्रयास करते हैं, जिसमें ३५ हजार असफल रहते हैं और ५ हजार तो जान गँवा ही बैठते हैं।

निरन्तर गम्भीर विषयों पर सोचते रहने अथवा वास्तविक-अवास्तविक कठिनाइयों की बढ़ी-चढ़ी कल्पना करके उनके सम्बन्ध में चिन्तित, उद्विग्न रहने से मस्तिष्कीय कोशिका में गर्मी अत्यधिक बढ़ती चली जाती है और कभी-कभी वह इतनी अधिक होती है कि

२.२८ चेतन, अचेतन एवं सुपर चेतन मन

रक्तचाप की वृद्धि, अग्नि का प्रकोप जैसी बीमारियों के रूप में परिणत होती है। हृदय रोगों का प्रधान कारण ऐसी ही उद्विग्न मनःस्थिति होती है। कभी-कभी तो इसी तनाव के कारण मस्तिष्कीय रक्त नलिकायें तक फट जाती हैं और मनुष्य मृत्यु के मुख में चला जाता है। संसार में कितने ही मूर्खन्य राजनेता इसी प्रकार के रोगों से ग्रसित होकर मृत्यु के मुख में अचानक ही चले गये हैं।

डॉ. हेन्स सेल्वे के अनुसार मानसिक तनाव में शरीर का रासायनिक संतुलन बिगड़ता है। कई तरह के उपयोगी हारमोन उत्पन्न करने वाली मस्तिष्क में स्थित पिट्यूटरी, गुर्दे में स्थित एड्रीनल ग्रन्थियाँ अपरिपक्व और विकृत स्तर के हारमोन फेंकने लगती हैं फलतः शरीर का सारा ढाँचा ही चरमराने लगता है।

संसार के प्रगतिशील देशों में पुरुषों की अपेक्षा महिलायें अधिक दीर्घजीवी होती हैं। यों शरीर संरचना की दृष्टि से उनमें पुरुष की अपेक्षा कुछ कमी ही पाई जाती है और बच्चों को जन्म देने से लेकर उन्हें दूध पिलाने तक की प्रक्रिया भी ऐसी कष्टकारक एवं क्षतिपूर्ण है जिससे सामान्य बुद्धि के अनुसार उन्हें कम आयुष्मत् प्राप्त होनी चाहिए, किन्तु होता उसके ठीक विपरीत है। स्त्रियाँ पुरुषों की अपेक्षा न केवल अधिक दिन जीवित रहती हैं, वरन् वे बीमार भी कम पड़ती हैं। इन आश्चर्यजनक आँकड़ों पर गम्भीर दृष्टि डालने वाले मनीषियों ने उनका एक ही कारण खोजा है। अपेक्षाकृत अधिक चिन्ता मुक्त रहना और हँसने-खेलने का विनोदी जीवनक्रम अपनाना। मर्द जहाँ तरह-तरह की चिन्ताओं और समस्याओं में उलझा हुआ खीजता रहता है, वहाँ नारी शरीर और घर को अधिक सुन्दर बनाने, बच्चों के साथ हँसने-खेलने और विनोदी गतिविधियों में अधिक संलग्न रहती है। मस्तिष्क पर तनाव अधिक रहने से नर जहाँ अल्पजीवी होता है वहाँ निश्चिन्ता और प्रसन्नता को अपनाकर नारी अधिक दिन जीवित रह सकने में सफल होती है और अपेक्षाकृत नीरोग भी रहती है।

उपलब्ध आँकड़ों के अनुसार भारतीय नारी अधिक बीमार पड़ती है, जल्दी मरती है। विकसित देशों की अपेक्षा भारत की स्थिति में यह विपरीतता रहने का एक कारण यहाँ की अशिक्षा, पिंजड़े जैसे घरों में कैद रहना, पोषक आहार की कमी और प्रजनन का अधिक भार पड़ना भी है, पर सबसे बड़ा कारण है उनकी सामाजिक स्थिति, जिसमें पग-पग पर उन्हें शोषण, अपमान, उत्पीड़न, घुटन, असन्तोष एवं खीज का अनुभव होता रहता है। नीरस, निरर्थक, प्रताड़ित, प्रतिबंधित जीवन जीने की उद्विग्नता उनकी जिन्दगी की अवधि कम करने वाला बहुत बड़ा कारण है। यदि उन्हें सन्तोष और प्रसन्नता भरी परिस्थितियाँ विकसित देश की महिलाओं की तरह

उपलब्ध हो सकें तो कोई कारण नहीं कि वे भी अपेक्षाकृत अधिक दीर्घ-जीवी और अधिक नीरोग न रह सकें।

निराशा एक ऐसी प्रक्रिया है जो खींच-खाँचकर उन्हीं परिस्थितियों के निकट ले आती है जिनसे डरकर निराशा अपनाई गई थी। जितना दबाव निराशा का मस्तिष्क पर जमा किया जाता है उतना ही चिन्तन यदि उन परिस्थितियों को निकट लाने में केन्द्रित किया जाय, जिन्हें हम चाहते हैं तो निश्चित रूप से चमत्कारी प्रतिफल सामने आयेगा। अभीष्ट परिस्थितियाँ जो निराशा के क्षणों में बहुत कठिन दीख पड़ती हैं वे सरल और साध्य बनती चली जायेंगी। निराशाजन्य विपत्तियों और आशा के साथ सम्बद्ध उपलब्धियों पर यदि तुलनात्मक विचार किया जाय तो प्रतीत होगा कि गर्त में गिरने और ऊँचा उठने के लिए प्रयास करने की तरह वे अन्ततः व्यक्ति को कितनी भिन्न परिस्थितियों तक ले पहुँचती हैं।

एक व्यक्ति उतने ही समय पूर्व की ओर चले और दूसरा उतने ही समय पश्चिम की ओर चलता रहे तो उनके चलने की अपेक्षा दोनों की दूरी दूनी हो जायेगी। एक दिन में पूर्व को चलने वाला १० मील चला। दूसरे ने पश्चिम को १० मील प्रयाण किया। सायंकाल को वे एक-दूसरे से बीस मील दूर होंगे। ठीक इसी प्रकार निराशाग्रस्त और आशावादी मनुष्यों के बीच विपत्ति-सम्पत्ति का आश्चर्यजनक अन्तर पड़ जाता है। एक उतने ही समय गिरने का प्रयत्न करता रहा दूसरे ने वह समय और शक्ति उठने में लगाई तो कुछ ही समय बाद यह पता चल जायेगा कि उन दोनों की स्थिति में कितना भारी तुलनात्मक अन्तर उपस्थित हो गया।

मनोविज्ञानी सी० जी० जुंग ने अपनी पुस्तक 'मार्डन मैन इन सर्व ऑफ ए सोल' में रोग ग्रस्तों की चर्चा करते हुए लिखा है—उनमें से अधिकांश ऐसे होते हैं, जिनने अपने उज्ज्वल भविष्य पर से भरोसा खो दिया है। इन्हें किसी भी चिकित्सा द्वारा स्थायी रूप से अच्छा कर सकना कठिन है, एक के बाद दूसरे मर्ज उन पर हावी होते ही रहते हैं। रोग मुक्त केवल उन्हें ही किया जा सकता है, जिन्होंने अपने खोये विश्वास को पुनः वापिस लौटाने में सफलता प्राप्त कर ली।

शारीरिक और मानसिक थकान का, पश्चिम की अधिकता या पौष्टिक भोजन का अभाव उतना बड़ा कारण नहीं जितना कि मानसिक असन्तुलन। मनःशास्त्र के विशेषज्ञ इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि उतावली, आवेश, हड़बड़ाहट, चिन्ता एवं भावुकता ये उतार-चढ़ाव मनुष्य को अत्यधिक थका देते हैं। निराशाजन्य खीज, अधूरी आशाएँ,

सामर्थ्य से अधिक ऊँची महत्वाकांक्षाएँ, परस्पर विरोधी विचारों के अन्तर्द्वन्द्व, अनिश्चित एवं अनिर्णीत विचार, आत्महीनता, सामने प्रस्तुत काम में अरुचि, असफलता की आशंका, अविश्वास और भयग्रस्तता जैसे कारणों में उलझा हुआ मस्तिष्क इतना अधिक थक जाता है जितना कि पूरे दिन कठोर परिश्रम करने में भी नहीं थका जाता। ऐसे उलझे हुए मनुष्य कुछ काम न होने पर भी सदा थके-थके, खिन्न और खीजे हुए दिखाई पड़ते हैं।

शिकागो विश्वविद्यालय के परीक्षकों में बताया है कि अप्रिय मनुष्यों से मिलने, अप्रिय काम करने और अप्रिय परिस्थितियों में रहने से मनुष्य सबसे अधिक थकान अनुभव करता है। प्रियजनों के सम्पर्क में, अनुकूल परिस्थितियों में और अनुकूल कार्यों में संलग्न रहकर मनुष्य जितना काम कर सकता है प्रतिकूलताओं के बीच रहकर वह अपेक्षाकृत चौगुनी थकान अनुभव करता है।

थकान और तनाव भरा जीवन भार है। यह एक ऐसा भार है जिसे हम स्वयं ही अपनी मानसिक दुर्बलता एवं अस्त-व्यस्तता के आधार पर बनाते हैं और अपने कंधों पर लादते हैं। जीवन का, संसार का और अपनी सीमा का यदि सही संतुलन रखा जा सके तो न केवल तनाव रहित जीवन, हल्का-फुल्का जीवन जिया जा सकता है वरन् इतना प्रसन्न संतुष्ट रहा जा सकता है, जिसकी शीतल सुरभि का लाभ अन्य समीपवर्ती सम्बन्धित लोग भी उठा सकें।

अंग्रेज लेखक बेकन वृद्धावस्था में बहुत निर्धन हो गये थे। इसका एक कारण उनका चिन्तन में अधिक उलझा रहना और कमाई पर कम ध्यान देना भी था। एक दिन उनकी पत्नी ने कहा, बुढ़ापे में निर्धन होना कितना कष्ट कर है, क्या आपको यह स्थिति अखरती नहीं ?

बेकन ने शान्तचित्त से कहा—धन कमाना आसान है। जुट पड़ेंगे तो कमा ही लेंगे, पर मैं देखता हूँ जीवन जीना कितना कठिन है ? मैं उसी कला को सीखना आरम्भ कर रहा हूँ। उसके अनुसन्धान और प्रयोग मात्र में जब इतना रस मिलता है तो सोचता हूँ, उसकी अधिक उपलब्धि में न जाने कितना आनन्द होगा ? प्रिये, धन उतना आनन्ददायक नहीं जितना जीवन का सही भूल्यांकन और उपयोग कर सकने वाले दृष्टिकोण का विकास।

एल्वर्ट स्विटजर एक दिन बड़े तड़के घुटने टेक कर भाव भरी प्रार्थना कर रहे थे, ऐ मेरी दुनिया के स्वामी, आपने जीवन को जानने की जिज्ञासा के साथ

मुझे जोड़ ही दिया तो अब जीवन को क्षीण मत होने देना। जीवन रस का प्याला इतना मधुर है कि वह मुझसे छोड़ा न जा सकेगा। यह हट गया तो फिर मेरे लिए जीवित रह सकना असाध्य हो जायगा।

तनाव और थकान भरा जीवन जियें अथवा सरस सन्तोष को अपनाकर पुष्प की तरह खिलते रहें, यह चुनाव करना अपने दृष्टिकोण पर निर्भर है, परिस्थितियों पर आधारित नहीं जैसा कि आमतौर से समझा जाता है।

महत्वाकांक्षाएँ और असन्तोष

आज अधिकाधिक सफलता जल्दी से जल्दी प्राप्त करने के लिए हर व्यक्ति लालायित है। यह लालसा इतनी अधिक है कि वह अपनी उचित मर्यादाओं से कहीं अधिक चाहता है, यह नहीं सोचता कि मेरी योग्यता, श्रमशीलता तथा सामर्थ्य की तुलना में जो कुछ मिला हुआ है, वह सन्तोषजनक है या नहीं ? हर व्यक्ति असन्तुष्ट दिखाई पड़ता है। इसका कारण एक ही है कि वह जितना प्राप्त कर चुका है, कर रहा है उसे अपर्याप्त मानता है और अधिक वस्तुएँ प्राप्त करने के लिए लालायित है। जितनी आकांक्षा करता है, उसकी तुलना में उसे जितना कम मिला हुआ होता है, उतना ही वह दुःखी और असन्तुष्ट रहता है। असन्तोष एक प्रकार का दर्द है, जिससे मनुष्य को उसी प्रकार की बेचैनी बनी रहती है जैसे आँख का दर्द, पेट का दर्द, कान, का दर्द, डाढ़ का दर्द होने पर होती है। हम अपने चारों ओर ऐसे ही दर्दमन्दों का समूह इकट्ठा हुआ देखते हैं।

उन्नति की आकांक्षा एक बात है और असन्तोष बिल्कुल दूसरी। उन्नतिशील व्यक्ति आशा, उत्साह, धैर्य और साहस को साथ लेकर प्रसन्न मुखमुद्रा और स्थिर चित्त के साथ आगे बढ़ते हैं। गहरे पानी में उतरते हुए हाथी जिस प्रकार अपना एक-एक कदम बहुत सँभाल-सँभाल कर रखता है और जहाँ गड्ढा दीखता है वहाँ से तुरन्त पैर पीछे हटा लेता है, उसी प्रकार प्रत्येक उन्नतिशील व्यक्ति सँभल-सँभलकर अपना प्रत्येक कदम आगे बढ़ाता है। स्वस्थ चित्त एवं उद्वेगरहित व्यक्ति ही वर्तमान कठिनाइयों का सही कारण ढूँढ़ सकने और उसका उपाय खोज निकाल सकने में समर्थ हो सकता है। उसी की सूझ-बूझ ठीक तरह काम करती है और वही कठिनाइयों और बाधाओं का निराकरण कर सकने में समर्थ होता है और वही प्रतिकूल परिस्थितियों में देर तक दृढ़तापूर्वक खड़ा रह सकता है। जिसमें इतनी दृढ़ता न होगी वह अधीर व्यक्ति कभी किसी महत्वपूर्ण सफलता का अधिकारी न हो सकेगा।

उतावले और जल्दबाज, असन्तुष्ट और उद्विग्न व्यक्ति एक प्रकार के 'अध पगले' कहे जा सकते हैं। वे जो कुछ चाहते हैं उसे तुरन्त ही प्राप्त हो जाने की कल्पना किया करते हैं। यदि जरा भी देर लगती है तो अपना मानसिक संतुलन खो बैठते हैं और प्रगति के लिए अत्यन्त आवश्यक गुण मानसिक स्थिरता को खोकर असंतोषरूपी उस भारी विपत्ति को कंधे पर ओढ़ लेते हैं, जिसका भार लेकर उन्नति की दिशा में कोई आदमी देर तक नहीं चल सकता। असन्तोष एक प्रकार का मानसिक बुखार है। जिस प्रकार बुखार का रोगी शारीरिक और मानसिक दोनों ही दृष्टियों से अशक्त हो जाता है, खड़े होते ही उसके पैर लड़खड़ा जाते हैं, कुछ ही देर पढ़ने, बोलने या सोचने से सिर दर्द करने लगता है, उसी प्रकार असन्तोष से ग्रसित मानसिक रोगी भी कुछ कर-धर नहीं सकता। उसे कुढ़न ही हर घड़ी घेरे रहती है। क्षुब्ध और उत्तेजित मन से वह अंट-संट बातें ही सोच सकता है। दूसरों पर दोषारोपण करके अपने द्वेष और क्रोध को बढ़ाते रहना ही उससे बन पड़ता है। अपनी मानसिक स्थिति जिनने इस प्रकार की असंतुलित बना ली है, वे व्यक्ति अपने उद्वेग की उलझन में ही उलझे पड़े रहते हैं। उनकी सारी शक्तियाँ कुढ़न, द्वेष, असंतोष, छिद्रान्वेषण, दोषारोपण, प्रतिशोध, निन्दा, ईर्ष्या आदि में ही नष्ट होती रहती हैं। प्रगति के पथ पर बढ़ने के लिए जिन सदगुणों की आवश्यकता है वह इन असंतुष्ट व्यक्तियों को तिलांजलि देकर अपने आप पलायन कर जाते हैं और वह अभागा एक के बाद दूसरा, दूसरे के बाद तीसरा दुर्भाग्य अपने सामने उपस्थित होते देखता रहता है।

उन्नति की आकांक्षा एक बहुत ही उचित, स्वाभाविक एवं आध्यात्मिक मनोवृत्ति है। तुच्छता से आगे बढ़कर महत्ता को प्राप्त करना प्रत्येक मानव प्राणी का स्वाभाविक कर्तव्य है। जीवन की पूर्णता का लक्ष्य प्राप्त करने के लिए इस प्रकार की अभिलाषा का होना उचित भी है और आवश्यक एवं प्रशंसनीय भी। पर यह आकांक्षा तभी सफल हो सकती है, जब धैर्य, साहस, विवेक और पुरुषार्थ का समुचित सम्मिश्रण उसके साथ हो। प्रसन्न मन और स्थिर चित्त रहना इस मार्ग पर चलने वाले पथिक के लिए नितान्त आवश्यक है। वैज्ञानिक शोध करने वाले शोधकर्ता जीवन भर किसी शोध में लगे रहते हैं और एक प्रकार से सफलता नहीं मिलती तो दूसरा, तीसरा मार्ग सोचते हैं पर लगे उसी कार्य में रहते हैं। धैर्य में रती भर भी कमी नहीं आने देते, असंतोष की एक रेखा भी उनके चेहरे पर नहीं होती। काम को काम समझकर वे करते रहने को ही अपने संतोष का आधार

बनाये रहते हैं और वर्षों बीत जाने पर भी यदि सफलता न मिले तो खिन्नता की एक शिकन तक माथे पर नहीं पड़ने देते। यही स्थिति जिस किसी के मनःक्षेत्र की होगी केवल वही इस संसार में कोई महत्वपूर्ण कार्य कर सकेगा, केवल वही कोई बड़ी सफलता प्राप्त कर सकेगा।

असंतुष्ट व्यक्ति एक ओछा व्यक्ति है, जो प्रगति पथ पर बढ़ने की तैयारी में अपनी शक्ति को लगाने की अपेक्षा उसे कुढ़न में नष्ट करता रहता है। इस संसार की रचना कल्पवृक्ष के समान नहीं हुई है कि जो कुछ चाहे वह तुरन्त ही मिल जाय। यह कर्म भूमि है यहाँ हर किसी का अपना रास्ता आप बनाना पड़ता है, अपनी योग्यता और विशेषता का प्रमाण प्रस्तुत किये बिना कोई किसी महत्वपूर्ण स्थान पर नहीं पहुँच सकता। यहाँ हर किसी को परीक्षा की अग्नि में तपाया जाता है और जो इस कसौटी पर खरा उतरता है उसी को प्रामाणिक एवं विश्वस्त माना जाता है। ऐसे ही लोगों का दुनिया सहयोग करती है और उसे ही प्रगति के प्रवेश द्वार में घुसने की अनुमति प्रदान करती है। कुढ़न और असन्तोष किसी भी व्यक्ति के कुपात्र होने का सबसे बड़ा प्रमाण है। कुपात्रों का, टूटे और गंदे बर्तनों का स्थान सदा कूड़े के ढेर में रहा है। हम भी यदि अपनी कुपात्रता सिद्ध करेंगे तो सम्मान के स्थान पर नहीं पहुँचने दिये जायेंगे कूड़े के ढेर में ही पड़े रहेंगे।

इस संसार का यह नियम है कि हँसमुख, प्रसन्नचित्त, आशावादी, उत्साही और सन्तुष्ट व्यक्ति के पीछे-पीछे लोग फिरते हैं क्योंकि हर व्यक्ति अपने जीवन में कुछ दुःख और चिन्ता छिपाये बैठा रहता है, वह अपना मन हल्का करने के लिए ऐसा सहारा ढूँढ़ता है जहाँ उसके घावों को कुरेदा न जाय, मरहम लगे। मनोरंजन के लिए लोग इसीलिए अपना बहुत-सा समय और धन खर्च करते हैं। सिनेमा, खेल, तमाशों, मेले-ठेले, सैर, यात्रा आदि मनोरंजनों की आवश्यकता इसी दृष्टि से मानी जाती है। उनके दूसरे लाभ भी हो सकते हैं पर प्रधान उद्देश्य यही रहता है। यही आवश्यकता लोग उस व्यक्ति से पूरी करना चाहते हैं, जो संतुष्ट और प्रसन्न दीखता है। खिले हुए गुलाब के चारों ओर भीरे इसलिए मँड़राते रहते हैं क्योंकि फूल अपने आप में सर्वांगपूर्ण विकसित, प्रसन्न और सफल दिखाई देता है। सूखे, मुरझाये, कुचले हुए और सड़े-गले फूल पर भीरा तो क्या कोई मक्खी भी नहीं बैठती। उसे उपेक्षा, उपहास और तिरस्कार के गर्त में फँक दिया जाता है।

मुँह फुलाये, रूठे बैठे रहने वाले और चिड़चिड़ाते-बड़बड़ाते रहने वाले नर-नारी अपने समीपवर्ती लोगों की सहानुभूति खो बैठते हैं, उनसे सब लोग डरने और कतराने लगते हैं। चेचक और हैजा के रोगी से सब कोई अपना बचाव करते हैं कि कहीं यह छूत हमें भी न लग जाय। असंतुष्ट और खिन्न मनुष्य से झूठी सहानुभूति कोई भले ही प्रकट कर दे वस्तुतः मन ही मन उससे घृणा करते हैं और बचने की कोशिश करते हैं। कुढ़ने वाले व्यक्ति की कष्ट कथा सुनकर कौन आदमी अपने दुःख को बढ़ाना चाहेगा ? यहाँ तो सब को मनोरंजन की चाह है हँसोड़ और प्रसन्नमुख व्यक्ति की तलाश है। उसके समीप रहकर लोग अपना मनोरंजन करना चाहते हैं। मनहूस-सी शक्ल बनाये बैठे रहने वाले और दुःख दुर्भाग्य का रोना रोते रहने वाले लोगों के पास अपना मन क्षुब्ध करने के लिए भला कौन तैयार होगा ? सन्त और महापुरुषों की बात दूसरी है, वे दुःखियों के लिए अपना प्राण भी दे सकते हैं, पर सामान्य लोग तो उनसे बचने की ही कोशिश करेंगे।

उन्नति कोई उपहार नहीं है जो छत फाड़कर अनायास ही हमारे घर में बरस पड़े। उसके लिए मनुष्य को कठोर प्रयत्न करने पड़ते हैं, प्रतीक्षा करनी पड़ती है और एक मार्ग अवरुद्ध हो जाय तो दूसरा सोचना पड़ता है। गुण, योग्यता और क्षमता ही सफलता का मूल्य है। जिसमें जितनी क्षमता होगी उसे उतना ही लाभ मिलेगा। कभी-कभी इसके अपवाद भी हो सकते हैं पर आमतौर से होता यही है कि उत्कृष्टता को प्राथमिकता मिलती है। दूध को गरम करते ही उसका अच्छा अंश मलाई के रूप में ऊपर तैरने लगता है। जिन व्यक्तियों का व्यक्तित्व जितना सुव्यवस्थित होता है उन्हीं उतनी ही आसानी से उतनी ही बड़ी महत्ता एवं सफलता उपलब्ध हो जाती है। खेलकूद की प्रतियोगिताओं में जो खिलाड़ी अधिक सामर्थ्यवान होते हैं वे ही बाजी जीतते और पुरस्कार पाते हैं। परीक्षा में अच्छे नम्बर लाने वाले अपनी प्रतिभा का उचित परिणाम अनायास ही प्राप्त कर लेते हैं। यदि हम अपनी योग्यता बढ़ाने का प्रयत्न करें। गुण, कर्म, स्वभाव को सुव्यवस्थित बनायें तो असंतोष के कारणों का स्वयं ही समाधान होता चलेगा।

गरीबी दुनिया में वस्तुतः इतनी अधिक नहीं है जितनी कि दिखाई पड़ती है। मनुष्य प्रचुर धन का स्वामी बनने के अन्ततः ऐश्वर्य का सुखोपभोग करने के सपने देखा करता है। अपने से बड़े लोगों के साथ अपनी तुलना करके खिन्न होता है कि मैं भी इतना ही बड़ा

क्यों न हो जाऊँ ? बस, ईर्ष्या और तृष्णा की आग प्रचंड वेग से उसके मन में जलने लगती है। कपड़ों में लगी आग से जलता हुआ मनुष्य कोई और उपाय न देखकर कुएँ में कूद पड़ने को भी इस आशा से तैयार हो जाता है कि मेरी जलन मिट जायगी। इसी प्रकार जिसका मन महत्वाकांक्षाओं की तृष्णा में बुरी तरह जल रहा है उसके लिए कुकर्म के कुएँ में कूद पड़ना भी कुछ आश्चर्य की बात नहीं है।

मनुष्य अनेक वस्तु चाहता है। अपने से बड़े और सुखी सम्पन्न स्थिति के लोगों को देखकर यह इच्छा उत्पन्न होती है कि हमारे पास भी इतना ही वैभव और ऐश्वर्य क्यों न हो ? इस प्रकार की तृष्णा ही असंतोष का कारण देखी जाती है। हमें चाहिए कि अपने से नीचे गिरे हुए दुःखी, और गरीबों से अपनी तुलना करते हुए संतोष की साँस लें कि परमात्मा ने हमें अनेकों से कमजोर भले ही बनाया हो पर असंख्यों से ऊँचा भी रखा है। असंतोष के यदि दस कारण जीवन में होते हैं तो सौ कारण संतोष के भी होते हैं। जो कुछ संतोष के कारण हमें प्राप्त हैं उन पर विचार करें और उनसे अपना चित्त प्रसन्न रखने पर प्रयत्न करें तो दृष्टिकोण के बदलते ही मन की खिन्नता का प्रत्यावर्तन प्रसन्नता और उल्लास में हो जाता है। हर इच्छा किसी की भी पूरी नहीं हुई। सब को, जो कुछ है उसी पर सन्न करके अधिक प्राप्ति के लिए प्रयत्न करते रहना पड़ता है। यही क्रम शान्तिदायक है, इसी को अपनाकर हम संतोष के अधिकारी बन सकते हैं।

महत्वाकांक्षा गुणों की होनी चाहिए। हम दूसरों की अपेक्षा अधिक विद्वान, अधिक स्वस्थ, अधिक संयमी, अधिक सेवाभावी, अधिक सभ्य, अधिक सहिष्णु, अधिक धार्मिक बनें यह प्रतिस्पर्धाएँ यदि चलने लगे तो व्यक्ति का पतन नहीं उत्थान ही होगा। तुच्छ कीट-पतंग की तरह निम्न श्रेणी का जीवनयापन न करके हम नर-रत्नों की श्रेणी में अपना नाम अंकित करें, महापुरुषों जैसे आदर्श उपस्थित करें। जीवन का लक्ष्य पूर्ण करके जीवन मुक्ति का आनंद प्राप्त करें। ऐसी महत्वाकांक्षाएँ यदि मन में जाग्रत रहें और उनके लिए हम प्रयत्न करें तो उसका प्रतिफल ऐसा ही हो सकता है, जिसके आधार पर सभ्य-समाज की रचना और युग-निर्माण का उद्देश्य पूर्ण हो सके।

उत्तेजना-आवेग और आहार

आहार और आवेग का परस्पर गहरा सम्बन्ध है। संवेग के गड़बड़ाने, घटने या बढ़ने से खुराक प्रभावित होती है यह सर्वविदित है। खुराक यदि प्रभावित हुई तो उसके दो प्रकार के परिणाम सामने आते हैं—दुर्बलता अथवा मुटापा। भोजन की मात्रा कम होने से कमजोरी आती है और ज्यादा होने पर स्थूलता बढ़ती है। स्थिर स्वास्थ्य तभी बना रह पाता है, जब आवेग नियंत्रित हो।

एम. एस. गजेनिगा अपनी रचना 'पैटर्न्स ऑफ इमोशनल्स' में लिखते हैं कि हमारा पूरा शरीर तंत्र और उसकी गतिविधियाँ संवेगों पर आधारित हैं। इसके अच्छा होने पर शरीर-क्रिया सामान्य बनी रहती है, जबकि इसकी बुरी प्रकृति समस्त प्रणाली को असामान्य स्तर का बना देती है। ऐसी स्थिति में प्रत्यक्ष दिखाई पड़ने वाले आचार-व्यवहार से लेकर शरीर में चलने वाले सूक्ष्म आंतरिक क्रियाकलाप भी प्रभावित हुए बिना नहीं रहते। भूख चूँकि सूक्ष्म आभ्यन्तरिक हलचल की परिणति है, अतः उस पर भी भावनात्मक उथल-पुथल का स्पष्ट असर दिखाई पड़ता है। वे कहते हैं कि अध्ययनों के दौरान यह देखा गया है कि आह्लाद एवं तनाव की स्थिति में आहार की मात्रा बढ़ जाती है, जबकि उदासी और निराशा उसे अस्वाभाविक रूप से घटा देती है।

यह सच है कि बार-बार अधिक मात्रा में अधिक कैलोरी युक्त भोजन के लेने से मुटापा बढ़ता है पर आखिर तनाव के दौरान भोजन लेने की बार-बार आवश्यकता क्यों महसूस होने लगती है ? इस सम्बन्ध में शरीरशास्त्रियों का कहना है कि इसे आवश्यकता या इच्छा कहने के बजाय शरीर-क्रिया का एक अंग मानना ज्यादा उपयुक्त होगा। उनके अनुसार शरीर जब तनावग्रस्त होता है, तो भीतरी प्रणालियाँ उसे मिटाने के लिए अपने ढंग से प्रयास आरम्भ कर देती हैं और ऐसे रस-रसायनों का निर्माण करने लगती हैं, जो आन्तरिक दबाव को घटा सकें। इस क्रम में भूख उत्तेजित करने वाले रस-स्त्राव भी पैदा होने लगते हैं। इस स्त्राव के द्वारा काया तनाव को न्यून करने का उपक्रम करने लगती है। यही कारण है कि भोजन के मध्य व्यक्ति तनाव से कुछ राहत अनुभव करते हैं। यह राहत यों तो अस्थायी और अस्थिर होती है पर जब तक रहती है, व्यक्ति को आरामदायक स्थिति प्रदान किये रहती है।

इसी प्रकार जब कभी कोई बहुत गहरा भावनात्मक धक्का पहुँचता है तो एक बार फिर समस्त आन्तरिक संस्थानों का व्यतिक्रम हो जाता है और उससे आदमी

दूसरे ढंग से प्रभावित होता है। चूँकि तनाव और विषाद में बाह्य लक्षणों के साथ-साथ आन्तरिक संरचना में भी फर्क होता है, इसलिए देह-संस्थान उन दोनों के साथ पृथक्-पृथक् ढंग से पेश आता है। तनाव में जहाँ भूख उत्तेजित होती है, वहीं अवसाद में वह घटती है। दबाव की स्थिति में यदि क्षुधा बढ़ती है, तो इसका एक ही मतलब है-शिथिलता लाना और काया को अस्वाभाविकता से मुक्त बनाये रखना। चूँकि उदासी की दशा में शरीर प्रायः तनावरहित होता है, अतः भूख बढ़ाकर उसे घटाने-मिटाने का कोई प्रश्न ही पैदा नहीं होता। इसी कारण ऐसे समय में भीतरी तन्त्र क्षुधावर्धक रस उत्पन्न नहीं करते।

हाल की शोधों से भी इस तथ्य को बल मिला है कि भोजन और आवेग के बीच गहरा लगाव है। शिकागो मेडिकल स्कूल के अनुसन्धानकर्त्ताओं का कहना है कि डाइटिंग करने वाले लोग सामान्यजनों की तुलना में तनाव, आवेग और उत्तेजना के प्रति अधिक संवेदनशील होते हैं। उनके अनुसार यदि ऐसे लोग डरावने दृश्य देख लें, तो उनके संवेग में असामान्य ढंग से वृद्धि हो जाती है। इस बढ़ोत्तरी के कारण इस मध्य उनकी आहार की मात्रा में भी आश्चर्यजनक वृद्धि होती देखी गई। इस स्थिति में मुटापा भी बढ़ने लगता है।

एक प्रयोग के दौरान वहाँ के अन्वेषणकर्त्ताओं ने इस बात की पुष्टि कर ली। शोधकर्त्ताओं ने इसके लिए ३० महिलाओं का चयन किया। इनमें १५ स्त्रियाँ ऐसी थीं जो डाइटिंग करती थीं। इन सभी को निश्चित संख्या में कुछ सूखे खाद्य पैकेट दिये गये। इसके उपरान्त उन्हें एक भयोत्पादक फिल्म "हलोबीन" के कुछ डरावने दृश्य दिखाये गये। आधा घण्टा पश्चात् फिल्म की समाप्ति पर जब उनकी खाद्य सामग्री का लेखा-जोखा लिया गया तो अध्ययनकर्त्ता यह देखकर विस्मय में पड़ गये कि जो महिलाएँ नियमित डाइटिंग करती थीं, उन सबने डाइटिंग नहीं करने वाले ग्रुप से दुगुने परिमाण में भोजन उदरस्थ किया था।

उक्त परीक्षण से वैज्ञानिकों ने निष्कर्ष निकाला कि डरावने दृश्यों से तनावजन्य आवेग में वृद्धि होती है। काया उसे अपने ढंग से सुधारने के क्रम में आन्तरिक क्रिया-विधि में परिवर्तन लाती है। अन्तर के इस बदलाव के कारण भूख बढ़ाने वाले रसों का निर्माण होता है। इससे जठराग्नि की ज्वाला भड़कती है। क्षुधा बढ़ती है, तो बार-बार खाने की आवश्यकता अनुभव होती है, जिसके कारण मुटापे में उत्तरोत्तर विकास होने लगता है। इस वृद्धि के साथ शारीरिक कठिनाइयाँ भी बढ़ने लगती

हैं, जिससे व्यक्ति तब तक छुटकारा नहीं पा सकता, जब तक इसके पीछे के निमित्त को नियन्त्रित न किया जाय। देखा गया है कि भावनात्मक संवेग को साध लेने पर फिर इस प्रकार की शिकायत देर तक टिकी नहीं रह पाती। इसलिए विशेषज्ञ इस सम्बन्ध में प्रायः यह सलाह देते देखे जाते हैं कि आवेग और उत्तेजना पर यदि अंकुश लगाया जा सका तो एक सीमा तक मुटपे को नियन्त्रित किया जा सकना सम्भव है।

यों तो चर्बी बढ़ने के कई अन्य कारण भी हैं, पर सबमें प्रमुख भावनात्मक अव्यवस्था ही है। इससे भीतरी तन्त्रों पर दबाव पड़ता है जो चर्बी को बढ़ाने लगता है। इन दिनों अमरीका में पिछले समय की तुलना में ५१ प्रतिशत लोगों में यह शिकायत बढ़ी है। इसका प्रमुख कारण वहाँ डरावनी और हिंसक फिल्मों के प्रति बढ़ती लोकप्रियता है। स्वास्थ्य-संतुलन वस्तुतः अधिकाधिक इस बात पर निर्भर है कि हमारा आहार-विहार और दिनचर्या क्या है? किस वातावरण और परिवेश में हम रहते हैं? हमारी संवेगात्मक स्थिति कैसी है? इन बातों पर समुचित ध्यान दिया जा सके और इन्हें यदि असामान्य बने से रोका जा सके तो उन कारकों को भी नियन्त्रित किया जा सकना शक्य है जो शारीरिक स्थूलता वृद्धि के लिए जिम्मेदार हैं।

चेतना क्षेत्र की अराजकता

बढ़ते प्रदूषण एवं विकिरण, अमर्यादित प्रजनन, महामारियों, प्रकृति जैसी विभीषिकाओं को जो प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर हो रही हैं एक संतुलित मनःस्थिति से देखा जाय तो प्रतीत होता है कि ये सभी विग्रह मनुष्य की अपनी करनी से जन्मे हैं एवं इनकी प्रतिक्रिया अगले ही दिनों इस रूप में प्रकट होगी कि मनुष्यों का ही नहीं, अन्यान्य प्राणियों का रहना भी इस धरातल पर दूभर हो जायेगा। जब सर्वत्र विष ही विष का भरा-पूरा समुद्र हिलोंरें ले रहा हो, तो उसके बीच प्राणसत्ता का अस्तित्व किस प्रकार अक्षुण्ण बना रह सकेगा, यह विचारणीय प्रश्न है।

चेतना की शक्ति अपार है। उससे सृजन भी बन पड़ता है और महाविनाश का क्षण भी देखते-देखते सामने आ खड़ा हो सकता है। अद्यावधि प्रगति चेतनात्मक परिष्कार और विकास के ही आधार पर सम्भव हुई है। यदि वह उद्गम तन्त्र लड़खड़ा गया तो फिर न केवल असहयोग-जन्य बिखराव होगा, वरन् आक्रामकता के विस्तार की बाढ़ में मानवी सभ्यता के लिए ही नहीं सत्ता के लिए भी संकट खड़ा हो जायेगा। पतन के गर्त

में गिरते-गिरते उस स्थिति तक पहुँचा जा सकता है, जहाँ से फिर कभी लौटना सम्भव न हो।

विज्ञान की एक धारा विकृत बुद्धिवाद बनकर सामने आयी है। उसने प्रत्यक्षवादी विचारधारा को भी कम उत्तेजित नहीं किया। प्रत्यक्षवादी अर्थात् तात्कालिक लाभ को ही सब कुछ मान बैठने की धारणा। भले ही उसके कारण कुछ ही समय उपरान्त अनेक गुने संकटों को अति कष्टपूर्वक वहन करना पड़ा हो। दूरदर्शी विवेकशीलता को अमान्य ठहराने वाली, तुरन्त के लाभ को ही सब कुछ समझने वाली संकीर्ण स्वार्थपरता ही प्रत्यक्ष परायण बुद्धिवाद के रूप में एक नया तत्त्वदर्शन बनकर लोक चेतना को अपने वशवर्ती बनाने में सफल हुई है। इसकी क्रिया-प्रतिक्रिया और परिणति पग-पग पर प्रकट होती देखी जा सकती है। इस प्रत्यक्षवाद को वैज्ञानिक भौतिकवाद से किसी भी प्रकार कम भयंकर नहीं आँका जा सकता। वस्तुओं की अस्त-व्यस्तता मानव समाज को प्रभावित तो करती है, पर उतना नहीं जितना कि चिन्तन के गड़बड़ा जाने पर उद्धिग्न कर डालने वाले घटाटोप उमड़ते हैं एवं अर्ध-विक्षिप्तता जैसी स्थिति सामने आ खड़ी होती है।

आदर्शों का निर्वाह और असीम सुखोपभोग की आतुर लालसा का उद्देग एक स्थान पर एक साथ रह नहीं सकते। जहाँ एक रहेगा वहाँ दूसरे को पलायन करना पड़ेगा। अन्धकार और प्रकाश साथ-साथ रहने के लिए कहाँ सहमत होते हैं? विवशता का दबाव ही एक सीमा तक परस्पर एक-दूसरे को सहन कर पाता है। अनियन्त्रित लिप्सा तात्कालिक लाभ के लिए बड़े से बड़ा अनर्थ करने में भी नहीं हिचकती। यहाँ तक कि आत्मघात तक उस उन्माद में अनदेखा बनकर रह जाता है। नशे वालों की शारीरिक, मानसिक, सामाजिक, पारिवारिक, आर्थिक हर दृष्टि से कैसी दुर्दशा होती है, इसकी जानकारी प्रायः सभी को होती है। पर तत्काल मिलने वाली मस्ती को अपनाये बिना उस प्रकार के व्यसनियों से रहा नहीं जाता। दूर की बात कौन सोचे? परिणाम का अनुमान लगाने की फुर्सत किसे मिले? निषेध और विरोध अपनी लकीर पीटते रहते हैं पर नशे के व्यवसाय एवं नशेबाजों के समुदाय में दिन दूनी रात चौगुनी वृद्धि होती जाती है। विवेक को तिलाञ्जलि देने के उपरान्त उन्माद की तृप्ति ही एक मात्र अवलम्बन बन जाती है। दूसरों को दुष्परिणाम भुगतते देखकर भी आवेशग्रस्तों की आँखें नहीं खुलती।

जीभ के चटोरेपन में हाथों-हाथ स्वाद चखने का मजा आता है। इस प्रसंग में अत्यधिक मात्रा में अभक्ष्य

उदरस्थ किये जाते हैं। अपच उसी का प्रतिफल है। वह अपच जो कुछ ही दिनों पेट में सड़न भरी विषाक्तता उत्पन्न करके रक्त विकार से लेकर अनेकानेक रोगों का निमित्त कारण बनता है। कई बार तो दुष्परिणाम और भी जल्दी सामने आ खड़े होते हैं। उल्टी, दस्त, उदरशूल जैसी व्यापक चटोरे लोगों को अक्सर हाथों-हाथ ही होते देखी जाती हैं भारी पेट लेकर चलना, काम करना, गहरी नींद सोना कठिन हो जाता है। फिर भी जिह्वा के स्वाद की ललक इतनी प्रचण्ड रहती है कि स्वाद के नाम पर विष भक्षण करना पड़े तो भी अपनी हरकत से बाज न आयें। लोग प्रायः एक चौथाई जिन्दगी इस चटोरेपन के कारण ही गँवा बैठते हैं। जितने दिन जीते हैं वे भी रुग्णता और दुर्बलता से आये दिन कराहते हुए ही ज्यों-त्यों करके गुजारते हैं।

कामुकता अपने ढंग का एक दूसरा उन्माद है, जिसकी चसक और ललक होश सँभालने से लेकर मरते दम तक पीछा नहीं छोड़ती। यह जीवन रस को निचोड़ते रहने के अतिरिक्त और कुछ नहीं। यह अपने ओजस की फुलझड़ी जलाकर चित्र-विचित्र तमाशा देखने के अतिरिक्त और कुछ नहीं। दाद खुजाते-खुजाते रक्त निकल आता है, पर खुजाने वाले हाथ रुकते कहाँ हैं ? कुत्ता सूखी हड्डी चबाकर अपने मसूड़े छील लेता है और घावों से टपकने वाले खून को चाटकर समझता है कि सूखी हड्डी बड़ी रसदार और जायकेदार है। यौनाचार तो कुछ क्षण के लिए ही अवसर मिलने पर सम्भव होता है पर अश्लीलता का विषमज्वर तो मस्तिष्क को हर घड़ी आन्दोलित करता रहता है। ऐसे रंगीन सपने गढ़े और कल्पनालोक में फिल्माये दिखाये जाते हैं, मानो अब-तब में वह प्रत्यक्ष ही होने जा रहा हो। यह हवस कुदृष्टि को जन्म देती है। भगिनी, पुत्री को छोड़कर और सबकी पवित्रता तिरोहित हो जाती है और संसार भर की युवतियाँ मात्र ऐसी वेश्याएँ प्रतीत होती हैं, जो कल्पनाशीलों के लिए ही अपना समर्पण करने की प्रतीक्षा कर रही हों। इस ललक से यौनाचार से भी अधिक घातक और अहर्निश विषमज्वर की तरह चढ़ा रहने वाला बुखार मानसिक दक्षता को खोखला करके ही रहता है। शरीर तो समय, कुसमय निचुड़ता ही रहता है। चरित्र की दृष्टि से भी आचरण नर-पशुओं जैसे बन पड़ते हैं। इस अनर्थ को देखते हुए भी संयम बरतने की सूझ उभरती नहीं। वैयक्तिक और सामाजिक जीवन इसी कारण असह्य भार से दबता जाता है। राष्ट्रीय प्रगति तो बन ही कैसे पड़े ? विकास के जितने साधन जुट पाते हैं, उनसे अनेक गुने अभ्यागत पहले ही हाथ पसारे अपनी माँगें व्यक्त करते हुए देखे जाते हैं।

सज-धज, ठाठ-बाट, फैशन, शृंगार में अमीरी और अहमन्यता की पूर्ति मानने वाली ना-समझी आर्थिक भार इतना अधिक बढ़ा देती है कि उनकी आपूर्ति ईमानदारी की सीमित कमाई से बन ही नहीं सकती। इस पर भी कुरीतियों और अश्व-विश्वासों की मार जो धूमधाम वाली शादियों के रूप में जब मचलती है तो अर्थ संतुलन को पूरी तरह समाप्त कर देती है। श्रम से जी चुराने की, काम में हेटी मानने की, आलस्य प्रमाद में बड़प्पन अनुभव करने वालों की बिरादरी यदि सदा-सदा के लिए गरीबी के चंगुल में फँसी रहे तो इसमें आश्चर्य ही क्या ? आमदनी बढ़ने की बात सोचना उचित है पर अपव्यय के स्वभाव का अंग बने रहने पर तो कुबेर का खजाना भी खाली हो सकता है। प्रस्तुत अदूरदर्शिता को व्यापक गरीबी के कारणों में से सबसे प्रमुख और बड़ा माना जा सकता है।

मर्यादाओं और वर्जनाओं का अंकुश उतार फेंकने के उपरान्त गगनचुम्बी लिप्सा, लालचों, महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति के लिए एक ही मार्ग रह जाता है—अनाचार। उसके असंख्यों आकार-प्रकार हैं। दुर्बल स्तर के व्यक्ति चोरी, उठाईगीरी, ठगी, जुआ, प्रपंच पाखण्ड जैसे जाल-जंजाल रचते रहते हैं। भिक्षा माँगने से लेकर विश्वासघात करने तक में नहीं चूकते पर जो समर्थ हैं, उनके लिए तस्करी, डकैती, हत्या, गिरोहबन्दी, दादागिरी करने के द्वार खुले रहते हैं। वे आतंकवादी, आक्रमणकारी बनने से लेकर अपहरण और हत्याकाण्ड तक में कोई कसर नहीं रखते। इनके अन्तर्प्रान्तीय, अन्तर्राष्ट्रीय माफिया गिरोह तो ऐसे-ऐसे कुकृत्य करते हैं, जिनके विवरण सुनकर रोंगटे खड़े हो जाते हैं। जो सजातीय मनुष्यों पर दया नहीं कर सकते उनके लिए पशु-पक्षियों और जलचरों की घटना बना लेना बाँये हाथ का खेल ही हो सकता है। निर्दयता ही प्रकारान्तर में अपराध वृत्ति है जिसे मानवी गरिमा गँवा बैठने के उपरान्त ही अपनाया जा सकता है। आखिर यह सब है क्या ? इसके उत्तर में एक ही बात कही जा सकती है। तात्कालिक लाभ को प्रधानता देने वाले प्रत्यक्षवाद को लोक मान्यता मिलना। इसने कर्मफल, नीतिधर्म, लोक-परलोक, कर्तृत्व, औचित्य सभी को उठाकर ताक पर रख दिया है। रिश्वत से लेकर मिलावट तक के असंख्य वेशधारी अपराध इस एक ही कन्दरा से निकलने वाले टिट्टी दल हैं। पागल क्या नहीं करता ? विवेक के पलायन कर जाने पर मनुष्य समझदार दीखते हुए भी वस्तुतः भावना क्षेत्र का उन्मादी ही कहा जा सकता है। तथ्यतः यह सब प्रत्यक्षवाद की तूती बोलना ही कहा जायेगा।

सामाजिकता, नागरिकता, नीतिनिष्ठा, उदारता, न्यायशीलता और समाज-मर्यादा आदि सभी मानवी विशेषताओं को वस्तुतः शालीनता के ही विभिन्न पक्ष और प्रयोग के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। जब मनुष्य नितान्त स्वार्थपरायण हो जाय और उसने क्षुद्रतम संकीर्णता अपना ली हो तो फिर मत्स्य न्याय अपनाया या उसका शिकार बनाना ही एकमात्र नियति रह जाती है। यह पशुओं से भी गई-गुजरी स्थिति है। पशुओं पर प्रकृति का अंकुश तो रहता है, वे उसे तोड़ने की उच्छृंखलता तो नहीं बरत पाते, पर मनुष्य तो सर्वथा स्वतन्त्र जो उठेगा। किसी नियम-मर्यादा का पालन करना न करना पूरी तरह उसकी स्वेच्छा पर निर्भर है। वह ईश्वर से लेकर, समाज शासन के तथाकथित अंकुशों को पूरी तरह अँगूठा दिखा सकता है। फिर कभी कुछ खामियाजा भी भुगतना पड़ा तो निर्लज्जों का इतने में क्या बनता-बिगड़ता है ?

यही हैं वे सब कारण जिसके कारण न नीति बची है, न सामाजिक मर्यादा। धर्म कर्तव्य जैसी बातें तो मनोविनोद की चर्चा भर बनकर रह गई हैं। उन्हें व्यवहार में उतारने की आवश्यकता कौन समझता है ? स्पष्ट है कि इस स्तर की मनःस्थिति के रहते परिस्थितियाँ ऐसी रह ही नहीं सकतीं जिसमें सुख चैन से रहा और रहने दिया जा सके।

शारीरिक रुग्णता, मानसिक उद्विग्नता, आर्थिक अभावग्रस्तता, पारिवारिक विभ्रंशलता, सामाजिक अराजकता के रहते आशंका, अनिश्चितता और आतंक का ही माहौल सर्वत्र छाया रह सकता है। जिस-तिस बहाने उपद्रव और विग्रह उभरते ही रहेंगे। आपसी असहयोग बना रहे, आन्तरिक असंतोष भरा रहे तो बाहरी क्षेत्र की सुविधाएँ किसी का क्या हित साधन कर सकती हैं ? समाचार सुनने का, पढ़ने का जब भी अवकाश मिलता है तो अनर्थों की ही तूफानी बाढ़-सी आई लगती है, संदेह होता है कि देव निवास कहा जाने वाला धरातल कहीं भूत-प्रेतों की भयावह दुनिया में तो नहीं बदल गया। ऐसी दशा में शान्ति और प्रगति की योजनाएँ बनाना एक स्वप्न संसार गढ़ लेने के समतुल्य ही माना जायेगा।

ऐसे ही वातावरण की प्रतिक्रिया प्रकृति को कुपित करती है और ऐसी दैवी प्रकोपों की झड़ी लगाती है, जिनके कारण न पूरी तरह जीते रहना बन पड़े और न सर्वथा मर जाना ही सम्भव हो। इसे साँस चलना रोक देने वाली घुटन जैसी स्थिति कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी। इन दिनों हम सब ऐसे ही माहौल में रह रहे हैं। जब-तब इस सन्दर्भ में बड़े विस्फोट भी फूटते हैं,

तब चौंकते हैं कि यह अनर्थ हम सबको काल के गाल में न झोंक दे।

भविष्य की विभीषिकाओं की अक्सर भविष्यवाणियाँ होती रहती हैं, उनके पीछे विद्यमान कारणों में बढ़ता हुआ प्रदूषण, उभरता अभाव, उदभिजों जैसा प्रजनन, सामाजिक सद्भावों का विघटन ही नहीं, एक अत्यन्त सबल कारण यह भी है कि मनुष्य ने अपने भावनात्मक, चिन्तनपरक, चारित्रिक एवं उदार सहकारिता के अनुबन्धों को तिलाञ्जलि देते हुए ऐसी संस्कृति अपना ली है, जिसे बौद्धिक प्रत्यक्षवाद पर अवलम्बित मानवी सत्ता के हर पक्ष में घुस पड़ी अराजकता ही कहा जा सकता है।

क्या मानवी सत्ता मात्र रसायनों की पोटली है ?

भारतीय दर्शन के अनुसार मनुष्य भावनाओं का एक पुंज है तथा भावनाओं की पूर्ति के लिए एक पंच भौतिक पुतला रचा गया है। यही शरीर है। शरीर भावनाओं की पूर्ति के लिए है न कि भावनाएँ शरीर की पूर्ति के लिए।

जिस प्रकार बुद्धिवादी भौतिक विचारधारा के अनुसार जीवन का उद्भव कुछ रसायनों के सम्मिश्रण से हो गया, उसी प्रकार भारतीय दर्शन की मान्यता है कि जीवन का उदय परब्रह्म की उस भावना से हुआ, जिसमें उसने एक से अनेक होने की इच्छा की। वैदिक मान्यता के अनुसार अनादि ब्रह्म को जब अकेलापन अखरने लगा तो उसके मन में संकल्प उठा “एकोऽहं बहुस्यामि” तथा वह एक से अनेक में विभक्त हो गया। इस प्रकार जीव तथा मनुष्य का उद्भव भावना से हुआ।

इसीलिये मनुष्य भावना से उद्भूत भावनाओं का एक पुतला है। इन भावनाओं ने स्वयं को विचारों तथा पंचभौतिक शरीर के रूप में प्रकट किया है। शरीर भावनाओं की अभिव्यक्ति है, मनुष्य का मूल रूप नहीं।

इसे समझने के लिए मानवी सत्ता की तुलना समुद्र में तैरने वाले आइस वर्ग से की जा सकती है। इसका १/९ भाग ही जल में ऊपर तैरता दीखता है, शेष ८/९ भाग पानी के अन्दर होता है। यदि आइस वर्ग का अदृश्य भाग सम्पूर्ण मानवीय सत्ता है तो दृश्य भाग को इसकी काया माना जा सकता है। आज के विज्ञान ने मनुष्य को सिर्फ शरीर मानकर वैसी ही मूर्खता की है, जैसी दस नाविक ने जिसने हिमिखण्ड को छोटा समझकर उसके गोचर भाग को ही उसका वास्तविक स्वरूप मानकर उसमें अपना जहाज भिड़ाया था।

चिकित्साशास्त्र मनुष्य को रसायन मानकर रोगों का कारण व निवारण रसायनों में खोज रहा है। इस प्रयोजन में जो उसके हाथ लगा, वह सर्वविदित है। हाई ब्लड प्रेशर पर जितनी शोध हो रही है, उतना ही वह बढ़ता जा रहा है। शरीर का कोना-कोना छान मारने पर भी कैंसर का कारण ज्ञात नहीं हुआ। कारण वहाँ हो तो मिले। वह तो पानी के नीचे छिपे हिमखण्ड के अदृश्य भाग में है, अब तथ्य सिद्ध होता जा रहा है देखा जाता है। कि अधिकांश शरीर की व्याधि एक ऐसी भावनात्मक विकृति का बाहरी लक्षण है, जो मनुष्य के गहन अन्तराल में होती है, पर दीखती वह नहीं। गलती हम यही कर बैठते हैं कि जो दृश्यमान रोगग्रस्त भाग है, उसे ही सब कुछ मानकर उपचार उसीका करने लगते हैं और जो सूत्रधार बना बैठा पूरे तन्त्र का संचालन कर रहा होता है, उसे अदृश्य व मुख्य कारण पक्ष की उपेक्षा कर बैठते हैं। फलतः चिकित्सा प्रयास के बावजूद निराशा ही हाथ लगती है। जब तक कारण के मूल तक नहीं पहुँचा जा सकता सफलता की आशा दुराशा मात्र ही रह जायेगी। विकृत भावनाएँ किस प्रकार कथिक रोग का स्वरूप ग्रहण करती हैं। इसका अच्छा उदाहरण उस अमेरिकी महिला का है जो खुजली से बुरी तरह परेशान थी। यह खुजली उसे तभी उठती जब वे प्रार्थना करने गिरजाघर जाया करतीं। अनेकानेक उपचार करवाये पर खुजली ठीक न हो सकी। अन्त में वह अमेरिका के प्रख्यात मनःशास्त्री नॉरमन विसेण्ट पिल के पास पहुँचीं और सारा हाल कह सुनाया। वहाँ विगत जीवन की कुरेदबीन से ज्ञात हुआ कि वह जिस फर्म में नौकरी करती थीं, वहाँ से प्रायः कुछ पैसे चुरा लिया करती थीं और अपना अर्थाभाव पूरा करती थीं। कुशल विशेषज्ञ ने तुरन्त भाप लिया कि निश्चय ही रोग का कारण इसी चोरी से कहीं छिपा है। उसने महिला को सलाह दी कि वह इस चोरी को अपने मालिक के समक्ष प्रगट कर क्षमा याचना माँग ले और यह भी आश्वासन दे कि वह आगे ऐसी गलती नहीं करेगी। महिला ने ऐसा ही किया और देखते ही देखते उसका मर्ज समाप्त हो गया।

इस प्रकार दिन-प्रतिदिन यह तथ्य अब और सुस्पष्ट होता जा रहा है कि भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिए ही शरीर तन्त्र की व्यवस्था सृष्टा ने की है। भावनाएँ जिस स्तर की होती हैं उसका प्रभाव परिणाम भी काया में उसी स्तर का दृष्टिगोचर होता है। स्वच्छ भावनाओं से शरीर सदा स्वस्थ बना रहता है, जबकि रुग्ण अन्तःकरण अनेकानेक बीमारियों का निमित्त कारण बनता है। इन दिनों इसके प्रमाण-उदाहरण सर्वत्र देखे जा सकते हैं। क्या ग्रामीण, क्या शहरी, क्या अमीर, क्या गरीब आज सभी

स्वास्थ्य की समस्या से परेशान हैं। आये दिन हट्टे-कट्टे लोग हार्ट अटेक या कैंसर से मरते देखे जाते हैं और यह सब तब हो रहा है जब हर व्यक्ति पिछले दिनों की अपेक्षा स्वास्थ्य के प्रति कहीं ज्यादा जागरूक है। पोषण के सिद्धान्त स्कूलों, कॉलेजों में तथा रेडियो टेलीविजन द्वारा जन-जन तक पहुँचाये जा रहे हैं। जितनी मेडिकल रिसर्च आज हो रही है, शायद इतनी पहले कभी न हुई हो। अस्पतालों, डाक्टरों व डिस्पेंसरियों की संख्या उसी तरह बढ़ रही, जैसे कैंसर का फोड़ा और उसके साथ-साथ बढ़ रहे हैं रोग “सुरसा के मुँह” की तरह। कारण यही है कि आज के विज्ञान की मूलभूत मान्यताएँ ही गलत हैं।

मनुष्य शरीर नहीं है तथा रोग का कारण बाह्य परिस्थितियों में विद्यमान नहीं है। इस तथ्य को स्वीकारने पर ही स्वास्थ्य संकट समेत अन्यान्य समस्याओं का सही समाधान हस्तगत होने की आशा की जा सकती है। पिछले दिनों के शोध निष्कर्ष से भी इसकी पुष्टि हुई है।

चिकित्सा विज्ञान के क्षेत्र में शोध के दौरान पाया गया कि जीव कोष अपने वातावरण में उपलब्ध रसायनों का उपयोग भर करता है। इनसे उसके अंतरंग में चलने वाली मूलभूत प्रतिक्रियाएँ बदलती नहीं और न किसी प्रकार से प्रभावित ही होती हैं। मनुष्यों तथा जानवरों से बुढ़ापे की प्रक्रिया (एजिंग प्रोसेस) का अध्ययन कर रहे वैज्ञानिकों को कुछ ऐसे ही प्रमाण मिले हैं। इसाडोर रॉसमैन द्वारा संपादित “विलनिकल जिरिएटिक्स” पुस्तक में बुढ़ापे की मूलभूत प्रक्रिया पर प्रकाश डालते हुए डॉ. राल्फ गोल्डमैन ने लिखा है कि “बुढ़ापा एक ऐसी प्रक्रिया है जो कोष के अन्दर से ही उपजती है। बाह्य वातावरण (रसायनों आदि) में उसका कारण विद्यमान नहीं है।”

कोषीय बुढ़ापे (सेल्युलर एजिंग) पर की गई आधुनिकतम शोधों में कोषों को रासायनिक दृष्टि से उत्तमोत्तम कल्चर माध्यमों में रखकर देखा गया। यह पाया गया है कि कोषों के बुढ़ापे को किसी भी पोषक या रासायनिक तत्त्व से रोका नहीं जा सकता। सब प्रकार के अनुकूल माध्यमों (कल्चर मीडिया) में भी कोषीय बुढ़ापे की दर नहीं रही।

इस प्रकार सिद्ध हो गया है कि दवाएँ या रसायन मनुष्य को बुढ़ा होने से नहीं रोक सकते। यदि मनुष्य मात्र रसायनों का खोल होता तो कोई कारण नहीं कि उसका बुढ़ापा रसायनों पर आधारित न होता। बुढ़ापे के समान ही कोषों की अन्य मूलभूत प्रक्रियाओं ने भी बाह्य रसायनों से अप्रभावित माना गया है।

जीवकोष का विभाजित होकर १ से २ में परिवर्तन हो जाना भी एक मूलभूत कोषीय प्रक्रिया है तथा इसका कैसर से विशेष सम्बन्ध है। कोष १ से २ में क्यों और कब परिवर्तित होते हैं ? इसके नवीनतम ज्ञात नियम को “दि कन्सेण्ट ऑफ क्रिटिकल सेल मास” कहा जाता है। “दि फिजियोलॉजिकल बेसिस ऑफ मेडीकल प्रैक्टिस” ग्रन्थ में इस सन्दर्भ में विस्तृत प्रकाश डाला गया है। इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक कोष विभाजन उसके अन्तरंग से सम्बन्ध रखता है। कोष को एक से दो होने की प्रेरणा बाहर से नहीं आती। वह कोष के अन्दर से ही उपजती है। जब कोष का भार किसी निश्चित भार से अधिक हो जाता है तो वह दो में विभक्त हो जाता है। कोष को विभाजित होना चाहिए। ऐसी कोई सूचना बाहर से नहीं आती। यह प्रक्रिया उस वैदिक मान्यता से बिल्कुल मेल खाती है, जिसमें कहा गया है कि जीव का उद्भव एक अन्तःस्फुरणा से हुआ।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि मनुष्य मात्र रसायनों का समुच्चय ही नहीं वरन् भावनाओं का पिटारा भी है, जिसमें भावनाएँ प्रधान और रसायन गौण हैं। यदि ऐसा नहीं रहा होता, शरीर मात्र रसायनों पर आधारित होता तो अभीष्ट रसायन के उपयुक्त परिमाण में इकट्ठा होने पर जीवकोष का विभाजन आरम्भ हो जाना चाहिए पर प्रयोगों के दौरान ऐसा कुछ होता नहीं देखा गया। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि अन्तःप्रेरणा ही वह आधारभूत कारण है जो कोषों का विभाजन, अभिवर्धन, परिवर्तन को नियन्त्रित करता है। तात्पर्य यह है कि जन्म से लेकर मृत्युपरान्त शरीर में जो अनेकानेक परिवर्तन परिलक्षित होते हैं, उसमें अन्तःप्रेरणा भावना का महत्वपूर्ण हाथ होता है।

इस तथ्य पर वर्तमान युग की अभिनव-चिकित्सा विधा “सजेस्टोलॉजी” द्वारा और अधिक प्रकाश पड़ता है। इससे यह सहज ही जाना जा सकता है कि भावना शरीर को किस हद तक प्रभावित करती है। चूँकि यह पद्धति भाव प्रधान है, अतः सीधे भाव-क्षेत्र को प्रभावित करती है। इसी कारण आटोसजेशन और हेट्रोसजेशन से होने वाले स्वास्थ्य लाभ चमत्कारिक स्तर के देखे जाते हैं, क्योंकि इसकी पहुँच रोग की जड़-विकृत भावना तक होती है। इस प्रणाली द्वारा कैसर तक को ऑटो सजेशन से ठीक करने का दावा किया गया है। सजेशन से होने वाले अप्रत्याशित व चमत्कारी लाभों को देखकर बड़े-बड़े ने दाँतों तले उँगली दवा ली है। यह तो सभी मानते हैं कि मनःसंस्थान शरीर को प्रभावित करता है। पर इन उदाहरणों ने शरीर तथा मन के बीच नौकर और मालिक जैसा रिश्ता स्थापित कर दिया है।

ठीक से देखा जाय तो यह कोई चमत्कार या आश्चर्य नहीं है। जिन भावनाओं पर शरीर आधारित है उन्हीं की विकृति से यह रोगी हुआ था तथा विकृति के निवारण से स्वस्थ हो जाय तो यह नितान्त स्वाभाविक ही है। सच तो यह है कि भावनात्मक विकृति सही हुए बिना रोग स्थायी रूप से सही हो ही नहीं सकता।

रसायनों द्वारा की गई चिकित्सा कुछ समय के लिए ऊपरी लीपा-पोती तो कर सकती है, पर ये बेचारे जड़ रसायन भावनाओं में घुसी रोग की उस सूक्ष्म जड़ तक कैसे पहुँचे जब तक रोग स्रोत रूप में शरीर में विद्यमान रहेगा, तब तक वह इस रासायनिक लीपा-पोती को फोड़कर किसी-न-किसी व्याधि के रूप में प्रकट होता ही रहेगा। इसके विपरीत यदि रोगी की भावनाएँ स्वस्थ हो जायें तो शरीर का स्वस्थ होना अथवा रोग का निराकरण होना अवश्यम्भावी हो जायेगा।

“साइकोसोमेटिक” रोगों का भी रसायनों के आधार पर उत्तर देना असम्भव है तथा इन रोगों का साइकोथैरेपी (मनःचिकित्सा) के आधार पर जिससे कोई रसायन कहीं खिलाये जाते ठीक हो जाना भी एक ऐसा प्रश्न है जो रसायनों की थ्योरी से मेल नहीं खाता।

सबसे बड़ा प्रश्न वहाँ उठता है जहाँ पैरासाइकोलॉजी की बात चलती है। अतीन्द्रिय क्षमताओं का होना वैज्ञानिक परीक्षणों के आधार पर सिद्ध किया जा चुका है। किन्तु साइफेनोमेना किसी भी भौतिक, रासायनिक आधार पर वहीं समझाई जा सकती। एक शीशे में रखा हुआ रसायनों का डेला (या एक खोपड़ी में बन्द रसायनों का पुंज मस्तिष्क) यह कैसे जान लिया कि दूसरी खोपड़ी में क्या रखा है, दूसरा व्यक्ति क्या सोच रहा है ?

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान ने इन सब जंजालों से बचने के लिए यह मान लिया कि मनुष्य में शरीर की सुविधा के लिए एक मानसिक शक्ति या क्षमता भी कार्य करती है, पर इसका उद्भव रसायनों के शरीर से कैसे हुआ इस प्रश्न के उत्तर में वह मौन है।

कुछ भी हो यह अवश्य है कि शरीर रसायनों से बना है। इसकी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए अन्न, जल, वस्त्र जैसे माध्यमों की जरूरत होती है यह भी सही है किन्तु यह गलत है कि रसायन ही मनुष्य शरीर को बनाते चलाते हैं और वे ही उसके मनःसंस्थान को प्रभावित करके सोचने तथा करने के लिए प्रेरित करते हैं। मनुष्य के साथ रसायन लिपटे तो हैं पर

वे उसकी स्वामी नहीं हैं। आत्म चेतना ही वह शक्ति है, जो मानवी मस्तिष्क और शरीर की अधिष्ठात्री है। उसका सन्मार्ग कुमार का चयन करने पर जीवन की प्रगति एवं दुर्गति होती रहती है।

दुर्बल मनःस्थिति पर पड़ने वाले

आघात और उनकी प्रतिक्रिया

शरीर पर मस्तिष्क का नियन्त्रण है। शरीर रोगों का मोटा कारण आहार-विहार की विकृति माना जाता है पर यह ध्यान रखने की बात है कि न केवल शरीर गत वरन् जीवन के सभी क्षेत्रों में बढ़ती जा रही विकृतियों का मूल कारण मानसिक विकृतियाँ ही होती हैं। असंयमी, अस्त-व्यस्त व्यक्ति मानसिक दृष्टि से अविकसित होता है उसे अपने कलपुर्जों का, अंग-अवयवों का ठीक तरह उपयोग करना नहीं आता, फलतः वे टूट-फूटकर अवांछनीय स्थिति पैदा करते हैं। शरीर रोगियों में से जो आहार-विहार की सामान्य गड़बड़ियों से पीड़ित होते हैं, वे औषधि लेने एवं परहेज करने से जल्दी ही अच्छे हो जाते हैं, पर जिनकी जड़ें मस्तिष्क की गहराई में घुसी होती हैं, वे शरीर चिकित्सा के अनेक साधन जुटाने पर भी अच्छे नहीं होते।

मानसिक रोगों में एक बहु प्रचलित रोग है 'हिस्टेरिया'। यों यह स्त्री-पुरुष, बाल-वृद्ध किसी को भी किसी भी आयु में आरम्भ हो सकता है, पर उसका अधिक आक्रमण स्त्रियों पर होता है और उसके आरम्भ होने की आयु किशोरावस्था अथवा उसके बाद नव यौवन में प्रवेश करते समय की होती है। मस्तिष्क का शरीर पर से कुछ समय के लिए नियन्त्रण टूट जाने और अचेतन में जमी विकृतियों का नंगा नृत्य दिखाने की अवांछनीय स्थिति को हिस्टेरिया, अपस्मार, मृगी आदि नामों से पुकारते हैं।

हिस्टेरिया को एक किस्म का सामयिक एवं मानसिक पक्षाघात कह सकते हैं। साधारण लकवे में भी गड़बड़ी तो मस्तिष्क की ही होती है, पर उसमें सोचने की शक्ति का लोप नहीं होता किन्तु शरीर के हाथ-पैर, मुँह आदि अन्य अंग भी प्रभावित होते हैं। परोक्ष में स्नायु संस्थान को जो आघात लगा है, उसे यंत्रों द्वारा जाना, आँका जा सकता है। हिस्टेरिया की स्थिति इससे थोड़ी भिन्न होती है। उसका दौरा कुछ ही समय के लिए आता है और बिना उपचार के अपने आप ही अच्छा हो जाता है। नाड़ी संस्थान की जाँच करने पर उसमें कोई खराबी प्रतीत नहीं होती। चेतना का पूर्ण लोप अथवा आंशिक व्यवधान दो ही बातें हो सकती हैं। पूरा दौरा

पड़ने पर रोगी बेहोश होकर गिर जाता है। आग में जलने या गहरी चोट लगने तक का पता नहीं चलता। दाँत भिच जाते हैं,, साँसें लम्बी चलती हैं, घबराहट जैसी आवाजें निकलती हैं, मुँह से झाग गिरता है, हाथ-पैरों में अकड़न तथा ऐंठन के लक्षण दीखते हैं। अधूरे दौरे में गिरने की नौबत नहीं आती। रोगी जो कर रहा था वही करता रहता है। दौरे से पूर्व हाथ जो कर रह थे, पैर जिधर चल रहे थे उधर ही उनकी गति बनी रहती है। आँखें खुली रहने पर भी ठीक से देख नहीं पाती। इसी प्रकार कान, जीभ आदि भी मस्तिष्कीय नियन्त्रण छूट जाने से अव्यवस्थित हो जाते हैं। दौरे के समय रोगी इच्छापूर्वक किसी अंग से काम नहीं ले सकता। इच्छा शक्ति तक गायब हो जाती है। मस्तिष्क न कुछ सोच सकता है और न कुछ करने का आदेश शरीर के किसी अवयव को दे सकता है। गिर पड़ने वाली और ऐंठन, अकड़न उत्पन्न करने वाली स्थिति तो यह नहीं है फिर भी मस्तिष्क और इन्द्रियों का सम्बन्ध विच्छेद तो हो ही जाता है। इन्हीं सभी लक्षणों की न्यूनाधिक मात्रा को सामयिक पक्षाघात कहा जा सकता है।

हिस्टेरिया का नामकरण डॉ. हिपोक्रेट ने किया। वे इसे गर्भ कोष की गड़बड़ी मानते थे। ग्रीक भाषा में 'हिस्टेरो' गर्भाशय को कहते हैं। काम संवेदनाएँ मन-मस्तिष्क और जनेन्द्रिय को समान रूप से प्रभावित करती हैं। एक की स्थिति का प्रभाव दूसरी पर पड़ता है। अस्तु यह संगति मिलाई गयी कि गर्भकोष की विकृतियाँ नाड़ी संस्थान के माध्यम से मस्तिष्क को प्रभावित करती हैं और उभार की स्थिति में दौरे पड़ते हैं।

गैलेन, फ्रायड, वैविनोर्स्क होप आदि के मन विशेषज्ञों के अपने विचार हैं वे कहते हैं कि असंतोष से मानसिक संतुलन बिगड़ता है उसी की एक प्रतिक्रिया 'हिस्टेरिया' है। उनसे इसका दोष कामेच्छा एवं दूसरी इच्छाओं की अतृप्ति के सिर थोपा है। शारकोट और वैविनोर्स्की आदि विशेषज्ञ इसे भय की प्रतिक्रिया मानते हैं वे कहते हैं किसी घटना से अथवा कल्पना, आशंका से डरने वाला मनुष्य हिस्टेरिया का रोगी हो सकता है। शारकोट की खोजों में हिस्टेरिया ग्रसित रोगियों में दो-तिहाई संख्या नव युवतियों की होती है और उनमें से अधिकांश का मानसिक संतुलन दाम्पत्य जीवन की विसंगतियों के कारण बिगड़ा होता है। वे कहते हैं कि स्त्रियाँ प्रायः मानसिक दृष्टि से बहुत भावुक और कोमल होती हैं। दाम्पत्य जीवन संतुलित रहने पर वे जहाँ बहुत पुलकित पाई जाती हैं वहाँ उस संदर्भ में छोटे-मोटे, आघात भी उन्हें तिलमिला देते हैं। यह असंतुलन कितने

ही मानसिक रोगों को जन्म देता है। उन्हीं में से एक बहु प्रचलित रोग हिस्टीरिया भी है।

शरीर विकास क्रम में कई बार तीव्र उभार आते हैं। शैशवं पार करके किशोरावस्था में प्रवेश, किशोरावस्था पर यौवन का नशा—जवानी में असंख्य उत्तरदायित्वों का लद जाना, प्रौढ़ावस्था से बुढ़ापे की गई, गुजरी और जरा-जीर्ण स्थिति का आधमकना जैसे परिवर्तन एक चलते ढर्रे में भारी व्यतिरेक उत्पन्न करते हैं। अभ्यस्त स्थिति छोड़कर अनभ्यस्त में प्रवेश करना पड़ता है। इससे कई उलझनें और कई उत्तेजनाएँ पैदा होती हैं। यदि व्यक्ति में साहस का अभाव है तो इस प्रकार आगे धकेले जाने और पिछले प्रिय के छिने से उसे असुविधा होती है और डर लगता है। इस स्थिति में उत्पन्न हुई उलझनें मानसिक विक्षोभ उत्पन्न करती हैं और उनके कारण कई अटपटे रोग उत्पन्न होते हैं जिन्हें 'दि प्रडिस्पोजिंग' की संज्ञा दी जाती है।

ऐसी स्त्रियाँ परिवार के अन्य लोगों के साथ ही नहीं, अपने बच्चों के प्रति भी उदास या कर्कश रहने लगती हैं और उनके लालन-पालन में, स्नेह-दुलार में उपेक्षा बरतती हैं। उन्हें समय न कुसमय मारती-पीटती तथा भार-भूत मानकर दूसरी तरह की प्रताड़नाएँ देती हैं।

गर्भ धारण के दिनों स्वास्थ्य का गड़बड़ा जाना, उस स्थिति में भी पिसते-पिटते रहना, प्रसव की असह्य पीड़ा, प्रसूति काल में असाध्य रोगी जैसी दुर्बलता नव जात शिशु की आठों प्रहर साज-सँभाल, परिवार के लोगों द्वारा अछूत समझकर दूर-दूर करना जैसी बातें मिलकर इतना बुरा असर डालते हैं कि प्रथम प्रजनन में ही उनका मानसिक स्वास्थ्य टूट जाता है। जल्दी-जल्दी अनिच्छित संतानें जनने की विवशता उन्हें अपनी असहाय स्थिति पर आँसू बहाने वाली प्रतीत होती हैं और वे खिन्न, उद्विग्न रहने लगती हैं।

किशोरावस्था की दहलीज पर पैर रखते-रखते लड़कियों को मासिक धर्म होने लगता है। देखने में यह एक नियतकालीन मल विसर्जन जैसी क्रिया प्रतीत होती है, पर वस्तुतः वह भीतर ही भीतर असाधारण परिवर्तन साथ लेकर आती है। कितने ही नये 'हारमोन' विकसित होते हैं, प्रजनन अंगों की पुष्टि एवं उत्तेजना सारे शरीर को, विशेषतया मस्तिष्क को प्रभावित करती है। नाड़ी-संस्थान में विचित्र हलचलें उत्पन्न होती हैं। उस स्थिति में उन्हें सूझ नहीं पड़ता कि क्या करें क्या न करें ? सहज विकास की रीति उपलब्ध न हो तो अवांछनीय चिन्तन एवं क्रिया-कलाप में उलझने से भय, आशंका, दुराव, उमंग नियन्त्रण, आवेश आदि का

संमिश्रण कई प्रकार के मानसिक रोग उत्पन्न कर देते हैं। जो बच्चियाँ छोटी आयु में बहुत ही सरल थीं वे इस विचित्र स्थिति में पड़कर अपना मानसिक संतुलन गँवाती और सनकी, अव्यवस्थित बनती दीखती हैं।

सुशिक्षित, सुविकसित, प्रगतिशील परिवारों की बात दूसरी है। वयस्क सहेलियों से, पुस्तकों, पत्रिकाओं से उन्हें गृहस्थ जीवन की भावी सम्भावनाओं का बहुत कुछ आभास मिल जाता है और वे उसके लिए मानसिक तैयारी करती रहती हैं, जिससे समय पर ससुराल जाना उन्हें अटपटा नहीं लगता और कष्टकारक भी नहीं होता, पर अविकसित वातावरण में अथवा भोली अनजान मनःस्थिति में रहने के कारण उन्हें जब अचानक ससुराल में जाना पड़ता है, वहाँ तो पूर्णतया अनभ्यस्त वातावरण मिलता है, साथ ही नियन्त्रण की कठोरता, आलोचना, भर्त्सना और रूखेपन से भरे व्यवहार का सामना करना पड़ता है तो वे अकचका जाती हैं। प्रिय परिवार का बिछोह उन्हें सताता है। पति का स्नेह-सौजन्य एवं मृदुल-कोमल व्यवहार सान्त्वना दे सकता था पर अनाड़ी वातावरण में वह भी सम्भव नहीं। काम कौतुक उनके सामने नृशंस बलात्कार के रूप में आता है। फलतः ये बेतरह भयभीत हो उठती हैं। आजीवन आये दिन उन पर यही अत्याचार होने हैं, यह सोचकर ये बेतरह घबरा उठती हैं। छुटकारे का, बचाव का कोई मार्ग न पाकर उनकी मनःस्थिति आतंक ग्रस्त बन जाती है और उसमें भूतोन्माद, हिस्टीरिया तथा अन्य कई प्रकार के मानसिक रोग उठ खड़े होते हैं। भारत के पिछड़े क्षेत्रों में आधे से अधिक नव वधुओं को इसी विपत्ति में होकर गुजरना पड़ता है। बाल-विवाह इस विपत्ति का मुख्य कारण है। ससुराल की कठोरता बदनाम है। ऐसी दशा में नव वधुओं को कितने ही प्रकार के मानसिक रोगों से ग्रसित पाया जाता है। पारिवारिक-कलह, दाम्पत्य जीवन में असामंजस्य, बेसऊर, फूहड़, आलसी, अनाड़ी, अवज्ञाकारी होने के लक्षण वस्तुतः उन मानसिक रोगों की ही देन हैं जो ससुराल पहुँचते-पहुँचते नव वधुओं को बेतरह दबोच देते हैं।

नारी की मानसिक संरचना में भावुकता के तत्त्व अधिक हैं। मुद्दतों से चली आ रही सामाजिक अनीति ने नारी को मानवोचित अधिकारों से वंचित करके उसे पिछड़े वर्ग की दयनीय स्थिति में धकेल दिया है, फलस्वरूप उसे अपमानजनक और पराधीन स्थिति में रहना पड़ता है, पग-पग पर अपनी भावनाओं को दबाना पड़ता है यह कुचली हुई मनःस्थिति इतनी दुर्बल हो जाती है कि तनिक सी प्रतिकूलता में वह संतुलन खो बैठती है। प्रतिकूलताओं के साथ ताल-मेल बिठा लेने का गुण

साहसी और विवेकवानों में होता है पर जिनकी स्थिति वैसी नहीं है वे सामान्य जीवनक्रम से आगे बढ़कर जब अनभ्यस्त प्रक्रिया में प्रवेश करते हैं तो उनका मानसिक ढाँचा लड़खड़ाने लगता है और वे घबराहट में अनाड़ी, फूहड़, भुलक्कड़ जैसे स्तर के अव्यवस्थित आचरण करने लगती हैं। इस पर और उल्टी डॉट पड़ती है। यह भर्त्सना उन्हें और भी अधिक असंतुलित करती है। प्रतिकूलताएँ चाहे कितनी ही छोटी क्यों न हों भावुक और दुर्बल संरचना के मस्तिष्क पर इतना दबाव डाल सकती हैं मानो कोई भारी विपत्ति सामने आ खड़ी हुई हो। ऐसी दशा में हिस्टेरिया के दौर जैसे रोग भी उन्हें अपने चंगुल में कस सकते हैं।

नई उम्र का उभार ही लड़कियों में अनभ्यस्त उत्तेजना उत्पन्न करता है और वे उस उभार में उल्टा-सीधा सोचने और उल्टा-सीधा करने लगती हैं एक ओर मानसिक उभार दूसरी ओर सामाजिक प्रतिबन्धों का भय, चक्की के दो पाटों के बीच में पड़े अनाज की तरह वे पिसने लगती हैं। इस स्थिति में कई प्रकार के मानसिक रोग उन्हें आ घेरते हैं उन्हीं में एक अति चिन्ताजनक हिस्टेरिया भी है।

मनोविज्ञानी जुंग का कथन है—मनुष्य की आन्तरिक तृप्ति स्नेह से होती है, वह सबसे अधिक जिस वस्तु को चाहता है, वह है प्यार। इसे मानसिक विकास के लिए उतना ही महत्व दिया जाना चाहिए जितना की शरीर रक्षा के लिए अन्न-जल को और पौधों के लिए खाद-पानी को। जिसे प्यार न मिलेगा उसकी मनःस्थिति मुरझाई रहेगी, उसकी उर्वरता मन्द पड़ जायेगी और जरा-जरा सी बात में वह उलझा, खोया और चिन्तित दिखाई पड़ेगा। कभी-कभी तो वह अवज्ञाकारी और उच्छृंखल, उद्धत भी हो जाता है। प्यार से मनुष्य बँधता और बाँधता है। इसके अभाव में वह एकाकी हो जाता है। वह न किसी का होता है न किसी को अपना मानता है। उपेक्षा और तिरस्कार के वातावरण में पलना सचमुच ही एक बड़ा दुर्भाग्य है। यह अन्न-जल की कमी से दुर्बल बने शरीर की तरह ही मनोबल को क्षीण करने वाली स्थिति है।

प्यार का अभाव, असुरक्षा की आशंका, कठोर नियन्त्रण, आशंका-युक्त चिन्ता, कुसंग से उत्पन्न विकृतियाँ बालकपन से ही मनुष्य के विकास क्रम को लड़खड़ा देती हैं। छोटपन में वे विकृतियाँ दूसरे रूप में रहती हैं पर बड़े होने पर उनका झुण्ड इकट्ठा होकर हिस्टीरिया या उन्माद की ओर कोई स्थिति उत्पन्न कर देती हैं। घुटन कई रूप में फूटती है मनुष्य को अवांछनीय आचरण

करने के लिए प्रेरित करती है। उसे बाँध तोड़कर बाहर निकलने के एक प्रकार को इस प्रकार भी देखा जा सकता है।

हिस्टेरिया का एक दूसरा प्रकार है, 'सामयिक उन्माद'। इसे भूत, पलीत या देवी-देवताओं के आवेश के रूप में देखा जा सकता है। शिक्षितों में यह आवेश दूसरी कई तरह की सामयिक उचंगों के रूप में आता है और वे अपने आप को क्रोध आदि आवेशों से ग्रसित पाते हैं। कई बार तो ऐसी स्थिति अपने लिए तथा सम्पर्क में आने वाले व्यक्तियों के लिए घातक बन जाती है। आवेशग्रस्त स्थिति के साथ रोगी जब भूत-प्रेतों के या देवी-देवताओं के आक्रमण के साथ संगति बिठा लेता है, तब वह प्रवाह उसी दिशा में बहने लगता है और ऐसे लक्षण प्रकट होते हैं जिनमें ऐसा प्रतीत होता है मानो सचमुच ही कोई भूत बेताल उन पर चढ़ दौड़ा हो।

'ऐक्जाइटी न्यूरोसिस' एवं हिस्टेरिक न्यूरोसिस को हिस्टीरिया तो नहीं कहा जा सकता पर उसकी 'सहेली' या 'छाया' कहने में हर्ज नहीं है। कोई कल्पना जब मस्तिष्क पर असाधारण रूप से हावी हो जाती है तो उसे अनुभूतियाँ उसी प्रकार की होने लगती हैं। भूत-प्रेतों के आवेश प्रायः इस स्थिति में आते हैं। मस्तिष्क में असंतुलन का दौरा पड़ता है रोगी के मस्तिष्क का एक बहुत छोटा अंश यह अनुमान लगाने की चेष्टा करता है कि इस आकस्मिक हलचल का कारण क्या हो सकता है। उसे दूसरे लोगों पर भूतों का आवेश आने की जानकारी देखने या सुनने से पहले ही मिल चुकी होती है अस्तु, क्षण भर में अपनी स्थिति उसी प्रकार की मान लेने का विश्वास जम जाता है। बस, इतनी भर मान्यता शरीर के हिलने, झुमने, गरदन डुलाने, लम्बी साँसें, उत्तेजना आदि भूतोन्माद के लक्षण प्रस्तुत कर देती है।

इसी श्रेणी में देवी-देवताओं के आवेशों की गणना की जा सकती है। भूतोन्माद अधिक अविकसित, अशिक्षित और असंस्कृत लोगों को आते हैं, उनमें भय आक्रोश का बाहुल्य रहता है और हरकतों में तथा वचनों में निम्न स्तर की स्थिति टपकती है। जबकि देवोन्माद में अपेक्षा कृत सज्जनता एवं शिष्टता की मात्रा अधिक रहती है। आवेश एवं वार्तालाप भी ऐसा ही होता है। मानो कोई देव स्तर का व्यक्ति कर रहा हो। जिन लोगों ने देवी-देवताओं की चर्चा अधिक सुनी है, स्वयं उस पर विश्वास करते हैं उनका मस्तिष्क आवेश की स्थिति में अपनी कल्पना, साथ ही हरकतों भी उसी स्तर की बना लेता है। वस्तुतः इन आवेशों में देव स्तर सिद्ध करने वाली कोई प्रामाणिकता नहीं होती। स्तर के अनुरूप इनका

वर्गीकरण भूतोन्माद या देवोन्माद के रूप में किया जा सकता है, पर उनके बीच कोई बड़ा भेद नहीं होता।

आयुर्वेद ग्रन्थों में भूतोन्माद की कितनी ही शाखा-प्रशाखाओं का वर्णन है। उसे रोग की संज्ञा दी गई है और उपचार विधि बताई गई है। वस्तुतः उसे उन्माद का यदा-कदा आने वाला दौरा ही कह सकते हैं। आवेश गहरा हो तो रोगी के अवयव ही उत्तेजित होते हैं और वह उन्मत्तों जैसी हरकतें करता है किन्तु यदि दौरा हल्का हो तो एक प्रकार से नशे जैसी स्थिति बन जाती है। भूत के अस्तित्व को अपने ऊपर थोपकर वह ऐसी ही बातें करता है, मानो वह सचमुच ही भूत की स्थिति में पहुँच गया हो। भूत को जो कहना चाहिए सो वही वह कह रहा हो। यह कथन क्रमबद्ध तो होता है, उसकी संगति बैठती है पर होता सर्वथा काल्पनिक है। भोले लोग उसे तथ्य मान बैठते हैं और उन्माद की स्थिति में जो कहा गया था उसी पर विश्वास करके वैसा ही करने या मानने लगते हैं।

कई मनुष्यों को ऐसी आवाजें सुनाई पड़ती हैं। मानो किसी ने उनसे कुछ बात जोर देकर कही है। लगता है उन्होंने वैसा सुना है। किसी-किसी को ऐसा लगता है कोई भीतर से बोल रहा है। पेट में बैठकर या सिर पर चढ़कर कुछ बता रहा है। इस बीमारी को 'हैवीफ्रेनिक शिजोफ्रेनिया' कहते हैं। भूत-पलीतों के, देवी-देवताओं के सन्देश, आह्वान, आदेश प्रायः इसी प्रकार के होते हैं। प्रेमी और प्रेमिकाओं को इसी प्रकार की अनुभूतियाँ होती हैं मानो उनका प्रिय पात्र सामने खड़ा कुछ इशारे कर रहा है या कह रहा है। जिनके प्रियजन जल्दी ही मरे हैं, उनका वियोग निरन्तर छाया रहता है, उन्हें भी झपकी आते ही मृतात्मा निकट आकर कुछ करती कहती दिखाई पड़ती है। भक्त लोगों को उनके इष्ट देव भी ऐसे ही कौतूहलवर्धक परिचय देते हैं।

मानसिक अस्त-व्यस्तता को दो भागों में विभाजित किया जाता है—(१) न्यूरोसिस, (२) साइकोसिस।

न्यूरोसिस वह स्थिति है जिसमें मनुष्य अण्ट-सण्ट सोचता और आँख-बाँख बोलता है। बेकार की चिन्ताएँ और बेसिर-पैर की कल्पनाएँ उसे हैरान करती रहती हैं। चिन्ता में डूबा, आशंकाओं से ग्रसित, भयभीत एवं असम्भव चिन्तन के घोंड़े दौड़ाते हुए उसे आये दिन देखा जा सकता है। कभी कुछ कभी कुछ खब्ब सवार रहता है।

साइकोसिस इससे आगे की और अधिक बिगड़ी हुई स्थिति है। उसमें व्यक्ति पूर्णरूप से तो नहीं पर किसी विशेष प्रसंग में पगलाया रहता है। किसी विशेष

समय, परिस्थिति, घटना, वर्ग या व्यक्ति के सम्बन्ध में उसके कुछ ऐसे भले या बुरे आग्रह जम जाते हैं, जिनका वास्तविकता के साथ बहुत कम सम्बन्ध होता है। उसकी अपनी कल्पना और मान्यता एक अलग से स्वप्न लोक रच लेती है और उन्हीं में वह खोया रहता है।

मानसिक रोगों का निदान पुस्तकों में आवसेसिव कम्पलसिक न्यूरोसिस, एग्जाइरी जैसे विश्लेषणों के साथ अनेक रूपों, लक्षणों और उदाहरणों के साथ चित्रित किया गया है। साइकोसिस, शाखा में से आर्गेनिक साइकोसिस, फैक्शनल, पैरानाइड जैसे भेद उपभेद हैं। संक्षेप में न्यूरोसिक हल्की और साइकोसिस बढ़ी हुई स्थिति को कहते हैं। हल्की स्थिति में दूसरों के समझाने में रोगी अपनी गलती और सोचने की पद्धति में त्रुटि होने की बात स्वीकार कर लेता है किन्तु बढ़ी स्थिति में नशा इतना गहरा होता है कि उसे यह अनुभव या स्वीकार ही नहीं होता कि वह कुछ गलती कर रहा है। गहरे पागलपन में यही स्थिति हो जाती है। उसे यह तनिक भी आभास नहीं होता है कि वह किसी मानसिक रुग्णता का कष्ट भुगत रहा है। वह अपने को सामान्य मानता है दूसरों के द्वारा अपने प्रति किये गये असामान्य व्यवहारों को द्वेष-दुर्भाव की संज्ञा देता है।

कई बार दुहरे परस्पर विरोधी विचार एक ही व्यक्ति या कार्य के सम्बन्ध में आते हैं। ज्वार में पानी बहुत ऊँचा उठता है और भाटा आने पर वह नीचा चला जाता है। नशा चढ़ने पर ताकत फूटी पड़ती है और उतरने पर शिथिलता बेतरह आ घेरती है। बच्चे के गड़बड़ करने पर क्रोध में माता कसकर चाँटा जड़ देती है पर बच्चे के सुबक कर रोते ही उसकी करुणा जग पड़ती है और अपने को कोसते हुए बच्चे को वात्सल्यपूर्वक छाती से चिपटा लेती है। यह परस्पर विरोधी परिस्थितियाँ हुईं। कुछ मस्तिष्क में प्रिय और अग्रिय भावनाओं के ऐसे ही ज्वार-भाटे आते रहते हैं। आज अमुक व्यक्ति बहुत प्रिय है कल वह बहुत बुरा लगा, आज जो काम खराब लगता है कल उसी को करने के लिए आकुलता उठने लगी, आज जो निर्माण किया जा रहा है, कल उसी को तोड़ डालने की योजना बनकर तैयार हो गई। इस दोगली मनोवृत्ति को 'कैटे टोनिक शिजोफ्रेनिया' कहते हैं।

मानसिक रोगों का परिवार बहुत बड़ा है। उसमें शिवजी की बरात जैसे चित्र-विचित्र स्तर के, विभिन्न आकृति-प्रकृति के विक्षोभ भरे पड़े हैं, उनके प्रकट होने के स्वरूप अलग-अलग हैं। इतने पर भी यह कहा जा सकता है कि यह सब मानसिक असंतुलन के परिणाम हैं।